



मूल तत्व अवलोकन*

४४ 'अध्ययन बिंदु' विस्तार (*प्रकाशित वाङ्मय से संकलित)



अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन

सहज

मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

- ए. नागराज (प्रणेता एवं लेखक)

मध्यस्थ दर्शन सहज 'प्रवेश' पुस्तक

1. जीवन विद्या एक परिचय (प्रकाशित पुस्तक)
2. सहअस्तित्ववाद एक परिचय (संकलन) {PDF}
3. प्रारंभिक पाठमाला {PDF}
4. सत्संग (2005 प्रतिलेखन) {PDF}
5. मध्यस्थ दर्शन एक परिचय (1999 प्रतिलेखन) {PDF}
6. सहअस्तित्ववादी विज्ञान (1999 प्रतिलेखन) {PDF}
7. मूल तत्व अवलोकन (संकलन) {PDF}

PDF Download Link : dub.sh/parichay

प्रकाशक :

जीवन विद्या प्रकाशन, दिव्यपथ संस्थान

अमरकंटक, जिला - अनूपपुर (म.प्र.), भारत, 484886

www.divya-path.org

प्रणेता एवं लेखक :

ए. नागराज

सर्वाधिकार दिव्यपथ संस्थान के पास सुरक्षित

संस्करण: e-book PDF: 14 जनवरी 2026

प्रामाणिक वेबसाइट : www.madhyasth.org

प्रकाशित पुस्तक प्राप्ति : purchase.madhyasth.org ; books@divya-path.org

सदुपयोग नीति:

यह प्रकाशन 'सर्वशुभ' के अर्थ में है और इसका कोई व्यापारिक उद्देश्य नहीं है। इसका उपयोग एवं नकल, निजी अध्ययन के लिए उपलब्ध है। इसके अलावा किसी भी अर्थ में प्रयोग (नकल, मुद्रण, आदि) करने के लिए 'दिव्यपथ संस्थान', अमरकंटक, जिला अनूपपुर (म.प्र.) भारत - 484886 से पूर्व में लिखित अनुमति लेना अनिवार्य है। यह अपेक्षित है की इन अवधारणाओं को दूसरी जगह प्रयोग करते समय इस ग्रंथ का पूर्ण उद्धरण (संदर्भ) दिया जाएगा। कृपया दर्शन की पवित्रता बनाये रखें।

टिपण्णी

इस संकलित पुस्तक में प्रयुक्त सभी परिच्छेद खंड श्री ए. नागराजजी (1920- 2016) द्वारा लिखित मध्यस्थ दर्शन प्रकाशित वाङ्मय से लिए गए हैं।

इस संकलन का आशय मध्यस्थ दर्शन के मूल तत्वों, अथवा अध्ययन के बिन्दुओं से क्रमवत अवगत होना है। यह आशा है की इस संकलन के माध्यम से मूल दर्शन वाङ्मय में प्रवेश सुलभ हो जायेगा। साथ में मुख्य तत्वों को सारांश करने में उपयोगी रहेगा ।

प्रत्येक परिच्छेद खंड के अंत में पुस्तक के नाम का चिन्ह एवं साथ में पृष्ठ क्रमांक दिया गया है। जैसे- “व्य. द. (184-186)। सम्बंधित वाक्यों के सन्दर्भ जानकारी के लिए इंगित पुस्तक को देखें। वाक्य क्रम के लिए न्यूनतम स्थानों पर संकलन करता द्वारा कुछ सामान्य शब्द जोड़े गए हैं, जो (*) कोष्ठक में हैं। जहाँ कोई त्रुटी जैसे प्रतीत हो, मूल प्रकाशित वाङ्मय को ही आधार मानें।

पाठक अपने ‘अध्ययन’ के लिए मूल वाङ्मय – चार दर्शन, तीन वाद, तीन शास्त्र, संविधान को ही रखें।

पुस्तकों के प्रयुक्त संस्करण तथा चिन्ह की सूचना निम्नानुसार है। जहाँ अन्य किसी संस्करण का उपयोग किया गया, उसे यथा स्थान चिन्ह में दिया गया है।

पुस्तक का नाम	संस्करण	प्रयुक्त चिन्ह
मानव व्यवहार दर्शन	2010	व्य. द.
मानव कर्म दर्शन	2010	क. द.
मानव अभ्यास दर्शन	2010	अ. द.
समधानात्मक भौतिकवाद	2009, 1998	भ. व.
व्यवहारात्मक जनवाद	2009	ज. व.
अनुभवात्मक आध्यात्मवाद	2009, 2000	अ. व.
व्यवहारवादी समाजशास्त्र	2009	स.श.
आवर्तनशील अर्थशास्त्र	2009	अ. श.
मानव संचेतनवादी मनोविज्ञान	2009	म. वि.

संकलन जिम्मेदारी – श्रीराम नरसिंहन (विद्यार्थी), पुणे, २०२२, टायपिंग सहायता: मनोहर

सुधार संपर्क: books@divya-path.org

प्रणेता संदेश

व्यापक शून्यावकाश में स्थित अनन्त ब्रह्माण्डों में से एक ब्रह्माण्ड के अंगभूत इस पृथ्वी पर, वर्तमान में पाये जाने वाले मानव अत्यंत सौभाग्यशाली है, क्योंकि उनको हास और विकास का अध्ययन एवम् प्रयोग करने का स्वर्णिम अवसर व साधन प्राप्त है।

अभ्युदय (सर्वतोमुखी विकास) सबको सर्वत्र उत्प्रेरित कर रहा है कि –

“स्वयम् का मूल्यांकन कर लो – गलती अपराध नहीं करोगे, फलतः दुःखी, प्रताड़ित और दरिद्र नहीं होंगे।”
स्वयम् का मूल्यांकन करने के लिये स्वयम्-सिद्ध मूलभूत आधार हृदयंगम करना होगा, वह है –

- भूमि एक – राष्ट्र अनेक,
- मानव की जाती एक – कर्म अनेक,
- मानव का धर्म एक – मत अनेक,
- ईश्वर एक – देवता अनेक

स्व-मूल्यांकन के लिये निम्न बिन्दुओं से अर्थात् –

1. एक. प्रत्येक मनुष्य मानव मात्र को एक इकाई के रूप में जानने और उसके साथ तदनुसार निर्वाह कर सके – ऐसी क्षमता, योग्यता, और पात्रता के विकास के लिए,
2. दो. सह-अस्तित्व, सन्तुलन, समाधान, अभय और सुख की अक्षुण्णता के लिए,
3. तीन. स्वधन, स्वनारी/स्व पुरुष तथा दया पूर्ण जीवन द्रढ़ता पूर्वक जीने में समर्थ होने के लिए,
4. चार. अमानवीयता से मानवीयता और मानवीयता से अतिमानवीयता की ओर गति के लिए, सुगम मार्ग पाने के लिए,
5. पांच. सामाजिक दायित्वों का सहजता पूर्वक निर्वाह करने के लिए,
6. छ. आशित मानवीय संस्कृत एवम् सभ्यता के ज्ञान के लिए,
7. सात. राष्ट्र में संस्कृति एवं सभ्यता के विकास के लिए आवश्यक विधि एवम् व्यवस्था के नीति पक्ष कि जानकारी के लिए,

इनके आधार भुत तथ्यों का अध्ययन आवश्यक है। पूर्ण विश्वास है कि सांकेतिक तथ्यों का अध्ययन करने के पश्चात् यह ग्रन्थ आपके व्यवहार एवं आचरण में मानवीयता-पूर्ण दृष्टी, गुण व विषयों को प्रस्थापित करने कि प्रेरणा देगा एवम् आपके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होगा।

ए. नागराज (व्य.द. 1978)

अनुक्रमाणिका

अध्याय 1: भूमिका	13
1.1 मानव – वैचारिक इतिहास	13
1.2 इस अनुसंधान की आवश्यकता	16
1.3 विकल्प – अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन	17
1.4 मानव में समाधान की आवश्यकता	21
अध्याय 2: सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व	24
2.1 सहअस्तित्व, विकासक्रम, विकास, जागृति, जागृति	24
(A) सहअस्तित्व की पहचान	24
(B) परमाणु में विकास क्रम	28
(C) परमाणु में विकास (चैतन्य जीवन)	35
(D) जीवन में जीवनीक्रम	38
(E) जीवन में जागृतिक्रम	41
(F) जीवन जागृति	44
(G) अस्तित्व स्थिर है, विकास और जागृति निश्चित है	46
(H) ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय	47
(I) मनःस्वस्थता का स्वरूप	47
(J) अस्तित्व में 'परमाणु में विकास' – सारांश	50
2.2 प्रकृति सहज चार अवस्था; रूप, गुण, स्वभाव, धर्म	59
(A) रूप	59
(B) गुण	60
(C) स्वभाव	60
(D) धर्म	62
(E) मात्रा और उसका स्वरूप	64
(F) अनुशंगीयता	65

2.3 प्रकृति सहज अध्ययन.....	66
(A) स्थिति – गति और वर्तमान	66
(B) प्रकाशन, प्रतिबिम्ब, प्रभाव एवं पहचान	69
(C) गुण	71
(D) मध्यस्थ प्रभाव	72
(E) काल	73
(F) भौतिक क्रिया, रासायनिक क्रिया, जीवन क्रिया.....	74
(G) व्यवस्था एवं समग्र व्यवस्था में भागीदारी	75
(H) प्रकृति – सारांश	77
अध्याय 3. चैतन्य “जीवन”	79
3.1 मानव = शरीर + जीवन	79
(A) मानव शरीर रचना	79
(B) मानव में कल्पनाशीलता जीवनगत है	81
(C) मानव संस्करानुशंगी इकाई है	82
(D) प्रत्येक मानव में ‘चैतन्य जीवन’ समान है	83
(E) जीवन में जीने की आशा	85
(F) देखना = समझना	86
(G) केवल शरीर या केवल आत्मा के आधार पर मानव व्याख्यायित नहीं है	89
(H) जीवन ही शरीर का दृष्टा है	91
(I) जीवन ही शरीर को ‘जीवंत’ बनाये रखता है	95
3.2 जीवन के 10 क्रियाएं – परिचय	97
(A) आस्वादन और चयन	98
(B) तुलन और विश्लेषण	99
(C) चिंतन और चित्रण	100
(D) बोध और संकल्प	100
(E) अनुभव और प्रामाणिकता	101

3.3 जीवन में जागृतिक्रम: भ्रम, बंधन	101
(A) भ्रम = आशा-विचार-इच्छा बंधन.....	101
(B) भ्रमित मानव कार्यकलाप	105
(C) 'बन्धन' एवं 'मुक्ति' सम्बंधित स्पष्टीकरण	110
3.4 जीवन जागृति	113
(A) जीवन ज्ञान के और संकेत.....	113
(B) जागृत जीवन सहज क्रियाएं.....	114
(C) परावर्तन – प्रत्यावर्तन.....	119
(D) जागृति का स्वरूप.....	121
(E) जागृति सहज मार्ग	126
(F) जानने-मानने का तृप्ति बिंदु = अनुभव.....	133
(G) मध्यस्थ क्रिया की महिमा	135
(H) जागृति ही प्रमाणों का आधार है	137
(I) अनुभव और जागृति की स्थिरता और निश्चयता	139
अध्याय 4. मानवीयतापूर्ण आचरण	143
4.1 मानवीय आचरण परिचय.....	143
(A) मानवीयता पूर्ण आचरण की आवश्यकता क्यों ?	143
(B) मानवीयतापूर्ण आचरण का आधार	145
(C) मानवीयतापूर्ण आचरण का स्वरूप	146
4.2 विवेक.....	150
4.3 मानवीय सम्बन्ध एवं मूल्य.....	152
(A) मानव सम्बन्ध आधार	152
(B) मानव सम्बन्धों के प्रकार	154
(C) सम्बन्ध सहज मूल्य.....	171
(D) सम्बन्ध एवं मूल्य सारांश.....	177
(E) वस्तु मूल्य	185

4.4 नैतिकता.....	186
(A) नैतिकता – परिचय.....	186
(B) मानव धर्म-नीति स्वरूप	189
(C) मानव राज्य-नीति.....	192
(D) नैतिकता – सारांश	194
4.5 चरित्र	195
4.6 पञ्च कोटि के मानव: दृष्टि, विषय, स्वभाव; मानव मूल्य.....	196
(A) अमानवीयता	198
(B) मानवीयता.....	199
(C) अतिमानवीयता	200
(D) छः मानव मूल्य, स्वभाव.....	202
(E) जागृति एवं आचरण	204
4.7 जीवन मूल्य.....	206
4.8 विज्ञान	209
(A) प्रचलित: विज्ञान एवं शिक्षा	209
(B) सहअस्तित्ववादी विज्ञान का दृष्टि	210
4.9 मानवीयता सहज प्रमाण.....	215
अध्याय 5.0: परिवार व्यवस्था में जीना	217
5.1 विगत का विकल्प	217
5.2 मानवीय परिवार – परिचय	217
5.3 परिवार में 'व्यवहार'	218
5.4 परिवार में दाम्पत्य सम्बन्ध	220
5.5 परिवार में संतुलन.....	221
5.6 जागृति पूर्वक ही परिवार संतुलित है	222
5.7 सम्पूर्ण मानव परिवार ही समाज का स्वरूप है	223
5.8 'परिवार' एवं 'व्यवस्था' अविभाज्य हैं	224

5.9 परिवार में जीना, परिवार व्यवस्था में भागीदारी	228
5.10 परिवार सहज उत्पादन का महत्व	235
5.11 परिवार में संतुलन से समाज में संतुलन	240
अध्याय 6: मानवीय परम्परा – अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था	242
6.1 प्रचलित समाज परिस्थिति	242
6.2 अखंडता सार्वभौमता – आवश्यकता	244
6.3 अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था: अवधारणा	249
6.4 धर्म, समाज और राज्य अविभाज्य हैं.....	253
6.5 धर्मनैतिक व्यवस्था	257
(A) अवधारणा	257
(B) संस्कृति	258
(C) सभ्यता	260
6.6 राज्यनैतिक व्यवस्था	262
(A) अवधारणा	262
(B) विधि	262
(C) दश सोपनीय व्यवस्था	267
6.7 मानवीय संविधान का धारक-वाहकता	280
(A) मानवीय संविधान की आवश्यकता	281
(B) मानवीय संविधान का स्वरूप	282
(C) स्वत्व-स्वतंत्रता-स्वराज्य	283
6.8 अखंडता सहज मानव में समानता के बिंदु	287
6.9 जागृति पूर्वक ही समाज है	295
6.10 जागृत मानव परम्परा	299
अध्याय 7: सारांश.....	302
7.1 'विकल्प' की अनिवार्यता	302
(A) आदर्शवादी परिणाम	302

(B) भौतिकवाद के अनुसार.....	305
(C) 'विकल्प' = सहअस्तित्ववाद.....	308
7.2 मध्यस्थ दर्शन - आधार बिंदु.....	312
(A) अस्तित्व ही सत्य	312
(B) अस्तित्व में परमाणु का विकास, जीवन	312
(C) मानवीयतापूर्ण आचरण	313
(D) मानव में जागृति, जीवन जागृति	315
(E) परिवार व्यवस्था एवं सार्वभौम मानवीय व्यवस्था में जीना	316
7.3 आत्मा, परमात्मा, अस्तित्व सम्बन्धी पूर्वावर्ती मान्यता	317
7.4 जागृति पूर्वक ही मानव सुखी होता है	320
अध्याय 8: वाङ्मय एवं अध्ययन	326
8.1 मध्यस्थ दर्शन वाङ्मय.....	326
8.2 अध्ययन-अभ्यास विधि	331
(A) अध्ययन परिभाषा	331
(B) अध्ययन = शोध = जांचना	331
(C) भाषा से समझ, समझ से अनुभव	332
(D) अध्ययन के लिए अभ्यास.....	333
(E) अध्ययन वस्तु.....	340
(F) अनुभवगामी - अनुभवमूलक विधि स्पष्टता.....	342
(G) 'अध्ययन' होने का तात्पर्य = 'वस्तु' बोध होना = अवधारणा.....	343
(H) जागृत परम्परा की आवश्यकता	344

अध्याय 1: भूमिका

1.1 मानव – वैचारिक इतिहास

सुदूर विगत से ही अध्यात्मवादी, अधिदैवीयवादी और अधिभौतिकवादी विचार मानव-मानस में स्मृति और श्रुति के रूप में हैं। कल्पनाओं-परिकल्पनाओं के आधार पर वाङ्मय रचना बहुत सारा हुआ है। इसमें अनेकानेक मानव ने भागीदारी का निर्वाह किया घोर परिश्रम किया। इसी क्रम में घोर तप, योगाभ्यास, यज्ञ, दान के रूप में भी अपने-अपने आस्थाओं के साथ जीकर दिखाया अथवा करके दिखाया। इन्हीं सब कृत्यों को आदर्शवादी कृत्य भी मानते आये हैं। क्योंकि ये सब कृत्यों को सब नहीं कर पाते थे। न करने वाले के लिए, करने योग्य कृत्यों के रूप में सभी प्रकार के धर्म ग्रंथ बताते आये। ये सब करने के उपरांत भी अध्यात्म, देवता और ईश्वर ये सब रहस्य में ही रहे। रहस्य की परिभाषा है – हम मानव जो कुछ जानते नहीं है वह सब रहस्य होना समीक्षित हुआ। इस विधि से नहीं जानते हुए मनवाने के जितने भी प्रयास हुए वह सब आस्थावादी कार्यकलाप के रूप में गण्य हुआ। आस्था का परिभाषा ही है नहीं जानते हुए किसी के अस्तित्व को स्वीकार करना। यह सर्वविदित है।

ईश्वर, अध्यात्म और देवी-देवता के अधीनता में ही जीव जगत होना वाङ्मयों में बताया गया है। अनजान घटनाओं की व्याख्या करने के क्रम में जीव-जगत अध्यात्म, देवी-देवता और ईश्वराधीन है इसके समर्थन में बहुत कुछ लिखा गया है। इन सभी प्रयासों का महिमा सहित अर्थात् बहुत सारे साधनों को नियोजित करने के उपरांत भी अध्ययन विधि से कोई प्रमाण, अनुभव विधि से कोई प्रमाण, प्रयोग विधि से कोई प्रमाण और व्यवहार विधि से कोई प्रमाण मिला नहीं। जबकि कोई मानव रहस्य को वरता नहीं। आस्था के आधार पर अपने कल्पनाशीलता के अनुरूप रहस्य को सजाने गया वही वाङ्मय का स्वरूप बना। इसका आधार केवल मानव सहज कल्पनाशीलता-कर्म स्वतंत्रता ही है और मानव कर्म करते समय स्वतंत्र, फल भोगते समय परतंत्र रहा।

इस समीक्षा को यहाँ इसीलिये प्रस्तुत किये हैं कि हर मानव सत्य, समाधान, व्यवस्था, न्याय, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व को प्रमाणित करना चाहते हैं। हर मानव जन्म से ही सत्य वक्ता होता है इसलिए सत्य बोध होने की आवश्यकता है। भौतिकवादी और आदर्शवादी विधि से सत्यबोध होना मानव जाति के लिए प्रतीक्षित है। इसलिए सर्वतोमुखी समाधान और न्यायबोध होना अभी तक प्रतीक्षित है, अर्थात् 20 वीं शताब्दी के दसवें दशक तक प्रतीक्षित है। विक्रम शताब्दी के अनुसार 2052 आषाढ़ मास तक प्रतीक्षित है। इसी सर्वेक्षण, निरीक्षण और परीक्षण के आधार पर “अनुभवात्मक अध्यात्मवाद” की आवश्यकता को पहचाना गया।

रहस्यमय और सुन्दर कल्पना के आधार पर अर्थात् मनलुभावन विधि से वाङ्मयों में मोक्ष और स्वर्ग की कल्पनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। जहाँ तक मोक्ष की बात है अध्यात्म विधि से ऐसा बताया गया है कि जीवों के हृदय में आत्मा रहता है। वह आत्मा ब्रह्म में अथवा परमात्मा में विलय हो जाता है। इसके लिये ब्रह्म ज्ञान ही एकमात्र शरण स्थली बताया गया। कुछ प्रणेताओं का कहना है यह एकांत विधि से संभव है और कुछ प्रणेताओं का कहना है घोर तप से, कुछ

प्रणेताओं का कहना है योगाभ्यास से, संघ के शरण में जाने से, और कुछ प्रणेताओं का कहना है योग और संयोग से, होता है।

ये सब मोक्ष के सम्बन्ध में बताए गए उपायों के क्रम में इंगित कराया गया। इंगित कराने का तात्पर्य स्वीकारने योग्य तरीके से है। और भी कुछ प्रणेता लोगों का कहना है कि प्रलय काल में परिणाम मोक्ष के रूप में जीव-जगत, 'वह' में विलय हो जाता है ('वह' का तात्पर्य ऊपर कहे गये अध्यात्म, ईश्वर, देवी, देवताएँ)। सबका कल्याण करेगा तब तक ईश्वरीय नियमों के साथ-साथ जीना ही धर्म संविधान है। ऐसा बताया करते हैं।

जहाँ तक स्वर्ग की बात है इसे, इस धरती से भिन्न स्थली में संजोने का वाङ्मयों में प्रयत्न किया। उन-उन लोक में कोई देवी-देवता का होना और उन्हीं के आधिपत्य में उनका सौन्दर्य और सुख रहने का विधि से बताया गया है। इन वाङ्मयों में स्वर्ग को सर्वाधिक सम्मोहनात्मक और आकर्षक विधियों से सजा हुआ बताया गया है वहाँ पहुँचने के लिए जो ज्ञात स्थिति है वह पुण्य ही एक मात्र पूंजी बताई गई है। पुण्य को पाने के लिए स्वार्थी को परमार्थी होना आवश्यक बताया। अतिभोग-बहुभोगशीलता गलत है। इसी के साथ-साथ स्वर्ग की अर्हता को पूरा करने के लिए त्याग का उपदेश दिया गया। ज्यादा से ज्यादा सुख-सुविधावादी वस्तुओं का दान योग्य पात्रों को करने से स्वर्ग में अनंत गुणा सुख सुविधाएं मिलने का आश्वासन किताबों में लिखा गया। ध्यान, स्मरण, कृत्यों को पुण्य कमाने का स्रोत बताया गया। इसी के साथ-साथ अवतारी आचार्य, गुरु, सिद्ध, आश्वासन देने में समर्थ व्यक्तियों का सेवा, सुश्रुषा, उनके लिए अर्पित दान, स्तुति, कीर्तन ये सब पुण्य कमाने का विधि बताए। इसी के साथ-साथ परोपकार, जीव, जानवर, पशु पक्षीयों के साथ प्रेम, फूल-पत्ती, पेड़ के साथ दया करने को भी कहा। साथ ही मन को धोने और स्थिर करने की बातें बहुत-बहुत कही गयी है। इन सभी उपदेशों का भरमार रहते हुए भी भय, प्रलोभन और आस्थावादी कृत्यों से अधिक मानव परंपरा में इस समूची धरती में और कुछ होना देखने को नहीं मिला। अर्थात् उपदेश के रूप में जो बातें कहते आये हैं उसके अनुरूप कोई प्रमाण होता हुआ देखने को नहीं मिला। इसी समीक्षा के आधार पर ही "अनुभवात्मक अध्यात्मवाद" की परमावश्यकता को स्वीकारा गया।

दूसरे विधा से मानव सहज कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता के आधार पर विचारों का उन्नयन हुआ, जिसको हम भौतिकवादी विचार कह रहे हैं। सम्पूर्ण कल्याण का आधार सुख-सुविधा और स्वर्ग का स्वरूप भौतिक वस्तु ही होना बताया गया। इसे अधिकांश लोकमानस में स्वीकारा भी गया। इस प्रकार अदृश्य के प्रति आस्थान्वित होना, दूसरे विधि से जो दृश्यमान वस्तुएँ हैं उसी को सम्पूर्ण सुख-सुविधा का आधार या विकास का आधार मान लेना देखा गया। भौतिकवाद भय और प्रलोभन के बीच झूलता हुआ संघर्षशील, संघर्षमय मानसिकता को तैयार करता हुआ देखा गया। भौतिकवाद का सार बात समीक्षा के रूप में यही मिलता है कि संघर्ष के लिए तैयार रहना परमाणु, अणु और अणु रचित पिण्डों का कार्यकलाप है। उसी क्रम में मानव भी एक रासायनिक-भौतिक वस्तुओं से रचित पिण्ड है। इनको सर्वाधिक संघर्ष करने का हक है।

इसका प्रयोग करना ही प्रगति और विकास बताया गया है। यह भय, प्रलोभन निग्रह बिन्दुओं में फँसा हुआ आस्थाओं से टूटकर स्वर्ग में मिलने वाला सभी चीजें यहीं मिलने का संभावना बना। उसके लिए आवश्यकीय संघर्ष को जैसा-जैसा भौतिकवादी शिक्षा में शिक्षित हुए वैसे-वैसे अनेक तरीकों सहित संघर्ष करने के लिए प्रवृत्तियाँ बुलंद होते ही आया, अर्थात् बढ़ता ही आया। जबकि हर मानव भय और प्रलोभन रूपी भ्रमवश ही संघर्ष करता है।

आदि काल से कबीला युग तक भी भय और प्रलोभन रहा। प्राकृतिक प्रताड़ना से भयभीत रहा हुआ मानव जाति को राजा और गुरु ने मिलकर स्वर्ग और मोक्ष का, जान-माल की सुरक्षा का आश्वासन देते रहे। कबीला युग तक में संघर्षशीलता हाथ, पैर, नख, घूंसा, पत्थर, डंडा, तलवार तक पहुँच चुके थे। जैसे ही राजदरबार आया, समर शक्ति संचय विद्या में समुन्नत क्रिया के नाम से जो कुछ भी किया वह सब बन्दूक, बारूद, हथगोला, गुल्ले प्रणाली, धनुष प्रणाली के साथ-साथ राडर प्रणाली जुड़कर वध, विध्वंसात्मक जैविक रासायनिक अणुबमों को दूर मार, मध्यम मार, निकट मार विधियों को विधिवत तकनीकी पूर्वक हासिल किया। इसमें भय स्वाभाविक रूप में बरकरार रहना पाया गया। प्रलोभन, छीना-झपटी, वंचना-प्रवंचना, द्रोह-विद्रोह पूर्वक और छल-कपट-दंभ-पाखंड पूर्वक परस्पर शोषण चरमोत्कर्ष रूप धारण किया। प्रलोभन के रूप में संग्रह-सुविधा उद्बलित करता ही आया। इसका तात्पर्य यह हुआ आदिकाल में जो भय और प्रलोभन रहा है, उसे नर्क के प्रति भय और स्वर्ग के प्रति प्रलोभन के रूप में आदर्शवाद ने स्थापित किया, भौतिकवाद से सुविधा, संग्रह, भोग, अतिभोग में प्रलोभन, दूसरे का अपहरण, छीना-झपटी, लूट-खसोट करते समय सामने वाला कुछ कर जायेगा, इस भय के मारे दमनशील उपायों को अपनाने के आधार पर संघर्ष मानसिकताएँ सज गयी। इसी में सर्वाधिक व्यक्तियों का मन प्रवृत्त रहना पाया जाता है।

इसका पहला साक्ष्य संग्रह, द्वितीय साक्ष्य दमनकारी उपायों के प्रति पारंगत रहना ही है। ऐसे दमनकारी उपायों से लैस रहने के लिए व्यक्ति, परिवार और हर समुदाय अधिकाधिक सुसज्जित होने के लिए यत्न, प्रयत्न, कर्माभ्यास, युद्धाभ्यास करता हुआ समूची धरती में दिखाई पड़ता है। इन्हीं गवाहियों के साथ आदिकालीन अर्थात् झाड़ के ऊपर, गुफा, कन्दराओं में झेलते हुए समय में जो मानव मानसिकता में भय सशंकता सर्वाधिक प्रकोप किया था वह यथावत् रहा है। उसके साथ प्रलोभन मानसिकताएँ धीरे-धीरे बढ़ते हुए समूचे धरती की सम्पदा का हर व्यक्ति अपने तिजोरी में बंद कर लेने की कल्पना करता हुआ स्थिति को सर्वेक्षित किया जा सकता है। इसका गवाही यही है संग्रह का तृप्ति बिन्दु नहीं है।

ऊपर कहे सम्पूर्ण विश्लेषण और समीक्षा के मूल में मानव मानसिकता ही अनुप्राणन वस्तु है। स्वर्ग-नर्क भय, प्रलोभन, सुविधा संग्रह भोग-अतिभोग इन खाकों में, इन कक्षों में, इन गतियों में मानव जाति का स्वरूप एक दूसरे के बीच विश्वास का सूत्र व्याख्या करने में असमर्थ रहा है। इसलिये सर्व मानव के परस्परता में भी सह-अस्तित्व नित्य प्रभावी होने सहज सत्य को, यथार्थता को, वास्तविकता को शिक्षागम्य, लोकगम्य, लोकव्यापीकरण कार्यक्रमों सहित “अनुभवात्मक अध्यात्मवाद” मानवीयतापूर्ण मानव मानस के लिए अति आवश्यक समझा गया है। इसीलिये, अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व रूपी ध्रुव, मानव स्वीकृत प्रामाणिकता रूपी ध्रुव के मध्य में अनुभव सहज अनिवार्यता, आवश्यकता, प्रयोजन और उसकी निरंतरता को ज्ञान सम्मत विवेक सम्मत और विज्ञान सम्मत विधि से मैनें प्रस्तुत किया है। – आ.व. 165

1.2 इस अनुसंधान की आवश्यकता

* (अनुसन्धान के मूल तत्वों से अवगत होने 'विकल्प' पुस्तिका देखें)

मूलतः इस अनुसंधान के मूल में रूढ़ियों के प्रति अविश्वास, कट्टरपंथ के प्रति अविश्वास रहा है। सार रूप में वेदान्त रूप में “मोक्ष और बंधन” पर जो कुछ भी वाङ्मय उपलब्ध है इस पर हुई शंका। परिणामतः निदिध्यासन, समाधि, मनोनिरोध, दृष्टाविधि के लिये जो कुछ भी उपदेश है उसी के आधार पर प्रयत्न और अभ्यास किया गया। निर्विचार स्थिति को प्राप्त करने के बाद परंपरा जिसको समाधि, निदिध्यासन, पूर्णबोध निर्वाण कुछ भी नाम लिया है, इसी स्थली में मूल शंका का उत्तर नहीं मिल पाया। परिणामतः इसके विकल्प के लिये तत्पर हुए। पूर्वावर्ती इशारों के अनुसार ‘संयम’ का एक ध्वनि थी।

उस ध्वनि को संयम में तत्परता को बनाया गया। आकाश (शून्य) में संयम किया। निर्विचार स्थिति में अस्तित्व स्वीकार/बोध सहित सभी ओर वस्तु सब आकाश में समायी हुई वस्तु दिखती रही इसलिये आकाश में संयम करने की तत्परता बनी। कुछ समय के उपरान्त ही अस्तित्व सह-अस्तित्व रूप में यथावत् देखने को मिला। अस्तित्व में ही ‘जीवन’ को देखा गया। अस्तित्व में अनुभूत होकर जागृत हुए। ऐसे अनुभव के पश्चात् अस्तित्व सहज विधि से ही हर व्यक्ति अनुभव योग्य होना देखा गया। अनुभव करने वाले वस्तु को ‘जीवन’ रूप में देखा गया। इसी आधार पर “अनुभवात्मक अध्यात्मवाद” को प्रस्तुत करने में सत्य सहज प्रवृत्ति उद्गमित हुई। यह मानव सम्मुख प्रस्तुत है। – आ.व. 179

(*अब तक) मानव के बहुआयामी इतिहास में उन सभी आयामों के लिए पूरक होने के प्रमाण को मानव अपने कुल के लिए समर्पित नहीं कर पाया। इसी कारण अब प्रबुद्ध मानवों का यह दायित्व होता है कि सभी आयामों में जो रिक्त और अपेक्षित भाग है उसकी भरपाई कर दें। उसमें से प्रथम और प्रमुख आयाम यही देखने को मिला—व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी। मानव जागृतिपूर्वक ही इसकी भरपाई कर पायेगा।

‘जागृति’ मानव की सर्वकालीन अपेक्षा और आवश्यकता है। अभी यह इस प्रकार से संभव हो गया कि—

अस्तित्व मूलक मानव केंद्रित दर्शन विधि से मानव ही चिंतनशील एक मात्र इकाई हैं। चिंतन का मूल तत्व अथवा मूल वैभव जीवन सहज रूप में होने वाले जानने, मानने के रूप में और उसके तृप्ति बिंदु के रूप में है। – भ.व. 122

मानव अभी तक जितने भी समुदाय परंपरा में अपने को पहचानता है, इन सबका एक ही ‘अभिशाप’ रहा है कि अस्तित्व में अपने को अविभाज्य रूप में समग्रता के साथ दर्शन नहीं कर पाना। दूसरा अभिशाप स्वयं को पहचानने की इच्छा रहते हुए भी अपूर्ण रह जाना इसका स्पष्ट स्वरूप यही है कि सच्चाई को पहचानने की गवाही नहीं दे पाना। – भ.व. –249

(*जागृत मानव के) विचार के मूल में ही अनुभव रूपी दर्शन का महिमा देखा गया है जिसको इंगित करने के लिए, हृदयंगम करने के लिए मध्यस्थ दर्शन सहज रूप में ही मध्यस्थ सत्ता, मध्यस्थ क्रिया, मध्यस्थ जीवन का प्रतिपादन के

रूप में व्यवहार, कर्म, अभ्यास और अनुभव दर्शन के रूप में समीचीन हुई अर्थात् उपलब्ध हो गई है। इस प्रकार परम सत्य को जानने-मानने के लिए दर्शन, उसे तर्कसंगत अर्थात् -विज्ञान सम्मत विवेक, विवेक सम्मत विज्ञान विधि से संप्रेषित करने के लिए विचार, सत्यमयता को तर्कसंगत विचार प्रणाली पूर्वक व्यवहार विधा में अर्थात् परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था में प्रमाणित करने के क्रम में शास्त्रों का होना मानव परंपरा सहज आकांक्षा, आवश्यकता और उपलब्धियाँ हैं। इस प्रकार परम सत्य रूप में सह-अस्तित्व है। अस्तित्व में मानव भी एक अविभाज्य इकाई है।

इसी विधि से यह भी हम पाते हैं अस्तित्व में प्रत्येक एक अपने 'त्व' सहित व्यवस्था के रूप में होना सत्य है। इन्हीं दो (परम सत्य और सत्य) तथ्यों के आधार पर प्रत्येक एक का लक्ष्य आचरण और प्रमाण ही केवल व्यवस्था सहज आधार होना पाया जाता है। इस नजरिया से मानव मानवत्व सहित जीने की कला क्रम में, दूसरे भाषा से मानवत्व सहित प्रमाणित होने के क्रम में, सत्य को समझना परमावश्यक रहा है यही जागृति सहज प्रमाण हैं। अस्तित्व न तो रहस्य है न ही दुरुह-जटिल है। अस्तित्व को 'सत्ता में संपृक्त प्रकृति' के रूप में हर व्यक्ति समझने योग्य है और अस्तित्व ही सह-अस्तित्व होने के कारण पदार्थ, प्राण-जीव अवस्था के साथ-साथ ज्ञानावस्था में स्वयं को पहचान पाना सहज है। सह-अस्तित्व में ही व्यवस्था सर्वत्र-सर्वदा वैभविता है। -अ.श, 132-133

1.3 विकल्प – अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन

(*जैसे पूर्व में वर्णित किया गया) मानव सहज रूप में, निरंतर अनुसंधान शोध और प्रयास करते आया। मानव परम्परा में सुदूर विगत से दो अनुसंधान प्रधान है। एक अनुसंधान है, रहस्यमयी ईश्वर केन्द्रित चिंतन प्रणाली, जिसका मूल आशय यह है कि “ईश्वर से सब कुछ होता है।” इसका लोकव्यापीकरण शिक्षा के माध्यम से सम्पन्न किया गया। दूसरा अनुसंधान, अस्थिरता मूलक, वस्तु केन्द्रित चिंतन। इसका आशय है, “वस्तु से सब कुछ होना”। वस्तु केन्द्रित चिंतन का भी लोकव्यापीकरण शिक्षा के माध्यम से संपन्न हुआ है। तीसरी विधि से किसी देवी, देवता, दिव्य पुरुष से अथवा मूर्ति से सब कुछ होता है। इसका भी यथाविधि अनुसंधान हुआ। वाङ्मय बना। प्रकारान्तर से इसका भी लोकव्यापीकरण हुआ। इनको क्रम से (१) ईश्वरवाद बनाम अध्यात्मवाद। (२) भौतिकवाद बनाम द्वंद्ववाद। और (३) देववाद बनाम अधिदैवीवाद नाम दिया गया है। इनमें प्रमाण विधियों के लिए आदमी तरसा एवं तरने, तारने का प्रयास किया। इन तीनों प्रकार के अनुसंधानों में शब्द को प्रमाण माना गया। मानव, ईश्वरीय व अध्यात्म और देवी व आदर्शों को मानते हैं।

पहली विधि से अध्यात्म, अतिगहन आदर्श है, मौन है, निर्विशेष है और आचरण के रूप में विरक्तिवादी (साधन चतुष्टय सम्पन्नता) है। तृतीय प्रकार के चिंतन का आदर्श, उन उन देवी देवताओं के नाम से प्राप्त वाङ्मय का उच्चारण सहित, ऐतिहासिक स्मृतियों अथवा कल्पित स्मृतियों से, चित्रित रूप में जो व्यक्त रहते हैं, उनको आदर्श पुरुष, आदर्श चरित्र, आदर्श ज्ञान और दर्शन मानते हैं। यह परम्परागत के रूप में, भक्ति के रूप में आया रहता है। ऐसे आकार प्रकार के स्मारक और स्मारक स्थलियों को आदर्श स्थान मानना कार्यक्रम है। इन दोनों, प्रथम और तृतीय चिंतन के अनुसार, और एक साम्यता है कि सामान्य व्यक्तियों को स्वार्थी, अज्ञानी और पापी के रूप में निरूपित करना और उससे मुक्ति दिलाने के लिए प्रकारान्तर से दिया गया आदर्शात्मक दर्शन, आदर्शात्मक ज्ञान के आधार पर, कार्यक्रम प्रस्तुत करना।

इसी के साथ उपासना और उपासना के कर्मकाण्डों का भी लोकव्यापीकरण करने की प्रक्रिया सम्पन्न होते आई। द्वितीय प्रकार (भौतिकवाद) के अनुसंधानों का प्रमाण, यंत्रों के रूप में प्रस्तुत हुआ।

“सब कुछ होने” के तात्पर्य में, ध्रुवीकृत बिंदू यही है कि मानव कितने ही प्रश्न और जिज्ञासा करता है, उन सबका उत्तर मिल जाय और व्यवहार में प्रमाणित हो जाय। देखने को यही मिल रहा है कि जितने भी जिज्ञासा और प्रश्नों को समाधानित करने के प्रयास हुए, उसके उपरान्त भी, प्रश्न चिन्हों की संख्याएं बढ़ती गई। आदर्शवादी चिंतन, जनमानस में आस्था के रूप में (अर्थात् नहीं जानते हुए भी मानने के रूप में) है। इस प्रकार आस्थाओं में विविधता हुई। न जानते हुए मानने के आधार पर अंतर्विरोध हुआ, यही प्रश्नों की स्थली है। द्वितीय प्रकार के अनुसंधान (*भौतिकवाद) यंत्र प्रमाण तक पहुंचकर, व्यवहार प्रमाण में, प्रमाणित होने में असमर्थ हुए, फलस्वरूप विद्वानों में भी अंतर्विरोध हुआ तथा यांत्रिकता और संचेतना के बीच प्रश्न चिन्ह बनते गए। यही, प्रश्न चिन्हों में वृद्धि होने की स्थली दिखाई पड़ती है। चतुर्थ प्रकार का चिंतन – अस्तित्व मूलक, मानव केन्द्रित चिंतन।

(अर्थात्, हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मानव में) सर्वशुभ घटित न होने का कारण –

(1) नित्य वर्तमान रूपी अस्तित्व को सटीक अध्ययन करने में हम मानव जाति असफल रहे हैं। इसके स्थान पर रहस्यमयी ईश्वर को अथवा ब्रह्म को ज्ञान रूप में स्वीकारा गया। इसी को सत्य भी कहा गया। ऐसा सत्य ज्ञान संपन्न व्यवहार गति देखने को नहीं मिला, जिससे समाधान, समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व चरितार्थ नहीं हो सका। अतएव सर्वशुभ को चाहने और होने में सदा ही दूरी बना रहा।

(2) अस्थिरता अनिश्चयता मूलक वस्तु केन्द्रित चिन्तन को तर्क संगत विधि से विज्ञान मान लिया गया। विज्ञान को नियमों के रूप में प्राप्त कर, गणितीय भाषा सहित प्रयोग योग्य स्वरूप देना माना गया और उसे क्रियान्वयन करने की प्रक्रियाओं को तकनीकी कहा गया। यह सब मानवोत्तर संसार के साथ, वह भी पदार्थावस्था के साथ, अर्थात् मृत, पाषाण, मणि, धातुओं के साथ यंत्रीकरण, तंत्रीकरण, जल, थल, नभ प्रदेशों में स्वत्व गतिकरण कार्यकलापों के रूप में दिखने को मिलता है। ये सब उपलब्धियाँ विज्ञान का ही देन स्वीकारा गया है। उल्लेखनीय घटना यही है कि विज्ञान वैज्ञानिक नियमों और सिद्धांतों से मानव का अध्ययन सर्वतोमुखी विधि से सम्पन्न नहीं हो पाया है।

फलस्वरूप अर्थशास्त्र भी किंवा प्रचलित सभी शास्त्र अथवा सभी प्रकार के शास्त्र मानव से आशित सर्वशुभ रूपी प्रयोजनों को चरितार्थ करने में सर्वथा पराभवित रहे हैं। जबकि हर मानव हर विधा के कर्ता-धर्ता भी सर्वशुभ चाहते हैं। इसलिए रहस्य और अस्थिरता अनिश्चयता से मुक्त नित्य वर्तमान रूपी सह-अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन अवश्यभावी रहा ही। अस्तित्व न तो घटता है, न बढ़ता है, नित्य वर्तमान प्रकटनशील है ही इसलिए अस्तित्व स्थिर होना पाया जाता है। स्थिरता का मतलब निरंतर होना ही है। वर्तमान सहज प्रकाशन है। इसीलिए रहस्य विहीन है, यथार्थ वास्तविकता, सत्यतामय है। अस्तु इसकी स्थिरता स्पष्ट है। इस प्रकार अस्तित्व अपने में महिमा समेत होना समझ में आता है।

(3) अस्तित्व में मानव भी अविभाज्य इकाई है। मानव सहज रूप में संचेतनशील होना पाया जाता है। संचेतना का मूल स्रोत के रूप में शरीर का रचना-कार्य जीवन का संयुक्त प्रणाली, लक्ष्य और अध्ययन, पहले बीती हुई दोनों प्रकार के विश्व दृष्टिकोण, तर्क, मीमांसा और प्रतिपादनों से अध्ययनगम्य नहीं हो पाया है। उन दोनों विश्व दृष्टिकोणों को

ईश्वर केन्द्रित और वस्तु केन्द्रित माना गया है। इन दोनों के विचार और कार्य यात्रा के फलन रूप में बीसवीं शताब्दी की अंतिम दशक में भी देख पा रहे हैं जो शिक्षा संबंधी समीक्षा सहित लाभोन्माद, कामोन्माद, और भोगोन्माद विधियों से ग्रसित, त्रस्त मानस रहस्यमी आस्थाओं के लिए बाध्य होता हुआ असमानता, विषमताओं से प्रताड़ित होता हुआ अधिक और कम से, श्रेष्ठ और नेष्ठ के, ज्ञानी और अज्ञानी के, विद्वान और मूर्ख के सविषमताओं से कुण्ठित, होना पाया जाता है क्योंकि विद्वान-ज्ञानी, सक्षम-समर्थ, अमीर और बली ये सभी अपने में सार्वभौम शुभ को घटित करने में असमर्थ रहना पाया गया। इसलिए इस विधि से ये सब भी कुण्ठित हैं एवं इसके विपरीत बिन्दु में दिखने वाले मानव भी कुण्ठित है ही। इसलिए मानव का अध्ययन और स्वभाव गति सम्पन्न मानव का स्वरूप मानसिकता, विचार, योजना, कार्य प्रणालियों को अध्ययन करना और कराना एक आवश्यकता ही रहा है।

अस्तित्व में मानव अविभाज्य वर्तमान परंपरा है। अस्तित्व में मानव ही सर्वाधिक रूप में विकसित होना दिखाई पड़ता है। यह :-

1. मानवेत्तर प्रकृति से अपने को सार्वभौम शुभ के आधार पर ही भिन्न होना स्पष्ट हो जाता है।
2. दूसरे विधि से मानव परंपरा चारों आयाम सम्पन्न है (*संस्कृति, सभ्यता, विधि, व्यवस्था)। - म.वि. 34-36

स्पष्टता के लिए मानवकुल आदिकाल से तरसता ही रहा है। प्रयास भी स्पष्टता के क्रम में अभिप्रेत रहा है। मूल मान्यताएं समुदाय और वर्ग केन्द्रित होने के आधार पर तथा दूसरी ओर रहस्य और वस्तुओं के आधार पर जितने भी सोचा गया, प्रयत्न किया गया, प्रयोग किया गया, वर्ग और समुदाय सीमा में ही हितों को सोचना बना। इसलिए सर्वशुभ चाहते हुए वह घटित होना संभव नहीं हुआ। इन तथ्यों का अवलोकन करने पर विकल्प की आवश्यकता और अनिवार्यता स्वाभाविक रूप में स्वीकृत होता है अन्यथा भ्रमित रहना ही होगा।

ऊपर वर्णित घटनाओं का वर्णन, आंकलन और विश्लेषण से यह स्पष्ट हो चुकी है कि वस्तु केन्द्रित विश्व दृष्टिकोण और रहस्यमय ईश्वर केन्द्रित विश्व दृष्टिकोण से मानव का अध्ययन मानव के लिए तृप्तिदायक अथवा समाधानपूर्ण विधि से संपन्न नहीं हो पाया इसलिए मानव के लिए योजित शिक्षा संस्कार और शिक्षा संस्कार को समृद्ध बनाने के लिए प्रबंध-निबंध, पाठ-पाठ्यक्रम, साहित्य, कला सभी मिलकर भी अधूरा ही रह गया। इस मायने में कि सार्वभौम शुभ सर्व सुलभ होने में नहीं आया। साथ ही यह तथ्य अपने आप में अवश्य ही उपादेयी रहा है कि उक्त दोनों प्रकार के विश्व दृष्टिकोण, उससे सम्बन्धित सभी प्रयास अस्तित्वमूलक मानव केन्द्रित चिन्तन के पहले मानव परंपरा में परिलक्षित होना अवश्यंभावी रहा। अस्तु इस बात पर हम सर्वमानव सहमत हो सकते हैं कि बीता हुआ सभी परिवर्तनों का समीक्षा फलों के साथ ही विकल्प की ओर ध्यानाकर्षण होना संभव, आवश्यक और अनिवार्य है। - अ.श. 26-27

अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन का मूल अवधारणाएं निम्नलिखित हैं :-

1. अस्तित्व नित्य वर्तमान है। वर्तमान का तात्पर्य होने-रहने से है।
2. अस्तित्व में मानव अविभाज्य है। अविभाज्यता का तात्पर्य मानवत्व सहित होने-रहने के रूप में कार्यरत रहने से है।
3. अस्तित्व सहित ही संपूर्ण पद, अवस्था, दिशा, देश, कोण, आयाम, परीप्रेक्ष्य स्थिति-गति का होना पाया जाता है। इसी के साथ सह-अस्तित्व में ही विकास क्रम, विकास, जागृति, जागृति में ही संपूर्ण पद, अवस्था, स्थिति गति को देखा जाता है। उदाहरण के रूप में प्रत्येक नर-नारी सह-अस्तित्व में किसी पद और अवस्था में संपूर्ण जड़-चैतन्य प्रकृति का पहचान होना पाया जाता है इनके स्थिति गति को जागृति के आधार पर मानवत्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में देखा जाता है।
4. मानव ही दृष्टापद में है एवं इसे वैभक्ति, प्रमाणित, व्यवहृत करने योग्य इकाई है। अस्तु मानव ही कर्ता-भोक्ता होना भी पाया जाता है।

मानव ही प्रत्येक इकाई में अनन्त कोणों का दृष्टा, एक से अधिक इकाईयों के दिशा, काल और देश का दृष्टा, प्रत्येक एक में स्थिति गति का दृष्टा, प्रत्येक इकाई में अविभाज्य रूप में वर्तमानित रूप, गुण, स्वभाव, धर्म रूपी आयामों का दृष्टा, व्यक्ति, परिवार, ग्राम, देश, राष्ट्र और विश्व परिवार रूपी परिप्रेक्ष्यों का दृष्टा होना अस्तित्वमूलक मानव केन्द्रित चिन्तन सहित सह-अस्तित्व रूपी शाश्वत क्रियाकलाप क्रम में, परमाणु में विकास गठनपूर्णता, उसकी निरंतरता, चैतन्य पद में संक्रमण जीवनपद, जीवनी क्रम, जीवन जागृति क्रम, जागृति, मानवीयतापूर्ण मानव परंपरा और जीवन जागृति पूर्णता फलस्वरूप देव मानव, दिव्य मानव पदों का दृष्टा, कर्ता, भोक्ता होना पाया जाता है। इसी क्रम में स्पष्ट किए गये मानव पद में क्रियापूर्णता और दिव्य मानव पद में आचरण पूर्णता और उसकी निरंतरता का होना पाया जाता है। इस विधि से अस्तित्वमूलक मानव केन्द्रित चिन्तन की अवधारणाएं स्वयं स्पष्ट करता है कि पूर्वावर्ती दोनों विचारधारा से समाधान के अर्थ में भिन्न होना स्पष्ट है। अवधारणा का तात्पर्य ही अध्ययनपूर्वक धारणा के अनुकूल स्वीकृतियों से है। अर्थात्, हम मानव समाधान संपन्न होना चाहते हैं। -अ.श 27-29

अब सह-अस्तित्व दर्शन बनाम मध्यस्थ दर्शन, जीवन ज्ञान और मानवीयता पूर्ण आचरण का प्रतिपादन सार्वभौम व्यवस्था अखण्ड समाज के अर्थ में व्याख्या विश्लेषण सहित प्रस्तुत है। विगत चिंतन क्रम में मानव अभी तक योग संयोग से, अथक प्रयास से, सूझ बूझ तैयार कर पाया। इन सबके पश्चात जो जिज्ञासाएं, प्रश्न चिन्ह विविध प्रकार से समीचीन हैं, इन सबका उत्तर और समाधान अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन है क्योंकि अस्तित्व ही, सह-अस्तित्व के रूप में, नित्य समाधानित है। अस्तित्व में ही मनुष्य भी अविभाज्य है, जीवन भी अस्तित्व में अविभाज्य है। अस्तित्व में ही अपने “त्व” सहित, व्यवस्था के रूप में आचरण है। इन तीनों बिंदुओं को जानना-मानना, पहचानना और निर्वाह करना ही पूर्ण दर्शन, पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण आचरण का तात्पर्य है।

1.4 मानव में समाधान की आवश्यकता

हम मानव सदा से ही सुखी होना चाहते हैं। यह सबको कैसे उपलब्ध हो सकता है ? सोचने, समझने, स्वीकार करने अथवा मान लेने के आधार पर दो प्रकार के प्रयोग हो चुके हैं। पहला भक्ति विरक्ति से सुखी होने का प्रयास और प्रयोग लाखों आदमियों से सम्पन्न हुआ। दूसरी विधि सुविधा-संग्रह से सुखी होने के लिए अथक प्रयास करोड़ों मानव अथवा सर्वाधिक मानवों ने किया। इन दोनों विधियों से सर्वमानव का सुखी होना प्रमाणित नहीं हुआ। इसी रिक्ततावश इसकी भरपाई के लिए किसी विधि की आवश्यकता बन चुकी थी। इसी घटनावश उत्पन्न समाधान के लिए सह-अस्तित्ववादी नजरिया से ज्ञान, कर्माभ्यास और अनुभवमूलक विधि से अनुभवगामी पद्धति सहित प्रस्तुत हुए।

हर मानव सुखी होना चाहता है सुखी होने के लिए बौद्धिक समाधान आवश्यक है। समाधान के लिए समझदारी आवश्यक है। समझदारी का मूल स्वरूप सहअस्तित्व दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान ही होना पाया जाता है। इसे लोकव्यापीकरण करने का आशा इस प्रस्तुति में समाया हुआ है।

हर मानव अपनी पहचान प्रस्तुत करना चाहता ही है। हर मानव की पहचान समाधान समृद्धि अभय सहअस्तित्व रूप में ही पहचानना बनता है और पहचान कराना भी बनता है। इसी आधार पर पूरे मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद को समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व रूपी मानव लक्ष्य को सार्थक बनाने के अर्थ में प्रस्तुत किया गया है। मेरा विश्वास है हर मानव ऐसे ही अध्ययन का स्वागत करेगा।

यह पुस्तिका सर्वमानव शुभ के अर्थ में सम्प्रेषित है। सर्वशुभ के अर्थ में सहअस्तित्व स्वयं निरन्तर प्रभावशील है। सहअस्तित्व के वैभव में ही सम्पूर्ण मानव का शुभ समाया हुआ है। इस तथ्य का अध्ययन कराना उद्देश्य रहा है। हम स्वयं अध्ययन किये हैं। अतएव आपके सौभाग्यशाली वर्तमान के रूप में अनुभव करने के लिए सहायक होगा, ऐसा हमारा निश्चय है।

यह प्रबंध मानव को समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी पूर्वक मानव लक्ष्य, जीवन लक्ष्य को भागीदारी रूप में प्रमाणित करने के लिए प्रेरक है। यह सार्थक हो, सर्वसुलभ हो, मानव कुल अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में सदा-सदा प्रमाणित होता रहे। यही कामना है। - व्य.ज. 234

मानव व्यक्ति के रूप में सदा शुभ चाहता है- यह प्रत्येक व्यक्ति में सर्वेक्षण पूर्वक समझ में आता है। व्यक्ति-व्यक्ति में शुभ के रूप में जीने की कला और विचार शैली के संबंध में मतभेद बना रहता है। यही मानव में अंतर्विरोध है अथवा अपेक्षा के खिलाफ बाह्य विरोध हैं। यह मानव सहज यथार्थ नहीं है अपितु परंपरा का भ्रम है। परम्परा प्रचार और शिक्षा के रूप में सर्वाधिक प्रभावशील होती हैं अथवा प्रत्येक मानव को परंपरा में प्रभावित करने के उक्त दो तरीके समर्थ दिखाई पड़ते हैं। इन दोनों का यथार्थ पर आधारित रहना आवश्यक है। उन्माद, भ्रम, सुविधा, भोग- जैसे सम्मोहन के लिए ही सभी शिक्षा देते हैं और प्रचार करते आए हैं। इसी के साथ रहस्य और आस्था भी बनी रही हैं। इसलिए मानव के लिए आशित सुख, समृद्धि, समाधान और सुन्दरता संभव नहीं हो पाई।

समाधान और व्यवस्था अविभाज्य है। समाधान का धारक-वाहकता प्रत्येक मानव में आवश्यकता के रूप में देखने को मिलता है। व्यवस्था समग्रता के साथ ही प्रमाणित होता है। समाधान जागृति का द्योतक है। हर व्यक्ति जागृत होना

चाहता है। जागृति का मार्ग प्रशस्त होना ही इसका एकमात्र उपाय है। परंपरा में जागृति का तात्पर्य: शिक्षा-संस्कार, व्यवस्था, संविधान में जागृत मानव का लक्ष्य, स्वरूप, कार्य और प्रयोजन स्पष्ट हो जाने से है। संस्कारों का मतलब स्वीकृति से ही है, अवधारणा से ही हैं। अस्तित्व में जागृत मानव के उद्देश्य से अवधारणा को देखा गया वह है-

1. जीवन ज्ञान
2. अस्तित्व दर्शन ज्ञान
3. मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान

ये ही स्वीकारने के लिए वस्तुएँ हैं। मानव परंपरा में जागृति पूर्णता की वस्तु भी इतनी ही हैं। इन्हीं तीन बिंदुओं में इंगित परम सत्य वस्तु को स्वीकारने योग्य परम्परा ही मानव संस्कार परंपरा हैं। उक्त तीनों बिंदुओं में इंगित वस्तु की उपयोगिता विधि, सदुपयोगिता विधि, प्रयोजनशील होने की विधि, अध्ययन की अर्थात् शिक्षा की मूल वस्तुएँ हैं। मानव परंपरा भी अस्तित्व में अविभाज्य वर्तमान हैं। प्रत्येक मानव जीवन और शरीर के संयुक्त साकार रूप में हैं। मानव स्वयं को शरीर मानने के आधार पर इन्द्रिय सन्निकर्ष (इन्द्रियों द्वारा भोग इच्छायें) ही जीवन कार्य में केन्द्र बिन्दु बन जाते हैं। फलस्वरूप अव्यवस्था, समस्या, दरिद्रता, दुष्टता ये सब हाथ लगता है। जबकि शरीर का धारक-वाहक भी जीवन ही हैं। यही प्रक्रिया है। जब तक शरीर और जीवन का सहज ज्ञान नहीं हुआ है तब तक मानव भ्रमित रहता है। इसी आधार पर जीवन जागृत होने की आवश्यकता और प्रेरणा अस्तित्व सहज रूप में है। दूसरी विधि से-

1. मानव अस्तित्व में है।
2. मानव अस्तित्व में अविभाज्य है।
3. मानव जागृतिपूर्वक ही जानता है, मानता है, पहचानता है, निर्वाह करता है। यही जीवन सहज जागृति प्रक्रिया है।
4. जागृति प्रक्रिया ही प्रत्येक मानव के प्रमाणित होने का वैभव है।

अस्तित्व में रासायनिक-भौतिक क्रियाकलापों को सह-अस्तित्व सहज विधि से जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना, जागृति का प्रमाण है। सह-अस्तित्व स्वयं व्यवस्था है या कह सकते हैं कि सह-अस्तित्व के रूप में व्यवस्था नित्य वर्तमान है। वर्तमान ही मानव में, से, के लिए अध्ययन की संपूर्ण वस्तु हैं। इस प्रकार से अस्तित्व ही सह-अस्तित्व है। सह-अस्तित्व में विकासक्रम, विकास, जीवन, जीवन जागृति, रासायनिक-भौतिक रचना एवं विरचनाएँ अध्ययन के लिए संपूर्ण आयाम है। जबकि अस्तित्व समग्र ही अध्ययन के लिए, संस्कार के लिए, व्यवस्था के लिए संपूर्ण संप्राप्ति है। यह सदा ही मानव में, से, के लिए समीचीन रहता ही है। जितना भी परेशानी, व्यतिरेक और समस्याओं को मानव ने झेला है वह सब शिक्षागद्दी, राजगद्दी और धर्मगद्दी की करामात है। आज की स्थिति में शिक्षा गद्दी प्रधान है। शिक्षा के धारक-वाहक के रूप में सभी दिग्गज, बुद्धिजीवी, नेता, साहित्यकार सम्मान पाना चाह रहे हैं जबकि यह हो नहीं पा रहा है।

जब मैं जागृति पूर्वक अस्तित्व सहज अध्ययन के लिए प्रस्तुत हुआ तब यह पता लगा कि अस्तित्व समग्र ही अध्ययन की वस्तु हैं, तभी यह भी पता लगा कि मानव भी अस्तित्व में अविभाज्य है। 'मानव जीवन और शरीर का संयुक्त साकार रूप है' - इसे पहले स्पष्ट किया जा चुका है। इसी क्रम में यह भी देखने को मिला कि जीवन ही सह-अस्तित्व

में जागृति पूर्वक दृष्टा पद प्रतिष्ठा पाता हैं। यही जीवन तृप्ति का आधार बिंदु हैं और यही जीवन जागृति परंपरा रूप में प्रमाणित होना-रहना सहज जागृति को प्रमाणित करने का अधिकार है। इस क्रम में मानव ही जागृति पूर्वक दृष्टा पद में है- यह ख्यात होता है। ख्यात होने का तात्पर्य है कि इंगित तथ्य सभी को स्वीकार हो चुका है। इसका लोक व्यापीकरण हो सकता हैं और प्रत्येक व्यक्ति इसे स्वीकारने के लिए बाध्य है। इस बाध्यता का तात्पर्य आवश्यकता, विचार, इच्छा, कल्पना के रूप में सहमति से है। जागृति सहज आवश्यकता के संदर्भ में परीक्षण किया जा सकता है। बच्चे, बूढ़े, ज्ञानी, अज्ञानी, गरीब, अमीर सबसे इस बात की परीक्षा की जा सकती है कि जागृति एक आवश्यक तत्व है या नहीं। सबका निष्कर्ष यही होगा कि जागृति आवश्यक है। इस प्रकार मानव में जागृति की आवश्यकता ख्यात होना प्रमाणित है। – स.वि. 113-117

जीवन ज्ञान – जीवन में, से, के लिये ही होता है। सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान, सह-अस्तित्व में, से, के लिये ही होता है। इन दोनों विधाओं का दृष्टा जीवन ही होना पाया जाता है फलस्वरूप मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान विधि से दृष्टा पद की महिमा स्पष्ट है। इस विधि से जीवन ज्ञान अर्थात् देखने समझने वाला, दिखने वाला भी जीवन सहित होना स्पष्ट हुआ। देखने वाला जीवन, दिखने वाला सह-अस्तित्व यह अस्तित्व दर्शन के रूप में स्पष्ट हुआ। जीवन सह-अस्तित्व में अविभाज्य वर्तमान होने के आधार पर जीवन का अस्तित्व भी सहज होना पाया जाता है। –आ.व. 204

अध्याय 2: सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व

2.1 सहअस्तित्व, विकासक्रम, विकास, जागृति, जागृति

(A) सहअस्तित्व की पहचान

मानव अस्तित्व में ही कार्य-व्यवहार, विचार और अनुभव करना चाहता है। अस्तित्व में, अस्तित्व के अतिरिक्त समझने, सोचने, कार्य-व्यवहार अथवा अनुभव करने का कोई आधार नहीं होता, क्योंकि अस्तित्व से अधिक और कम सभी कल्पनायें भ्रम ही होती हैं।

भ्रम का तात्पर्य सत्य सा प्रतीत होते हुए सत्य न होना है। अस्तित्व सत्ता में अर्थात्, अरूपात्मक अस्तित्व में सम्पृक्त प्रकृति (रूपात्मक अस्तित्व) है। इसलिए अध्ययन के लिए सम्पूर्ण वस्तु अस्तित्व ही है। – भ.व. 63 – 71

सहअस्तित्व = व्यापक सत्ता (*अरूपत्मक अस्तित्व, शून्य) में संपृक्त (*भीगा, डूबा, घिरा) जड़-चैतन्य प्रकृति (रूपात्मक अस्तित्व)

समस्त परिणाम, परिमार्जन एवं परिवर्तन पाँच प्रकार से दृष्टव्य है:-

(1) सह-अस्तित्व रूपी अस्तित्व में (2) विकासक्रम (3) विकास (4) जागृति क्रम (5) जागृति।

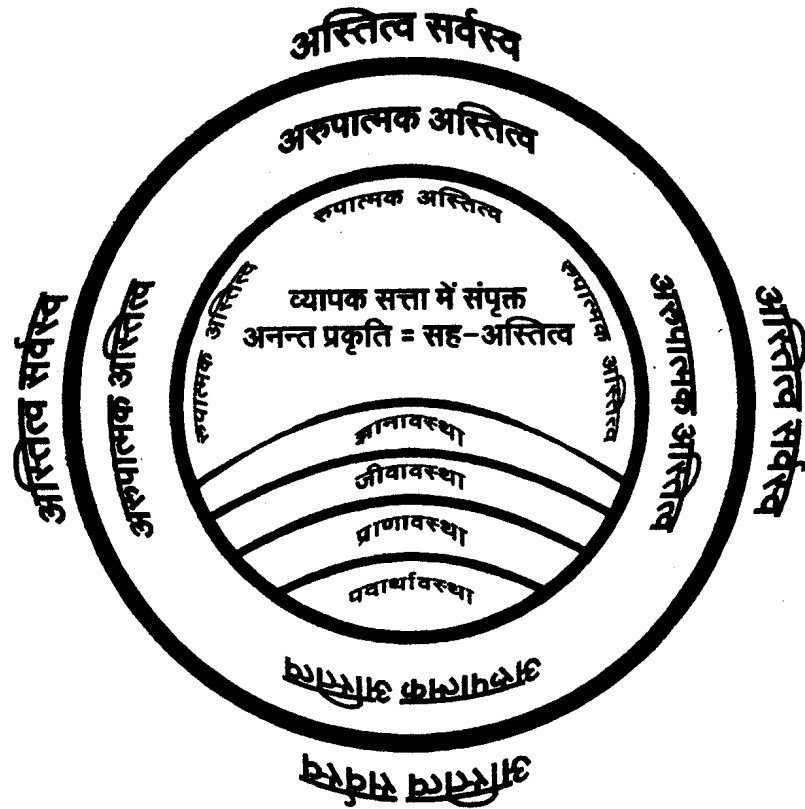
पदार्थावस्था परिणाम पूर्वक यथास्थिति पूरक रूप में प्रयोजनशील है। प्राणावस्था परिणाम पूर्वक स्पन्दन, पुष्टि सहित रचनाशील यथास्थिति व पूरक के रूप में प्रयोजनशील है। जीवावस्था परिवर्तन, परिणाम सहित जीने की आशा पूर्वक यथास्थिति पूरकता सहित प्रयोजनशील है। मानव ज्ञानावस्था में गण्य है। यह परिमार्जन पूर्वक जागृति और जागृति पूर्णता सहज परम्परा है। यही यथास्थिति पूरकता रूप में प्रमाण होना पाया गया है।

अरूपात्मक अस्तित्व की पहचान

अरूपात्मक अस्तित्व स्वयं में निरपेक्ष ऊर्जा के रूप में वैभूत है। यह गति, तरंग, दबाव विहीन नित्य वर्तमान स्थिति में है। साथ ही सर्वकाल में एक सा विद्यमान भासमान और बोध व अनुभवगम्य है। इसी सत्यतावश अरूपात्मक अस्तित्व मूल रूप में साम्य ऊर्जा, परम ऊर्जा अथवा निरपेक्ष ऊर्जा के अर्थ में नित्य विद्यमान है। यही निरपेक्ष सत्ता है। इसे हर एक-एक की परस्परता के मध्य में होना पाया जाता है। ('आप हमारे बीच जो खाली स्थली है, वही व्यापक वस्तु है' – १९९९)

''सत्ता स्थितिपूर्ण है। सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति स्थितिशील है।'' सत्ता स्थितिपूर्ण होने की सत्यता उसकी व्यापकता से सिद्ध होती है क्योंकि अरूपात्मक अस्तित्व न हो, ऐसा कोई स्थान और काल सिद्ध नहीं होता।

सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति अनन्त इकाईयों का समूह है। इकाई का तात्पर्य छः ओर से सीमित पदार्थ पिण्ड से है। प्रकृति की मूल इकाई परमाणु हैं क्योंकि परमाणु में ही विकास और हास सिद्ध होती है। परमाणुओं का निश्चित गतिपथ सहित अस्तित्व में होना पाया जाता है। ऐसे गति पथ और परमाणु अंशों के सभी ओर अरूपात्मक अस्तित्व दिखाई पड़ता है। इससे स्पष्ट होता है कि अरूपात्मक अस्तित्व में ही सम्पूर्ण रूपात्मक अस्तित्व सम्पृक्त एवं ऊर्जा सम्पन्न है। प्रत्येक इकाई में ऊर्जामयता का साक्ष्य परमाणु के पूर्व रूप में और परमाणु के पर रूप में क्रियाशीलता से स्पष्ट है।



रूपात्मक अस्तित्व की पहचान:-

प्रकृति अनन्त इकाईयों का समूह है। प्रकृति की मूल इकाई परमाणु है। प्रत्येक इकाई अपनी परमाण्विक अवस्था में व्यवस्था सहित सचेष्ट है, क्योंकि सत्ता में सम्पृक्त होने के कारण उसे ऊर्जा प्राप्त है। प्रकृति में ऐसी कोई इकाई या अंश नहीं है जो ऊर्जा संपन्न न हो। इसी कारणवश प्रत्येक इकाई क्रियाशील है। यह क्रियाशीलता प्रत्येक इकाई में श्रम, गति और परिणाम के रूप में दिखाई देती है।

इकाईत्व + ऊर्जा सम्पन्नता = क्रियाशीलता

जड़ इकाई से तात्पर्य छः ओर से सीमित पदार्थ पिंड की प्रकाशमानता + परावर्तन से है। परावर्तन ही प्रकाशमानता है।

इकाई और ऊर्जा सम्पन्नता का वियोग कभी नहीं होता। इसी सत्यतावश क्रियाशीलता निरन्तर देखने को मिलती है। इसीलिये सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति सत्ता में स्वाभाविक रूप से गर्भित होने के कारण, सत्ता में अनुभव पर्यन्त विकास के लिए नित्य प्रवर्तित है। क्योंकि सत्ता स्थिति पूर्ण है। प्रकृति पूर्ण में गर्भित है। इसीलिए पूर्णता के लिए प्रवर्तन होना अस्तित्व सहज सिद्ध हुआ।

क्रियाशीलता स्वयं सम, विषम एवं मध्यस्थ शक्तियों के रूप में गण्य होती है। सम, विषम शक्तियाँ परस्परता में आवेश के रूप में देखी जाती है। उसे सामान्य बनाना मध्यस्थ क्रिया का कार्य है। इसे हम छिपी हुई ऊर्जा के नाम से जानते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सम, विषम शक्तियाँ कार्य ऊर्जा के रूप में मध्यस्थ शक्ति छिपी हुई ऊर्जा के रूप में प्रकृति में नित्य वर्तमान है।

स्वभाव गति प्रतिष्ठा ही इकाई की सम्पूर्णता व इकाई की निरन्तरता है। आवेशित गति को अधिकतम आवेशित कर किसी प्रणाली के द्वारा स्वेच्छात्मक रूप में क्रिया कराना ही आज विज्ञान का आधार है। ऐसी घटना अर्थात् आवेशों पर आधारित होने की मानसिकता इसीलिए हुई कि मध्यस्थ क्रिया और उसकी महिमा को आज तक पहचाना नहीं गया। धन-ऋणात्मक आवेशों में ही सापेक्षता सिद्ध होती है। यही अधिक और कम का भी अर्थ है। अधिक और कम, दोनों पूर्ण नहीं होते और इसी कारण स्थिर नहीं होते। फलतः मध्यस्थ शक्ति ऋण एवं धन आवेशों (शक्तियों) को सामान्य बनाने के लिए सतत कार्य करती रहती है क्योंकि मध्यस्थ शक्ति (क्रिया) का लक्ष्य पूर्णता है। इसका साक्ष्य पूर्णता और उसकी निरन्तरता है। इसी कारण प्रत्येक इकाई (परमाणु) का वर्तमान पूर्ण होने के क्रम में ही व्यवस्था अथवा नियति क्रम स्पष्ट है। यही अस्तित्व में विकासक्रम और विकास का प्रकाशन है। - क.द. 35

प्रत्येक इकाई में नियन्त्रण बल व क्रियाशीलता अविभाज्य रूप में वर्तमान हैं तथा अपनी स्वाभाविक गति में समान होते हैं। इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक इकाई अपनी सम्पूर्णता में ध्रुव होती है। ध्रुवता से तात्पर्य आचरण की स्थिरता से है। सम्पूर्णता का तात्पर्य नियंत्रण, क्रियाशीलता और बल सम्पन्नता से है। नियंत्रण क्रियाशीलता और बल सम्पन्नता प्रत्येक इकाई का नित्य वैभव है। इसका पराभव कभी नहीं होता। अस्तित्व सत्ता में संपृक्त प्रकृति होने के कारण सत्ता में से वस्तु का वियोग नहीं होता। इसी कारण इकाई का वैभव नित्य शाश्वत और स्थिर सिद्ध होता है। स्थिरता का तात्पर्य अस्तित्व की नित्यता और क्रिया की निरन्तरता में है।

- प्रत्येक इकाई का स्वभाव गति में वैभव है।
- प्रत्येक भौतिक-रासायनिक क्रिया श्रम, गति, परिणाम का अविभाज्य वर्तमान।
- श्रम और परिणाम के संयुक्त रूप में गति है।
- गति और परिणाम के संयुक्त रूप में श्रम है।
- श्रम और गति के संयुक्त रूप में परिणाम है।
- क्रिया = श्रम, गति, परिणाम - भ.व. 49 - 51

सत्ता में संपृक्त प्रकृति ऊर्जा सम्पन्न बल सम्पन्नता क्रम में क्रिया के रूप में व्याख्यायित है। क्रिया श्रम-गति-परिणाम का संयुक्त रूप ही है। इसलिए मानव अध्ययन कर सकता है। सत्ता स्थिति पूर्णता के रूप में अर्थात् सर्वदा व्यापक पारदर्शी-पारगामी के रूप में ही विद्यमान है। इसलिए इसे स्थितिपूर्ण नाम है। ऐसी स्थितिपूर्ण सत्ता में अनंत इकाईयों के रूप में अथवा अनगिनत एक-एक के रूप में स्थितिशील प्रकृति सहज जड़-चैतन्य रहना दृष्टव्य है। यही अस्तित्व स्वयं सह-अस्तित्व होने का प्रमाण है। पूर्ण में संपृक्त प्रकृति, पूर्णता में गर्भित होना (पूर्णता का आशय सम्पन्न रहना) इस प्रकार से देखा जा सकता है कि प्रत्येक परमाणु अंश एक-दूसरे को पहचानते हैं। इसका प्रमाण निश्चित अच्छी दूरी में है। इतना ही नहीं, निश्चित कार्य और आचरण करते हैं। इसके आगे प्रत्येक परमाणु दूसरे परमाणु को पहचानते हैं। इसका प्रमाण अणुओं के रूप में परमाणुओं का होना स्पष्ट है।

यथा परमाणु-अंश एक दूसरे के साथ निश्चित दूरी, निश्चित कार्य, निश्चित फलन के साथ-साथ परमाणु गठित होता है। इसके मूल में सह-अस्तित्व रूपी अस्तित्व में ऊर्जा-सम्पन्नता, बल-सम्पन्नता का स्वरूप स्पष्ट किया जा चुका है। इसी आधार पर परमाणु सहज क्रियाकलाप का मानव अपने भाषा में अपने ही दृष्टापद प्रतिष्ठा के अनुरूप व्यक्त करने पर जितने भी परमाणु अंश परमाणु में कार्यरत हैं, वे सब एक दूसरे को पहचानते हैं। प्रत्येक परमाणु गतिपथ और गति पथों सहित कार्यरत रहना, निर्वाह करने का द्योतक है। इस प्रकार प्रत्येक परमाणु अंश पहचानने और निर्वाह करने का प्रवर्तन सम्पन्न रहता है। इसका गवाही यही है, सभी परमाणु अंश किसी न किसी परमाणु गठन में ही कार्यरत रहते हैं। किसी परमाणु अंश गठन से बाहर यदि दिखते हैं अथवा मानव घटित करता है, पुनः वे सब मिलकर परमाणु के रूप में गठित होने के प्रयास में रहते हैं अथवा किसी परमाणु में समावेश होने के प्रयास में रहते हैं। परमाणु अंश से ही पहचानने, निर्वाह करने का क्रियाकलाप, तदुसार निरीक्षण-परीक्षण पूर्वक सर्वेक्षित होता है।

एक से अधिक परमाणुओं का गठन को हम अणु कहते हैं। मूलतः परमाणु ही अणु रचना करते हैं। सभी प्रकार के अणु अपने-अपने सजातीय परमाणुओं से रचित रचना है। सम्पूर्ण अणु स्वरूप को एक ही प्रजाति के परमाणुओं से रचित रचना के रूप में अणुओं को देखा जाता है। अणु के अनन्तर ही सजातीय-विजातीय अणु संयोग, बड़े-छोटे भौतिक रचनाएँ होती हैं। यथा धरती-ग्रह-गोल जैसी बड़ी-बड़ी रचनाएँ होती हैं और विभिन्न धातु, विभिन्न प्रकार के पत्थर, विभिन्न प्रकार की मणियाँ, विभिन्न प्रकार की मिट्टी के रूप में रचनाएँ हुई।

ये सब सह-अस्तित्व सहज पूरकता उपयोगिता विधि से गठित हुई हैं। एक से अधिक परमाणु अंशों का एकत्रित होना सह-अस्तित्व का ही नित्य प्रभाव है- महिमा है क्योंकि अस्तित्व ही सह-अस्तित्व है। इस विधि से एकदूसरे को

पहचानना, साथ में होना, के स्वरूप को अथवा शुद्ध सह-अस्तित्व के स्वरूप को अणु-रचना पर्यन्त शुद्ध तात्विक वस्तु के रूप में देखा जाता है। – अ.श. 75-77

(B) परमाणु में विकास क्रम

(प्रकृति में रचना क्रम, भौतिक-रासायनिक रचना विरचना)

परमाणु संरचना को पहचानने की कामना मानव में सुदूर विगत से ही पायी जाती है।

मानव विघटन विधि से मूल वस्तु तक पहुँचने के लिए सोच, विचार, प्रयोग किया। विघटन के अंत में कोई निश्चित मूल वस्तु की अपेक्षा भी बनी रही।

उक्त मानसिकता के साथ प्रयोग करता हुआ मानव इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि किसी भी वस्तु को विघटित करते रहेंगे तो कोई ऐसी स्थिति में पहुँचेंगे जहाँ विघटित इकाईयाँ स्वचालित रूप में कार्य करता हुआ समझ में आता है। ऐसी कार्यरत इकाई को हम परमाणु कहते हैं। यह सब कैसे कार्यरत है इसको समझने की इच्छा भी मानव में बनी रही है।

परमाणु के मध्य में एक या अधिक अंश और परिवेशों में घूमता हुआ एक या अधिक अंश होने की व्यवस्था है। इससे कम में परमाणु की बात बनती नहीं। मध्य या परिवेश में अंश की संख्या बढ़ती जाये, यह मानव कल्पना में आ ही जाती है।

इस संदर्भ में दो मुख्य प्रश्न ध्यान में आये – 1. परमाणु अंश परस्परता में पहचान कैसे बना पाये ? 2. पहचानने के उपरांत वे व्यवस्था में क्यों हो गये ? इस सोच को आगे बढ़ाने पर समझ में आया कि सहअस्तित्व ही इसका प्रधान कारण है, क्योंकि व्यापक वस्तु ऊर्जा में ही संपूर्ण एक एक वस्तु डूबी, भीगी, घिरी है। व्यापक वस्तु इन सब में पारगामी है। इस प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं बड़ी से बड़ी इकाई का व्यापक में संपृक्त रहने के आधार पर ऊर्जा सम्पन्न रहना स्पष्ट हुआ। ऊर्जा संपन्नतावश ही बल संपन्नता एवं चुम्बकीय बल संपन्नता होना समझ में आता है। इस बल संपन्नतावश ही सूक्ष्म परमाणु अंश में परस्परता को पहचानने और व्यवस्था में भागीदारी करने की प्रवृत्ति है। एक दूसरे की पहचान को इस बल के प्रमाण के रूप में स्वीकार करने के लिए मनुष्य का होना आवश्यक है। मनुष्य ही प्रवृत्ति, कार्य, फलन को पहचानने के सहज अधिकार से संपन्न है। इसी क्रम में मनुष्य जब एक दूसरे को पहचानते हैं, वहाँ व्यवस्था के रूप में ही अपने को प्रस्तुत करते हैं। जहाँ-जहाँ इस अर्थ को पहचानने में चूक किये रहते हैं, अव्यवस्था के रूप में कार्य व्यवहार करते हुए समस्या का कारण बनते हैं। इस तरह यह समझ में आता है कि प्रत्येक परमाणु अंश (व्यापक में संपृक्त होने के आधार पर) एक दूसरे को पहचानने के फलस्वरूप ही व्यवस्था में कार्यरत हैं। व्यवस्था का कार्यरूप निश्चित आचरण ही है।

उक्त प्रकार से प्रत्येक परमाणु अंश भी ऊर्जा सम्पन्न होने के फलस्वरूप एक दूसरे को पहचानना स्वाभाविक होता है, इस पहचानने का प्रयोजन संयुक्त रूप में आचरण करना, इसे एक शाश्वत नियम के रूप में समझा गया। इससे यह भी सूत्र निकलता है कि ऐसे पहचानने के आधार पर ही गठन-संगठन होना और गठन-संगठन का व्यवस्था के अर्थ में

प्रमाणित होना, नित्य वर्तमान है। इस प्रकार व्यापक वस्तु में ही संपूर्ण एक-एक वस्तुएँ संपृक्त होना और इसे सहअस्तित्व के रूप में समझ पाना सुलभ हो गया है। इस क्रम में सहअस्तित्व नित्य प्रभावित होना, हम मानव को स्वीकार होता है।

सह अस्तित्व ही मूल सूत्र और व्यवस्था का आधार हुआ। हर स्थिति गति के मूल में सहअस्तित्व सुस्पष्ट है। इस प्रकार सहअस्तित्व ही विविध कार्य (क्रिया), उन-उन के आचरण का आधार होना सुस्पष्ट हुआ।

परमाणुओं में कार्यरत अंशों के संख्या भेद होने से ही आचरण भेद होना पाया गया। ऐसे आचरण भेद के आधार पर ही परमाणु की प्रजाति और प्रजातियों की संख्या का निर्धारण करने का मानव ने प्रयास किया। इस धरती पर 108 प्रजातियों के परमाणु होने का दावा मानव अभी तक कर चुके हैं और प्रजाति के परमाणु को खोज करने की आशा बनाये हुए हैं।

परमाणु को इस प्रकार समझने पर व्यवस्था केन्द्रित मानसिकता में हम मानव स्पष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप, मानव अपने में सहज व्यवस्था को पहचानने को तत्पर होना सहज रहा। इस क्रम में मानवीयतापूर्ण आचरण को समझना मानव के लिए सहज हो गया। इससे मूल्य, चरित्र, नैतिकता का संयुक्त अभिव्यक्ति, संप्रेषणा, प्रकाशन मानव परंपरा में, से, के लिए व्यवस्था का आधार होना पाया जाता है।

इसी तथ्यवश पशु-संसार, वनस्पति-संसार और खनिज संसार - ठोस, तरल, विरल रूप में जितने भी प्रजाति गण्य है, सभी के मूल में परमाणु ही है तथा (चैतन्य) जीवन भी परमाणु है। हर प्रजाति का परमाणु निश्चित आचरण करता है। इसलिए मानव भी (जो जीवन और शरीर का संयुक्त रूप है) निश्चित आचरणपूर्वक व्यवस्था में जीना चाहता है। परमाणु संरचना की महिमा आचरण में ही स्पष्ट होना और आचरण अपने में क्रिया के रूप में होना सहज रहा।

परमाणु रचना के संदर्भ में यह भी स्पष्ट होता है कि परमाणु अंश एक दूसरे के सहअस्तित्व में ही प्रमाणित होते हैं। असीम अवकाश (व्यापक) में अलग रहने वाला परमाणु अंश व्यवस्था रूपी आशय को प्रमाणित किये नहीं रहता है, इसलिए असीम अवकाश में घूर्णन रूप में कार्य करता हुआ, दूसरे अंश की तलाश में रहता है। अंततः वह किसी दूसरे परमाणु में समाहित हो जाता है, या दूसरे परमाणु अंश के साथ निश्चित परमाणु बना लेता है। इससे यह पता लगता है कि परमाणु गठन के उपरांत ही व्यवस्था का प्रकाशन, व्यवस्था प्रकाशित होने के क्रम में आचरण का प्रकाशन होता है। यही भौतिक, रासायनिक और जीवन क्रियाकलाप के रूप में स्पष्ट है।

परमाणु संरचनाएँ एक से अधिक अंशों पर आधारित रहना स्पष्ट हो चुकी है, यह भी स्पष्ट हो चुकी है कि हर प्रजाति का परमाणु स्वचालित रहता है। इनका आचरण निश्चित होता है।

हर परमाणु की रचना मध्यांश तथा परिवेशों में कार्यरत अंशों के रूप में समझ में आती है। परिवेशों में जितने भी अंश कार्य कर रहे हैं, उतने अंश मध्य में होते ही हैं, उससे अधिक होना भी संभावित है। परिवेशों का मतलब मध्यांश के सभी ओर चक्कर काटता हुआ अंशों से है। ऐसे परिवेश एक व एक से अधिक होते हैं। ये परिवेश चार से अधिक होने पर घटने और चार से कम होने पर बढ़ने की संभावना सदा-सदा बनी रहती है। ऐसे परमाणु विभिन्न संख्यात्मक स्थितियों में अपने-अपने प्रजाति के स्वरूप में विद्यमान रहते हैं। इन परमाणुओं में निहित मध्यांशों की संख्या के

आधार पर भार निर्भर रहता है। इसी स्वरूप में निहित भार वश एक परमाणु दूसरे परमाणु को पहचानते हुए एकत्रित होते हैं, इसे हम अणु कहते हैं। ऐसे अणु ठोस, तरल, विरल रूप में पाये जाते हैं। ठोस रचनाएँ धरती जैसे बड़े-बड़े रचना के रूप में स्पष्ट हो चुकी हैं। तरल वस्तु ही रासायनिक संसार की आरंभिक वस्तु मानी जाती है। यह सब यौगिक विधि से घटित होते हैं। इसमें मानव का कोई योगदान नहीं होता, मानव केवल इसको अध्ययन करता है। अध्ययन इसलिए आवश्यक है कि इनके साथ सहज कार्य व्यवस्था को पहचानना संभव हो पाता है। रसायन द्रव्यों के आधार पर ही पुष्टि-तत्व, रचना-तत्व के योगफल में प्राणकोषाओं का क्रियाकलाप स्पष्ट होता है।

भौतिक रासायनिक क्रियाकलाप के मूल में परमाणु और अणु ही क्रियाकलाप करता हुआ पहचानने में आता है। इस प्रकार अणु अपने स्वरूप में निरंतर व्यवस्था के रूप में ही काम करता है। व्यवस्था के रूप में काम करने का प्रमाण व्यवस्था क्रम में आगे की स्थिति गति स्पष्ट होने से है (वर्तमान होने से है)।

प्रत्येक परमाणु और अणु अपने प्रजाति का एक सीढ़ी होना पाया जाता है। सीढ़ी होने का तात्पर्य उसकी यथास्थिति, उसकी निरंतरता से ही है। जैसे दो अंश के परमाणु के रूप में एक यथास्थिति है। यही एक सोपान है। इनका निश्चित आचरण होना ही इनका वैभव है। ऐसा निश्चित आचरण होना ही, आगे सोपान का आधार होना बन जाता है, बना ही रहता है। विभिन्न संख्यात्मक अंशों वाले परमाणु, अणुओं का निश्चित आचरण स्थापित हुआ ही रहता है। यही एक अद्भुत स्वयंस्फूर्त व्यवस्था स्वरूप, मानव के समक्ष सुस्पष्ट है।

ऐसे भौतिक अणु-परमाणु रासायनिक क्रियाकलाप में भागीदारी करता हुआ प्रत्येक स्थिति गति के रूप में अध्ययन गम्य है। इन सभी अणु परमाणुओं का सुस्पष्ट प्रयोजन, धरती जैसी बड़ी-बड़ी रचना के रूप में स्पष्ट होता है। यह इस बात का द्योतक है कि धरती पर रासायनिक क्रिया आरंभ होने के पहले जितने प्रजाति के परमाणु अणु होना आवश्यक है, यह नियति सहज विधि से ही संपन्न हुआ रहता है। नियति सहज विधि का तात्पर्य ही सहअस्तित्व विधि से है। सभी प्रजाति के परमाणु-अणु से संपन्न होने के उपरांत ही यौगिक प्रवृत्ति व प्रक्रियायें संपन्न होती रहती है। इस धरती पर इसका गवाही सुस्पष्ट है।

उक्त सभी प्रकाशन, पदार्थावस्था में अणु परमाणु प्रजाति के आधार पर होना, अणु परमाणुओं की प्रजातियाँ परमाणु अंशों की संख्या पर निर्भर रहना सुस्पष्ट है। अंशों की संख्या बदलना और बदलने के फलस्वरूप ही परिणाम है। ऐसे परिणाम निरंतर बने ही रहते हैं। इसी क्रियाकलाप का नाम है प्रस्थापन-विस्थापन। परमाणुओं में प्रस्थापन-विस्थापन, परिणाम सहज आशय को पूरा करने के लिए ही बना रहता है। इसी में एक दूसरे के साथ पूरक होने की प्रक्रिया का आशय भी संपन्न हुआ रहता है। किसी भी परमाणु से कुछ अंश विस्थापन होने से पूर्व वह परमाणु आवेशित रहना पाया जाता है, आवेशित होने के फलस्वरूप ही किसी परमाणु से विस्थापित होना संभव होता है। वह अंश किसी परमाणु में समा जाता है। इसी क्रिया का नाम प्रस्थापन है। इस प्रकार विस्थापित होने के बाद, विस्थापित परमाणु स्वभाव गति में होता है, प्रस्थापित परमाणु प्रस्थापित अंश को समा लेने के बाद उत्सवित होकर स्वभाव गति प्रतिष्ठा में होता है। स्वभाव गति प्रतिष्ठा में ही हर परमाणु, अणु, अणु रचनाएँ निश्चित आचरण को संपन्न करता हुआ स्पष्ट होता है। निश्चित आचरण ही व्यवस्था का प्रमाण है। इस क्रम में विकास का आशय समाहित रहता है।

(इस ढंग से) विकास क्रम में अनेक प्रजाति के अणु, परमाणु, अणु रचित रचनाएँ सुस्पष्ट हैं। जैसे धरती एवं अनेक ग्रह-गोल अस्तित्व में विद्यमान है। ये सभी रचनाएँ ठोस, तरल, विरल के रूप में ही वर्तमान हैं। इस धरती पर ये तीनों स्थितियाँ सुस्पष्ट हैं। इनमें से तरल वस्तु के रूप में जो पानी है, वही सर्वप्रथम यौगिक क्रिया का वैभव है। पानी का धरती के संयोग के आधार पर अम्ल और क्षार होना पाया जाता है। इनका निश्चित मात्रा तक उदय होने के बाद ही ब्रह्माण्डीय ऊष्मा के संयोजन से, प्रतिबिम्बन (परस्परता में पहचानने का आधार) प्रभाव से पुष्टि तत्व व रचना तत्व के रूप में द्रव्य रचनायें होना पानी में पाया जाता है। इसके मूल रूप को 'काई' कहा जाता है। ऐसे काई के अनन्तर ही प्राणकोषाओं से रचित रचनायें एककोशीय, द्विकोशीय, बहुकोशीय विधि से घटित हो चुकी है। यह एक रचना में विकास क्रम को प्रदर्शित करता है।

यह धरती अपने में मृदा, पाषाण, मणि, धातु के रूप में बड़ी रचना के रूप में विद्यमान है। यौगिक क्रिया वैभव के रूप में प्राणकोषाओं से रचित रचनाओं को वनस्पति संसार कहते हैं। ये सभी वनस्पति संसार धरती से अभिन्न रहते ही हैं, धरती के साथ जुड़े ही रहते हैं। इससे यह पता लगता है कि धरती के रूप में वैभवित द्रव्यों के संयोजन से ही यौगिक क्रिया वैभव संपन्न होना और इसके मूल स्वरूप से भिन्न व्यक्त होने का उत्सव होना होता है। यही रासायनिक उर्मि है। रासायनिक द्रव्यों के उत्सव को हम उर्मि कह रहे हैं।

हर प्राणकोषा में प्राण सूत्रों का होना पाया जाता है। इसी में रचना-तत्व व पुष्टि-तत्व निश्चित मात्रा में समाया रहता है और रचना विधि निहित रहता है। ऐसे प्राणसूत्र अपने में श्वसन क्रिया संपन्न रहते हैं। इनमें अपने जैसे सूत्रों को विपुलीकरण करने का उत्सव बना रहता है। इसके लिए रासायनिक द्रव्यों की उपलब्धि, निश्चित उष्मा का योग आवश्यक रहता ही है। ऐसी प्राणकोषायें जीवों के, मनुष्य के, शरीर के, हड्डी के पोल में भरे रसों में निर्मित होना पाया जाता है और यह शरीर की आवश्यकतानुसार वितरित होता है। इसी के साथ प्राणसूत्रों के संयोजनवश अनेक सूत्र और कोषा निर्मित होते हैं। फलस्वरूप ऐसी कोशिकायें रसायन द्रव्यों के साथ, रक्त के रूप में अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखते हुए, शरीर की रचना में कार्य करता हुआ देखने को मिलता है। वनस्पति संसार में, रस संचार तंत्रणा में पत्ती और जड़ की क्रियाकलाप से रस संचय होता है, फलस्वरूप प्राणकोषायें बनती रहती हैं। इस प्रकार रचनायें, रचनाओं में विकास प्रवृत्ति, प्राणकोषाओं में समाहित रहना सुस्पष्ट है। इसका प्रमाण रचनाओं में विविधता ही है। वर्तमान में पायी जाने वाली विभिन्न रचनायें, रचना में विकासक्रम की गवाही है। इस क्रम में मनुष्य शरीर रचना तक का वैभव इस धरती पर स्पष्ट हो चुका है।

प्राणकोषाओं से रचनायें छोटे बड़े पौधे, वृक्ष, लता, गुल्म के रूप में होते हुए आगे छोटे, बड़े जीवों के शरीर के रूप में अपने को स्पष्ट करती है। वनस्पति संसार की रचनाओं में कार्यरत प्राणकोषाएँ विकसित होकर रचना विधि में परिवर्तन को व्यक्त करती हैं जो जीव शरीर संसार की रचनायें, वह भी मनुष्य शरीर तक की रचना का आधार बनती है, यह सुस्पष्ट हो चुकी है। प्रकृति में चार अवस्थायें द्रष्टव्य है। पदार्थावस्था मृदा पाषाण आदि के रूप में। प्राणावस्था पेड़-पौधे, वनस्पति संसार के रूप में। जीवावस्था और ज्ञानावस्था शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में द्रष्टव्य है। प्राणावस्था व जीवावस्था के शरीर के रचना क्रम में स्वदेज संसार होना भी पाया जाता है।

यह ऐसे देखने को मिलता है कि वनस्पति संसार का अवशेष सूखा पत्ता आदि जब एकत्रित होते हैं, पानी और ऊष्मा पाकर अनेक भुनगी-कीड़े अपने आप पैदा हो जाते हैं। यही आगे अण्डज संसार के रूप में प्रदर्शित होते हैं। इस विधि से ये गुणवत्ता को स्थापित करता हुआ देखने को मिलता है। यह स्वेदज संसार जलचर, भूचर, नभचर के रूप में देखने को मिलता है। अण्डज संसार बलवती होते हुए आकाश में उड़ता हुआ पक्षियों के रूप में, बड़े-बड़े जलचरों और भूचरों के रूप में देखने को मिलते हैं। ऐसे अण्डज संसार पिण्डज संसार को जोड़ता है। पिण्डज संसार अपने में अण्डज संसार से विकसित रचना है। अण्डज, पिण्डज संसार के उपरांत रासायनिक द्रव्यों का विश्लेषण-संश्लेषण सप्त धातुओं के रूप में होता हुआ मनुष्य शरीर रचना तक सुस्पष्ट हुई है। - क.द. 67

अण्डज-पिण्डज संसार रचना क्रम में शरीर रचना के लिये आवश्यकीय सभी रासायनिक द्रव्य और भौतिक वस्तुएं सहज सुलभ होने के क्रम में, मेधस रचना क्रम शरीर रचना क्रम के साथ आरम्भ होकर समृद्ध होना विकास क्रम में स्वाभाविक कार्य प्रणाली रही है। यह अण्डज-पिण्डज दोनों प्रकार के जीवावस्था का वैभव वंशानुषंगीयता को प्रमाणित अथवा व्यक्त करता हुआ देखने को मिलता है। - स.श. 39

इन सारे रचनाओं का क्रम और मनुष्य शरीर के अध्ययन से यही पता लगता है कि मनुष्य शरीर में मेधस रचना की समृद्धि पूर्णतया सुस्पष्ट हुई है। इसका प्रमाण यही है कि मानव में कल्पना-शीलता, कर्मस्वतंत्रता और उसकी तृप्ति के रूप में जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने को मेधस के माध्यम से व्यक्त करने योग्य इकाई है। मनुष्येत्तर संसार पहचानना, निर्वाह करने तक सीमित है। पहचानना, निर्वाह करने का आधार भी बल संपन्नता ही है। यही ऊर्जा संपन्नता, बल संपन्नता जीवंत स्वस्थ मानव में जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के रूप में प्रमाणित हो चुकी है। यह मेधसतंत्र समृद्ध होने की गवाही भी है। उक्त विधि से रचनाओं में विकास होने की रूप रेखा विदित होती है।

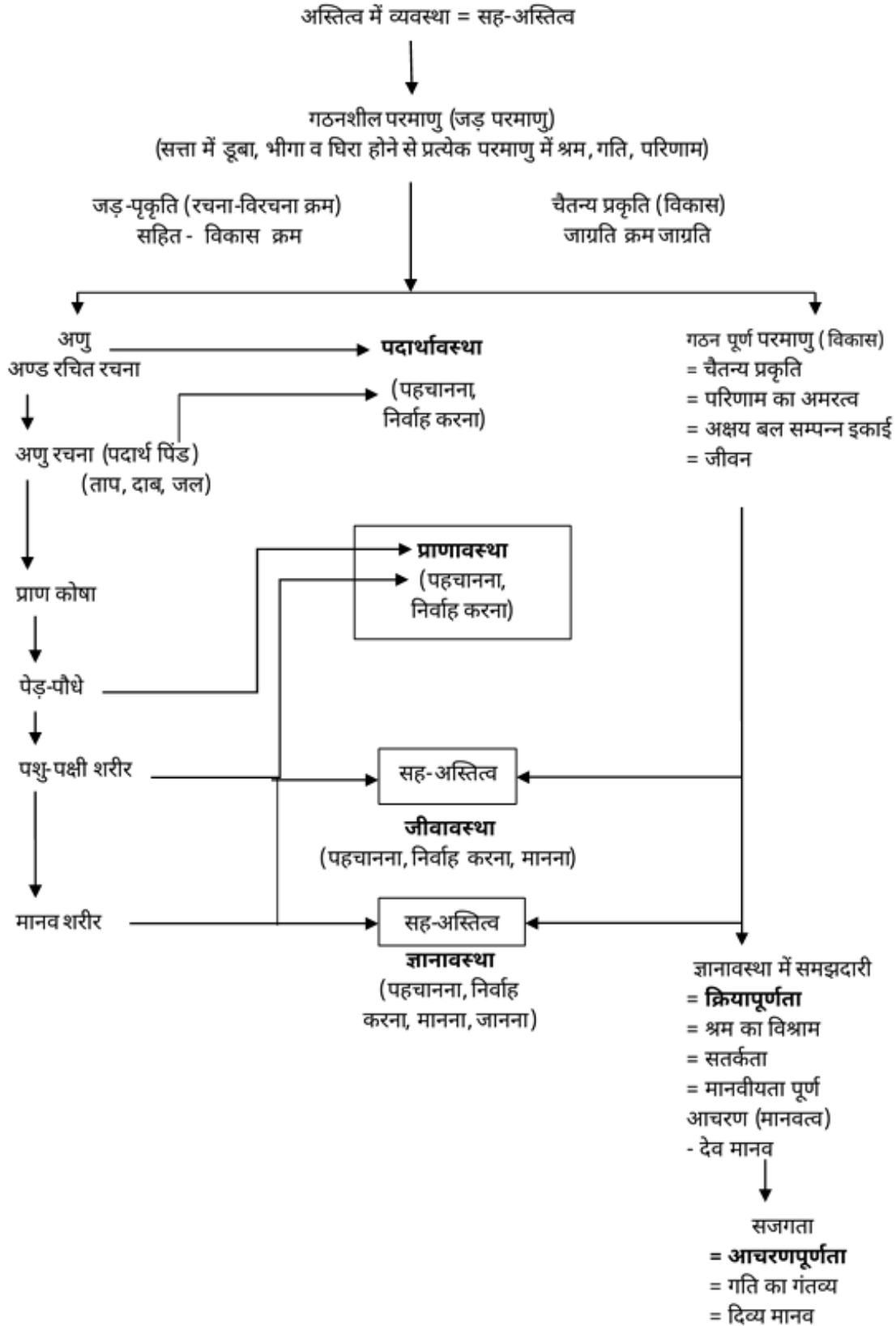
भौतिक रासायनिक रचना-विरचना

सह-अस्तित्व सहज इस धरती पर चार अवस्थाओं में जैसे - पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था में, प्रकृति का वैभव देखने को मिलता है। यही प्राणपद, भ्रांतिपद, देवपद और दिव्यपद में वैभवित रहना अध्ययन गम्य है। जैसे - पदार्थावस्था का आंशिक तत्व प्राणावस्था में, प्राणावस्था का अधिकांश तत्व पदार्थावस्था में परिवर्तित होता हुआ देखने को मिलता है। इसी को दूसरी विधि से कह सकते हैं कि, अन्न वनस्पति रूपी प्राणावस्था का वैभव, रासायनिक द्रव्यों की महिमा के रूप में वैभवित हुई है। सभी अन्न वनस्पतियां, रासायनिक भौतिक रचना के रूप में पाई जाती हैं। इसका मूल तत्व भौतिक वस्तुएं हैं। भौतिक वस्तुओं का रूप अणुएं हैं, अणुओं का स्वरूप है। अणुओं के मूल रूप में परमाणु ही है। परमाणुओं के मूल रूप में परमाणु अंश ही भौतिक वस्तुओं के रूप में दिखाई देते हैं। इस प्रकार भौतिक वस्तुएं रासायनिक द्रव्यों के रूप में, रासायनिक द्रव्य प्राण कोषा और कोशाओं से रचित, रचनाओं के रूप में होती हैं।

प्राण कोषाओं से रचित सम्पूर्ण रचनाएं विरचना क्रम में पदार्थावस्था में परिवर्तित होते देखी जाती हैं। यही आवर्तनशीलता का प्रथम प्रमाण, पूरकता के साक्ष्य के रूप में देखने को मिलता है। मनुष्य शरीर और जीव शरीर भी प्राण कोषाओं से रचित हैं। इसकी विरचना भी, अन्न वनस्पतियों की विरचना की तरह, पदार्थावस्था में परिवर्तित

होने के क्रियाकलाप के सदृश दिखाई पड़ता है। इसी के साथ पदार्थावस्था और प्राणावस्था की तरह स्वदेज प्रकृति का भी, इसी प्रकार परिणितियों से संपन्न रहना, देखा जाता है।

स्वेदज संसार भौतिक वस्तु और रासायनिक द्रव्य सहज, संयोग होता है। इनका आचरण न तो भौतिक वस्तुओं जैसा होता, और न समृद्ध मेधस सम्पन्न शरीर रचना और जीवन के संयुक्त रूप में होने वाले आचरण जैसा। इसीलिए इसका नाम स्वदेज प्रकृति दिया गया है। इन्हीं रचनाओं में से मेधस प्रणाली का आरंभ होना पाया जाता है। यही क्रम से, समृद्धि की ओर गतिशील रहता है। क्योंकि समृद्ध मेधस सम्पन्न शरीर रचना, इसी धरती में साक्षित हो चुकी है। इसके सामान्य लक्षण रस, मांस, मज्जा, अस्ति, हड्डी, नस, रक्त, चर्म संपन्न शरीर रचना में समृद्ध मेधस का वैभव जीवावस्था में वंशानुषंगीयता के रूप में, प्रमाणित है और मानव संस्कारानुषंगीयता के रूप में प्रमाणित होता है। वंशानुषंगीयता में जीवन, शरीरों के अनुरूप कार्य-कलाप में संलग्न हो जाता है, फलतः वंशानुषंगीय अभिव्यक्ति में जीवन का वैभव सम्बद्ध हो जाता है। दूसरी विधि से शरीर की रचना में भागीदारी के रूप में सम्बद्ध प्राण कोषाणं निष्प्राण होकर पुनः ऋतु और ऋतुप्रभाव (शीत, उष्ण, वर्षामान का प्रभाव) के अनुसार पुनः संप्राणित होकर कार्य करती है। इसमें जितनी भी रचना, विरचनाएं हैं, इनमें मेधस का शुभारंभ होते हुए भी, समृद्ध न होने का प्रमाण, स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार से ऐसी क्रियाएं, प्राकृतिक रूप में असमृद्ध मेधस की व्याख्या में, स्पष्ट हो चुकी हैं। – म.वि. 16-18



(C) परमाणु में विकास (चैतन्य जीवन)

इससे पहले रचनाओं में विकासक्रम स्पष्ट हुआ है। यह विकासक्रम परमाणु, अणु, अणुरचित पिण्ड, वनस्पति संसार, पशु-शरीर, मनुष्य-शरीर की रचना तक, रचना में विकास क्रम को स्पष्ट किये है। मनुष्य शरीर सर्वोच्च विकसित रचना के रूप में अध्ययन गम्य है।

मनुष्य शरीर सर्वोच्च विकसित रचना इसलिये है कि मनुष्य शरीर में मेधस रचना पूर्णतया विकसित हो चुकी है। सुदूर विगत से ही मानव न्याय, धर्म, सत्य संबंधी तथ्यों का उद्घाटित करने का इच्छुक रहा है। इस क्रम में जितने भी प्रयोग हुए हैं और आगे भी सूझ-बूझ को विकसित करने की आवश्यकता बनी रही। प्रयासों के क्रम में आदर्शवादी, भौतिकवादी सूझबूझ प्रयोग में आई। फल-परिणाम मानव कुल में आंकलित हो चुका है।

न्याय की अपेक्षा आज भी सर्वाधिक मानव में बनी हुई है।

उक्त क्रम में अस्तित्व को सहअस्तित्व के रूप में समझने के लिए, अभिव्यक्त करने के लिए प्रयास प्रस्तुत है। अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व होने के आधार पर रचनाओं में विकासक्रम स्पष्ट हुआ। हर रचनाओं के मूल में परमाणु होना स्पष्ट है। परमाणुओं में विकासक्रम होना, विकास होना भी समझ में आता है।

परमाणु में विकास का तात्पर्य परमाणु के गठनपूर्ण होने से है। - क.द. 67

परिणाम के अमरत्व के रूप में गठनपूर्णता (जीवन परमाणु) है।

प्रत्येक परमाणु क्रिया अपने परमाणु अंशों के गतिपथ सहित वैभवित है। यही गतिपथ उस परमाणु की नियन्त्रण रेखा भी हैं और सीमा भी है। ऐसे गतिपथ की सीमा में प्रत्येक परमाणु अपने में समाहित सम्पूर्ण परमाणु अंशों के अनुशासन समेत परिभाषित होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक परमाणु में समाहित प्रत्येक परमाणु अंश अपनी परस्परता में एक निश्चित दूरी में अपने अस्तित्व को स्पष्ट करते हुए अनुशासन को, गठन के अंगभूत कार्य के रूप में प्रकाशित करते हैं। ऐसे प्रत्येक परमाणु में अंशों का घटना बढ़ता देखा जाता है।

इस क्रिया को किसी एक परमाणु से कुछ परमाणु अंशों का क्षरण होना तथा दूसरे किसी परमाणु में समा जाना या अन्य परमाणु में गठित हो जाने के रूप में देखा जाता है। इसी क्रम में गठनपूर्णता गण्य हैं। इसका साक्ष्य अक्षय बल एवं अक्षय शक्ति संपन्नता से होता है। चैतन्य-प्रकृति में अक्षय बल एवं अक्षय शक्ति स्पष्ट है। यही तात्त्विक परिणाम प्रक्रिया है। इसी क्रम में विभिन्न संख्यात्मक अंश संपन्न परमाणु अस्तित्व में दिखाई पड़ते हैं। ऐसे विभिन्न परमाणु अंशों की संख्या से संपन्न परमाणु स्वयं विभिन्न जातियों में गण्य होते हैं। यही तात्त्विक परिवर्तन, स्थिति, अभिव्यक्ति, प्रकाशन और ज्ञान का तात्पर्य है। - भ.व. 49,51

इसके पहले यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि परमाणु में ही विकास होता है। ऐसे विकसित परमाणु गठनपूर्ण होते हैं, यही चैतन्य इकाई है, यही जीवन है। जीवन ही शरीर को जीवंत बनाये रखते हुए समझदारी को प्रमाणित करता है। मानव में एक बात की चाहत बनी ही है - यथास्थिति, वैभव, उसकी निरंतरता - यह स्वाभाविक रूप में स्वीकृत है।

परमाणुओं में अंशों का घटना-बढ़ना, परिणाम के स्वरूप में हम समझ चुके हैं। परिणाम का अमरत्व, उसकी निरंतरता की अपेक्षा मानव में ही कल्पना, भास, आभास, प्रतीति के रूप में पाया जाता है। इसके लिए बहुत सारे प्रयास होना भी स्वाभाविक है। सहअस्तित्ववादी विधि से यह स्पष्ट हो गया है कि विकास क्रम में अनेक रचनायें, स्थिति-परिस्थितियाँ दृष्टिगोचर हो चुकी हैं। इसके मूल में परमाणु ही कार्यरत रहना स्पष्ट हो चुका है। ऐसा परिणामरत परमाणु ही गठन तृप्त पद में घटित हो जाता है। इस घटना के लिए स्वाभाविक क्रिया परिणाम विधि ही है।

परिणाम क्रम में परमाणुओं को भूखे और अजीर्ण पदों में समझना सहज हो गया है। अजीर्ण परमाणु अपने गठन में से समाहित कुछ अंशों को बहिर्गत करने के प्रयास में रहते हैं। ऐसे परमाणु विकिरणीय वैभव से सम्पन्न रहते हैं। विकिरणीयता को ऐसा समझा जा सकता है कि परमाणुओं में क्रियाशीलता सदा-सदा बनाए रखता है, क्रियाशीलता के फलन में ध्वनि, ताप, विद्युत अपने आप निष्पन्न होता ही है। व्यापक वस्तु में भीगे रहने के फलस्वरूप ऊर्जा सम्पन्नता, बल सम्पन्नता बनाये रखते हैं। यही बल सम्पन्नता, चुम्बकीय बल के रूप में गण्य होता है। अतएव, विकिरणीय परमाणु अपने गठन में अजीर्णता को व्यक्त किये रहते हैं, क्योंकि अपने गठन से कुछ अंशों को बहिर्गत करने का प्रयास बना ही रहता है। इस क्रम में विकिरणीयता इस प्रकार से उपार्जित हुआ रहता है कि अजीर्ण परमाणु में मध्यांशों की ओर ताप का अन्तःनियोजन होता है। इसी क्रम में विद्युत भी बना ही रहता है। यही दोनों प्रक्रिया के फलस्वरूप विकिरणीयता प्रगट रहती है।

भूखे परमाणुओं में कुछ और अंशों को अपने में समा लेने की सम्भावना बनी ही रहती है। इसीलिए भूखे परमाणु नाम है। परमाणुओं में अजीर्ण और भूखा होना तृप्त परमाणुओं के अर्थ में ही समझ में आता है (मानव ही उसका अध्ययन करने वाला है)। ऐसा तृप्त परमाणु ही अर्थात् गठन तृप्त परमाणु ही जीवन पद में होना पाया जाता है। फलस्वरूप, गठनपूर्ण परमाणु में बल और शक्ति अक्षय हो जाते हैं। अक्षयता का तात्पर्य ही है कि कितना भी व्यक्त करें, खर्च करें, घटता ही नहीं है। कितना भी आशा, विचार, इच्छा, प्रमाणों को व्यक्त करें, घटता ही नहीं है, और प्रखर होते रहते हैं। इसलिए अक्षय नाम दिया है। ऐसी अक्षयता को हर मानव अपने में परीक्षण पूर्वक पहचान सकता है।

मानव ही अस्तित्व में एक इकाई है जो स्वयं का भी अध्ययन कर सकता है और सम्पूर्ण का भी अध्ययन कर सकता है। इसी महिमावश मानव अपने पद-प्रतिष्ठा के रूप में ज्ञानावस्था में होना स्पष्ट किया जा चुका है। हर नर-नारी ज्ञानावस्था में समान वैभव है। यही परस्पर समानता का सूत्र है। इस सूत्र को भुलावा देना ही भ्रम का द्योतक है।

इस प्रकार जीवन अपने में एक गठनपूर्ण परमाणु के रूप में होना और चैतन्य क्रियाकलाप के रूप में होना तथा मानव शरीर द्वारा मानव परम्परा में प्रमाणित होना सुस्पष्ट है। इस वैभव प्रतिष्ठा को बनाये रखने में हर मानव को आश्वस्त होने, विश्वस्त होने की मूल आवश्यकता के रूप में अध्ययन करने, समझने और इसे प्रमाणित करने के कार्य में प्रवृत्तियाँ प्रवर्तित हैं। इस प्रकार परमाणु में विकास का मंजिल गठनपूर्ण पद ही है।

उक्त विधि से यह सुस्पष्ट हो गया है कि भौतिक क्रिया, रासायनिक क्रिया, जीवन क्रिया के मूल में परमाणु ही है। जीवन परमाणु गठनपूर्ण है और भौतिक, रासायनिक क्रिया में भागीदारी करते हुए परमाणु गठनशील है। गठनशीलता विधि से भार बंधन, अणु बंधन होना पाया जाता है। वहीं जीवन परमाणु भार बंधन, अणु बंधन से मुक्त रहना पाया जाता है। इसका प्रमाण हर मानव में निहित आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और प्रमाणों को भौतिकीय तुला पर आंकलन और

संख्याकरण न कर पाना ही है। भौतिकीय तुला एक उपाय है भार को पहचानने का। इस गवाही से यह स्पष्ट है कि भौतिक परमाणु ही विकासक्रम में गुजरते हुए, गठनपूर्ण पद में संक्रमण घटना सम्पन्न होना मानव को समझ में आता है। दूसरे विधि से परमाणु ही गठनशील पद में जड़ और गठनपूर्ण पद में चैतन्य है। विकासक्रम के बिना विकास का अध्ययन ही नहीं होता। चैतन्य परमाणु, (जीवन ही) परम्परा के रूप में, विकास, विकसित पद, जागृति क्रम, जागृति को अध्ययन व प्रमाणित करता हुआ पाया जाता है। इस तथ्य के आधार पर मानव परम्परा में ही जागृति प्रमाणित होने की व्यवस्था है अर्थात् जागृतिपूर्वक ही मानव परम्परा वैभवित होने की व्यवस्था नियति विधि से बनी हुई है। नियति विधि का तात्पर्य सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व वैभव विधि, प्रक्रिया, फल, परिणाम, उसकी निरंतरता से है।

परमाणु में विकास, गठनपूर्ण पद में अथवा गठनपूर्ण परमाणु के रूप में है।

परमाणु में विकास का मतलब यह स्पष्ट हुआ कि परमाणु गठनपूर्ण पद में होना और गठनपूर्ण परमाणु जागृत होना, यही नियति है। यह मानव परंपरा में ही प्रमाणित होता है। इसको मानव परम्परा में व्यक्त करने योग्य शरीर रचना पहले से बन चुकी है। इस शरीर के द्वारा अपनी जागृति को प्रमाणित करने के लिए मानव ने भाँति-भाँति के प्रयोग किये। परन्तु, परमाणु में विकास का आशय गठनपूर्ण परमाणु है, ऐसा परम्परा में व्याख्यायित न हो पाने के आधार पर जीवन पद का अध्ययन नहीं हो पाया। जीवन में घटित होने वाली जागृति के प्रकाश में ही जीवन पद का अध्ययन होना पाया जाता है। इसलिये इसका जिक्र यहाँ करना स्वाभाविक रहा।

गठनपूर्ण परमाणु भ्रमवश शरीर को जीवन समझने तक, परमाणु में विकास को समझने में समर्थ नहीं रहता है। भौतिक, रासायनिक विकासक्रम में मानव शरीर तथा परमाणु में विकास पूर्वक जीवन और जीवन जागृति को प्रमाणित करने के क्रम में ही मानव परंपरा में जागृति को प्रमाणित करना होता है।

मानव में यह वैभव देखने को मिलता है कि वह उपयोगी, सदुपयोगी, प्रयोजनशील प्रमाणित किया हुआ शोध अनुसंधान को शिक्षा पूर्वक, अध्ययन पूर्वक, अभ्यास पूर्वक लोकव्यापीकरण करता हुआ पाया जाता है।

उक्त विधा में अभी तक मनाकार को साकार करने का जितना भी प्रयोग हुआ, वह सब लोकव्यापीकरण हुआ। और मनःस्वस्थता के लिए जितना भी प्रयोग हुआ, लोकव्यापीकरण नहीं हुआ। जबकि मानव की परिभाषा ही मनाकार को साकार करने वाला, मनःस्वस्थता का प्रमाण प्रस्तुत करने वाला है (आशावादी तो है ही)।

मूल रूप में परमाणु ही सारे क्रियाकलापों का मूल वस्तु है। परमाणु में विकासक्रम और विकास के फलस्वरूप भौतिक, रासायनिक और जीवन क्रिया का होना पाया जाता है। गठनशील परमाणु के रूप में संसार का वैभव पदार्थावस्था, प्राणावस्था से लेकर समृद्ध मेधस रचना के रूप में दिखाई पड़ता है। गठनपूर्ण परमाणु के रूप में चैतन्य प्रकृति है।क.द. 67-69

गठनशील से गठनपूर्ण परमाणु बनना ही संक्रमण है। संक्रमण का स्वरूप और कार्य निश्चित बिंदु के पहले और बाद की मध्य रेखा ही है जिसकी लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई कुछ भी नहीं रहती है। इस संक्रमण गामी परिणाम को केवल मानव अपने दृष्टा पद प्रतिष्ठा महिमावश समझना परम सहज और परम आवश्यक है। यह संक्रमण के अनन्तर जीवन सहज कार्य प्रतिष्ठा को किसी भी यंत्र से या मानव आँखों से देखना सम्भव नहीं है, क्योंकि आँखों से गणितीय भाषा

अधिक है अर्थात् आँखों से जितना इंगित हो पाता है उससे अधिक गणितीय भाषा से इंगित होना देखा गया है। गणितीय भाषा से अधिक गुणात्मक भाषाओं से परस्पर मानव में इंगित होना देखा गया है और गुणात्मक भाषा से तथा गणितात्मक भाषा से जितना इंगित हुआ है उससे अधिक और सम्पूर्णता कारणात्मक भाषा से इंगित होना पाया गया है। इंगित होने का तात्पर्य, प्रयोजन सहित वस्तु स्वरूप सर्वस्व को जानना-मानना और पहचानने से है इसलिए मानव भाषा कारण-गुण-गणितात्मक है।

रूप सहज अस्तित्व में, से आंशिक भाग आँखों से इंगित होता है। गणित के द्वारा सम्पूर्ण रूप और आंशिक गुण इंगित होता है, गुण का तात्पर्य प्रभाव सहित गति है। सम्पूर्ण गुण और स्वभाव गुणात्मक भाषा से इंगित होता है। कारणात्मक भाषा विधि से स्वभाव-धर्म इंगित होता है और 'अस्तित्व समग्र' इंगित होता है। इस विधि से मानव भाषा अपने आप सुस्पष्ट है।

इससे यह पता चलता है कि प्रकृति ही जड़- चैतन्य स्वरूप में है तथा जड़ प्रकृति ही चैतन्य प्रकृति में संक्रमित होता है। -आ.व. 140-142

सम्बन्धित परिभाषाएं

गठनपूर्णता

- परमाणु में मध्यांश व परिवेशिय अंशों का निश्चित संख्यात्मक विधि संतुष्ट होना प्रस्थान-विस्थापन से मुक्त होना। - प.स. 64
- गठन पूर्णता के अर्थ में, परमाणु में अंशों की संख्या में परिवर्तन के साथ मात्रात्मक परिवर्तन, फलस्वरूप गुणात्मक परिवर्तन। परिवर्तन का अंतिम परिणाम अथवा संक्रमण गठन पूर्णता। यही परिणाम का अमरत्व है। - प.स. 62

(D) जीवन में जीवनीक्रम

परमाणु में विकास पूर्ण (गठनपूर्ण) होने के बाद अणुबंधन व भारबंधन से मुक्त हो जाते हैं। यही चैतन्य परमाणु जीवन पद में प्रतिष्ठित रहना पाया जाता है। ऐसे चैतन्य इकाई भार और अणुबन्धन से मुक्ति पाकर आशा बंधन से अपने कार्य गतिपथ सहित पुंजाकार रूप में प्रतिष्ठित होना, ऐसे पुंजाकार का एक आकार होना, ऐसे आकार के एक शरीर रचना (पिण्डज या अण्डज विधि से) रचित रहना अस्तित्व सहज कार्यक्रम है। यह 'जीवन' अपनी महिमा को जीवनी क्रम में संपूर्ण जीवों के रूप में दिखता है। इसी कार्यक्रम के गति क्रम में मानव शरीर रचना भी एक स्वाभाविक क्रिया है। - आ.व. 178

जीवों के शरीर में जब समृद्ध मेधस की रचना होती है (या हो जाती है) उस स्थिति में ऐसे शरीर को जीवन संचालित करता है। ऐसे शरीर में ही सप्त धातुओं के क्रियाकलाप, एक दूसरे के तालमेल के सहित संपन्न हुआ देखने को मिलता है। सप्त धातुएं हैं- 1. रस, 2. मांस, 3. मज्जा, 4. रक्त, 5. स्नायु, 6. हड्डी और 7. वसा। इन धातुओं के रचना क्रम

में एक दूसरे को तालमेल वाली संयोजना भी देखने को मिलती हैं। मूत्र तंत्र, गर्भ तंत्र, मल तंत्र, पाचन तंत्र, रस तंत्र, रक्त तंत्र, हृदय तंत्र, फुफ्फुस तंत्र, मेधस तंत्र, ये सब नाडियों, नसों, स्नोतसों, पेशियों से गुंथा हुआ दिखाई पड़ता है। इसी से पूरा शरीर तंत्र स्पष्ट होता है। इसमें जीवंतता सबसे पहली शर्त है। जीवंतता सहित ही जीव शरीर और मानव शरीर का संचालन जीवन से हो पाता है। मानव शरीर अथवा जीव, शरीर के साथ जीवन, काम करने के लिए पहली शर्त समृद्ध मेधस का रहना है। और कौन सा ऐसा पहचानने का बिंदु है जहाँ से जीवन और शरीर का संयोग होना संभव हो जाता है। इसमें इसे भी एक ध्रुव बिंदु के रूप में परवर्ती (शरीर में मेधस तंत्र द्वारा जीवन के संकेतों को ग्रहण करने और जीवन संकेत भेजने का) कार्य संपादित होते रहती है। ऐसे सभी शरीर जीवन संयोग से चलने फिरने योग्य हो पाते हैं। जिन शरीरों में जीवन के संयोग से ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ कार्य कर पाती हैं, ऐसे शरीर में समृद्ध मेधस का होना पहचाना जा सकता है। इसके अलावा बाकी सभी प्रकार की रचनाएँ स्वेदज होना स्पष्ट है।

इससे यह पता चला कि प्रत्येक ऐसा शरीर जिसमें समृद्ध मेधस की रचना हो चुकी है और विभिन्न रस संयोग विधि से ही रक्त के रूप में परिवर्तित होता है, ऐसा तंत्र शरीर में रचित हो चुका है। ऐसे शरीर में ही मांस-मज्जा आदि वस्तुएँ देखने में आता है। ऐसे ही शरीर को जीवन संचालित कर आशा को जीव शरीरों में ही प्रमाणित करता है, जबकि मानव शरीर में आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और प्रामाणिकता को प्रमाणित करता है, इसीलिए जीवन की अभिव्यक्ति के लिए हर जीव परंपरा में उन-उन शरीरों का होना एक सहज प्रक्रिया है। - भ.व. 214

जीवावस्था की शरीर रचना प्राण कोशिका समूह से निर्मित होती है। इस रचना में मेधस एक विशिष्ट भाग समाहित रहता है जिसे प्राणावस्था में नहीं पाया जाता है। अ.द.

जीवावस्था में समृद्ध मेधस युक्त शरीरों को जीवन संचालित करता है। समृद्ध मेधस पर्यन्त जितने भी रचनाएँ हैं वे सब स्ववदेजों में गण्य हो जाते हैं। ये सब विरचित होकर हर सप्राणकोषा, निष्प्राण कोषा में परिवर्तित होकर बीज रूप में स्थित रहते हैं और यही निष्प्राण कोषा बीज ; ऋतु-संयोग प्रणाली से सप्राणित हो जाते हैं। - स.श. 177

स्वेदज संसार भौतिक वस्तु और रासायनिक द्रव्य सहज, संयोग होता है। इनका आचरण न तो भौतिक वस्तुओं जैसा होता, और न समृद्ध मेधस सम्पन्न शरीर रचना और जीवन के संयुक्त रूप में होने वाले आचरण जैसा। इसीलिए इसका नाम स्वेदज प्रकृति दिया गया है। इन्हीं रचनाओं में से मेधस प्रणाली का आरंभ होना पाया जाता है। यही क्रम से, समृद्धि की ओर गतिशील रहता है। क्योंकि समृद्ध मेधस सम्पन्न शरीर रचना, इसी धरती में साक्षित हो चुकी है। इसके सामान्य लक्षण रस, मांस, मज्जा, हड्डी, नस, रक्त, चर्म संपन्न शरीर रचना में समृद्ध मेधस का वैभव जीवावस्था में वंशानुषंगीयता के रूप में, प्रमाणित है और मानव संस्कारानुषंगीयता के रूप में प्रमाणित होता है। वंशानुषंगीयता में जीवन, शरीरों के अनुरूप कार्य-कलाप में संलग्न हो जाता है, फलतः वंशानुषंगीय अभिव्यक्ति में जीवन का वैभव सम्बद्ध हो जाता है। - म.वि. 18

जीवावस्था, समृद्ध मेधस युक्त शरीर और जीवन का संयुक्त साकार रूप होते हुए भी जीवन, शरीर को तादात्म्य विधि से स्वीकारा रहता है। इसका सूत्र है - जीवन, शरीर को जीवन्त बनाये रखते हुए शरीर को ही अपना जीने की स्थली स्वरूप स्वीकारता है। इसलिए जीवन शक्तियाँ उन-उन शरीर रचना को अनुरूप बह पाती है। इसी यथार्थता के आधार

पर अनेकानेक प्रजाति के जीवों का वर्तमान होना स्पष्ट है। ये सब वर्तमान में ही हैं। प्रत्येक प्रजाति के जीव अपने ढंग से, अपनी परंपरा को बनाये रखते हुए देखने को मिलता हैं।

प्रत्येक जीव का आचरण अपने-अपने शरीर सहज रूप में व्याख्यायित रहता हैं। ऐसी व्याख्या के आधार पर ही प्रत्येक प्रजाति के जीव अपनी मौलिकता की व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी के अर्थ में सार्थक बनते हुए देखने को मिलता है। प्रत्येक अंग-अवयवों का अपना-अपना आकार वंश की प्रधान पहचान है। इस पहचान के साथ उसका कार्य जीवन के संयोग से ही संपन्न होता हुआ समझ में आता हैं। जीवन, जीव शरीरों में, आशा का प्रसारण करता हुआ देखने को मिलता हैं। प्रत्येक जीव जीने की आशा से ही जीता हुआ मिलता हैं। ज्ञानावस्था सहज मानव जीवन में आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा और प्रमाण जैसे शक्तियों का क्रियाकलाप समझने को मिलता हैं। इसे समझने वाला भी मानव ही हैं।

मानव शरीर भी अवयवों के संतुलित रूप में ही प्रकाशित हैं। इस प्रकार प्राण कोषाओं से सभी वनस्पतियाँ जीव और मानव शरीर की रचनाएँ होते हुए समझ में आती हैं। जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में जीने वाले जीव एवम् मानव शरीर में सप्त धातुएँ देखने को मिलती हैं। सप्त धातुओं के सर्वोच्च संतुलित रचना मानव शरीर ही हैं। स्वेदज व असमृद्ध मेधस युक्त रचनाओं को जीवन चलाता नहीं हैं अथवा वे चलाने योग्य नहीं होते। उनमें सप्त धातुएँ देखने को नहीं मिलती हैं। वे रचनाएँ प्राण कोषाओं से ही रचित रहती हैं। झाड़ व पौधे सभी प्राण कोषाओं की ही रचना होते हुए इनमें सप्त धातु नहीं होते। इन्हीं सब प्रमाणों के साथ जीवन और शरीर का संयोग उसी शरीर से संयोगित हो पाता हैं, जिस शरीर की संरचना में सप्त धातुएं अंग अवयवों के संतुलन के अर्थ से रचित रहते हैं तथा समृद्ध मेधस व समृद्धिपूर्ण मेधस की रचना संपन्न होती हैं। ऐसे ही शरीर को जीवन संचालित करता हुआ देखने को मिलता हैं।

जीवावस्था की शरीर रचनाएँ वंशानुगत विधि से सफलता का प्रकाशन करती हैं। वंशों की महत्वपूर्ण भूमिका आकारों और ज्ञानेन्द्रियों- कर्मेन्द्रिय कार्यों के आधार पर निश्चित होना पाया जाता हैं। आकार, आयतन कार्य के तालमेल के लिए उस-उसके अंग-अवयवों की रचना निश्चित अनुपाती होना पाया जाता है। इनका कार्य संतुलन, जीवन सहज आशा, मेधस क्रिया के आधार पर संपन्न होना पाया जाता हैं। प्रत्येक जीव का आचरण अपने-अपने शरीर सहज रूप में व्याख्यायित रहता हैं। ऐसी व्याख्या के आधार पर ही प्रत्येक प्रजाति के जीव अपनी मौलिकता की व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी के अर्थ में सार्थक बनते हुए देखने को मिलता है।

प्रत्येक अंग-अवयवों का अपना-अपना आकार वंश की प्रधान पहचान है। इस पहचान के साथ उसका कार्य जीवन के संयोग से ही संपन्न होता हुआ समझ में आता हैं। जीवन, जीव शरीरों में, आशा का प्रसारण करता हुआ देखने को मिलता हैं। प्रत्येक जीव जीने की आशा से ही जीता हुआ मिलता हैं। ज्ञानावस्था सहज मानव जीवन में आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा और प्रमाण जैसे शक्तियों का क्रियाकलाप समझने को मिलता हैं। इसे समझने वाला भी मानव ही हैं।

जीवों का कार्यकलाप उन के प्रजाति वंश के अनुसार निश्चित कार्य रूप में रहता हैं। यही संतुलन का तात्पर्य है। मानव अस्तित्व में दृष्टा पद में होते हुए भी अभी तक मानव का कार्यकलाप अनिश्चित है। मानव शरीर भी अवयवों के

संतुलित रूप में ही प्रकाशित हैं। इस प्रकार प्राण कोषाओं से सभी वनस्पतियाँ जीव और मानव शरीर की रचनाएँ होते हुए समझ में आती हैं। - भ.व. 296-298

इसी आधार पर जीव संसार को जीने की आशा के आधार पर जीवनी क्रम में जीता हुआ पहचाना गया है। हर जीवों में जीने की आशा का होना हर मानव को बोध होता ही है। यद्यपि जीवों में जीवन, जीने की आशा को ही प्रमाणित कर पाया है। इसके मूल में यह भी पहचान में आया है कि शरीर को जीवन मानते हुए जीते हैं। इसलिए स्वस्थता के आधार पर अनुकूलता प्रतिकूलता को पहचाना करता है। यही जीव संसार का शरीर को जीवन मानने का प्रमाण है। - ज.व. 46

शरीर द्वारा जीवावस्था आशापूर्वक भोगों में व्यस्त रहता है, जो प्रत्यक्ष है।

समृद्ध मेधस युक्त रचना के उपरान्त ही (अथवा समृद्ध मेधस युक्त शरीर को) जीवन, सहज ही जीवन्तता प्रदान करता है। जीवन्तता प्रदान करने की प्रक्रिया यह है कि जीवन अपने जीने की आशा सहज प्रभाव से, मेधस को प्रभावित करता है। मेधस के द्वारा ज्ञानवाही विधि से, सम्पूर्ण शरीर में जीवन्तता का प्रभाव क्षेत्र बना ही रहता है। मेधस पर जीवन का, संकेतों के रूप में जो प्रभाव प्रभावित रहता है, वही सर्वाधिक पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, कार्यशील प्रवर्तनशील देखने को मिलता है। - म.वि. 212

जीवावस्था में अस्तित्व पुष्टि सहित आशा धर्म विद्यमान होना देखा गया है। इसलिये सम्पूर्ण जीवावस्था जीवनीक्रम सहित परिणाम, पुष्टि सहित जीने की आशा सहज लक्ष्य रूप में होना पाया जाता है। इसलिये जीवावस्था में जीने की आशा, लक्ष्य, सूत्र और व्याख्या प्रमाणित है। - स.श. 264

(E) जीवन में जागृतिक्रम

“मानव जीवन जागृति क्रम में अमानवीयता से मानवीयता एवं मानवीयता से अतिमानवीयता की ओर है”। - अ.द. 104

मानव शरीर रचना में ही ‘समृद्ध पूर्ण’ मेधस रचना पाई जाती हैं। जीवावस्था और ज्ञानावस्था का अंतर इतना ही है कि जीवावस्था में शरीर रचना विधि के अनुसार (वंशानुषंगीयता) जीवन अपने को प्रकाशित करने में बाध्य है। जबकि ज्ञानावस्था के मानव में यह देखने को मिलता है कि कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता विधि से कर्म करते समय स्वतंत्र और फल भोगते समय परतंत्र विधि से न्याय का अपेक्षा, सही कार्य व्यवहार करने की इच्छा, सत्यवक्ता के रूप में शरीर यात्रा आरंभ काल से देखने को मिलता है। - स.श. 96

सहअस्तित्व वादी नजरिये से मानव जीवन और शरीर के संयुक्त रूप होने का अध्ययन सम्पन्न करते हुए, जीवन चैतन्य पद प्रतिष्ठा होने की स्थिति समझ में आता है। चैतन्य प्रकृति रूपी जीवन जागृतिक्रम से जागृति पूर्वक, मानव परम्परा में जागृति को प्रमाणित करना होता है। मानव परम्परा में शरीर और जीवन का सान्निध्य आवश्यक है, अथवा

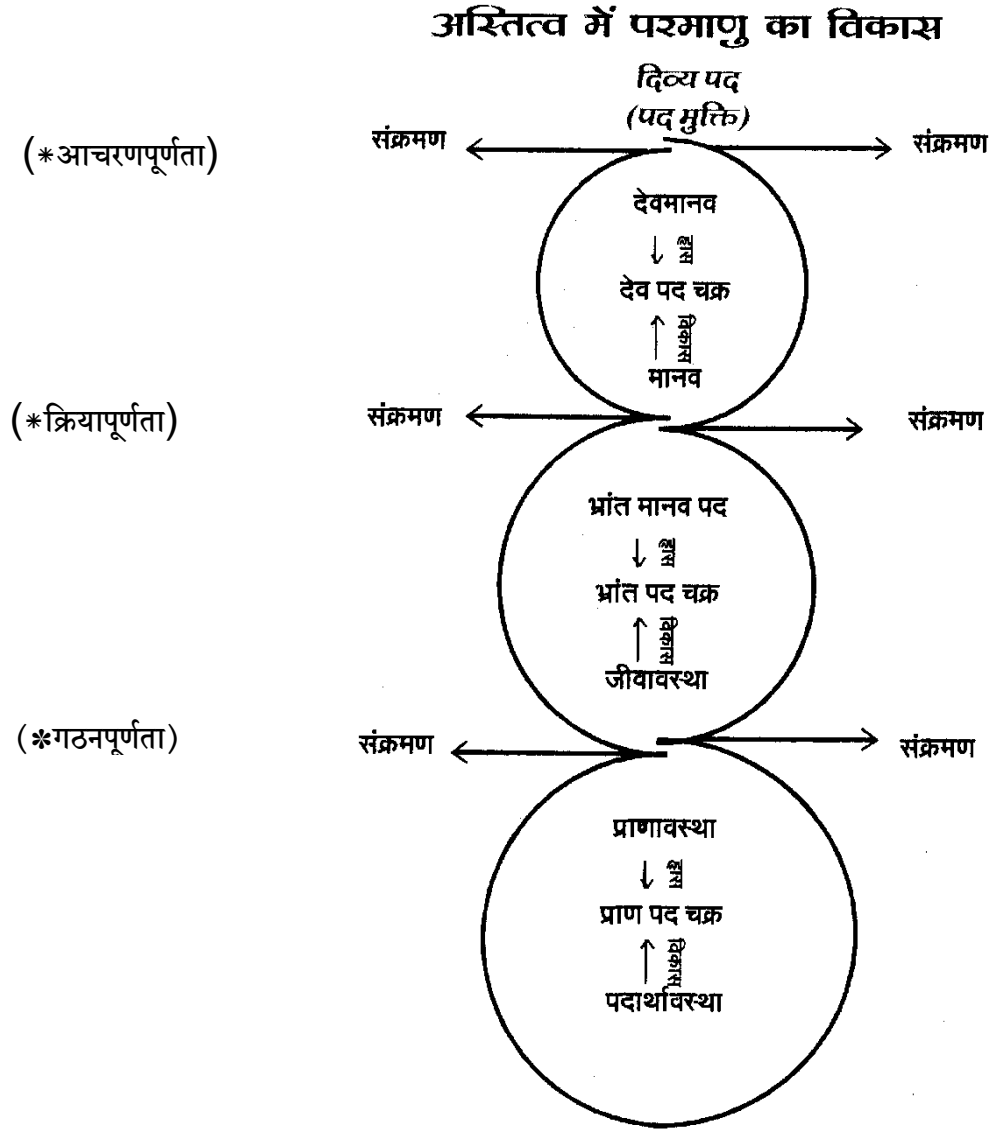
सहअस्तित्व आवश्यक है। जीवन में होने वाली दस क्रियाओं के आधार पर जैसा अनुभव, प्रमाण, अनुभव का बोध और संकल्प, संकल्प का साक्षात्कार एवं चित्रण, चित्रण का तुलन और विश्लेषण, विश्लेषण का आस्वादन और चयन, ये दस क्रियायें जीवन में सम्पादित होती हैं। यही दस क्रियायें जीवन जागृति के अनन्तर प्रमाणित होते हैं। शरीर को जीवन मानते तक, जीवन क्रियाओं में से साढ़े चार क्रियायें ही सम्पन्न हो पाते हैं। शेष साढ़े पाँच क्रियायें प्रमाणित नहीं हो पाते। इसी संकट वश मानव प्रताड़ित होता है। स्वयं में अन्तर्विरोध वश, जीवन शक्तियाँ प्रमाणित नहीं हो पाने के संकट वश प्रताड़ित है। इसी तरह शरीर को जीवन समझने का भ्रम समस्याओं का कारण बनना और ब्राह्म प्रताड़ना वश मानव व्याकुल एवं संकट ग्रस्त रहता है। इसका प्रभाव द्रोह, शोषण, युद्ध सदा-सदा से मानव कुल के सिर पर ही नाच रहा है। अथवा मानव इसे अपरिहार्य मान चुका है। इससे घटिया तस्वीर मानव कुल का क्या हो सकता है यह सोचने का बिन्दु है। जबकि मानव इसे ही शान मानता रहा है। - क.द. (2004) 215-216

जीवन में आशा बंधन के उपरान्त विचार बंधन, इच्छा बंधन बलवती होते हुए मानव शरीर द्वारा कर्म स्वतंत्रता, कल्पनाशीलता, क्रियाशीलता, क्रियाकलाप क्रम उसके परिणाम में आंकलन होना, फलतः जागृतिक्रम परंपरा के रूप में मानव प्रतिष्ठा होना, इसी कर्म स्वतंत्रता-कल्पनाशीलता और जागृतिक्रम प्रणालीवश (क्योंकि यह नियति क्रम है) अव्यवस्था का भास-आभास में पीड़ा होना स्वाभाविक रहा।

जीवन ही जीवनी क्रम, जीवन जागृति क्रम में गुजरता हुआ जागृत पद में क्रियापूर्णता, जिसका प्रमाण में मानव, स्वायत्त मानव, परिवार मानव, व्यवस्था मानव के रूप में स्वयं में व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण उसमें पारंगत विधिपूर्ण शिक्षा-संस्कार, परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था और मानवीय आचार संहिता रूपी संविधान का अध्ययन सहज

है। - अ.श. 209,210

(*जागृतिक्रम पर शेष वर्णन, अध्याय -३/ 3.3- 'जीवन क्रिया में जागृतिक्रम' के अनतर्गत किया गया है)



(F) जीवन जागृति

चैतन्य परमाणु में -

- श्रम के विश्राम रूप में क्रिया पूर्णता है।
- गति के गंतव्य रूप में आचरण पूर्णता है। - भ.व. 49, 51, 77

“जीवन में ही दसों क्रियाओं का व्यक्त होना जागृति है। निर्वृत्ति स्वरूप ”

(*पूर्व में स्पष्ट हो चुका है कि) परमाणु में विकास के चलते गठनपूर्णता एक संक्रमण घटना रही। संक्रमणीयता का तात्पर्य पुनः पूर्व स्थिति में न आने वाला। परिणाम से मुक्ति का तात्पर्य परमाणु में से कुछ अंश घटने, बढ़ने की घटना से मुक्ति।

सहअस्तित्ववादी विधि से शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में मानव परम्परा वैभवित है। जीवन जागृति ही मनःस्वस्थता का प्रमाण है। जीवन में ही सम्पादित होने वाली, वैभवित होने वाली, अनुभव मूलक विधि से, अनुभवों का बोध बुद्धि में, चिंतन चित्त में, न्याय धर्म सत्य पूर्वक समुचित तुलन क्रिया वृत्ति में (विचारण क्रिया) और मूल्यों का आस्वादन क्रिया मन में होना पाया जाता है। मूल्यों का आस्वादन क्रिया पूर्वक कार्य-व्यवहार तभी सम्भव है जब सम्बन्धों का पहचान स्वीकार्य रहता है। सम्बन्धों को पहचानने के उपरांत ही मूल्यों का निर्वाह कर पाता है।

संबंधों के साथ मूल्य, मूल्यों के साथ वस्तुओं का अर्पण-समर्पण, वस्तुओं के अर्पण-समर्पण के साथ उपयोगिता, सदुपयोगिता, प्रयोजनशीलता प्रमाणित होता हुआ अर्थात् वैभवित होता हुआ पाया जाता है। यही परमाणु में विकास और जागृति का तात्पर्य है। केवल मानव ही जागृति का प्रमाण प्रस्तुत करने योग्य इकाई है। - क.द. 67-96

जागृत जीवन संचेतना अर्थात् संज्ञानीयता में नियंत्रित संवेदनार्थे प्रकाशित होने वाला अनुभव बल ही बोधपूर्वक विचार शैली में, विचार शैली जीने की कला के रूप में परावर्तित होता है। संचेतना में पाँचों अक्षय बल तथा शक्तियाँ निरन्तर कार्यरत रहती हैं। संचेतना शरीर के माध्यम से प्रकाशमान होने मात्र से शरीर जीवन नहीं होता। संचेतना की अभिव्यक्ति प्रत्येक मानव में होती हैं। संचेतना पहचानने व निर्वाह करने के रूप में परिलक्षित है। पहचानने तथा निर्वाह करने के क्रम में ही जागृति के क्रम में अर्थात् अस्तित्व और विकास को पहचानना बुनियादी आवश्यकता हैं। जागृति, विकास की परम अवस्था हैं। परमाणु में विकास होने की व्यवस्था हैं। जागृति का तात्पर्य अस्तित्व में अनुभूत होना ही हैं। सत्ता में संपृक्त प्रकृति का सत्ता में अनुभूत होना ही अस्तित्व का उद्देश्य हैं। इस को समझने पर ही विकास की यात्रा भी समझ में आती हैं।

अस्तित्व के संबंध में जितना भ्रमित रहेंगे उतना ही लक्ष्य के संबंध में भ्रमित रहेंगे। इसी को दूसरी प्रकार से देखें तो अस्तित्व में निर्भ्रमता ही लक्ष्य के प्रति निर्भ्रम होने का आधार है। इस प्रकार अस्तित्व, लक्ष्य और विकास के संबंध में निर्भ्रम हो जाना ही विवेक और विज्ञान का प्रयोजन है। इस क्रम में यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्ता में संपृक्त प्रकृति का सत्ता में अनुभूत होने पर्यन्त विकास के लिए बाध्य होना "अस्तित्व सिद्ध सत्य" हुआ। यह स्वयं जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति का लक्ष्य है। पदार्थ अवस्था से प्राणावस्था बिना दिग्भ्रम के विकसित हुई। जीवावस्था से ज्ञानावस्था के निर्भ्रम

होने के क्रम में ही मानव अपने को भ्रमित पाता है। इसका संपूर्ण कारण शरीर को जीवन समझना ही हैं। अक्षय बल एवं अक्षय शक्ति संपन्न होने के कारण प्रत्येक मानव जीवन क्षमता की स्थिति में समान हैं। यह समानता हर स्तर में समन्वय होने पर्यन्त लक्ष्य विहीन होने के कारण विरोधाभासी प्रतीत होती हैं, तब विरोध का विरोध और विरोध के दमनकारी कार्यकलापों में प्रवृत्त हो जाता है। जबकि विरोध का विजय ही जागृति का साक्षी है। सम्पूर्ण विरोधाभास केवल अस्तित्व, अस्तित्व में विकास और जीवन के भूलाने का परिणाम है।

जीवन के भुलावेवश ही अथवा जीवन विद्या का भुलावा अथवा अज्ञात रह जाना ही शरीर को जीवन समझने की विवशता है। तभी हम सोचने के लिए बाध्य हो जाते हैं शरीर में होने वाली क्रिया को जीवन का सोना (निद्रा) मान लेते हैं। जबकि ऐसा होता नहीं है। इसका साक्ष्य है कि जड़-चैतन्यात्मक कोई परमाणु निष्क्रिय नहीं होता अर्थात् सतत क्रियारत रहता है। चैतन्य क्रिया शरीर की अक्षमता को जानकर इसे चलाने और दौड़ाने की प्रेरणा की अक्षयता स्वभाव सिद्ध होते हुए शरीर द्वारा जितना कार्य कराना हैं अथवा शरीर जितना कार्य करने योग्य हैं उतना ही कराता है। इस प्रकार शरीर का सो जाना जीवन का सो जाना नहीं हुआ। शरीर के लिए आहार, निद्रा आदि क्रियाओं का प्रयोजन सिद्ध होता है। जीवन के लिए मूल्य और मूल्यांकन ही व्यवहारिक प्रयोजन सिद्ध होता है। शरीर निर्वाह ही जीवन तृप्ति नहीं है। जीवन की अनुग्रह बुद्धि से ही शरीर निर्वाह की व्यवस्था हो पाती हैं। अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि शरीर जीवन नहीं है, जीवन शरीर नहीं है। जीवन नित्य हैं, जीवन के लिए शरीर एक साधन है और माध्यम है।

जीवन में संचेतना का वैभव प्रकाशमान होता है। विकास के क्रम में जितने भी पद देखने को मिलते हैं जैसे- प्राण पद, भ्रांति पद, देव पद और दिव्य पद- इन पदों में जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति क्रियारत है। इनमें जीवन, संचेतना के रूप में अथवा क्रिया के रूप में अभिव्यक्त रहता ही है। जीवन एक परमाणु के रूप में होते हुए गठनपूर्ण होने के कारण उसका वैभव गठनशील परमाणुओं के सदृश नहीं होता। अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अस्तित्व स्थिर होने के कारण जड़ परमाणु ही विकसित होकर चैतन्य पद में संक्रमित हो जाता है जो किसी भी कारण से पुनः जड़ परमाणु में नहीं बदलता। यही चैतन्य परमाणु, अक्षय बल अक्षय शक्ति संपन्न होने के कारण अपनी अक्षयता को गुणात्मक विकास और जागृति ही अस्तित्व में अनुभव पूर्वक स्वयं की अक्षयता को सिद्ध कर देता है। यही अस्तित्व में परमाणु का विकास और जागृति ही उसकी निश्चयता है। - भ.व. 87-89

जागृति का सम्पूर्ण स्वरूप जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना ही है। पदार्थावस्था, प्राणावस्था और जीवावस्था ये सब पहचानना, निर्वाह करने के साथ अपने आचरण को “त्व” सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में प्रमाणित करते हैं। जबकि मानव में पहचानना, निर्वाह करना के साथ जानना, मानना एक आवश्यकीय प्रक्रिया रही है। इसे भली प्रकार से केवल मानव कुल में ही प्रमाणित होना पाया जाता है। जानना, मानना के साथ ही मानव ज्ञानावस्था में होने के तथ्य को प्रमाणित करता है।

परमाणु में विकास का पहला चरण गठनपूर्णता के रूप में स्पष्ट होता है, जिसके फलस्वरूप जीवन एक चैतन्य इकाई के रूप में अक्षय क्रिया होना पाया जाता है।

जीवन परमाणु का जागृत होना (क्रियापूर्णता) परमाणु में विकास का दूसरा चरण है और इस जागृति को मानव परंपरा में प्रमाणित करना (आचरणपूर्णता) अंतिम चरण है। भौतिक, रासायनिक विकासक्रम में मानव शरीर तथा परमाणु में

विकास पूर्वक जीवन और जीवन जागृति को प्रमाणित करने के क्रम में ही मानव परंपरा में जागृति को प्रमाणित करना होता है। जागृति के प्रमाण का मतलब ही है न्यायपूर्वक, समाधानपूर्वक, यथार्थता, वास्तविकता, सत्यता पूर्वक प्रमाणित होना। प्रमाणित होने का मतलब परम्परा में होना ही है। उक्त पाँचों विधाएं प्रमाणित होने के क्रम में पीढ़ी से पीढ़ी प्रमाणित होना स्वाभाविक है, यही जागृत परम्परा है।

इस प्रकार गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता, आचरणपूर्णता इन तीनों चरणों में परमाणु में विकास व जागृति पूरा होता है। परमाणु में विकास का अर्थ यही है। – क.द. 67-69

(G) अस्तित्व स्थिर है, विकास और जागृति निश्चित है

सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व स्थिर है। सहअस्तित्व में ही विकास और जागृति निश्चित है। इस धरती पर हम मानव इस तथ्य का अध्ययन करने योग्य स्थिति में हो चुके हैं। शुभ का दृष्टा, कर्ता, भोक्ता, उसके मूल में शिक्षा संस्कार से पाई गयी ज्ञान, विज्ञान, विवेक का धारक-वाहक केवल जागृत मानव ही है। ये तथ्य अपने को भली प्रकार से समझ में आता है। सहअस्तित्ववादी दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, विवेक पूर्वक ही हर मानव सर्वशुभ घटनाक्रम में अपने को व्यवस्था सहज रूप में प्रमाणित करते हुए, समग्र व्यवस्था में भागीदारी करना बन जाता है। यही सर्व शुभ कार्यक्रम का पहुँच और प्रगट रूप है। इसके लिये अर्थात् सार्वभौम ज्ञान, विज्ञान, विवेक के लिये अध्ययन ही मात्र एक स्रोत है। ज्ञान, विज्ञान का स्वरूप अपने में सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व दर्शन ज्ञान, चैतन्य प्रकृति रूपी जीवन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण रूपी क्रिया व्यवहार ज्ञान और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करने का ज्ञान ही सम्पूर्ण ज्ञान है। इनमें से सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व को चार अवस्थाओं में और चार पदों में अध्ययन करना बन पाता है। इसका मूल स्वरूप व्यापक वस्तु में सम्पूर्ण एक-एक वस्तुओं का डूबा, भीगा, घिरा रहना ही है। यही सहअस्तित्व रूपी नित्य स्वरूप है। यह अपने में घटना-बढ़ना होता ही नहीं, फैलना सिकुड़ना होता ही नहीं, हर हाल में होना ही बना रहता है। इकाईयों की परस्परता में, निश्चित अच्छी दूरियों में, हर इकाईयों में स्वभाव गति प्रमाणित होने की व्यवस्था है ही। क्योंकि, हर परमाणु अंश दूसरे परमाणु अंशों को पहचानने की स्थिति में ही परमाणु गठन के फलन में निश्चित आचरण चरितार्थ होता हुआ समझ में आया है। निश्चित आचरण का ही स्वभाव-गति नाम है। इसलिये स्वभाव गति प्रतिष्ठा में ही हर इकाई अथवा संपूर्ण इकाईयाँ त्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करता हुआ देखने, समझने में आता है। स्वयं के अध्ययन से भी यही स्थिति उद्घाटित होती है। इस अर्थ में विकास और जागृति निश्चित है।

हम मानव जागृति पूर्वक स्वभाव गति में ही अर्थात् स्वभाव गति सम्पन्नता के उपरान्त ही, मानवत्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करने की प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्वभाव गति, जागृति के उपरान्त ही होना पायी जाती है। जागृति तभी प्रमाणित होती है, जब मानव समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी सम्पन्न हो जाता है, फलतः भागीदारी पूर्वक अपने महिमा, यथा स्थिति को प्रमाणित करता है। दूसरे क्रम में यह भी समझ में आया कि मानव ही समझदार होने योग्य है। मानव स्थिरता, निश्चयता को समझने के उपरान्त ही स्वयं निश्चयता और स्थिरता के लिये ईमानदार हो पाता है, जिम्मेदार हो पाता है। फलस्वरूप भागीदारी पूर्वक प्रमाणित हो पाता है। इसलिये मानव को समझदार होना आवश्यक है इसकी अपेक्षा अर्थात् समझदारी की अपेक्षा सर्वमानव में होना पाया जाता है।

(H) ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय

सह-अस्तित्व वादी सोच के अनुसार ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय को ठीक-ठीक अध्ययन किया जा सकता है। ज्ञाता के रूप में जीवन को, ज्ञान के रूप में सहअस्तित्व दर्शन ज्ञान; जीवन ज्ञान; मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान को पहचाना गया। जागृति पूर्वक मानवाकांक्षा, जीवनकांक्षा को सार्थक बनाना ज्ञेय का तात्पर्य है, अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था पूर्वक मानव लक्ष्य, जीवन लक्ष्य को प्रमाणित करना है, यही ज्ञेय के सार्थक होने का प्रमाण है।

इसी प्रकार दृष्टा, दृश्य, दर्शन की भी सार्थक व्याख्या हो पाती है। दृष्टा पद में जीवन, दृश्य पद में सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व, दर्शन के अर्थ में अस्तित्व दर्शन के रूप में सार्थक व्याख्या होना हो जाता है।

ध्यान, ध्याता, ध्येय भी इसी क्रम में स्पष्ट होता है। ध्येय जागृति के रूप में, ध्यान समझदारी से सम्पन्न होने; समझदारी को प्रमाणित करने के क्रम के रूप में, ध्याता जीवन के रूप में पहचानने की व्यवस्था है।

कर्त्ता, कार्य, कारण भी स्पष्ट है। कर्त्ता पद में जीवन, कार्य पद में मानव; देव मानव; दिव्य मानव पद-प्रतिष्ठा, कारण के रूप में सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व नित्य प्रतिष्ठा है।

साध्य, साधन, साधक के रूप में जो सोचा जाता था, सहअस्तित्व वादी नजरिये से साधक को पहचानने का तरीका बहुत आसान, प्रयोजन से जुड़ा हुआ होना पाया जाता है। सहअस्तित्ववादी नजरिये से साधक मानव के रूप में पहचानने में आता है। साध्य के रूप में जीवन जागृति सुलभ हो पाता है। मानव स्वत्व, स्वतंत्रता, अधिकार के रूप में जागृति ही पहचानने में आता है। ऐसे स्वत्व, स्वतंत्रता, अधिकार, समझदारी के रूप में और ऐसी समझदारी ज्ञान, विज्ञान, विवेक रूप में पुनः स्वत्व, स्वतंत्रता, अधिकार वैभूत होना पाया जाता है। यही जागृति का प्रमाण है। इस प्रकार साध्य कितना सार्थक है अर्थात् जागृति रूपी साध्य कितना सार्थक है, हर व्यक्ति सोच सकता है। साधन के रूप में शोध, अनुसंधान के लिए कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता, परम्परा रूप में प्रमाण, यही साधन है। प्रमाण सम्पन्न परम्परा अर्थात् प्रमाण और प्रमाणिकता के धारक वाहक के रूप में मानव परम्परा जब अपने को प्रमाणित कर पाती है, उसी समझ में सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज का प्रमाण बना ही रहता है।-क.द., 216-217 (2004)

(I) मनःस्वस्थता का स्वरूप

भौतिक, रासायनिक एवं जीवन क्रियाओं के अध्ययन क्रम में मानव का अध्ययन परिपूर्ण होना आवश्यक है। इस मुद्दे पर विगत से अथक प्रयास भी हुआ है। मनुष्य के संदर्भ में, मानवत्व को पहचानने बिना जो अध्ययन किया गया, उसमें भौतिक, रासायनिक क्रियाकलाप का अध्ययन भी अधूरा रह गया। उसी प्रकार भौतिक, रासायनिक क्रियाकलापों का जितना भी अध्ययन हुआ, उसके आधार पर भी मानव को समझना पूरा नहीं हो सका। दोनों प्रकार से इसे ऐसे समझ सकते हैं कि भौतिक, रासायनिक क्रियाकलाप का सूत्र अभी तक मानव को जितना उपलब्ध है, उसके आधार पर मानव का सूत्र और व्याख्या नहीं होता। इसलिए हम मानव, मानव पर विश्वास करने की स्थिति में नहीं पहुँचे।

हम सर्व देश में रहने वाले मानव, भौतिक क्रियाकलाप पर विश्वास करते हैं, जबकि मानव के क्रियाकलाप पर विश्वास करना अभी तक बना नहीं।

इस समस्या के चलते अभी तक मानव का मानवत्व, मानव का आचरण, मानव की मानसिकता, मानव की प्रकृति पर निश्चयन करना संभव नहीं होता। इस घोषणा को प्रकारान्तर से सभी शासन संस्था, शिक्षण संस्था, धर्म संस्कार संस्था, प्रौद्योगिकी संस्था, व्यापार संस्थायें अनेक प्रकार से कहती ही रहती हैं। इस स्थली की रिक्तता ही विकास और जागृति को समझने की आवश्यकता का कारण रही।

इस बात को स्पष्ट किया जा चुका है कि परमाणु ही भौतिक, रासायनिक और जीवन क्रियाकलाप में भागीदारी करता है। जीवन क्रियाकलाप के मूल में गठनपूर्ण परमाणु का होना स्पष्ट किया जा चुका है। चाहे भौतिक क्रियाकलाप हो, रासायनिक हो या जीवन क्रियाकलाप हो, इन तीनों विधा की पहचान और विविधता की पहचान, एकता की पहचान, ये उन-उनके आचरण के आधार पर ही हम मानव निर्धारित कर पा रहे हैं। लोहे के आचरणों के आधार पर लोहे की पहचान निर्धारित करते हैं। वैसे ही मिट्टी, पत्थर, धातु, गधा, घोड़ा, बिल्ली, कुत्ता, चींटी, हाथी इन सब को उन-उन के आचरणों के आधार पर ही पहचानते हैं और उनके साथ मानव के होने वाले कार्य व्यवहार को भी निर्धारित कर पाते हैं।

अस्तित्व में मानव जीवन क्रिया और भौतिक रासायनिक क्रिया (शरीर) का संयुक्त स्वरूप होना स्पष्ट है। परमाणु गठनपूर्ण स्थिति में जीवन क्रियाकलाप को सम्पन्न करता है। जीवन ही आशा, विचार, इच्छा, संकल्प (ऋतम्भरा) और प्रमाण (अनुभव) को अभिव्यक्त, सम्प्रेषित और प्रकाशित करता है। इसका परीक्षण हर मानव अपने में और हर मानव में किया जाना बन पड़ता है। इसलिये मानव, मानव में, से, के लिए अध्ययन करने की वस्तु है।

मनःस्वस्थता को हम सुख कह सकते हैं। यह समाधान का अनुभव एवं प्रमाण है। मनःस्वस्थता का प्रमाण अर्थात् व्यवहार परम्परा में प्रमाण समाधान के रूप में होना पाया गया। इसी के साथ मानव लक्ष्य-समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व के रूप में पहचाना गया है और हर नर-नारी इसका अनुभव कर सकते हैं। यह भी पता लगा कि समाधान ही अनुभव में सुख है। सुख का प्रमाण व्यवहार में समाधान है। इस प्रकार समाधान का ध्रुवीकरण हुआ। समाधान जीवन क्रिया का अथवा मनःस्वस्थता का अथवा जीवन जागृति का अभिव्यक्ति, सम्प्रेषणा, प्रकाशन होना स्पष्ट हुआ।

मनःस्वस्थता मानव परम्परा में, से, के लिए अति अनिवार्य मुद्रा है। मनःस्वस्थता पूर्वक मानव लक्ष्य प्रमाणित हो पाता है। मानव लक्ष्य सार्थक होने के क्रम में मानव अपने में व्यवस्थित हो जाता है और व्यवस्था में भागीदारी करता है।

मानव में व्यवस्था अपने आप में रासायनिक-भौतिक क्रिया में सीमित न होने का प्रधान कारण मानव में जीवन क्रिया का होना है। जीवन क्रिया का गवाही हर मानव ही है। यद्यपि जीवों में भी जीवन क्रिया होते हैं, परन्तु जीवों में जीवन शरीर के अनुरूप कार्य करने में सीमित है, क्योंकि हर जीव वंशानुषंगीय विधि से प्रवृत्ति और कार्यों को प्रमाणित करता ही रहता है। यह संवेदनाओं के अर्थ में सीमित रहना देखा गया है। जबकि मानव में जीवन संज्ञानशीलता (जानना, मानना) और संवेदनाशीलता (पहचानना, निर्वाह करना) दोनों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। जीव संसार में केवल संवेदनायें प्रमाणित हो पायी हैं, जबकि मानव परंपरा में संज्ञानशीलता और संवेदनशीलता दोनों प्रमाणित होते हैं और हर जागृत मानव संज्ञानीयतापूर्वक संवेदनाओं पर नियंत्रण पाए रहते हैं। यह जागृतिपूर्ण अथवा सहज मानव की

मौलिकता है। अतएव संज्ञानीयता पूर्वक संवेदनार्थे नियंत्रित, संतुलित और प्रयोजनशील होना ही मानव की मौलिकता है। इस अर्थ में संपूर्ण प्रयोजन संज्ञानीयता का प्रमाण होना पाया जाता है।

मानव की परिभाषा मनाकार को साकार करने, मनः स्वस्थता को प्रमाणित करने के अर्थ में सार्थक है। यह हर मानव में, से, के लिये स्वीकृत है। मानव स्वस्थ मानस का होना चाहता ही है और मनाकार को साकार करता ही रहता है। इसे सर्व देश काल में परीक्षण किया जा सकता है। इस ढंग से रासायनिक-भौतिक और जीवन क्रिया का संयुक्त प्रकाशन रूपी मानव अन्य प्रकृति जैसे जीव प्रकृति, वनस्पति प्रकृति और खनिज प्रकृति से भिन्न होना अपने आप में स्पष्ट है।

सहअस्तित्ववादी विचार के अनुसार ज्ञान, विवेक, विज्ञान के अनुसार सर्वमानव को मानव लक्ष्य के अर्थ में शिक्षा संस्कार को अपनाना आवश्यक है। इसमें मानवीयता पूर्ण आचरण मानव लक्ष्य के अर्थ में स्पष्ट रहना आवश्यक है, क्योंकि सभी अवस्था में आचरण के आधार पर ही उन अवस्थाओं का लक्ष्य पूर्ण हुआ समझ में आता है। जैसे पदार्थावस्था में सम्पूर्ण वस्तु परिणाम के आधार पर यथास्थिति रूपी लक्ष्य का आचरण करता हुआ देखने को मिलता है। इसी प्रकार प्राणावस्था और जीवावस्था में भी कार्यरत सभी इकाई उन-उन अवस्थाओं के लक्ष्य के अर्थ में आचरण करती हुई स्पष्ट है, यथा प्राणावस्था अस्तित्व सहित पुष्टि के अर्थ में, बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज तक यात्रा करता हुआ देखने को मिलता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जीव संसार, अस्तित्व, पुष्टि सहित वंशानुषंगीय विधि से जीने की आशा में आचरण करता हुआ देखने को मिलता है। इतने सुस्पष्ट स्थितियों को देखने के उपरान्त यह भी आवश्यक रहा कि मानव का आचरण अस्तित्व, पुष्टि, आशा सहित सुख को प्रमाणित करने के अर्थ में होना है जिसके लिए ही मनःस्वस्थता प्रमाणित होना स्वाभाविक रही।

मानव का आचरण मूल्य, चरित्र, नैतिकता के संयुक्त रूप में स्पष्ट होना पाया जाता है। मौलिकता पूर्वक ही मूल्यों का मूल्यांकन होना पाया जाता है, मानव में संबंधों का निर्वाह, उसकी निरंतरता, उसकी स्वीकृति एक मौलिकता है। इसी अर्थ में संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन, परस्पर उभय तृप्ति अथवा परस्पर तृप्ति का होना पाया जाता है। यही मूल्य और मौलिकता का तात्पर्य है। आचरण का दूसरा भाग चरित्र जो स्वधन, स्वनारी, स्वपुरुष, दयापूर्ण कार्य व्यवहार के रूप में सुस्पष्ट होना पाया जाता है, जिससे मानव का मौलिक चरित्र अथवा सार्वभौम चरित्र सुस्पष्ट हो जाता है। तीसरी विधा में नैतिकता मानव में धर्म नीति और राज्य नीति की अपेक्षा और प्रमाण होना पाया जाता है। प्रमाण रूप में हर जागृत नर-नारी अपने तन, मन, धन रूपी अर्थ के सुरक्षा, सदुपयोग के रूप में प्रस्तुत होते हैं। इसमें से सुरक्षात्मक विधियाँ राजनीति और सदुपयोगात्मक विधियाँ धर्म नीति के नाम से जानी जाती हैं।

सहअस्तित्ववादी विधि से हर मानव, मानवत्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करने योग्य इकाई है। इसमें मुख्य मुद्दा यही है – स्वयं को, स्वयं के लिये रासायनिक, भौतिक एवं जीवन क्रिया के संयुक्त रूप में होने को स्वीकारने की आवश्यकता है। जीवन क्रिया की महिमा और मानव परम्परा में इसकी आवश्यकता ध्यान में रहना अति आवश्यक है। तभी मानव शोध के लिए तत्पर होना पाया जाता है। ऐसी तत्परता जागृति सहज विधि से सर्वशुभ के अर्थ में प्रस्तावित होना होता है। तभी, सर्वमानव समाधान पूर्वक व्यक्त होने, समझदारी पूर्वक हर परिवार समाधानित

और सुखी होने की स्थिति स्पष्ट हो जाती है, फलस्वरूप समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व प्रभावित होने का सौभाग्य उदय होता है, यही मुख्य बिन्दु है।

सर्वशुभ का प्रमाण भी यही है क्योंकि समाधान, समृद्धि पूर्वक ही मानव सुख, शान्ति का अनुभव करता है। इसी क्रम में समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व पूर्वक आनन्द अपने आप में सम्पूर्ण होना पाया जाता है। इस ढंग से मानव लक्ष्य सार्थक होने की स्थिति में जीवन लक्ष्य (सुख, शान्ति, संतोष, आनन्द) सार्थक होता ही है। जीवन लक्ष्य और मानव लक्ष्य सार्थक होना ही अध्ययन और अध्यापन की सार्वभौमता है। ऐसे लक्ष्य के साथ, मानव परम्परा अपने आप में स्वयं को पहचानने और सम्पूर्ण मानव को पहचानने का सूत्र और व्याख्या बन जाता है। प्रमाण के रूप में व्याख्या, समझ के रूप में सूत्र होना पाया जाता है। यह नियति सहज विधि से समीचीन रहना पाया जाता है। नियति विधि का तात्पर्य विकासक्रम, विकास, जागृति क्रम, जागृति है। दूसरे विधि से भौतिक, रासायनिक रचना शरीर और जीवन क्रियाकलाप का संयुक्त अभिव्यक्ति, सम्प्रेषणा, प्रकाशन के रूप में है।

मानव लक्ष्य - समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व को प्रमाणित करने और उस आधार पर जीवन लक्ष्य (मनःस्वस्थता) - सुख, शान्ति, संतोष, आनन्द को सार्थक बनाने के अर्थ में मानव शिक्षा संस्कार की आवश्यकता सदा-सदा से बनी हुई है। इसकी सफलता ही मानव कुल का सौभाग्य है।- क.द. 69-72

(J) अस्तित्व में 'परमाणु में विकास' - सारांश

परमाणु में विकास

अस्तित्व को अनादि काल से मानव स्पष्ट और प्रमाण रूप में समझने का प्रयास करता रहा है। इसी क्रम में अधिभौतिकवादी विचारों के अनुसार चेतना से पदार्थ की उत्पत्ति होती है ऐसा माना जाता है।

भौतिकवादी विचारों के अनुसार पदार्थ से चेतना निष्पन्न होती है।

ये दोनों विचारधारार्ये अपने-अपने समर्थन के लिए अनेकानेक तर्कों, अभ्यासों और प्रयोगों को प्रस्तावित करते रहे। अभी तक न तो किसी ने चेतना से पदार्थ को पैदा होते हुए देखा तथा न ही पदार्थ से चेतना पैदा होते हुए देखने को मिला। यही देखने को मिलता है कि चेतना व पदार्थ अविभाज्य वर्तमान है। इसके मूल रूप को देखने से पता चलता है कि सत्ता (चेतना) में सम्पृक्त प्रकृति (पदार्थ) ही अस्तित्व सर्वस्व है। यहाँ देखने का तात्पर्य समझने से है। सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति अविभाज्य वर्तमान होने के कारण अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व के रूप में नित्य प्रकाशित है। इस तथ्य को हृदयंगम करने पर स्पष्ट हो जाता है कि चेतना और पदार्थ में नित्य सामरस्यता त्रिकालाबाध सत्य है।

सत्ता अरूप हैं, व्यापक है और सत्ता में प्रकृति रूप गुण स्वभाव धर्म सम्पन्न है और अविभाज्य है। सत्ता को 'शून्य' नाम से भी जाना जाता है। ऐसा कोई स्थान ही नहीं जहाँ सत्ता न हो, इसलिए प्रकृति का सत्ता में होना स्वाभाविक है। सत्ता को साम्य ऊर्जा, शून्य, ज्ञान, चेतना, व्यापक, नित्य, ईश्वर और निरपेक्ष ऊर्जा के नाम से भी जाना जाता है।

सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति अनन्त इकाईयों के रूप में है। प्रत्येक इकाई सत्ता में सम्पृक्त होने के कारण सत्ता में घिरी हुई, डूबी हुई और भीगी हुई है।

सत्ता व्यापक रूपी किसी लंबाई चौड़ाई में सीमित नहीं है, इसका कोई मापदण्ड नहीं बन पाता, इसलिए सत्ता व्यापक है। प्रकृति रूप में जितनी भी इकाईयाँ हैं उन सबकी गणना नहीं हो पाती इसलिए वे अनन्त हैं इस प्रकार अस्तित्व स्वयं व्यापक और अनन्त है।

सत्ता अरूपात्मक और सत्ता में प्रकृति रूपात्मक अस्तित्व है। अस्तित्व का तात्पर्य होने से और अविनाशिता से है। सत्ता गति और दबाव विहीन स्थिति में है। जबकि सत्ता में ही सम्पूर्ण प्रकृति गति और दबाव सहित विद्यमान है। दबाव अर्थात् वातावरणवश (परस्परतावश) आकर्षण विकर्षण के लिए बाध्यता। सत्ता अरूपात्मक होने के कारण आयामों में सीमित नहीं हैं जबकि सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति अनन्त इकाईयों का समूह है। साथ ही प्रत्येक इकाई आयामों सहित छः ओर से सीमित है।

प्रकृति की मूल इकाई परमाणु है। क्योंकि परमाणु में ही विकास होता है। प्रत्येक परमाणु गठनपूर्वक परमाणु हैं। प्रत्येक गठन में एक से अधिक परमाणु अंशों का होना अनिवार्य है। परमाणु के पूर्व रूप(परमाणुअंश) में विकास होता नहीं है। परमाणु के पररूप(अणु) रचनाएँ विकास की लाक्षणिकता को प्रकाशित करते हैं, परन्तु विकास नहीं होता है, क्योंकि विकसित इकाई अर्थात् जीवन शरीर रचना के माध्यम से प्रकाशित और सम्प्रेषित होता है। विकास के क्रम में ही प्रकृति दो वर्ग व चार अवस्थाओं में प्रकाशमान है। प्रकृति के दो वर्ग जड़ और चैतन्य है। प्रकृति की चार अवस्थाएँ पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था है। प्रकृति में पदचक्र और पदमुक्ति का प्रभेद चार प्रकार से है। जैसे- प्राणपद चक्र, भ्रांति पद चक्र, देवपद चक्र और पदमुक्ति (दिव्यपद या पूर्णपद)। इसी क्रम में अस्तित्व में प्रकृति का विकास और उसका इतिहास नित्य समीचीन है।

अस्तित्व में प्रकृति सहज सम्पूर्ण वैविध्यताएँ विकासक्रम में प्रकाशित है। यह एक अनवरत क्रिया है। अस्तित्व में विकास क्रम शाश्वत प्रणाली है, क्योंकि अस्तित्व स्वयं सह-अस्तित्व होने के कारण परस्पर प्रकृति के आदान-प्रदान एक स्वाभाविक क्रिया है। आदान प्रदान अपनी दोनों स्थितियों में स्वयं व्याख्यायित है। आदान-प्रदान के अनन्तर तुष्टि अथवा स्वभावगति का होना पाया जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस इकाई में आदान होता है उसके उपरान्त स्वभाव गति होती ही है, साथ ही प्रदान जिससे होता है, उसके उपरान्त उसमें भी स्वभाव गति होती है। इस विधि से सह-अस्तित्व प्रमाणित होता है।

प्रकृति में वैविध्यता है। वैविध्यता का मूल रूप पदार्थ में अथवा प्रकृति में अनेक स्थितियाँ हैं। प्रकृति में अनेक स्थितियाँ विकास के क्रम में है। अस्तित्व स्वयं सह-अस्तित्व होने के कारण प्रकृति की प्रत्येक इकाई की परस्परता में सह-अस्तित्व का सूत्र समाया है। (क्योंकि प्रकृति की अनन्त इकाईयाँ परस्परता में आदान-प्रदान रत है।) सह-अस्तित्व ही पूरकता का सूत्र व स्वरूप हैं। पूरकता विकास के अर्थ में सार्थक होती हैं। अस्तित्व में विकास एक अनवरत स्थिति है। विकास के क्रम में अनेक पद और स्थितियाँ अस्तित्व में देखने को मिलती है। प्रकृति, पदार्थ के नाम से भी अभिहित होती हैं। पदार्थ का तात्पर्य है कि पदभेद से अर्थभेद को प्रकाशित कर सके अथवा पदभेद से अर्थभेद को

प्रकाशित करने वाली वस्तुओं से है। वस्तु का तात्पर्य वास्तविकताओं को प्रकाशित करने योग्य क्षमता सम्पन्नता से है। इस प्रकार प्रकृति में वस्तु और पदार्थ की अवधारणा स्पष्ट हो जाती है।

अस्तित्व में प्रकृति नित्य क्रियाशील होने के कारण प्रत्येक क्रिया में श्रम, गति, परिणाम अविभाज्य रूप में वर्तमान रहता है। इसी सत्यतावश प्रकृति में परिणाम और विकास स्पष्ट है। विकासक्रम और विकास ही अस्तित्व में विविधता के रूप में दिखाई पड़ता है। यही स्थिति अध्ययन की मूल वस्तु सिद्ध हो जाती है। अध्ययन करने की क्षमता केवल मानव में ही पायी जाती है। मानव भी अस्तित्व से अभिन्न अथवा अविभाज्य इकाई है। अध्ययन के लिए अस्तित्व से अधिक कोई वस्तु या आधार नहीं है। इसीलिए अस्तित्व में यथार्थता, वास्तविकता और सत्यता के अध्ययन क्रम में निर्भ्रमता होती है।

अस्तित्व सह-अस्तित्व होने के कारण पूरकता और पहचान नित्य सिद्ध होती है। जो है, वह निरंतर रहता ही है और जो था नहीं वह होता नहीं। इसी कारणवश अस्तित्व जैसा है, वह अनन्त काल तक वैसा रहेगा ही। इसी सत्यतावश सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति की प्रत्येक इकाई अस्तित्व में परस्परता को पहचानने के रूप में व्यवहृत है, क्योंकि प्रत्येक इकाई में रूप, गुण, स्वभाव और धर्म अविभाज्य वर्तमान है। सत्ता में प्रकृति सम्पृक्त होने के कारण प्रत्येक इकाई अस्तित्व धर्म सहित होता है, इसका साक्षी ही है किसी इकाई का नाश न होना। जो कुछ भी होता है वह केवल परिवर्तन और विकास ही है। धर्म का तात्पर्य जिससे जिसका विलगीकरण न हो। अस्तित्व स्वयं सह-अस्तित्व होने के कारण यही परम धर्म का रूप है।

अस्तित्व स्वयं सम्पूर्ण भाव होने के कारण प्रत्येक इकाई में भाव सम्पन्नता देखने को मिलती है। मूलतः सह-अस्तित्व ही परमभाव होने के कारण अस्तित्व ही परमधर्म हुआ। इस प्रकार भाव और इकाई अविभाज्य वर्तमान है। सह-अस्तित्व ही अस्तित्व का स्वरूप होने के कारण सम्पूर्ण भाव (मूल्य) परस्परता में पूरकता, पहचान, व्यंजना है और अभिव्यक्ति रूप में आदान-प्रदान है। सम्पूर्ण भाव का तात्पर्य प्रत्येक पद और अवस्था में स्थित इकाईयों की मौलिकता से है। मौलिकता का तात्पर्य मूल्य से है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि परमधर्म (अस्तित्व) प्रत्येक इकाई में समान है इसीलिए यह सार्वभौम और शाश्वत है। मूल्यों का ही आदान-प्रदान और पहचान होती है, क्योंकि परस्परता में ही पूरकता, पहचान और व्यंजनाये होती हैं। साथ ही प्रत्येक व्यंजना व्याख्यायित होने योग्य घटना है। इकाई की मौलिकता (मूल्य) नित्य वर्तमान होने के कारण नियन्त्रित, संरक्षित व सार्वभौम है।

सह-अस्तित्व में परस्परता स्वभाव सिद्ध होने के कारण पूरकता और पहचान आदान-प्रदान के रूप में होना अनवरत स्थिति है। अस्तित्व ही सत्य है। सत्य ही स्थिति सत्य, वस्तु स्थिति सत्य, वस्तुगत सत्य की स्थिति में अध्ययनगम्य है। सह-अस्तित्व में अध्ययन पूर्वक आदान-प्रदान का जो प्रवाह है, उसे देखने पर पता चलता है कि सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति ही प्रधान (अथवा सम्पूर्ण) अध्ययन की वस्तु बन जाती है। स्थिति पूर्ण सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति स्थितिशील दिखाई पड़ती है। स्थिति पूर्ण सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति उसके अनन्त इकाईत्व के स्वरूपवश पहचानने में आती है। इसी क्रम में प्रत्येक इकाई दूसरी इकाई को पहचानने की व्यवस्था अस्तित्व में प्रकाशित हुई। स्थिति पूर्ण सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति का पूर्ण में गर्भित होने का तात्पर्य है कि पूर्णता का अभीष्ट अथवा ऐसे अभीष्ट का मूल रूप समाये रहना। इसी सत्यतावश प्रत्येक इकाई पूर्णता के अर्थ में होने के लिए एक अनिवार्य स्थिति हुई। इसी क्रम में सम्पूर्ण इकाई का

विकास की ओर उन्मुख होना स्वभाविक हुआ। फलस्वरूप, परस्परता में पहचान सहित आदान-प्रदान होना एक स्वाभाविक स्थिति हुई।

स्थितिशील प्रकृति की परस्परता में पूर्णता और अपूर्णता की स्थिति इस प्रकार स्पष्ट होती है कि स्थितिपूर्ण सत्ता में स्थितिशील प्रकृति अनन्त इकाईयों का समूह होने के कारण परस्परता एक अपरिहार्य स्थिति है। पूर्ण में गर्भित प्रत्येक इकाई पूर्णता के लिए ही क्रियाशील एवं विकासशील है।

स्थितिपूर्ण सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति सत्ता में अनुभवपर्यन्त विकास और जागृति के लिए प्रवृत्त है। विकास का तात्पर्य गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता और आचरणपूर्णता और उसकी निरन्तरता से है। जागृति का तात्पर्य समाधान एवं प्रामाणिकता से है। इकाई में नियम और उसकी निरन्तरता इस तथ्य से स्पष्ट है कि इकाई में नियंत्रण और उसकी महिमा स्पष्ट होती है। यह इकाई + वातावरण = इकाई संपूर्ण रूप में है। यही उसकी निरन्तरता का द्योतक है।

“पूर्णता के अर्थ में अपूर्णता स्पष्ट है।” क्योंकि सह-अस्तित्व में परस्पर उपयोगिता पूरकता है। यह पूरकता पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था में प्रकाशित है। ज्ञानावस्था में मानव ही गण्य होता है। मानव जड़-चैतन्य का संयुक्त साकार रूप होने के कारण एवं ज्ञानावस्था के पद में होने के कारण कर्म करते समय स्वतंत्र, फल भोगते समय परतन्त्र होने की व्यवस्था उनमें ही समाहित है।

विकास और जागृति क्रम में स्वतंत्रता एक मौलिक प्रकाशन है। स्वतंत्रता के लिए इकाई इसीलिए प्रवर्त होती गयी कि वातावरण और नैसर्गिकता के योगफल से प्रवर्तन होना एक अनिवार्य स्थिति रही। इसी क्रम में पूर्णता का अभीष्ट इकाई में होना एक शाश्वत स्थिति रही है इसलिए पूर्णता क्रम में विकास स्पष्ट है। विकास का पहला चरण अथवा पूर्णता का पहला चरण गठनपूर्णता है। ऐसी गठनपूर्ण इकाई जीवावस्था में केवल जीने की आशा से कार्यरत रही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्णता के अर्थ में विकासक्रम अस्तित्व में नित्य वर्तमान और स्पष्ट है। पूर्णता का दूसरा चरण क्रियापूर्णता के रूप में ज्ञानावस्था का मानव अपने त्व सहित व्यवस्था के रूप में और पूर्णता का तीसरा चरण आचरणपूर्णता अर्थात् प्रामाणिकता के रूप में सर्वाधिक उपकार प्रमाणित होना चिरकालीन अपेक्षा है। यह जड़-चैतन्य के सह-अस्तित्व में ही सार्थक होना पाया गया और यह समझ में आता है। - भ.व. 36-39

सत्ता

सत्तामयता को शून्य, ज्ञान, परमात्मा आदि नामों से भी इंगित कराया जाता है। सत्तामयता का तात्पर्य है, सम्पूर्ण प्रकृति का, अपनी अपनी अवस्था में, कार्य करने के लिए उर्जा सम्पन्न रहना।

इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकृति में, से, के लिए सत्तामयता, ऊर्जा के रूप में प्रमाणित है। सत्तामयता का, सम्पूर्ण अवस्थाओं में पाई जाने वाली प्रकृति में पारगामी होना ही, मुख्य रूप में ऊर्जा का स्वरूप है। इसका परीक्षण एवं प्रमाण हर छोटे से छोटे अंश, जैसे परमाणु, परमाणु में निहित एक एक अंश और उसको यदि विभाजित करें - ऐसे हरेक भाग का गतिशील होना पाया जाता है। इससे सहज पता चलता है कि सम्पूर्ण प्रकृति ऊर्जा में भीगी हुई है। यही सत्तामयता के

पारगामी होने का प्रमाण है। सत्तामयता में सम्पूर्ण प्रकृति और सम्पूर्ण प्रकृति में सत्तामयता ओतप्रोत रूप में है – ऐसा पाया जाता है। प्रकृति न हो, ऐसी स्थिति में सत्तामयता को पहचानने वाला अर्थात् जानने, मानने, पहचानने, वाला नहीं रह पाता है।

दूसरी विधि से ऐसा होना संभव नहीं है। सत्ता न हो, ऐसे स्थान पर प्रकृति को पाना संभव नहीं है। कहीं भी पाएंगे तो सत्तामयता में सम्पूर्ण प्रकृति ओत-प्रोत है – यही “सह-अस्तित्व” का मूल रूप है। सह-अस्तित्व, अस्तित्व सहज नित्य वर्तमान है और इसका वैभव है। अस्तित्व सहज रूप में द्रष्टा पद में स्थित मनुष्य को यह पता लगता है कि सत्तामयता स्थितिपूर्ण है। सत्तामयता में स्थित सम्पूर्ण प्रकृति स्थितिशील है। “स्थितिपूर्ण” का तात्पर्य निरंतर महिमा संपन्नता से है। परम महिमा यही है कि प्रकृति में दिखने वाले सम्पूर्ण बल का नियंत्रण और संरक्षण, स्वरूप में बोधगम्य (ज्ञातव्य) है। सत्तामयता का अर्थ निरपेक्ष ऊर्जा और परम बल सहज रूप में नित्य वैभवित रहने से है।

परमाणु

स्थितिशीलता का तात्पर्य सत्तामयता में संपृक्तता से है। सत्ता में संपृक्त प्रकृति सहअस्तित्व रूप में नित्य प्रमाणित होने से है, सत्तामयता में सम्पूर्ण प्रकृति ओत-प्रोत रहने से है। स्थितिपूर्ण सत्तामयता में ऊर्जा संपन्न, बल संपन्न प्रकृति पूर्णता में, से, के लिए बीज संपन्न होने से है। क्योंकि स्थिति पूर्ण सत्ता में संपृक्ततावश, पूर्णता की दिशा सम्पन्नता से है। प्रत्येक वस्तु में दिशा सम्पन्नता स्पष्ट है। ऐसी स्पष्टता को इस प्रकार देखा जा सकता है कि सम्पूर्ण वस्तु परमाणु के रूप में क्रियाशील है। क्रिया अपने में श्रम, गति, परिणाम का अविरत कार्य है ऐसा दिखाई पड़ता है। श्रम, गति, परिणाम संपन्न परमाणु में ही, पूर्णता सहज दिशा स्पष्ट है। यथा प्रत्येक इकाई अपने वातावरण सहित सम्पूर्ण है। हर वस्तु अपनी संपूर्णता के साथ त्व संपन्न वर्तमान है। यह पदार्थ व प्राण अवस्था है। यह विकास क्रम सहज रूप है। यही भौतिक-रासायनिक क्रियाकलाप हैं। विकास भी परमाणु में ही सम्पन्न होता है। विकसित परमाणु जीवन पद में है।

परमाणु में ही श्रम, गति, परिणाम व्याख्यायित है। परिणाम का अमरत्व ही परमाणु में विकास की मंजिल है। रासायनिक द्रव्यों से रचित समृद्धि, पूर्ण मेधसयुक्त शरीर व जीवन के संयुक्त रूप में मानव है। गर्भाशय में शरीर रचना का होना स्पष्ट है। जीवन विकसित परमाणु, चैतन्य इकाई के रूप में अस्तित्व में रहता ही है। मानव परम्परा में शरीर के साथ जीवन का संयोजन जागृति पूर्णता के अर्थ में है, यही श्रम का विश्राम, गति का गंतव्य के रूप में प्रमाण है। परिणाम का अमरत्व, श्रम का विश्राम, गति का गंतव्य ही दिशा है। इसे प्रत्येक मनुष्य समझने में समर्थ है। यही मुख्य तथ्य है। मानव संचेतना को, समझने समझाने का आधार एवं प्रक्रिया है। मनुष्य ही अस्तित्व में द्रष्टा है। इस साक्ष्य को आगे संदर्भानुसार स्पष्ट किया है। इसके पहले प्रत्येक मनुष्य, कल्पनाशील कर्म स्वतंत्र है – यह बात चर्चा में आ चुकी है। ऐसी कल्पनाशीलता की महिमावश ही अस्तित्व में अध्ययन का साहस जुटा पाता है। इसी क्रम में प्रत्येक प्रजाति के वस्तु का अपनी परमाणुविक स्थिति में क्रियाशील होना पाया जाता है। परमाणु में ही, श्रम, गति, परिणाम व्याख्यायित होता है और परमाणु ही “परिणाम का अमरत्ववश” जीवन पद में संक्रमित है। परिणाम के अमरत्व के मूल में गठन पूर्णता ही प्रधान प्रक्रिया है। यह अस्तित्व सहज घटना है।

अस्तित्व ही नित्य वर्तमान और परम सत्य है। इस प्रकार सत्य में, से, के लिए ही विकास क्रम, विकास व जागृति सहज अभिव्यक्ति, संप्रेषणा और प्रकाशन है। अस्तित्व अपने स्वरूप में सर्व-देश, सर्वकाल, सर्ववस्तु ही है। वस्तु का

तात्पर्य वास्तविकताओं को प्रकाशित करता हुआ प्रमाण से है। सर्वदेश का तात्पर्य मूलतः सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति है। रचना सम्पन्न प्रकृति में ही देश चिन्हित होता है। सत्तामयता, को सर्वदेश इसीलिए कहना बनता है कि सम्पूर्ण प्रकृति का सत्तामयता में नियंत्रित, संरक्षित, ऊर्जा संपन्न और क्रियाशील होना वर्तमान में दिखाई पड़ता है। सम्पूर्ण प्रकृति की स्थिति-गति सत्ता में ही है। आवास को देश कहें तब सत्तामयता ही मूलतः देश के रूप में प्रमाणित है। रचना की अवधि रूपी विस्तार को देखने की स्थिति में सम्पूर्ण रासायनिक, भौतिक रचनाएं, सीमित देश के रूप में हैं। इस प्रकार भी व्यापक सत्ता में परिमित (सीमित, विभक्त) वस्तुएं नित्य वर्तमान हैं, यह समझ में आता है। इस प्रकार प्रकृति परिमित (सीमित), सत्ता अपरिमित (व्यापक) वस्तु देश के रूप में अस्तित्व में स्पष्ट है।

परिमित वस्तुओं में देश विभाजन रेखा होना मान लिया जाता है, होता नहीं। जबकि व्यापक सत्ता में देश विभाजन रेखा बनती नहीं अथवा चिन्हित नहीं होती। इसे कोई भी, प्रयोग कर देख सकता है। इसका मूल तथ्य यही है - (१) सत्तामयता का सम्पूर्ण प्रकृति में पारगामी होना। (१) सत्तामयता का पारदर्शी होना। (१) व्यापक होना। परिमित वस्तुओं में विभाजन रेखाओं को मान लिया जाता है। ऐसा हुआ नहीं रहता। जैसे इस धरती पर, अनेक देशों के नाम से भूखंडों का सीमाकरण आदमी करता है। इसी के साथ यह भी देखा जाता है कि वह सीमाएं धरती से विखंडित न होकर अखंड रहती है। यह धरती अपने वातावरण सहित संपूर्णता सम्पन्न इकाई है। सम्पूर्णता अपने में अखण्ड है। यह अखंडता निरंतर बनी ही रहती है। जब तक धरती अपनी स्थिति को बनाए रख पाती है। यह भी स्पष्ट हो चुका है कि यह धरती अपने में समृद्धि और संतुलन संपन्न होने के फलस्वरूप, मानव के भी वैभव आवास योग्य हुई है। इसका साक्ष्य इस धरती पर मानव का होना ही है। इससे यह पता चलता है कि इस धरती की सहज सटीकता का अध्ययन करना भी एक अनिवार्य स्थिति है।

यह धरती अस्तित्व में अविभाज्य है और अनेक सौर-व्यूहों में से, एक सौर-व्यूह के अंगभूत रूप में वैभवित है। इसी धरती पर मानव अपने को नैसर्गिकता सहित सुरक्षित रहना पाते ही आया। फलस्वरूप मानव अपनी कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रतावश सामुदायिक, आर्थिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी को प्रयोग करते ही आया। ऐसे सभी प्रयोगों के फलस्वरूप, संतुलित नैसर्गिकता से, असंतुलित नैसर्गिकता की ओर गति स्पष्ट हुई। इस धरती के अधिकांश मानव, ऐसे परिवर्तन से व्याकुल हुए, ऐसा सुनने को मिलता है। इसका मूल तत्व, मानव संचेतना विरोधी मानसिकता ही प्रधान कारण और कार्य रहा है। मानव का अध्ययन जिस प्रकार से अभी तक संपन्न हुआ, उसी के आधार पर मानव संचेतना विरोधी मानसिकता (संवेदनशील मानसिकता) को प्रोत्साहन मिला, जबकि संज्ञानशीलता के नियंत्रण में, संवेदनशीलता को पहचानने की आवश्यकता रही। यह विफल रहा अतएव परिणाम नकारात्मक, मानव विरोधी रूप में प्रवर्तित हुआ। इस प्रकार मानवत्व सहित ही मानव संचेतना है। इसी प्रकार देव संचेतना, दिव्य संचेतना प्रकट होना सहज है।

मानव का सम्पूर्ण अध्ययन मध्यस्थ दर्शन में संपन्न किया गया। अस्तित्व दर्शन के आधार पर यथा पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था की सहज स्थितियों का अध्ययन किया गया। इसी क्रम में अस्तित्व में, ज्ञानावस्था में मनुष्य को पहचाना गया। ज्ञानावस्था का तात्पर्य द्रष्टा पद प्रतिष्ठा में कर्ता, भोक्ता और पुनःद्रष्टा के रूप में जीने के कार्यक्रमों सहित अभिव्यक्त, संप्रेषणाशील और प्रकाशित होने से है।

अस्तित्व में “परमाणु में विकास” पूरकता, संक्रमण, जीवन, जीवनी क्रम, सकारात्मक समझ, पद्धति, प्रणाली, दिशा की ओर जीने का कार्यक्रम रूपी परिवार मूलक स्वराज्य और स्वानुशासन रूपी स्वतंत्रता को विधिवत अध्ययन किया गया है। साथ ही साथ अस्तित्व में विकास, पूरकता, उदात्तीकरण, भौतिक रासायनिक रचनाओं और विरचनाओं का भी अध्ययन किया गया। इस प्रकार जीवन, जीवन जागृति क्रिया और भौतिक रासायनिक क्रियाओं को सांगोपांग अध्ययन करने के उपरान्त पता चला कि संक्रमण, जीवन, जीवन जागृतिक्रम, जागृतिपूर्णता तथा उसकी निरंतरता पूर्वक मानव परम्परा नित्य वैभवशील होना समझा गया अभी तक जागृति क्रम में स्थित जीवन और रासायनिक भौतिक रचना सहज शरीर के संयुक्त रूप में प्रत्येक मनुष्य है। इन तथ्यों के आधार पर मानव के “ज्ञानावस्था की इकाई” का पहचान सहित नाम दिया गया है।

अस्तित्व में “परमाणु का विकास” देखने को मिलता है। प्रत्येक परमाणु में गठन, प्रत्येक गठन में एक से अधिक अंशों को देखा जाता है। अथवा समझा जाता है। इस प्रकार गठन का अर्थ, परमाणु में कार्यरत अंशों को पहचान सहित इंगित करने के अर्थ में स्पष्ट है। परमाणु गठन में कम से कम दो अंशों का होना प्रमाणित है। इससे यह पता लगता है कि गठित होने का उपक्रम प्रवृत्ति अंशों में ही होना समाहित रहता है। इससे प्रत्येक अंश-गठन में, स्वभाव गति सम्पन्न होने का आशय समाहित है और एक अंश, दूसरे अंश से निश्चित दूरी को बनाए रखते हुए, कार्यरत रहना समझ में आता है। इससे यह भी अर्थ स्पष्ट होता है कि एक अंश, दूसरे अंश की निश्चित दूरी को, पहचानते हुए कार्य करते हैं।

प्रत्येक गठन गतिपथ सहित, कार्यशील रहना पाया जाता है। गति पथ कम से कम एक होना, भी एक अनिवार्य स्थिति है, यह समझ में आता है। इसी गतिपथ को परिवेश भी कहा गया है। इसी क्रम में एक परिवेश से आरंभ होकर परमाणु में एक से अधिक परिवेशों को देखा गया है। इस विधि से अंशों का अधिक कम होना भी परमाणु में विकास-क्रम में देखा गया। इस प्रकार परमाणु में विकास का आधार (1) अंशों का गठन, (2) गतिपथ (3) अंशों का प्रस्थापन (अंशों का गठन में समाहित होना) विस्थापन (अंशों की संख्या घटना-बढ़ना) ज्ञात हुए। ऐसे विकास क्रम में, गठन पूर्ण पद में संक्रमित होना पाया जाता है। पाये जाने का तात्पर्य, अस्तित्व में होने से मानव सहज समझ से है। ऐसे गठन पूर्ण परमाणु ही जीवन के रूप में वैभवित होते हैं - ऐसा पाया जाता है।

विकास-क्रम में जितने भी परमाणु होते हैं, ये सब अपने ही स्वभाव गति में प्रकाशित होते हैं। फलस्वरूप उन उन का मौलिक आचरण स्पष्ट है। मौलिकता का तात्पर्य, उन उन के आचरण का निश्चित पहचान बनाए रखने से है - जैसे दो अंशों से गठित परमाणु, अपने अपने आचरण में मौलिक होते हैं। ऐसे परमाणुओं को, भौतिक परमाणुओं के नाम से जाना जाता है। ऐसे परमाणु भौतिक रूप में होते ही हैं। भौतिकता का प्रमाण, परमाणुओं में भारबन्धन और अणुबंधन के रूप में प्रमाणित है। ऐसे बंधन के आधार पर ही, अनेक परमाणुओं से रचित अणु और अनेक अणुओं से रचित पिण्ड देखने को मिलते हैं।

ऐसी भौतिक वस्तुएं, अपने में समृद्ध होने के उपरान्त ही रासायनिक क्रियाकलाप में, भागीदारी का निर्वाह करते हुए दिखाई पड़ती है। रासायनिक क्रिया का तात्पर्य, विभिन्न भौतिक अणु, निश्चित अनुपात से मिलकर, अपने अपने आचरणों को त्याग कर तीसरे प्रकार के आचरण के लिए तत्पर होने से है। जैसे - पानी, अम्ल और क्षार के रूप में देखने को मिलता है। ऐसे रासायनिक द्रव्यों का ऊष्मा के दबाव सहित, प्राण कोशाओं के रूप में उदात्तीकृत होना, सह-अस्तित्व सहज क्रिया है। उदात्तीकरण होने का तात्पर्य प्राण कोषा और उनसे रचित रचनाओं से है। रासायनिक,

भौतिक रचनाओं में विरचित होने की संभावना बनी ही रहती है। इस प्रकार उदात्तीकरण का निश्चित स्वरूप और प्रयोजन स्पष्ट होता है।

उदात्तीकरण पूर्वक ही मानव शरीर भी एक रासायनिक रचना है और चैतन्य पद में संक्रमित परमाणु ही जीवन है – यह अस्तित्व सहज है। इस जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में मानव का होना और मानव परम्परा का होना पाया जाता है। जीवन ही भ्रम पूर्वक जागृति क्रम में दुःख एवं समस्याओं को भोगता है। जीवन ही ज्ञान पूर्वक जाग्रत होता है, फलःस्वरूप सुख एवं समाधान को प्रमाणित करता है।— म.वि. 7-13

सम्बन्धित परिभाषाएं

क्रियापूर्णता

- क्रिया पूर्णता के अर्थ में गंतव्य क्रम में गुणात्मक परिवर्तन अर्थात् अमानवीयता से मानवीयता और मानवीयता से सतर्कता जो परिष्कृत संचेतना अर्थात् अतिमानवीयता का प्रकाशन और प्रतिष्ठा
- जागृति सहज सर्वतोमुखी समाधान, सतर्कता, मानवीयतापूर्ण क्रियाकलाप।

आचरणपूर्णता

- आचरण पूर्णता के गंतव्य क्रम में श्रेष्ठ और श्रेष्ठतम गुणात्मक परिवर्तन, परिमार्जन जिसका प्रमाण सजगता जो परिष्कृति पूर्ण संचेतना का प्रकाशन और प्रतिष्ठा है। – प.स. 62, 66
- दिव्य मानव प्रतिष्ठा-दिव्य मानवीयता। जीवन मुक्त, सजगता, सहजता, केवल्य, गन्तव्य, विकास का चरमोत्कर्ष।

जागृति क्रम

- भ्रान्त ज्ञानावस्था से भ्रान्ताभ्रान्त ज्ञानावस्था, भ्रान्ताभ्रान्त ज्ञानावस्था से निर्भ्रांत ज्ञानावस्था का विकास।
- गणितवाद से गुणवाद, गुणवाद से कारणवाद, कारणवाद से जागृतिवाद। प.स. 74
- जीवन जागृति क्रम – अमानवीयता से मानवीयता, मानव से देव मानव, देव मानव से दिव्य मानवीयता की ओर गति। – प.स. 78

जागृति

- ज्ञान विवेक विज्ञान संपन्नता ज्ञान अर्थात् जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयपूर्ण आचरण ज्ञान की संयुक्त अभिव्यक्ति, जीवन लक्ष्य
- मानव लक्ष्य को विवेचना सहित पहचानना।

- क्रियापूर्णता, सतर्कता, भ्रम से मुक्त जीवन, विकास परम सहज प्रकाशन। – प.स. 74

जीवन जागृति

- गति का गंतव्य, भ्रम मुक्ति, परम विकास, आचरण पूर्णता उसकी निरंतरता। – प.स. (1993), 38

जागृति पूर्णता

- क्रियापूर्णता सहित आचरणपूर्णता, दृष्टापद जागृति, अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी।
- गति का गन्तव्य, सजगता, सहजता। – प.स. 76

विश्राम

- सर्वतोमुखी समाधान संपन्न होना, प्रमाणित होना। – प.स. 176

पूर्ण-विश्राम

- क्रिया पूर्णता, आचरण पूर्णता, फलतः समाधान > व्यवस्था व समग्र व्यवस्था में भागीदारी सहज है।
- सर्वतोमुखी समाधान सम्पन्नता सहज प्रमाण। – प.स. 116

गति का गंतव्य

- गुणात्मक विकास का परम बिंदु, सत्य, धर्म, निर्भयता, न्याय, नियम, जीवन तृप्ति और उसकी निरंतरता। – प.स. 34
- आचरणपूर्णता, मानव परम्परा में ही आचरण परम मानवीयता पूर्ण आचरण के रूप में स्पष्ट हो जाता है दिव्य मानवीय गुण धर्मों के आधार पर मानवीयता पूर्ण आचरण को प्रमाणित करना-स्वभाव।
- परिणाम का गंतव्य अमरत्व में और उसकी निरंतरता। श्रम का गंतव्य विश्राम में और उसकी निरंतरता, गति का गंतव्य आचरण पूर्णता में और उसकी निरंतरता में वर्तमान है। – प.स. 66

2.2 प्रकृति सहज चार अवस्था; रूप, गुण, स्वभाव, धर्म

“प्रत्येक इकाई में रूप, गुण, स्वभाव व धर्म अविभाज्य है”

प्रकृति सहज चार अवस्थाएँ (परस्पर पूरक)

अवस्था	रूप = आकार आयतन घन	क्रिया	स्वभाव	धर्म	अनुषंगी (प्रवृत्ति)
पदार्थावस्था	मिट्टी, धातु मणि, पत्थर	रचना-विरचना	संगठन-विघटन	अस्तित्व	परिणामानुषंगी प्रवृत्ति
प्राणावस्था	पेड़-पौधे लता, गुल्म	श्वसन-प्रश्वसन	सारक-मारक	अस्तित्व सहित पुष्टि	बीजानुषंगी प्रवृत्ति
जीवावस्था	पशु-पक्षी	वंश केन्द्रित	क्रूर-अक्रूर	अस्तित्व, पुष्टि सहित जीने की आशा	वंशानुषंगी प्रवृत्ति
ज्ञानावस्था	मनुष्य	समझदारी केन्द्रित आहार, विहार कार्य-व्यवहार	धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा	अस्तित्व, पुष्टि जीने की आशा सहित सुख	संस्कारानुषंगी (समझदारी के अनुसार प्रवृत्ति)

(A) रूप

मात्रा मूल स्वरूप में, एक व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी करता हुआ, इकाई के रूप में पहचाना जाता है। ऐसा यह एक से अधिक अंशों के गठन के रूप में आरम्भ होता है, जिसका आकार (परिणाम) निश्चित होता है। आकार (परिणाम) के निश्चितता के पक्ष में बहुत सारा उदाहरण प्रस्तुत हो चुका है। अब यहाँ रूप, गुण, स्वभाव, धर्म के प्रति स्पष्ट होना आवश्यक है। हर रूप आकार, आयतन, घन के रूप में स्पष्ट है। आकार का मतलब जैसा बना हुआ रहता है, साथ में जितने जगह में फैला रहता है, कार्य करता है अर्थात् स्थिति रहता है। जैसा एक परमाणु के बारे में सोचा जाये, कितने जगह में क्रियाशील रहता है। वैसे ही आगे अनेक अणु से बनी रचनाएं चाहे बहुत बड़ी हों, छोटी हों, इसका रूप जिस आकार में बने रहते हैं, जितना जगह घेरे रहते हैं, इसके आधार पर रूप का पहचान होता है। इसमें से आकार क्या है, आकार कैसे है का पक्ष बनावट से है, आयतन का अर्थ घिराव (फैलाव) से है। घेरने का तात्पर्य

व्यापक वस्तु में सभी ओर से सीमित रहने से है, दूसरी विधि से लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई से भी है। इन विधियों से हम आकार को पहचान पाते हैं।- क.द. 126-129

(B) गुण

गुण अपने स्वरूप में सम, विषम, मध्यस्थ क्रिया और प्रवृत्तियाँ हैं। इनके फल परिणाम के आधार पर यह आंकलित होता है। सृजनकारी संयोजन क्रियाकलाप सम प्रवृत्ति के नाम से इंगित कराया गया है। विभव कार्य के विपरीत विघटन, विध्वंसकारी क्रियाकलाप और प्रवृत्ति को विषम कहा गया। जिस योग-संयोग विधि से जितनी भी रचनायें बनती हैं, उसको बनाये रखने में किया गया प्रवृत्ति और कार्यों को मध्यस्थ नाम दिया गया है। हर क्रिया स्थिति व गति स्वरूप को प्रकट करता ही है। हर क्रिया के मूल में प्रवृत्तियाँ होना स्वभाविक है। हर प्रवर्तन, हर इकाई में परस्पर पहचानने के आधार पर गतिशील है और प्रकट है। इसको हर अवस्था में, हर पद में, हर यथास्थिति में पहचाना जा सकता है। हर इकाई में पहचानने की प्रवृत्ति है। पहचानने और निर्वाह करने के आधार पर प्रवर्तन, विकासक्रम, विकास, जागृति क्रम, जानने के आधार पर जागृति घटित होना पाया जाता है। इसी आधार पर हर इकाई का निश्चित आवश्यकता त्व के रूप में स्पष्ट होता है। प्रवर्तन के आधार पर ही आवश्यकता स्पष्ट होना स्वभाविक है। इस प्रकार आवश्यक प्रवर्तन, आवश्यक पहचानना, इस क्रम में परस्पर पहचान होता है। त्व सहित व्यवस्था क्रम में ही पहचान है। एक दूसरे के इस प्रकार पहचान के क्रम में रहस्य से मुक्त होना पाया जाता है। इन इकाईयों के संबंध में अज्ञात नाम की चीज नहीं रह जाती है। अध्ययन काल में इस मुद्दे पर शंका कर सकते हैं कि प्रत्येक एक-एक को कहाँ तक परीक्षण किया जाय। जैसे समुद्री जल को कब तक एक-एक बूंद को परीक्षण करते रहें ? कब तक एक-एक परमाणु को परीक्षण करते रहें ? इसी प्रकार कब तक प्राणावस्था, जीवावस्था, ज्ञानावस्था की एक-एक इकाई का परीक्षण करते रहें ? क्या इस ढंग से कोई पार भी पायेगा। इसके उत्तर में, इन तथ्यों को इस प्रकार समझा चुके हैं कि हर यथास्थिति, अवस्था और पद सोपानवत् एक से एक जुड़ी हुई है। -क.द. 136-139

(C) स्वभाव

मात्रा विधा में रूप, गुण, स्वभाव और धर्म के अध्ययन के सम्बन्ध में रूप चारों अवस्थाओं के लिए स्पष्ट हो चुकी है। अब गुण और स्वभाव के संबंध में स्पष्ट होना आवश्यक है। स्वभाव चारों अवस्थाओं में भिन्न देखा जा रहा है। पदार्थावस्था में संगठन-विघटन या किसी से संगठन किसी से विघटन क्रिया के रूप में स्वभाव को पदार्थावस्था में देखा जाता है। प्राणावस्था में स्वभाव सारकता मारकता के रूप में देखने को मिलता है। सारकता, स्वयं में विपुल होने के अर्थ में, दूसरा जीव संसार के लिए उपयोगी होने के अर्थ में। मारकता का मतलब अपने बीज व्यवस्था को विपुल बनाने में अड़चन पैदा करने की क्रिया और जीव संसार के लिए रोग, मृत्युकारक होने की स्थिति से है। जीव संसार में स्वभाव को क्रूर-अक्रूर के रूप में पहचाना गया है। अक्रूर का अर्थ है दूसरे किसी जीवों का हत्या न करना, मांस भक्षण न करना, वनस्पति आहारों पर जीते रहना। इस प्रकार से क्रूर-अक्रूर दोनों स्पष्ट होते हैं। दूसरे भाषा में मांसाहारी-शाकाहारी के रूप में जाना जाता है। तीसरी भाषा में हिंसक-अहिंसक भी कह सकते हैं।

ज्ञानावस्था का स्वभाव धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करूणा होना पाया जाता है। ये ही मानव स्वभाव के रूप में स्पष्ट होता है। मानव विरोधी स्वभाव हीनता, दीनता, क्रूरता सहित परधन, परनारी/परपुरुष, परपीड़ा के रूप में गण्य है। जो इन प्रवृत्ति में रहते हैं, वे ही पशु मानव, राक्षस मानव में गण्य होते हैं। ये दोनों मानव विरोधी होना पाया जाता है। मानव विरोधी स्वभाव वाले शनैः-शनैः मानवीय स्वभाव में परिवर्तित होने की संभावना बनी रहती है। इसी आधार पर सार्थक शिक्षा का प्रस्ताव है, दूसरी भाषा में सहअस्तित्व वादी शिक्षा का प्रस्ताव है।

- धीरता

- का तात्पर्य मानव न्याय के प्रति सुस्पष्ट और प्रमाणित रहने से है। सुस्पष्ट होने के लिए अध्ययन और परंपरा ही एकमात्र आधार है। परंपरा, अध्ययन कार्य का धारक वाहक है, अध्ययन वर्तमान में होता ही रहता है।

- वीरता

- का तात्पर्य, स्वयं न्याय के प्रति निष्ठान्वित, व्यवहारान्वित, प्रमाणित रहते हुए लोगों को न्याय सुलभता के लिए अपने तन, मन, धन को अर्पित समर्पित करने से ही है। यह भी शिक्षा विधि से ही और लोक शिक्षा विधि से ही सार्थक होना पाया जाता है।

- उदारता

- का तात्पर्य है अपने में से प्राप्त तन, मन, धन रूपी अर्थ को उपयोगिता विधि से, सदुपयोगिता विधि से, प्रयोजनीयता विधि से उपयोग करना। उपयोगिता विधि का तात्पर्य शरीर पोषण, संरक्षण, और समाज गति में प्रयोग करना है। सदुपयोगिता का तात्पर्य अखण्ड समाज में भागीदारी करते हुए वस्तुओं का अर्पण-समर्पण करना है। प्रयोजनीयता का तात्पर्य सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी करना है, वह भी स्वयं स्फूर्त स्वायत्त विधि से।

- दया

- का तात्पर्य पात्रता के अनुरूप वस्तुओं को उपलब्ध कराने की क्रिया से है।

- कृपा

- का तात्पर्य उपलब्ध वस्तु के अनुसार पात्रता को उपलब्ध कराना है। यह वस्तु के अनुरूप पात्रता के अभाव की स्थिति में हो जाना पाया जाता है।

- करूणा

- का तात्पर्य वस्तु भी न हो पात्रता भी न हो इन दोनों को स्थापित करने की क्रिया है। मनुष्य दया, कृपा, करूणा पूर्वक मानव, देव मानव और दिव्य मानव के रूप में वैभवित होना पाया जाता है। ऐसे वैभव देश, धरती, मानव के लिए अत्यधिक उपयोगी होना पाया जाता है।

(D) धर्म

हर रचना एक मात्रा है, इन मात्राओं में रूप विविधता आकार, आयतन के रूप में; गुण विविधता गति, कार्य और प्रवृत्ति के रूप में; स्वभाव विविधता चार अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न होने के रूप में, धर्म विविधता चारों अवस्थाओं में अलग-अलग होने के रूप में अध्ययनगम्य है। पदार्थावस्था अस्तित्व धर्म सम्पन्न है, जिसका नाश संभव नहीं है। प्राणावस्था, अस्तित्व सहित पुष्टि धर्म संपन्न हैं, इसका प्रमाण एक बीज अनेक में परिवर्तित होने की परंपरा है। बीज वृक्ष न्याय से ही संपूर्ण प्राणावस्था है। जीवावस्था, अस्तित्व पुष्टि सहित आशा धर्मी है।

हर जीव जीना चाहता है, जीने का मतलब संवेदनाओं को व्यक्त करना है। इससे अधिक कुछ नहीं है।

ज्ञानावस्था में मानव अस्तित्व पुष्टि सहित सुख धर्मी है, यह भी इसके साथ स्पष्ट किया गया है। समाधान ही सुख का प्रमाण स्वरूप है। सर्वतोमुखी समाधान, मानव अपने समझदारी को प्रमाणित करने के क्रम में व्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति, संप्रेषित हर मानव में, से, के लिए अध्ययन, बोध, अनुभव, प्रमाण के लिए पहुँच पाता है, स्वीकार हो पाता है। इससे यह भी पता लगता है मानव सहअस्तित्व में अनुभवमूलक विधि से ही सर्वतोमुखी समाधान को व्यक्त करता है, जिससे मानव कुल का उपकार होना स्वभाविक है। मानव कुल के उपकार का तात्पर्य मानव जागृति परंपरा में, मानव सार्वभौम व्यवस्था में, मानव अखण्ड समाज में, मानव कम से कम परिवार व्यवस्था में होने से है। परिवार व्यवस्था में भी मानव, मानव के लिए अथवा परिवार के लिए प्रेरकता है ही, इस विधि से समाधान उपकार से जुड़ा ही रहता है। अथवा उपकार विधि से समाधान जुड़ा रहता है। इस प्रकार मानव में समझदारी ही देखने का तात्पर्य है, समझना ही देखना है। - क.द. 126-126

अर्थात्,

पदार्थावस्था में

जैसे पदार्थावस्था विकास क्रम में अनेक यथास्थितियों से होते हुए रूप, गुण, स्वभाव, धर्म को व्याख्यायित करना, छोटे से छोटे, बड़े से बड़े भौतिक वस्तु के लिए व्यवस्था सम्पन्न हो गया है। यथा आकार, आयतन, घन से रूप; सम, विषम, मध्यस्थ के रूप में गुण; संगठन-विघटन के रूप में स्वभाव और अस्तित्व रूप में धर्म को समझा चुके हैं। इससे पता चलता है, सिंधु के एक बिन्दु को परीक्षण करने मात्र से संपूर्ण सिंधु के पानी को हम समझ चुके होते हैं। अध्ययन विधि इसी प्रकार सार्थक हो पाता है।

प्राणावस्था में

उक्त प्रकार से प्राणावस्था का भी अध्ययन यथा आकार, आयतन, घन से रूप; सम विषम मध्यस्थ के रूप में गुण; सारक मारक के रूप में स्वभाव और अस्तित्व सहित पुष्टि धर्म होना समझा चुके हैं।

जीवावस्था में

इसके आगे जीवावस्था में जीवन और शरीर संयुक्त रूप होते हुए कुछ जीवों में यह प्रमाणित हुआ है। इसके स्पष्टीकरण में सप्त धातुओं से रचित शरीर, समृद्ध मेधस तंत्र और मानव के निर्देश संकेतों को ग्रहण करने की क्षमता संपन्न जीवों में जीवन का होना प्रमाणित होता है। ऐसे जीवों में जीवन में भी आकार, आयतन, घन होता है। शरीर में भी होता है। जीवन अति सूक्ष्मतम क्यों न हो। जीवन में भी गुण सम, विषम, मध्यस्थ प्रभावित रहता ही है। मनुष्य में जीवन प्रधान रहता है। इसीलिए, शरीर का सम, विषम, मध्यस्थ गुण गौण हो जाता है। जीवों में स्वभाव, धर्म संयुक्त रूप में होता है। क्रूरता, अक्रूरता शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में स्पष्ट हो पाता है। जीने की आशा धर्म भी संयुक्त रूप में स्पष्ट होता है। सम्पूर्ण जीव वंशानुषंगीय विधि से व्याख्यायित है।

ज्ञानावस्था में

इसी प्रकार आगे मानव का भी सम, विषम मध्यस्थ गुणों का स्पष्टीकरण हो पाता है। मानव में भी गुण सर्वाधिक मध्यस्थ के पक्ष में है जो स्वयं के वैभव के रूप में व्यक्त होता है। मानव जब तक भ्रमित रहता है, तब तक स्व का होना सर्वोपरि, अन्य को गौण मानता है। इसी प्रवृत्ति का प्रकटन द्रोह, विद्रोह, शोषण, युद्ध के रूप में सुदूर विगत से ही स्पष्ट होता आया है। इसमें भी स्व वैभव की ही स्वीकृति रहती है। स्व वैभव को शुभ माना रहता है। जागृति पूर्वक सर्व शुभ के साथ ही स्व वैभव के होने के तथ्य को समझ पाता है, भ्रमवश इससे अनभिज्ञ रहता है। जब इसमें निष्ठा हो जाती है, जागृत हो जाता है, तब विषम गुणों से मुक्त हो जाता है। जब तक विषम गुणों से मुक्त नहीं होता, तब तक कुंठा, निराशा, प्रताड़ना प्रभावशील रहता है। इसी को मानव परंपरा में दुख कहते हैं। जागृत मानव का गुण सदा-सदा मध्यस्थ होना पाया जाता है।

इसका सार्वभौम स्वरूप जागृत परंपरा को बनाये रखना, सार्वभौम व्यवस्था को बनाये रखना, अध्ययनपूर्वक अखण्ड समाज सूत्र को प्रमाणित किये रखना है। यह परिवार में न्याय को प्रमाणित किये रहने के रूप में प्रकट होता है। इन सभी तथ्यों को अध्ययन करने में संपूर्ण मानव के लिए शुभ, समाधान, सत्य का सुस्पष्ट नजरिया प्रमाणित होता है। इसी की आवश्यकता है। इसी परंपरा विधि से संपूर्ण अध्ययन समझ में आता है। मानवीय गुणों से ही मानव की मौलिकता परस्पर समझ में आती ही है। इसी प्रकार हर अवस्था, हर पद में विद्यमान इकाईयों का उन उनके गुण, स्वभाव, धर्म रूप के साथ अभिव्यक्त रूप में प्रमाणित होती रहती है। इनमें से मनुष्य के अतिरिक्त सभी अवस्था और पदों में हर इकाई अपने में त्व सहित व्यवस्था के रूप में है ही। मानव भी इकाई होने के कारण संज्ञानीयता पूर्वक संवेदनशीलता में नियंत्रण प्रमाणित होने के पर्यन्त जागृत होने की आवश्यकता है।

मानव का तात्पर्य ही है - सहअस्तित्व में संपूर्ण पद, अवस्था में स्थित जड़-चैतन्य प्रकृति को जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना। इस विधि से मानव में अखण्डता, सार्वभौमता, जीवों में सामुदायिकता, वनस्पति में जातियता, प्रजातियता और पदार्थावस्था में विकासक्रम गत अंशों के संख्या भेद से अनेक यथास्थितियाँ पूर्वक

प्रमाणित होना पाया जाता है। अस्तित्व में विविधता होते हुए भी राशि विधि उन अवस्था और पद भेद से मानव कुल पहचानने की व्यवस्था, सहअस्तित्व सूत्र व्याख्या से अध्ययनगम्य है। – क.द. 136-139

(E) मात्रा और उसका स्वरूप

मात्रा रूप, गुण, स्वभाव, धर्म का अविभाज्य वर्तमान है। कोई ऐसी इकाई नहीं है जिसमें रूप, गुण, स्वभाव, धर्म न हो। मात्रा का मूल रूप परमाणु में ही आंकलित होता है क्योंकि परमाणु ही तात्त्विक रूप में अस्तित्व में निश्चित आचरण सहित व्यवस्था व समग्र व्यवस्था में भागीदारी प्रकाशमान है।

एक-एक के रूप में जो वस्तु विद्यमान है, वस्तु का तात्पर्य वास्तविकता को व्यक्त करने से है। वास्तविकता हर वस्तु में त्व सहित व्यवस्था है। वास्तविकतायें रूप, गुण, स्वभाव, धर्म तक एक दूसरे के साथ अविभाज्य रूप में वर्तमान हैं। अर्थात् मात्रा के साथ रूप, गुण, स्वभाव, धर्म अविभाज्य रूप में व्यक्त है। व्यक्त होने के मूल में सहअस्तित्व की अभिव्यक्ति, संप्रेषणा और प्रकाशन है। सहअस्तित्व में प्रत्येक एक इकाई, व्यापक वस्तु में डूबा, भीगा, घिरा होने के रूप में स्पष्ट हो चुका है। व्यापक वस्तु संपूर्ण एक-एक में पारगामी और पारदर्शी होना भी स्पष्ट हो चुका है। प्रत्येक एक-एक व्यापक में भीगे रहने के फलस्वरूप ही ऊर्जा सम्पन्न, चुम्बकीय बल सम्पन्न होना पाया जाता है।

प्रत्येक परमाणु ही मूल मात्रा है। ऐसे अनेक परमाणुयें अणु के रूप में, अनेक अणुयें अणु रचना के रूप में, ऐसे रचनायें पदार्थ व प्राणावस्था के रूप में होना भी पहले से स्पष्ट किया है। हर प्रजाति में दो अंश दो से अनेक अंशों से घटित परमाणुयें अपने-अपने आचरणों को स्पष्ट किये हैं।

मूल मात्रा परमाणु होना इसलिए स्पष्ट हुआ है कि इकाई जो परिभाषित होती है यह स्वयं में व्यवस्था हो और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करती हो। इकाई व्यवस्था में न हो ऐसी इकाईयों में भी व्यवस्था में भागीदारी की प्रवृत्ति होना पायी जाती है जैसा परमाणु अंश और भ्रमित मानव। परमाणु अंश स्वयं में व्यवस्था को प्रमाणित नहीं कर पाता अर्थात् निश्चित आवश्यकता को व्यक्त नहीं कर पाता इसलिए हर परमाणु अंश, परमाणु में भागीदारी करने, फलतः व्यवस्था को प्रमाणित करने के अर्थ में प्रवर्तनशील है। इसका प्रमाण यह है कि हर परमाणु अंश किसी न किसी परमाणु में समा जाता है। अथवा एक से अधिक परमाणु अंश एक दूसरे को पहचानते हुए परमाणु के रूप में कार्यरत हो जाते हैं, फलतः निश्चित आचरण ही व्यवस्था के रूप में ख्यात होता है। इससे पता चलता है कि परमाणु अंश एक दूसरे को पहचानते हैं और निर्वाह करते हैं, परमाणु में निश्चित आचरण स्पष्ट है। – क.द. 114

मानव, मानव को पहचानना, अभी आवश्यकता है। मानव को पहचानने का एक ही सूत्र है – मानवत्व, मानव लक्ष्य के अर्थ में ही होना आवश्यक है। मानव लक्ष्य – समाधान, समृद्धि, अभय सहअस्तित्व है। मानवीय लक्ष्य को प्रमाणित करने के क्रम में ही, मानवीयता पूर्ण आचरण को स्पष्ट कर पाते हैं। इसका प्रमाण मूल्य, चरित्र, नैतिकता के रूप में है। इसे सार्वभौम रूप से अथवा सर्वमानव में सफल करना ही अथवा होना ही जागृत मानव परम्परा का वैभव है। इसी आधार पर हर मानव स्वयं में मानवत्व सहित व्यवस्था हो पाता है, समग्र व्यवस्था में भागीदारी कर पाता है, अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी कर पाता है। अतः अस्तित्व में हर इकाई मात्रा के रूप में ख्यात है, मानव भी

मानवत्व को पहचानकर निश्चित मानवीय आचरण पूर्वक मानवीय लक्ष्य को प्रमाणित करते हुए मात्रा के रूप में गण्य होता है। - क.द. 136, 139

(F) अनुशंगीयता

अस्तित्व में चार अवस्थाएँ, वंशानुशंगीयता एवं संस्कारानुशंगीयता:- अस्तित्व सहज रूप में ही सह-अस्तित्व, नित्य संबंध स्थिति में ही है क्योंकि पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था- ये संबंधित हैं ही। संबंध का तात्पर्य ही हैं, पूर्णता के अर्थ में अनुबंधित रहना। इसके निर्वाह होने के क्रम में चारों अवस्थाओं में विभिन्न रूपों में विधियाँ प्रभावशील हैं- ऐसा देखने को मिलता है। जैसे- सम्पूर्ण पदार्थावस्था नियम पूर्वक, संबंधों को निर्वाह करता हुआ देखने को मिलता है। नियम 'त्व' सहित व्यवस्था हैं, यही संतुलन हैं। यह 'त्व' सहित व्यवस्था सभी अवस्था में ही सार्थक होता हुआ प्रमाणित है। यह प्रमाण है कि पदार्थावस्था ही प्राणावस्था में उदात्तीकृत हुआ वैभव है।

उदात्तीकृत होने का तात्पर्य, रासायनिक वैभव के रूप में परिवर्तित होने से है। क्योंकि पदार्थावस्था की वस्तुएँ स्वयं स्फूर्त विधि से रासायनिक द्रव्यों के रूप में परिवर्तित होती है। फलस्वरूप, प्राणावस्था का वैभव प्रमाणित है। प्राणावस्था का मूल रूप प्राण कोषा एवं उसमें निहित रचना विधि सहित सूत्र और विभिन्न प्रकार की रचनाएँ, बीजानुशंगीय एवं वंशानुशंगीय भेदों में देखने को मिलता है। जीव शरीर एवं मानव शरीर भी प्राण कोशिकाओं से रचित होता है। वे वंशानुशंगीय सूत्रों के आधार पर वैभवित रहते हैं। जीवावस्था और ज्ञानावस्था में जीवन और शरीर संयुक्त साकार रूप हैं, यह परंपरा देखने को मिलती है। इनमें से मानव परंपरा एक है, जीवों की परंपराएँ अनेक हैं। जीव परंपराएँ अनेक वंशों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। और वंशों के रूप में ही प्रमाण भी हैं। जबकि मानव परंपरा में भी अनेक वंशों के रूप में शरीर रचनाएँ देखने को मिलती है। ये सब संस्कारानुशंगी विधि से, एकरूपता को व्यक्त करते हैं, करने के लिए, अवसर संपन्न रहते हैं।

हर जीवों की संवेदनशील प्रक्रियाएँ निश्चित रहना ही आचरण का निश्चय है। सुनिश्चित आचरण के आधार पर ही हर मानव समस्त प्रकार के जीवों को पहचानता है। फलस्वरूप आवश्यकता अनुसार कुछ जीवों को नियंत्रित करता अर्थात् पालता और उपयोग करता है। यह सर्वविदित तथ्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ जीव संसार संवेदनशीलता की निर्वाह विधि से प्रमाणित आचरण का स्वभाव नाम है। इसी क्रम में जीव संसार का मूल्यांकन स्वभाव के अनुसार और हर जीवों को जीने की आशा सहित होना पाया जाता है। इसलिए जीव संसार आशाधर्मी होना पाया गया है। वनस्पति संसार बीज वृक्षानुशंगी अर्थात् बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज होना सर्वविदित है। वनस्पतियों की पहचान गुणों के आधार पर विदित है। वनस्पतियों में सारक-मारक गुण होना पाया जाता है। सारक गुण का तात्पर्य जीव संसार के लिए अनुकूल होना चाहिये। मारक का तात्पर्य प्रतिकूल होने से है। -भ.व. 246

वनस्पति संसार बीज गुणानुशंगी पहचान है। इसका आचरण गुणों को प्रमाणित करने के अर्थ में निश्चित होना पाया जाता है। इस प्रकार नीम, तुलसी, आम, दूब, बेल, मलाति आदि सभी वनस्पतियों को पहचानना मानव में, से, के लिए अति सुलभ हो गया है। इस क्रम से मानव द्वारा वनस्पतियों को पहचानने का आधार बीज गुणानुशंगी होना पाया

गया है। इस विधि से वनस्पति संसार को पुष्टि धर्म के साथ पहचाना गया है। वनस्पति किसी न किसी पुष्टि प्रदान करता ही है। स्वयं में भी पुष्टि संग्रहण करता है। वनस्पति संसार अमूल्य वस्तु है। वनस्पति संसार मानव शरीर संचालन के लिए अति आवश्यक है। वायु को तैयार करने में समर्थ है इसी क्रियाकलाप को प्राणवायु की सृजनशीलता अथवा अपान वायु को प्राण वायु में परिवर्तित करने का कार्य वनस्पति संसार में ही होता है। इसका मूल्यांकन अथवा इस पर ध्यान देना मानव कुल के लिए अतिआवश्यक मुद्दा है। - ज.व. 134-138

2.3 प्रकृति सहज अध्ययन

(A) स्थिति – गति और वर्तमान

स्थिति गति संपन्न इकाई व्यवस्था व व्यवस्था में भागीदारी के रूप में है। स्थिति में बल संपन्नता का मतलब स्वयं में व्यवस्था का प्रमाण, गति में शक्ति का मतलब समग्र व्यवस्था में भागीदारी है। मूलतः हर इकाई व्यापक वस्तु में संपृक्त रहने के फलस्वरूप ऊर्जा संपन्नता, बल संपन्नता होना दृष्टव्य है। ऐसी हर इकाई के मूल में परमाणु ही है। परमाणु ही भौतिक, रासायनिक, जीवन क्रिया के रूप में कार्य करता हुआ सुस्पष्ट है। जीवन क्रिया के रूप में जितने भी परमाणु भागीदारी करते हैं, अर्थात् कार्य करते हैं, वे सब अणु बंधन, भार बंधन से मुक्त रहते हैं। अन्य सभी परमाणु जो भौतिक रासायनिक क्रिया में भागीदारी करते हैं, ये सब अणु बंधन, भार बंधन से युक्त रहते हैं। ऐसे अणु बंधन, भार बंधन वश ही छोटी रचना, बड़ी रचना के रूप में रचित होना पाया जाता है। सबसे छोटी रचना परमाणु ही है। परमाणु ही अणु और अणु रचित रचना के रूप में वैभव को प्रकट करते हैं। ऐसे वैभव का स्वरूप सहअस्तित्व सूत्र से ही अनुप्राणित रहता है।

जैसा, एक परमाणु में एक से अधिक अंश होना, एक अणु में एक से अधिक परमाणु होना, अणु रचना में एक से अधिक अणु होना, ये सब अपने आप में सहअस्तित्व सूत्र से अनुप्राणित रहने वाले प्रमाण हैं। रचनाओं में भौतिक रचना, रासायनिक रचना ही होते हैं। इन रचनाओं में एक दूसरे के लिए पूरक और उपयोगी होना सुस्पष्ट हो चुका है। इन सभी प्रजाति के अणु में, स्थिति और गति दोनों की अभिव्यक्ति निरंतर वर्तमान है। ये कभी रुकने वाला नहीं है। सदा-सदा से ये क्रियाकलाप और प्रकाशन वर्तमान ही है। इसीलिए मानव इन सबका अध्ययन करने योग्य इकाई के रूप में प्रस्तुत है। इसीलिए स्वयं भी स्थिति में व्यवस्था, गति में समग्र व्यवस्था में भागीदारी को मानव को प्रमाणित करना है। तभी मनः स्वस्थता का प्रमाण, परंपरा में प्रस्तुत होता है। मनः स्वस्थता के बिना मानव में सर्वतोमुखी समाधान होना संभव ही नहीं है। इसीलिए मनः स्वस्थता मानव के लिए अत्यावश्यक अथवा परम आवश्यक उपलब्धि है।

इसी क्रम में समझदारी के आधार पर मानव अपने में सर्वतोमुखी समाधान रूपी मनः स्वस्थता के सूत्र में वैभवित होना स्वभाविक है। ऐसा वैभव ही अर्थात् समाधान संपन्नता ही समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व को प्रमाणित करने में योग्य हो जाता है अथवा सफल हो जाता है। यही सफलता मानव परंपरा में, से, के लिए त्राण और प्राण है। त्राण का मतलब स्थिति है, प्राण का मतलब गति है। गति में प्रेरणा होना, वातावरण में अथवा प्रभाव क्षेत्र में व्यवस्था प्रमाणित होना, स्थिति में स्वयं व्यवस्था ही वैभव का सार्थक स्वरूप है। ऐसे वैभव को बनाये रखने में मानव में आशावादी प्रवृत्ति है

ही। इसी प्रकार परमाणु में स्थिति में बल, गति में शक्ति का अर्थात् प्रभाव क्षेत्र संपन्न होना पाया जाता है। इस परस्पर प्रभाव क्षेत्र का सुरक्षित रहना ही परस्परता में अच्छी दूरी है। ऐसे प्रभावों से संपन्न हर इकाई परस्परता में अपने-अपने मौलिकता को बनाये रखने में सफल है, इसी का नाम है नियंत्रण।

परस्परता में अच्छी दूरी इस तरह से स्पष्ट हुई कि परस्परता में एक दूसरे का प्रभाव क्षेत्र बना रहे, सुरक्षित रहे। यह प्रभाव क्षेत्र व्यापक वस्तु में ही होना पाया जाता है। स्थिति भी, आकार, आयतन, घन भी व्यापक वस्तु में ही होना पाया जाता है। ये आकार क्रिया सहित ही होना पाया जाता है। हर परमाणु में क्रिया श्रम, गति, परिणाम के रूप में है। श्रम अपने में यथास्थिति का वैभव, गति अपने में प्रभाव को फैलाने का वैभव, परिणाम भिन्न यथास्थिति का वैभव होना पाया जाता है। इस प्रकार हर परिणाम मात्रात्मक व गुणात्मक श्रृंखला में सजा हुआ है। इसी में परिणाम ध्रुव, दीर्घ परिणाम के रूप में होना पाया जाता है। ये मुख्य रूप में यथास्थितियों की स्थिरता, अस्थिरता की गणना में स्पष्ट होती है। प्रत्येक यथास्थितियाँ सहअस्तित्व सूत्र से सूत्रित होने के आधार पर पूरकता और उपयोगिता के अर्थ में सार्थक रहता है। इस प्रकार सभी वस्तु की सार्थकता समझ में आती है।

एक अणु का भी ऐसा ही इतिहास है, एक अणु दूसरे अणु के साथ भी, परमाणु का प्रभाव क्षेत्र संबंधी क्षेत्र नियंत्रण बनाये रखते हुए एक दूसरे के साथ जुड़ कर पिण्ड रूप हो जाते हैं। इसमें मानव का कोई योगदान नहीं रहता है। ये सारे क्रिया कलाप, पूरकता और उपयोगिता विधि से जागृति और उसकी निरंतरता तक में सार्थकता को प्रमाणित किये रहते हैं। सभी अवस्थायें एक दूसरे के साथ जुड़ी हुई होती हैं। जैसे भौतिक क्रिया कलाप को रासायनिक क्रियाकलाप से, रासायनिक क्रिया कलाप को जीवों के क्रिया कलाप से और भौतिक रासायनिक क्रिया कलाप को मानव के क्रियाकलाप से अलग रखते हुए कोई कार्य व्यवहार संपन्न नहीं होता है, ना ही संपन्न किया जा सकता है। ये सब मानव के साथ अविभाज्य रूप में जुड़े ही रहते हैं। इनकी मर्यादायें निभाते ही रहते हैं। इनके साथ मर्यादा निभाने के लिए मानव को जानकारी होने की आवश्यकता है।

मनुष्येत्तर संपूर्ण प्रकृति मानव के लिए उपयोगी होते हुए मानव, मनुष्येत्तर प्रकृति के लिए पूरक होने से वंचित रहना ही संपूर्ण समस्याकारी प्रवृत्तियों का आधार रहा है। इससे क्रमागत विधि से जो कुछ भी उपलब्धियाँ मनाकार को सार्थक करने में हुई, उसका भी उपयोग सदुपयोग का रास्ता इसीलिए अड़चन में पड़ गया कि मनः स्वस्थता का भाग अपने आप में उपेक्षित रहा। इसीलिए इस वर्तमान में मनः स्वस्थता का अति आवश्यक होना समझ में आता है। सहअस्तित्व विधि से ही मनः स्वस्थता सर्वसुलभ होना पाया जाता है, यही सर्वशुभ की संभावना सुस्पष्ट है। मानव अपने में समाधान संपन्नता के उपरान्त ही मनः स्वस्थता को प्रमाणित करने में समर्थ होता है। समझ की परिपूर्णता ही मनः स्वस्थता का स्वरूप है। समझ सहअस्तित्व सहज स्वीकृति है। इस प्रकार संपूर्ण ज्ञान स्वीकृति के रूप में है। स्वीकृति, अस्वीकृति का अधिकार हर मानव में निहित है ही।

स्थिति गति का वैभव धरती, सौर व्यूह, अनेक सौर व्यूह, आकाश गंगा, सभी आकाश गंगा में होना पाया जाता है। इसका प्रमाण यह है, परमाणु से लेकर धरती तक सभी अपने अपने स्थिति गति में प्रमाणित होने तक अध्ययन गम्य हो जाता है। यहाँ तक अध्ययन हर मानव के लिए सुलभ है। इसके अनन्तर ऐसे ग्रह गोलों की स्थिति गति की स्वीकृति होती है। इसी प्रकार आकाश गंगा भी अनेक सौर व्यूहों का क्रियाकलाप होने के आधार पर स्थिति गति की स्वीकृति

होती है। इसी के साथ व्यापक वस्तु की स्वीकृति रहती है। अतएव स्वीकृति की विशालता में से अपनी आवश्यकताओं को, प्रमाणों के रूप से अध्ययन करना मानव की एक आवश्यकता है। स्वीकृति के आधार पर अध्ययन होने की व्यवस्था मनुष्य की आवश्यकता अनुसार निर्भर है। जानने मानने की विशालता, व्यापक और अनंत के संबंध में स्वीकार चुके हैं। व्यापक और अनंत के बारे में जानने मानने के आधार पर किसी एक देशीय अध्ययन से, एक इकाई के अध्ययन से ऐसी सभी इकाईयों के रूप, गुण, स्वभाव, धर्म के प्रति आश्वस्त होना स्पष्ट हो चुका है। यह भी स्पष्ट हो चुका है कि समुद्र के एक बूंद पानी के परीक्षण से पूरे समुद्र का पानी कैसा है, इसको हम स्वीकार लेते हैं। लेकिन जितना है, इसको मापने कौन तैयार होता है, अपनी आवश्यकता के अनुसार नापते है।

मानव की आवश्यकता भी सीमित है। नापने की क्रियाकलाप के परीक्षण से पता चलता है कि यह जोड़ना घटाना ही है, नापने में 1, 2, 3 ही लगता है। तौलने में भी। इसी प्रकार घटाना भी बनता है, एक तरफ जोड़ते हैं, एक तरफ घटता भी है। जोड़ने, घटाने दोनों को मिलाने से यथास्थिति ही हाथ लगती है। जैसा है, जितना है, यही यथास्थिति है। ऐसी यथास्थिति न ज्यादा है, न कम है, न घटता है, न बढ़ता है। इस स्थिति से अस्तित्व न घटता, न बढ़ता है। इस विधि से हमारी परीक्षण करने की सीमायें, अपनी आवश्यकता पर निर्भर रहना स्पष्ट हो जाती है। जोड़, घटाने के क्रम में ऋण अनन्त, धन अनन्त रुपी अर्थ मानव स्वीकार चुका है। इस प्रकार से अस्तित्व में अनन्त की कल्पना अथवा स्वीकृति, कुछ हद तक संख्याकरण न कर पाने के रूप में मानव परंपरा में स्वीकृत हो चुकी है। अभी तक व्यापक वस्तु का बोध अप्रचलित है। व्यापक वस्तु का बोध होने के उपरान्त अनन्त वस्तुएं कैसे हैं, इसका उत्तर मिल गया। अतएव समझदारी रुपी अध्ययन, व्यापक में अनन्त अविभाज्य होने का अर्थ सर्वतोमुखी समाधान होने का आधार होना पाया गया। इसी क्रम में हर इकाई अपने स्थिति, गति के साथ वर्तमान है।

वर्तमान का तात्पर्य वर्तते रहना है। वर्तते रहने का तात्पर्य क्रियाशील रहना है। क्रियाशील रहने का तात्पर्य आचरण स्पष्ट रहना है। आचरण स्पष्ट रहने का तात्पर्य स्थिति में त्व सहित व्यवस्था, गति में समग्र व्यवस्था में भागीदारी से है। यह धरती एक सौर व्यूह सूर्य के साथ जुड़े सभी ग्रह गोलों के समूह में भागीदारी करती हुई समझ में आती है। सभी ग्रह गोल अपने-अपने स्थिति गति में अनवरत कार्यरत हैं। एक दूसरे के हस्तक्षेप के बिना सभी एक दूसरे को पहचानते हुए निश्चित आचरण कर रहे हैं और सौर व्यूह की व्यवस्था में भागीदारी कर रहे हैं।

इसीलिए स्थिति है ही, गति भी है। इसी आधार पर धरती की स्थिति गति संबंधी अध्ययन भी हमारे समझ आना स्वभाविक है। इसी क्रम में एक सौर व्यूह अनेक सौर व्यूह के साथ निश्चित अच्छी दूरी में कार्य विन्यास करते हुए, सौर व्यूह त्व के वैभव को प्रकाशित करता है। ऐसे अनेकानेक सौर व्यूहों को अथवा ग्रह-व्यूहों को आज कल वैज्ञानिकों ने आकाश गंगा नाम दिया। आकाश गंगा भी अनेक होना पाया जाता है। ये सभी परस्परता में अच्छी दूरी में रहते हुए बड़ी व्यवस्था को बनाये रखने में भागीदारी करते हैं। - क.द. 145-150

वर्तमान का तात्पर्य, स्थिति-गति की निरंतरता है। सह- अस्तित्व, अपने में, स्थिति-गति सहित वैभवित है। उसकी निरंतरता ही वर्तमान है। अस्तित्व स्वयं सत्ता में संपृक्त प्रकृति है। इसका, सह-अस्तित्व रूप में होना, वर्तमान सहज है। सह-अस्तित्व ही, स्थिति व गति के रूप में देखने और समझने को मिलता है। सत्ता, अर्थात् साम्य रूप में स्थित ऊर्जा में सम्पूर्ण प्रकृति अर्थात् सम्पूर्ण इकाईयां संपृक्त हैं। संपृक्त होने के फलस्वरूप अविभाज्यता व सह-अस्तित्व प्रमाणित है। सत्ता, अपने स्वरूप में व्यापक-साम्य है, यह समझ में आता है। “व्यापक” - इस नामकरण का तात्पर्य

यह है कि – “सत्ता कहां तक फैली है ? इसका अंत कहां है ? – इसका पता नहीं लगता। सत्ता में प्रत्येक एक का, स्थिति-गति में होना, देखने को मिलता है। इस प्रकार सत्ता, व्यापक रूप में, स्थिति पूर्ण है, तथा इसकी निरंतरता है। सत्ता में संपृक्त प्रकृति, स्थिति और गति के, अविभाज्य रूप में संपूर्णता व पूर्णता के अर्थ में स्थितिशील है। ऐसी प्रकृति इस धरती में चार अवस्थाओं में स्पष्ट हो चुकी है। चौथे पद में जागृत मानव, द्रष्टा पद को पा चुका है। द्रष्टा पद के आधार पर ही, यह अस्तित्व कैसा है ? यह समझ में आ गया है। कितना है ? – इसका उत्तर मनुष्य की आवश्यकतानुसार मिलता ही रहेगा, यह भी समझ में आया है। इस प्रकार, आवश्यकतानुसार अस्तित्व में सब कुछ समझ में आता है। इसी क्रम में न्याय, धर्म, सत्य मानव कुल सहज अभिव्यक्ति, संप्रेषणा व प्रकाशन है। – म.वि. 149-150

(B) प्रकाशन, प्रतिबिम्ब, प्रभाव एवं पहचान

प्रत्येक एक अपने रूप, गुण, स्वभाव, धर्म सहित प्रकाशमान है। यही परस्पर पहचान का आधार है।

अस्तित्व में प्रत्येक एक प्रकाशमान हैं। प्रकाशमानता के मूल में सत्ता में संपृक्त बल संपन्न रहना ही हैं। बल संपन्नता ही प्रत्येक एक में, क्रियाशीलता का मूल तत्व हैं। प्रत्येक क्रिया श्रम, गति, परिणाम के रूप में स्पष्ट है।

सत्ता अर्थात् स्थिति पूर्ण सत्ता में सम्पूर्ण वस्तुओं का सम्पूर्ण एवं स्थितिशील होना देखने को मिलता है। 'स्थिति' बल का ही द्योतक हैं। बल स्थिति में होता है। शक्ति गति रूप में वर्तमान है। स्थिति और गति अविभाज्य हैं। गति ही शक्ति के नाम से ख्यात हैं। शक्तियाँ सम, विषम, मध्यस्थ रूप में प्रकाशित होती हुई देखने को मिलती हैं। सम्पूर्ण वस्तु स्थिति का, गति सहित वर्तमान होना पाया जाता है। इसी को 'स्थितिशील' नाम दिया गया है। स्थिति शील प्रकृति में विकास बीज समाया रहता है, क्योंकि स्थिति पूर्ण में संपृक्त प्रकृति का पूर्णता में, से, के लिए गर्भित होना सहज हैं।

बिम्ब का प्रतिबिम्ब:-सह-अस्तित्व सहज रूप में ही अविभाज्य वर्तमान के रूप में स्थिति पूर्णता में स्थितिशीलता वर्तमान होना दिखता हैं। दूसरे शब्दों में, स्थिति पूर्णता में स्थिति शीलता वर्तमान होना दिखता है। इसी आधार पर हम इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि स्थितिशील प्रकृति का क्रियाशील रहना, इसी में श्रम, गति, परिणाम के रूप में वर्तमान में प्रकाशित व प्रमाणित हैं। अस्तित्व में संपूर्ण भौतिक-रासायनिक वस्तुएँ, परिणामानुषंगीय विधि से, अपने 'त्व' सहित व्यवस्था में प्रमाणित व समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में विद्यमान है। व्यवस्था में भागीदार होना नित्य प्रमाणित हैं। प्रत्येक इकाई रूप, गुण, स्वभाव, धर्म सहज अस्तित्व हैं। इनका ससम्मुखता में प्रतिबिम्बित, परस्परता में प्रभावित, आदान-प्रदान रत होना और मूल्यांकित होना पाया जाता है।

प्रत्येक में अनंत कोण संपन्नता के आधार पर ससम्मुखता में बिंब का प्रतिबिम्ब होना पाया जाता है। परस्परता में प्रतिबिम्बन वस्तु का परस्पर पहचानने का प्रमाण हैं। गुण, शक्तियों के रूप में एक दूसरे पर प्रभावित करना भी पाया जाता है। यही प्रभाव व प्रभाव क्षेत्र हैं। यह दोनों क्रिया जड़ प्रकृति में देखने को मिलती हैं। जीव प्रकृति में मूल्यांकन अर्थात् स्वभाव की पहचान जीवों में देखने को मिलती हैं। यह विशेषकर मैत्री और विरोध करने के रूप में स्पष्ट होती हैं। मानव ज्ञानावस्था सहज वैभव हैं, इसलिए स्वभावों का मूल्यांकों के रूप में आदान-प्रदान धर्म का मूल्यांकन अर्थात्

समाधान का मूल्यांकन परस्परता में सहज रूप में होना पाया जाता है। जीवों में, स्वभावों की पहचान अपनी वंश परंपरा में और वंशों की परस्परता में प्रकट होना पाया जाता है।

बिंब (रूप) स्वयं में आकार, आयतन, घन के समान होता है। इकाई का चौखट इसी स्वरूप में होता है अथवा इसकी सीमा इसी स्वरूप में होती है। प्रत्येक एक सभी ओर से सीमित रहता ही है। प्रत्येक एक के सभी ओर सत्ता दिखाई पड़ती है। प्रत्येक एक सत्ता में ही दिखाई पड़ता है, इसलिए घिरा हुआ, डूबा हुआ प्रमाणित होता है। सत्ता पारगामी है। प्रत्येक एक ऊर्जा संपन्न, बल संपन्न और क्रियाशील है। इस आधार पर यह प्रमाणित है। इन प्रकरणों के अलावा और भी एक अद्भुत बात ध्यान में रखने योग्य है कि हर परस्परता में सत्तामयता देखने को मिलती है, जिसको हम शून्य, व्यापक, विशालता, अवकाश आदि नाम दे रहे हैं। यह सब एक ही वस्तु है, जिसकी वास्तविकता वर्तमान और व्यापकता है। व्यापक वस्तु न हो, ऐसी कोई स्थली कहीं नहीं है। यही सत्यता, सत्तामयता स्वयं व्यापक होने के तथ्य को, स्पष्ट करता है। - भ.व. 263

(*इस ढंग से) प्रत्येक आकार अथवा इकाई सभी ओर प्रतिबिम्बित रहता है। इकाई के सभी ओर स्थित इकाईयों पर आशित इकाई का प्रतिबिम्ब रहता ही है। इस प्रकार से एक दूसरे के पहचान की विधि बनी रहती है। पहचान विधि को बनाने की जरूरत नहीं है। इस विधि से हर वस्तु, हर वस्तु पर प्रतिबिम्बित रहता ही है। हर वस्तु प्रकाशमान है। उक्त विधि से सोचने पर यह प्रश्न निर्गमित हो सकता है, क्या एक दूसरे को पहचानने के लिए प्रकाश की जरूरत नहीं है ? जैसा सूर्य प्रकाश धरती पर उपलब्ध है। इसका उत्तर यही है, हम अभी मानव जो कुछ भी प्रकाश पहचानते हैं, आँखों से प्रकाश को पहचानने के आधार पर ही है। जबकि, सभी वस्तु प्रकाशमान है ही। इसका कारण यही है, हर परमाणु में श्रम, गति, परिणाम रूपी क्रिया बना ही रहता है। गति के फलन में शब्द, ऊष्मा, विद्युत, तरंग प्रकट हुआ रहता है। क्रिया के मूल में ऊर्जा सम्पन्नता और चुम्बकीय बल सम्पन्नता स्वयं सिद्ध रहता ही है। इन चारों प्रकार की बल सम्पन्न इकाई के वैभव को विद्यमानता और प्रकाशमानता के रूप में प्रकाशित किये रहते हैं अर्थात् प्रकाशित रहते हैं। इससे हमें यह समझ में आता है कि हर वस्तु प्रकाशमान है। प्रकाशमानता का साक्ष्य प्रतिबिम्बन के रूप में इकाई के सभी ओर होना सुस्पष्ट हो चुका है।

एक दूसरे को पहचानने के लिए प्रतिबिम्बन ही आधार है, यह तथ्य समझ आ चुका है। इसके लिए किसी भी एक कमरे में किसी वस्तु को रखें, स्वभाविक रूप में सभी ओर से हम बैठें, वह वस्तु हम सबकी नजरों में आता ही है। दूसरी विधि से, हमारी आँखें, चक्षु रचना के अनुसार अधिक प्रकाश के बिना अंधेरे कमरे में कोई चीज दिखता नहीं। कमरे में रखी वस्तु का प्रतिबिम्बन में कोई गति होती नहीं। यह इस विधि में समझ में आता है, रात्रि बेला से संचालित होने वाले उल्लू और सदृश्य आँख वाले जीव जानवर उनके आवश्यकीय वस्तु को पहचानते ही है। जैसे उल्लू, चमगादड़ फलों को पहचानते ही हैं, हिरण घास को पहचानता है। जबकि, मनुष्य नहीं पहचानता है। मनुष्य के न पहचानने मात्र से वस्तु अपने को प्रस्तुत करने में त्रुटि करेगा ऐसा भी नहीं हुआ, पहचानने वाले और कोई नहीं है, ऐसा भी नहीं हुआ।

हाथी, चींटी, उल्लू को भी दिखता है, इस बात पर विचार किया जा सकता है। शोध विधि से निष्कर्ष निकलता है कि उनकी-उनकी आवश्यकतानुसार आँखें बनी रहती हैं। उसी प्रकार पाँचों संवेदनाओं का आधार बना रहता है क्योंकि आँख से कुछ, नाक से कुछ, जीभ से कुछ, त्वचा से कुछ, कान से कुछ पहचानने की व्यवस्था जीवन्त आदमी में बनी हुई है। इसी प्रकार की व्यवस्था सभी जीव जानवरों में जरूर होगी, ऐसा सोचा जा सकता है। जैसा

मेंढक का चमड़ी बनी रहती है, अनेक पक्षियों के पंख विभिन्न तरीके से बने रहते हैं, गाय का चमड़े और तरह के बने रहते हैं, इन सब में स्पर्शीयता उन-उनके आवश्यकता अनुसार भिन्न-भिन्न बने रहते हैं। इस प्रकार मानव शरीर की स्पर्शीयता भिन्न रहना स्वभाविक रहा। इस बात को हम शरीर ज्ञान से स्वीकार सकते हैं कि मानव शरीर रचना, पाँचों प्रकार की संवेदनाओं को खूबी से व्यक्त कर सकता है, प्रवृत्तियों को संप्रेषित कर सकता है। यह सौभाग्य सभी प्रकार के मानव शरीर में समानता के अर्थ को स्पष्ट करता है। प्रकारान्तर से, संवेदना सभी जीवों में होना पाया जाता है। इस प्रकार जीवावस्था, ज्ञानावस्था के मात्रा के साथ होने वाली क्रियाकलाप को स्पष्ट किये। -क.द. 126-129

प्रतिबिम्ब

ब्रह्मांडीय किरण क्रम में (भी) अनंत ग्रह-गोल, सौर व्यूह का परस्पर आदान-प्रदान अथवा परस्परता में प्रतिबिम्ब रहता ही है। हर बिम्ब का प्रतिबिम्ब रहता ही है। प्रतिबिम्ब अपने अस्तित्व को प्रस्तुत करता है। अस्तित्व नित्य वर्तमान, स्थिर और विकास और जागृति निश्चित होने के आधार पर सभी बिम्ब अपने-अपने आकार-प्रकार, वातावरण सहित अर्थात् हर वस्तु का अपना प्रभाव क्षेत्र बना रहता है। इसी आधार पर हर व्यक्ति अपने प्रभाव सीमा सहित एक-दूसरे पर प्रतिबिम्बित रहता ही है। जैसे सूरज, चांद, तारागण इस धरती पर प्रतिबिम्बित रहते हैं और यह धरती इन सब पर प्रतिबिम्बित रहता ही है। हर बिम्ब का सभी ओर प्रतिबिम्बित रहना पाया जाता है। इसी क्रम में उन-उन ग्रह गोलों के प्रभाव के आधार पर आदान-प्रदान क्रम बना रहता ही है। यही ब्रह्मांडीय किरणों का तात्पर्य है।

रूप के आधार पर परस्परतायें नियंत्रित रहना परमाणु, अणु, अणु रचित पिंडों में देखने को मिलता है। रूप और गुण के आधार पर संपूर्ण प्राणावस्था की कोषा और कोषाओं से रचित सभी रचनाएँ नियंत्रित रहना स्पष्ट हैं। जीवावस्था के रूप, गुण, स्वभाव के आधार पर नियंत्रित रहना देखने को मिलता है। इसी आधार पर मानव का रूप, गुण, स्वभाव, धर्म के आधार पर नियंत्रित होना समीचीन है। भ.व. 136

(C) गुण

गुण की परिभाषा गण्यात्मक गति अथवा जिन गतियों की गणना की जा सकती हैं। जब गुण का तात्पर्य गति ही है, तब गति का ही नाम क्यों न प्रयोग में लाया जाय, गुण का नाम लेने का क्या आवश्यकता है? इसका सहज उत्तर यही है कि यह अस्तित्व सहज है। गुण शब्द से गति अवश्य इंगित होती है, परन्तु सम्पूर्ण की गणना नहीं होती है। गतियाँ सम, विषम, मध्यस्थ गति में समझने में मिलती हैं। सम गतियाँ विकास और गुणात्मक विकास के क्रम में प्रमाणित होती है। जबकि विषम गतियाँ गुणात्मक विकास के स्थान पर हास घटना को स्पष्ट कर देती हैं। मध्यस्थ गति इन्हें संतुलित बनाए रखता है। अर्थात् यथास्थिति को बनाये रखने में, यथास्थिति को पोषण करने में, अक्षुण्ण बना रहता है। गुण शब्द में ये तीनों प्रकार की गतियाँ सम्बोधित हो पाती हैं। इसीलिए गुण शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि सम, विषम, मध्यस्थात्मक गति का संयुक्त नामकरण ही गुण है।

बल और गति, इस दिग्दर्शन में हैं। प्रत्येक वस्तु में बल संपन्नता का प्रमाण, अस्तित्व सहज हैं। सत्ता में संपृक्त होना ही बल संपन्नता का सूत्र, अस्तित्व में वर्तमान हैं। वर्तमान में सम्पूर्ण परमाणुओं का होना पाया जाता है। गति अपने में स्थानांतरण की व्याख्या है, परिवर्तन का सूत्र हैं। बल अपने स्थिति सहज व्याख्या हैं। इस प्रकार बल और शक्ति की अविभाज्य वर्तमान में ही परिभाषा और व्याख्या स्पष्ट हैं। यह मानव में, धरती में, परमाणु में, अनंत में घटित हैं। धरती में सूर्य स्थानांतरित होता हुआ देखने को मिलता है। सूर्य बिंब यथावत् ही दिखता है। सूर्य अपने सहज स्थिति व गति को स्पष्ट किया ही है, इसे देखा भी जा सकता है। इसलिए स्थिति और गति अविभाज्य है, इस बात को स्वीकार कर सकते हैं। बल स्थिति में और गति शक्ति में गण्य हो पाता है। बल को दबाव और शक्ति को प्रवाह के रूप में पहचाना गया है। दबाव स्थिति का तथा प्रवाह गति का द्योतक हैं। इसी के आधार पर विद्युत चुम्बकीय आदि बलों को अध्ययनगम्य और सार्वभौम रूप में देख चुके हैं अथवा देख सकते हैं। - भ.व. 268-269

(D) मध्यस्थ प्रभाव

अस्तित्व अक्षुण्ण रूप में मध्यस्थ विधि से ही कार्यरत है। इसीलिये अस्तित्व में अनुभव सहज फलन ही है मध्यस्थ क्रिया, मध्यस्थ बल, मध्यस्थ शक्तियों का प्रभावित होना। मूलतः मध्यस्थ प्रभाव क्या है ? इसका उत्तर अस्तित्व में यही है सम-विषमात्मक अतिरेकों को सामान्य बनाए रखने में नियोजित बल और शक्ति। बल और शक्ति अविभाज्य हैं। ऐसी बल और शक्ति क्रिया का ही स्वरूप होना देखा गया है।

सम और विषम का नियंत्रण अथवा अतिरेकों का नियंत्रण परमाणु में निहित नाभिकीय अंश का वैभव होना स्पष्ट है। हर परमाणु में परिवेशीय अंशों का निश्चित दूरी से अधिक या कम होना ही सम-विषम संज्ञा है। यह सदा-सदा नाभिकीय बल और शक्ति के प्रयोग विधि से संतुलित रहना दिखाई पड़ता है -समझ में आता है। यह संतुलन परमाणु-गठन रूपी इकाई पर होने वाला 'प्रभाव' है। यही मध्यस्थ क्रिया, मध्यस्थ बल और मध्यस्थ शक्ति का परिचय और प्रमाण है। क्योंकि हर परमाणु संतुलित होने की स्थिति में ही स्वभाव गति के रूप में वर्तमान होना, फलस्वरूप उपयोगिता-पूरकता विधि से परस्परता में विकास, उदात्तीकरण, रासायनिक उर्मि और रचना-विरचनाएँ स्पष्ट हुई। हर विरचना भी पूरकता क्रम में ही होना और पुनर्रचना के लिए पूरक होना देखा गया है। यह प्राणावस्था में बीजानुषंगीय विधि से स्पष्ट है।

भौतिक रचना में संतुलन का स्वरूप भार बंधन और अणुबन्धन के वैभववश अथवा वैभव के रूप में देखने को मिलता है। यही अणुएँ रासायनिक उर्मि सहित रासायनिक रचनाओं के रूप में प्रवृत्त रहना देखा गया है। ऊपर 'बंधन' का जो शब्द प्रयोग किया गया है यह चैतन्य प्रकृति में ही होने वाली भ्रम बन्धन के अनुरूप में नाम दिया गया है। नाम मानव ही देता है। किसी भी नाम का सृजेता मानव ही है। जबकि हर परमाणु स्वयं स्फूर्त विधि से अणु के रूप में, हर अणुएँ स्वयं स्फूर्त विधि से रचना के रूप में वैभवित रहना देखा गया है। परमाणुओं में स्वभाव गति अंशों का स्वयं-स्फूर्त गठन (एक से अधिक अंश स्वयं स्फूर्त विधि से परस्पर अच्छी दूरी में रहकर कार्यशील रहना) उसके संतुलन सहित आंकलित होती है। स्वभाव गति का परिभाषा ही है यथा स्थिति में संतुलन, विकास में प्रवृत्ति। यही भौतिक-रासायनिक संसार में सम्पूर्ण क्रियाकलाप देखने को मिलता है। यह हर रचना-विरचना में होने वाला अध्ययन है। और

विरचना भी पूरकता क्रम में सार्थक होना देखा जाता है। यह पूरकता भौतिक-रासायनिक रचना-विरचना के संबंध में है। क्योंकि अणु और अणु रचित रचनाएँ सम्पूर्ण अस्तित्व में यह दो ही प्रकार के रचना-विरचना होना सुस्पष्ट है। परमाणु का नियंत्रण तत्व परमाणु में निहित है और अणु का नियंत्रण तत्व अणु में ही निहित रहता है। रचनाओं का नियंत्रण तत्व रचनाओं में ही निहित रहता है। पूरकता विधि परस्परता में प्रभावशील रहता ही है। नियम से रचना, नियम से विरचना होना सुस्पष्ट है। यह पूरकता नियम रचना-विरचना रत रासायनिक-भौतिक संसार में देखने को मिलता है। सह-अस्तित्व नित्य प्रभावी है।

भौतिक-रासायनिक संसार क्रम में विकास क्रम को प्रकाशित करने के लिये सर्वाधिक पदार्थ रूपी द्रव्य और वस्तु प्रवृत्त रहना दिखाई पड़ता है। इसी क्रम में अत्यल्प वस्तु परमाणु भी गठनपूर्णता के लक्ष्य की ओर होना अस्तित्व के साक्ष्य के आधार पर स्पष्ट होता है। गठनपूर्णता का महिमावश ही चैतन्य पद, चैतन्य इकाई के रूप में जीवन होना स्पष्ट हो चुका है।

किसी वस्तु को, किसी वस्तु की अपेक्षा में केवल नापा जा सकता है। नाप-तोल का सभी प्रबंधन, मानव सहज आवश्यकता व कल्पनाशीलता की उपज हैं। हर वस्तु अपने रूप, गुण, स्वभाव और धर्म तथा उसके वातावरण से संपूर्ण है। आकार, आयतन, घन को नापना संभव हैं। सभी गुणों को नापना सम्भव नहीं हैं। सम, विषम आवेशों को नापना संभव हुआ हैं। मध्यस्थ बल वर्तमान व स्वभाव गति के मूल में मध्यस्थ शक्ति का होना जाना जाता हैं। मध्यस्थ शक्ति को नापना संभव नहीं हो पाया हैं। जबकि मध्यस्थ शक्ति ही नियंत्रक है, इसे मानव समझ और समझा सकता है। इस आधार पर सम, विषम प्रभाव परस्परता में होना देखा जाता है। ऐसी प्रभावन क्रियाकलापों में मात्रात्मक परिवर्तन होना पाया जाता है। ये सब चीजें मानव में दृष्टा विधि से ही समझ में आता है। मानव में न्याय, धर्म, सत्य दृष्टियाँ और कल्पनाएँ भ्रमवश अस्पष्ट रहते हुए भी बहुत दूर-दूर तक दौड़ती है। इसी के आधार पर देखना बन पाता है। देखने का तात्पर्य समझना ही हैं। समझा नहीं तो देखा नहीं। - भ.व. 136

(E) काल

काल गणना, किसी क्रिया की अवधि के रूप में पहचानी गई है जैसे यह धरती अपने में सूर्योदय से सूर्योदय तक। काल का द्रष्टा होने का तात्पर्य क्रिया, और क्रिया की अवधि, धटना, परिणाम, स्थिति, गति, अनंत, व्यापक का द्रष्टा होने से है। इस प्रकार अस्तित्व द्रष्टा भी मानव है। अस्तित्व सहज रूप में नित्य वर्तमान है। अस्तित्व अपने में न कोई शुरूआत है, न कोई अंत है। ग्रह गोलों के सम्बंध में वे कितनी संख्या में अस्तित्व में है इसकी आवश्यकता मानव जाति को नहीं है। जितनी आवश्यकता बनती है उतने में से कुछ ग्रह-गोलों को मानव समझने का प्रयत्न करता ही है। अभी तक इस धरती के मानव ने जो पता लगाने की कोशिश की है उसमे सकारात्मक सार्थक उद्देश्य कुछ भी नहीं रहा। इन प्रयासों के चलते दूरसंचार कार्य सार्थक हो गया। यही सकारात्मक भाग है। हर छोटी से छोटी या बड़ी से बड़ी वस्तु का अस्तित्व बना ही रहता है। - म.वि. 174-175

अर्थात्, वर्तमान के तुलना में ही भूत एवं भविष्य हैं। क्रिया के बिना काल नहीं है। वर्तमान कभी मिटता नहीं – संवाद, २००७.

देश, दिशा, काल: वस्तु स्थिति सत्य

मनुष्य अपनी दृष्टा पद प्रतिष्ठा में, देश, काल, दिशा को, सहज ही पहचानने व निर्वाह करने योग्य है। रासायनिक-भौतिक रचना में जो विस्तार दिखाई पड़ता है और एक रचना तथा दूसरी रचना की परस्परता में दिखने वाली दूरी पर, सह-अस्तित्व के रूप में देश है। इसका तात्पर्य यह है कि सत्ता में संपृक्त प्रकृति ही सह-अस्तित्व है। सत्ता रूप साम्य ऊर्जा परस्पर इकाईयों अथवा रचनाओं के बीच दिखने वाली दूरी है और सत्ता हर वस्तु में पारगामी परस्परता में पारदर्शी है। इस प्रकार देश, स्पष्ट हुआ। ऐसे देश में, रचना और इकाईयों की परस्परता में दिशा की स्थिरता है। क्योंकि ऊर्जा स्थिर है। सम्पूर्ण रचना और इकाईयां स्थिति और गति सहित व्यवस्था रूप में निश्चित और वर्तमान हैं। इसे प्रक्रिया के रूप में इकाई अथवा रचना में किसी एक ध्रुव बिंदु के आधार पर, अनेक कोणों में निकाला जाता है। ऐसे प्रत्येक कोण, किसी एक दिशा सूचक, दूसरी विधि से, किसी एक की नैसर्गिकता में (अर्थात् किसी एक के सभी ओर जो इकाईयां हैं वह सब) उन उनके कोणों से, दिशा के रूप में वांछित इकाई की स्थिति की दिशा को स्पष्ट कर देता है। इस प्रकार दिशा परस्पर देश; उसमें भी परस्पर वस्तु के आधार पर स्पष्ट हुई है। काल के सम्बन्ध में – “क्रिया की अवधि = काल। जबकि क्रिया की निरंतरता रहती ही है।

किसी एक निश्चित क्रिया की अवधि को पहचानने के उपरान्त काल की गणना की जाती है। काल का ज्ञान, क्रिया के आधार पर होते हुए क्रिया की निरंतरता को भूलने के आधार पर अथवा भूलाने के आधार पर (अथवा न जानने के फलस्वरूप) काल के सम्बन्ध में अनिश्चितता बनी रहती है। यह भी मानव के भ्रमित रहने का साक्षी है। काल की अभिव्यक्ति, क्रिया करती है। प्रत्येक रचना व इकाईयां क्रियाशील हैं। अस्तु यह तीनों देश, काल, दिशा की संयुक्त अभिव्यक्ति वस्तु-स्थिति सत्य के रूप में स्पष्ट है। इस प्रकार वस्तु स्थिति सत्य की अभिव्यक्ति, मानव परम्परा में, अनुभव मूलक विधि से प्रमाण है। इसी प्रकार स्थिति सत्य, वस्तु गत सत्य, अनुभव मूलक प्रणाली से प्रमाणित होता है। – म.वि. 175-176

(F) भौतिक क्रिया, रासायनिक क्रिया, जीवन क्रिया

अस्तित्व में प्रत्येक “एक” का प्रभाव क्षेत्र उससे अधिक होता है। जैसे एक परमाणु जितना भी अपनी लम्बाई, चौड़ाई व ऊंचाई सहित है उससे अधिक क्षेत्र में वह कार्य प्रभाव रहते हुए देखने को मिलता है क्योंकि एक दूसरे के बीच में रिक्त स्थली रहता है। यह इस बात का प्रमाण है कि परमाणु में अपना प्रभाव क्षेत्र परमाणु में निहित अथवा कार्यरत सम्पूर्ण अंशों का जितना घन होता है, उससे अधिक अवकाश में, अपना कार्य प्रभाव क्षेत्र बनाए रखता है। इसी का दूसरा प्रमाण, परमाणु में निहित प्रत्येक अंश, परस्पर एक निश्चित दूरी में रहते हुए, निश्चित व्यवस्था को व्यक्त करते हैं। ऐसे परमाणुओं से भौतिक और रासायनिक अणु और रचनाएं देखने को मिलती हैं। परमाणु विकसित होकर गठन पूर्ण होता है। चैतन्य इकाई ही जीवन पद है। ऐसे जीवन ही जागृति पूर्वक क्रिया पूर्णता, आचरण पूर्णता को विश्राम और प्रमाणिकता के रूप में प्रभावित करते हैं। यही परमाणु विकास और जागृति वैभव है। अर्थात् जीवन का मूल रूप

भी गठन पूर्ण परमाणु है। इन सब घटनाओं महिमाओं का द्रष्टा जीवन ही है। जीवन का अद्भुत वैभव, उसी का कार्य क्षेत्र और प्रभाव क्षेत्र है। चैतन्य प्रकृति रूपी जीवन, अक्षय बल व अक्षय शक्ति सम्पन्न होने के कारण आशा, विचार, इच्छा, संकल्प व प्रामाणिकता के रूप में, अपने प्रभाव क्षेत्र को बनाए रखना हर व्यक्ति में प्रमाणित है।

यह तथ्य स्पष्ट हो चुका है कि अस्तित्व में भौतिक, रासायनिक और जीवन क्रिया ही सम्पूर्ण क्रिया का मूल रूप है। इनमें से भौतिक क्रियाकलाप के मूल में परमाणुओं का कार्यरत रहना, रासायनिक क्रियाकलाप के मूल में परमाणु का कार्यरत रहना और जीवन क्रियाकलाप में भी मूलतः गठन पूर्ण परमाणु का होना स्पष्ट है यह स्पष्ट क्रियाकलाप बच्चे, युवा, बूढ़े सभी को समझ में आता है। परमाणु भले सबको समझ में आये या न आये। भौतिक क्रियाकलाप अलग, रासायनिक क्रियाकलाप अलग, जीवन क्रियाकलाप अलग स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि इन सब क्रियाकलाप को पहचानने वाला जीवन ही है। ये सब अलग-अलग रहते हुए साथ-साथ होना ही सह-अस्तित्व का साक्षी है। - म.वि. 213

(G) व्यवस्था एवं समग्र व्यवस्था में भागीदारी

यहाँ इस मार्मिक मुद्दे को स्मरण दिलाने का तात्पर्य यही है कि छोटे से छोटे परमाणु अंश पहचानते हैं इसका साक्ष्य निश्चित संख्यात्मक परमाणु अंशों से गठित अथवा सम्मिलित कार्य रूप को परमाणु नाम से इंगित किया जा रहा है। सभी परमाणु इसी स्वरूप में विद्यमान गतिमान प्रकाशमान हैं। परमाणु के मूल वस्तु, परमाणु अंश एक दूसरे को पहचानने के आधार पर ही निश्चित कार्य को करने में प्रवृत्त निष्ठा उसकी निरंतरता का होना समझ में आता है। ये स्वयं परमाणु अंशों की प्रकाशमानता के साथ ही एक दूसरे के व्यवस्था के रूप में निश्चित आचरण को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति उन उन परमाणु अंशों में ही निहित रहना स्वाभाविक है। इन परमाणुओं का अद्भुत तथ्य यह भी है कि ये नित्य प्रकाशमान हैं।

परमाणुओं के रूप में कार्यरत परमाणु अंशों के संख्या भेद से उन-उन का आचरण भिन्न-भिन्न होता हुआ भी समझ में आता है क्योंकि लोहा में लोहत्व के रूप में जो आचरण है उसका मूल स्रोत उस लोहा के रूप में कार्यरत परमाणु ही है। लोहा के रूप में जितना द्रव्य है उन सब के मूल में निश्चित एक जाति परमाणुओं का होना पाया जाता है क्योंकि परमाणु की अणु के रूप में अणु अणुपिंड के रूप में रहना पाया जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक प्रजाति के पिंडों में निश्चित प्रजाति के परमाणु समाहित रहना स्पष्ट हो जाता है। इसी स्पष्टता के साथ एक दूसरे को पहचानने वाला क्रम वैभव परमाणु अंशों से ही स्रोत रूप में निहित रहना भी जागृत मानव को समझ में आता है। इसी के साथ यह भी समझ में आता है हर परमाणु अंश में ही व्यवस्था के रूप में कार्यरत रहने की प्रवृत्ति समायी रही है। इस विधि से छोटी से छोटी मात्रा जो निश्चित मात्रा है, परमाणु अंश का उसी मात्रा के स्वरूप में व्यवस्था के रूप में प्रकाशित होने का सूत्र समायी है इसका प्रमाण हर परमाणु व्यवस्था के रूप में होना ही है। यह समग्र व्यवस्था में भागीदारी करता है।

अर्थात् हर परमाणु व्यवस्था होते हुए अपने प्रजाति के परमाणुओं के साथ अणु, अणुओं से रचित पिंड के रूप में होना दृष्टव्य है। यही चरित्र और आचरण प्रवृत्ति प्रत्येक प्रजाति सहज परमाणु, अणु, अणुरचित पिंडों के रूप में भौतिक वस्तुएँ उपलब्ध हैं। इस प्रमाण से समग्र व्यवस्था में भागीदारी का सूत्र समझ में आता है। इसके आगे हर एक प्रजाति

के रचना अपने अपने समूह के रूप में सहवास जैसे धातु समूह, पाषाण समूह, मिट्टी समूह, मणि समूह। - म.वि. 215-216

समग्र व्यवस्था में भागीदारी: सहअस्तित्व में स्वीकृति का सिद्धांत यही है - 'त्व' सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी, यह सह-अस्तित्व सहज अभिव्यक्ति है। इसलिए यह व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी होने का कार्य प्रणाली और फल परिणाम पहले से स्वीकृत है। इसका साक्ष्य यही है कि परमाणु को परमाणु का संघटित विघटित कार्य और परिणाम अस्तित्व में पूरकता विधि से स्वीकृति होना पाया जाता है। इसी प्रकार एक झाड़ और पौधा भी अपने बीजानुषंगीय विधि से रचना-विरचना के रूप में ही अपने कार्य और परिणाम को व्यक्त करता है। यह सह-अस्तित्व में स्वीकृति है। इस संदर्भ में पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि संपूर्ण वनस्पति रचनाओं का सभी जीवों और मानवों के लिए आहार आदि विधि से पूरक रहना पाया जाता है। वही विरचना की स्थिति में पदार्थावस्था के लिए पूरक होना पाया जाता है।

जीवों में भी यह देखने को मिलता है कि अधिकतर वंशानुषंगीय परंपरा निश्चित कार्य-व्यवहार विहार करता है- यह स्पष्ट हो चुका है। इन सब का शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में होना पाया जाता है। शरीर ही अनेक रचनाओं का स्वरूप है। इन रचनाओं में जीव जाति पर्यन्त, प्राणावस्था और पदार्थावस्था के लिए पूरक होना पाया जाता है। सभी वन्य प्राणी जीवित अवस्था में वनस्पतियों के लिए अर्थात् प्राणावस्था के लिए पूरक हैं यह देखने को मिलता है। जीव जानवरों की श्वसन क्रिया से, मलमूत्र से बहुत सारी वनस्पतियों का रोग दूर होता है। शरीर जब विरचित हो जाता है, तब वह खाद गोबर होता ही है। इस प्रकार तीनों अवस्थाओं की परस्पर पूरकता को मानव देखता है। मानव इन तीनों अवस्थाओं के लिए पूरक हैं, यह स्वीकारता है। इसकी आवश्यकता को अनुभव करता है तब पूरकता की कसौटी में ठीक उतरता है। मानव अभी तक कसौटी में ठीक उतरा नहीं है। अभी भी इसकी (मानव का अन्य अवस्थाओं के लिए) पूरक होने की प्रतीक्षा है। इस विधि से जो तथ्य इंगित होता है, वह यह है कि जागृत विधि से मानव भी अन्य प्रकृति अर्थात् जीवावस्था, प्राणावस्था, पदार्थावस्था के लिए और मानव (मानव) के लिए पूरक है। यह अस्तित्व सहज सत्य है, पर परम्पराओं को भ्रम रहा एवं स्वयं उसकी अजागृतिवश मानव के लिए पूरक होने के जितने भी अवसर और आवश्यकताएँ हैं, उतनी पूरकता को मानव प्रणालित नहीं कर पाया। अब तक कोई कोई लोग मानव कुल के लिए किसी भी अंश में, किन्हीं भी आयामों में पूरक हुए हो ऐसे लोगों का यहाँ आज भी गीत गाया जाता हैं।

- भ.व. 122

उक्त विश्लेषण पूरकता विधि से भौतिक-रासायनिक क्रिया-प्रक्रियाएँ, परमाणु में अंशों का परिवर्तन, परस्पर अणुओं के पूरक विधि से रासायनिक द्रव्यों की महिमा सम्पन्न कार्यकलाप अनेक रचनाएँ, प्रत्येक रचना अपने वातावरण सहित सम्पूर्ण इसी क्रम में यह धरती भी एक रचना, ग्रह-गोल आदि भी एक रचना है। यह धरती भी अपने वातावरण सहित सम्पूर्ण है। इस धरती का पूरकता परस्पर ग्रह-गोल, सौर-व्यूह, अनेक सौर-व्यूह, अनेक सौर-व्यूहों के समूह रूपी आकाशगंगा परस्परता में पूरकता विधि से कार्य करता हुआ देखने को मिलता है। यही व्यवस्था के रूप में कार्य करने का गवाही है। सौर-व्यूह में हर ग्रह-गोल परस्परता में निश्चित दूरी के साथ ही तालमेल बनाया हुआ दिखाई पड़ते हैं। ऐसे तालमेल ही व्यवस्था का स्वरूप है। क्योंकि ऐसे तालमेल विधि से पूरकता, उदात्तीकरण, विकास इसी धरती पर देखने को मिलता है। - आ.व. 210

(H) प्रकृति – सारांश

प्रकृति – रूप, गुण, स्वभाव, धर्म का अविभाज्य वर्तमान। जड़ और चैतन्य, चार अवस्था व चार पदों में स्पष्ट। – प.स.

1. रूप

- आकार, आयतन, घन के अर्थ में रूप।

2. गुण

- सम, विषम, मध्यस्थ के अर्थ में गुण (शक्तियाँ)।
- गुण :-
 - सापेक्ष शक्तियाँ।
 - सम-विषम – मध्यस्थ गतियाँ। विषम गुण = आवेशित गति। समगुण = स्वभाव गति। मध्यस्थ गुण = व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी रूपी गति (स्वभाव गति की निरंतरता)।
 - स्वभाव गति अथवा अपेक्षित गति का प्रकाशन।

3. स्वभाव

- रचना, रचना की परंपरा, विरचना के रूप में स्वभाव (मौलिकता)।
- गुणों की उपयोगिता ही स्वभाव है। मौलिकता की स्वभाव संज्ञा है।

4. धर्म

- जिससे जिसका विलागीकरण संभव नहीं है, वह उसका धर्म है
- अस्तित्व, पुष्टि, आशा और अनुभूति सुख, शांति, संतोष, आनंद सहज अर्थ में धर्म है। – प.स.

प्रत्येक एक में 'जिसका जो अर्थ है का स्वरूप', रूप, गुण, स्वभाव के रूप में व्याख्यायित होना पाया जाता है। इन चारों आयामों की अविभाज्यता में प्रत्येक एक व्यवस्था के रूप में मूल्यांकित होता है और प्रत्येक एक क्रिया के रूप में ही मिलता है।

1. पदार्थावस्था में आकार आयतन घन के रूप में रूप, समविषम मध्यस्थ क्रिया-कलाप के रूप में गुण, संगठन-विघटन के रूप में स्वभाव, अस्तित्व सहज रूप में धर्म स्पष्ट है। पूर्णता को इंगित करने कराने के अर्थ में प्रयोग किया गया भाषा एवं परिभाषा है।
2. प्राणावस्था में आकार आयतन घन के रूप में रूप सम-विषम मध्यस्थ के रूप में, गुण सारक-मारक के रूप में स्वभाव और अस्तित्व सहज पुष्टि रूप में धर्म होना समझ में आता है।
3. जीवावस्था में आकार आयतन घन रूप, सम विषम मध्यस्थ गुण, क्रूर-अक्रूर स्वभाव, और अस्तित्व पुष्टि सहित आशा के रूप में धर्म पहचानने में आता है।
4. ज्ञानावस्था में मानव आकार आयतन घन के रूप में रूप, सम विषम मध्यस्थ के रूप में गुण; धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा, स्वभाव; अस्तित्व पुष्टि, आशा सुख के रूप में धर्म समझ में आता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वभाव धर्म ही प्रत्येक अवस्था की मौलिक पहचान है और क्रम से पदार्थावस्था में रूप, प्राणावस्था में रूप गुण, जीवावस्था के रूप गुण स्वभाव, ज्ञानावस्था में मानव रूप गुण स्वभाव धर्म, प्रधान पहचान सार्वभौम होना पाया जाता है। - भ.व. 82-83

सर्वतोमुखी समाधान स्वयं न तो अधिक होता है न कम होता है। अधिक कम होने के आरोप ही सम-विषम कहलाता है। अस्तित्व स्वयं कम और ज्यादा से मुक्त है इसीलिये अस्तित्व स्वयं मध्यस्थ रूप में होना पाया जाता है। यही सह-अस्तित्व का स्वरूप है। सह-अस्तित्व स्वयं समाधान सूत्र, व्याख्या और प्रयोजन है। मानव अस्तित्व में अविभाज्य है। मानव जागृति पूर्वक ही समाधान सम्पन्न होने की व्यवस्था है और हर मानव स्वयं भी समाधान को वरता है। इसीलिये अस्तित्व सहज अपेक्षाएँ सब विधि होना पाया जाता है। सम-विषमात्मक आवेश सदा ही समस्या का स्वरूप होना पाया जाता है। मानव सदा-सदा ही जागृति और समाधान को वरता है। समाधान संदर्भ मध्यस्थ है। नियम और न्याय के संतुलन में समाधान नित्य प्रसवशील है। यही जागृति का आधार है। - म.वि. 18

अध्याय 3. चैतन्य “जीवन”

मानव परिभाषा के रूप में “मनाकार को सामान्य आकांक्षा व महत्वाकांक्षा संबंधी वस्तुओं और उपकरणों के रूप में तन, मन सहित श्रम नियोजनपूर्वक साकार करने वाला, मनः स्वस्थता अर्थात् सुख, शांति, संतोष, आनन्द सहज अपेक्षा सहित आशावादी है।” – स.श. 132-135

3.1 मानव = शरीर + जीवन

(A) मानव शरीर रचना

ज्ञानावस्था की इकाई सह-अस्तित्व में केवल मानव है। ज्ञानावस्था का तात्पर्य ही है जीवन्त मानव शरीर रचना पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों सीमागत कार्यकलापों के अतिरिक्त तथ्य को उद्घाटित करना। मानव शरीर रचना गर्भाशय विधि से होना देखा गया है। गर्भाशय में भ्रूण रचना डिम्ब और शुक्र कीट संयोग विधि से होना भी ज्ञात हो चुका है। डिम्ब और शुक्रकीट मूलतः प्राण-कोषाओं में नीहित प्राण सूत्रों का ही रचना है। इस रचना में अर्थात् उभय कीट रचना संयुक्त रूप में ही शरीर रचना सूत्र रूप में स्थापित रहती है। इसी कारण वश उभयलिंगी (स्त्री व पुरुष शरीर) क्रम बना ही रहता है। इसका गवाही उभयलिंगी शरीर रचना होती है। इस प्रकार वंशानुषंगीय रचना मूलतः उभय कीट में समायी हुई शरीर रचना सूत्र पर आधारित रहना स्पष्ट है। इसी क्रम में मानव शरीर का भी रचना सम्पन्न हुआ रहता है। मानव शरीर रचना में अंतर यही है समृद्धिपूर्ण मेधस रचना रहता है इसी के आधार पर जीवन, जीवनी क्रम से आगे जागृति क्रम में आरूढ़ होता है। आदिकालीन मानव से अभी तक किये गये कृत्यों और परम्पराओं को देखने से यह साक्षित होता है। जागृति क्रम में आरूढ़ होने का साक्ष्य, शरीर को जीवन समझते हुए भी शरीर कृत्यों से तृप्त न होना, अव्यवस्था की समझ से पीड़ा होना, अन्याय और समस्या की पीड़ा से पीड़ित होना। एक भाग इन पीड़ाओं से विस्मृत होने के लिये प्रलोभनों-आस्थाओं को अपनाता हुआ देखा गया।

परंपरा के रूप में मानव बहुमुखी प्रवृत्तियाँ, कल्पनाशीलता और कर्म-स्वतंत्रता जैसी मौलिक स्वत्व के आधार पर फैलता ही गया। ऐसा विविध आयामों, दिशा, कोणों, परिप्रेक्ष्यों के क्रम में फैला हुआ परंपरा में, से, के लिये शिक्षा, संस्कार, संविधान, व्यवस्था दूसरे भाषा में समुदाय के संस्कृति, सभ्यता, विधि-व्यवस्था के रूपों में परंपराओं का होना देखा गया है।

मानव शरीर का संचालन भी जीवन ही सम्पन्न करने का तथ्य सुस्पष्ट है। मानव शरीर संचालन संस्कारानुषंगीय होने के अर्थ में ही बहुमुखी परंपराएँ देखने को मिला, यह केवल मानव परंपरा में ही मिला। इसमें यह भी देखने को मिला मानव ही अपने विभूतियों का सदुपयोग और दुरुपयोग कर सकता है। क्योंकि सम्पूर्ण मानव में शुभाकांक्षा उमड़ती ही रहती है। इन उमड़ती हुई शुभाकांक्षा धुरवीकृत होने के ओर ही सुदूर विगत से इस दशक तक किये गये प्रयास और अभिव्यक्तियों से इसी तथ्य की पुष्टि होती है। – आ.व. 92-94

मानव में जिह्वा (जीभ) से, हर प्रकार की रूचियों को पहचानता है। नाक से गंध को, सुगन्ध-दुर्गन्ध भेद से, स्पर्श से कठोर-मृदु के भेद से, पहचानना होता है। कानों से भी कठोर - मृदु भाषा को, आंखों से रूप-कुरूप को पहचाना जाता है। आंख, कान, नाक, जिह्वा, स्पर्श से प्राप्त संयोग से, ऊपर वर्णित नामों से इंगित अर्थ प्रत्येक जीवन्त मानव में होना, पाया जाता है।

शरीर रचना, रासायनिक द्रव्यों से रचित रचना है। शरीर रचना कार्य विधिवत अर्थात् वंशानुषंगीय रूप में गर्भाशय में संपन्न होना पाया जाता है। मानव शरीर भी वंशानुषंगीय विधि से रचना पूर्वक स्पष्ट है, जिसका विरचना होना भी स्पष्ट है। इस प्रकार जीवों का शरीर, वनस्पतियों की रचनाएं अस्तित्व सहज रूप में सम्पन्न हुई हैं। यहां मानव से सम्मिलित अध्ययन है। सम्पूर्ण प्राण कोषाएं स्पंदनशील रहती हैं। प्रत्येक कोषा अपने अनुकूल रसायन रसग्राही और विरल (वायु) द्रव्यग्राही होती है। इस सामान्य स्पष्टता से यह सर्वविदित होता है कि शरीर के सम्पूर्ण अंग अवयव विशेषकर रसायन रचना है। ऐसी प्राण कोषाएं अस्तित्व में, पूरकता उदात्तीकरण विधि से, सह-अस्तित्व सहज रूप में स्पष्ट हैं।

ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की रचनाएं एक संयुक्त अभिव्यक्ति है। इसी क्रम में जिह्वा एक रासायनिक रचना है। उसके संयोग में जो द्रव्य समीचीन होता है वह रासायनिक, भौतिक ही हो पाता है। ऐसे संयोग में जिह्वा के साथ, जीवन्तता वर्तमान रहती है या जब तक जीवन्तता रहती है तब तक शब्द, स्पर्श आदि ज्ञानेन्द्रियों व हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियों से ऊपर कहे सभी परिणामों का नाम दिया जाना, मानव सहज कार्य है। अस्तु जीवन, जिह्वा के संयोग से आई हुई घटना के परिणामों का नाम है - खट्टा, मीठा, खारा, कडुवा, कसैला, तीखा, मानव परम्परा में प्रचलित है। यह एक सहज घटना है कि जीवन्त जिह्वा संयोग में आया हुआ द्रव्योद्देयी परिणाम होते हैं। इसी प्रकार कान में शब्दों का संयोग, दो प्रकार के परिणाम का भाषाकरण है। वह है कठोर शब्द और सार्थक शब्द।

नाक के संयोग में आए हुए द्रव्यों का पहचान सुगन्ध, दुर्गन्ध रूप में है। स्पर्श के संयोग से आया हुआ द्रव्य, वस्तुओं का दो परिणाम पहचाना गया है जो मृदु और कठोर रूप में है। चक्षु से भी रूपों का, प्रतिबिंब संयोग होता हुआ सुरुप-कुरूप में वर्णन होता है। ज्ञानेन्द्रियों के कार्यों की स्वीकृति है।

पहले कहे अनुसार, सभी इंद्रियों का जागृत जीवन कार्य का अर्थ, समझदारी के रूप में स्पष्ट होता है। समझदारी जागृत जीवन स्वत्व है। शरीर तंत्र सहित सभी अंग अवयवों में, समझदारी का स्थान नहीं है, जबकि प्रत्येक मानव में समझदारी से ही सभी कार्य-व्यवहार विन्यास सार्थक होता है।

मानव में जागृति सहज समझदारी का प्रमाण, जानने-मानने का तृप्ति बिंदु है। प्रत्येक मानव जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन व मानवीयतापूर्ण आचरण सहज समझ पर विश्वास करता है। अन्यथा अपनी समझ पर विश्वास नहीं करता है। सम्मिलित रूप में अंग-अवयव परस्परता सहित रचना-विरचना क्रम में सम्पूर्ण भौतिक रासायनिक इकाईयां कार्यरत तथा वर्तमान हैं। मानव शरीर, अन्य जीवों का शरीर और वनस्पतियां इसी धरती के रासायनिक-भौतिक वैभव के रूप में हैं, जिनमें रचना, विरचना कार्य संपन्न होता है। - म.वि. 108-109

(B) मानव में कल्पनाशीलता जीवनगत है

यह सर्वविदित है कि प्रत्येक मनुष्य में, किसी आयु के अनंतर, संतान रूपी शरीर रचना के सम्बन्ध में, सामान्य मान्यता की पहचान हो पाती है। मानव संतान के अवतरण के लिए एक मां और पिता की स्वीकृति सर्वसुलभ हो चुकी है (अथवा सर्व जनमानस में, स्वीकृत हो चुकी है)। इस मुद्दे पर वैज्ञानिक चिंतन ने, इसके विपरीत कुछ कर देने की इच्छा तो व्यक्त किया, पर कर गुजरने की जगह में मनुष्य की भाषा में जटिल और बहुत खर्चीले आशयों सहित एक सुयोग्य मनुष्य के, एक चमड़े के टुकड़े से ही, लाखों अरबों मनुष्य बनाने का दावा प्रस्तुत किया। आशय यही रहा कि, अच्छे आदमी के चमड़े से अच्छे आदमी पैदा होंगे। इस मुद्दे पर ऐतिहासिक पराभव का कारण, इन्हीं दावों के अंतर्निहित रहे आया, क्योंकि अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व में, रचना कार्य-कलापों के अध्ययन से पता लगता है कि, मनुष्य शरीर भी भौतिक और रासायनिक रचना है।

“जीवन” विकसित परमाणु, गठनपूर्ण परमाणु, जीवन पद में संक्रमित परमाणु है। जीवनी क्रम में गुजरता हुआ जीवन जागृति के अर्थ में मानव शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होता हुआ, जानने-मानने, पहचानने के क्रम में है। मानव शरीर रचना की महिमा, जीवन प्रदत्त, जीवन्तता सहित, सम्पूर्ण संवेदनाओं को (पांच ज्ञानेन्द्रिय एवं पांच कर्मेन्द्रियों) व्यक्त करने के रूप में, जीवन मंशा के अनुसार संचालित हो सके, ऐसे वैभव के अवसर में ही, जीवन जागृत होने का प्रावधान, संभावना, जीवन सहज आवश्यकता, ये तीनों मानव परम्परा में, अध्ययन गम्य हैं। इस विधि से जीवन ही, शरीर को संचालित करने वाला, सह-अस्तित्व सहज कार्य-कलाप है।

वैज्ञानिक दावों और अभीप्सा ने, जीवन तत्व को पूर्णतया ओझिल, अनसुनी और अनदेखी किया। हठधर्मितावश, धरती और नैसर्गिकता के साथ, जो कुछ भी कर सकते थे, वह सभी हविश पूरा कर चुके। सभी ओर पराभव की काली दीवाल आ गई है या आने ही वाली है। यह भी तथ्य उजागर हो चुका है कि जिन नियमों सिद्धांतों को विज्ञान कहते हैं, उन विधियों से जीवन तत्व का विश्लेषण हुए हैं, उन सबसे अधिक, हर मनुष्य दिखता ही है। इसका मूल तत्व, जीवन सहज वैभव के रूप में, सभी व्यक्तियों में, देखने को मिलने वाली, कल्पना शीलता मात्र है। इससे पता लगता है कि विज्ञान से जो कुछ भी कहा जाता है, उससे अधिक विचार विश्लेषण परिकल्पना, कल्पना होती ही है। जो कुछ भी किया जाता है, उससे अधिक तो होता ही है। इस प्रकार मानव-सहज (की) कल्पना-शीलता को, विधिवत अध्ययन करने के लिए प्रयत्न होता तो, अभी मनुष्य जैसा विविध समस्याओं से जकड़ा है, इस दुर्गति की स्थिति नहीं आती। म.वि. 57 - 58 - (3.1.1)

शरीर के किसी अंग-अवयव में न्याय, समाधान, सत्य की प्रतीक्षा, अपेक्षा शरीर सहज ज्ञानेन्द्रिय कार्यों कर्मेन्द्रिय कार्यों में दिखाई नहीं पड़ती। जैसा-हाथ को न्याय की अपेक्षा, आँख, कान, जीभ और नाक में न्याय, समाधान, सत्य की अपेक्षा चिन्हित रूप में समझने का कितना भी कोशिश करें निषेध ही निकलता है। ज्ञानेन्द्रियों में जब ज्ञान का अपेक्षा स्वरूप रूपी न्याय, समाधान, सत्य कान, आँख, नाक व्यंजित नहीं कर पाता है अपितु, इनमें उन-उन ज्ञानेन्द्रियों के लिये अनुकूल वस्तुओं का संयोग (सन्निकर्ष) अच्छा लगना होता है। यह अच्छा लगा किसको ऐसा पूछा जाए हाथ, नाक, कान आँखों में अच्छाइयों का कोई गवाही स्थित नहीं रहता है। यह सब जब स्पष्ट हो जाता है

तब पुनः यह प्रश्न हो सकता है शरीर की आवश्यकता ही क्यों ? जिसका अक्षुण्ण उत्तर यही है कि मानव परंपरा में जीवन जागृति और उसकी प्रामाणिकता को प्रमाणित करना है।- आ.व. 216

(C) मानव संस्करानुशंगी इकाई है

मानव वंशानुशंगीय विधि से नियंत्रित नहीं होता जबकि सभी जीव होते हैं:- मानव अपनी मौलिकता को स्वयं पहचानते हुए अपने आचरण, विचार, व्यवहार, व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहता है। यह हर मानव सहज मौलिकता की महिमा और गरिमा है। मानव जागृति पूर्वक दृष्टा पद प्रतिष्ठा में है, इसलिए अपनी मौलिकता को पहचानना एक आवश्यकता हो गई है। मानवोत्तर जीवों में वंशानुशंगीय विधि से जीवन सम्मति के साथ नियंत्रित रहना, संतुलित रहना देखा जा रहा है। जबकि मानव ने अपने ही इतिहास के अनुसार वंशानुशंगीय विधि से नियंत्रित होना स्वीकारा ही नहीं। पहले इस तथ्य पर ध्यान दिया जा चुका है कि मानव अपने इतिहास के अनुसार बहुआयामी है। इसको मानव में ही घटित होना देखा गया और किसी जीव में इस प्रकार की घटना नहीं हुई। इस क्रम को देखने पर पता चलता है कि मानव का बहुआयामी इतिहास का आधार होना स्वयं वंशानुशंगीयता को नकारने की ही गवाही है। यह भी मानव परंपरा की एक मौलिकता है। मानव परंपरा भी मौलिक है।

मानव शरीर का अवतरण, अवतरण क्रम, कारण, जीव शरीर अवतरण क्रम:-आदि मानव अपने अभिव्यक्ति क्रम में, किसी भी जीव, जानवर के गर्भाशय से भले ही पैदा हुआ हो, मानव की अभिव्यक्ति समझदारी के आधार पर प्रमाणित करने के क्रम में स्पष्ट है। इसके मूल में जाने पर पता चलता है कि जो रचना सूत्र विधि सहज भ्रूण है- मूल रूप में कार्यरत रहते हैं, वह किसी भी वंश के पूर्ववत् भी सृजित रहते हैं। जब कभी भी वंश बदलना है या समोन्नत होना है, उस स्थिति में पूर्व रचना सूत्र से, भिन्न रचना सूत्र बनता है। इसका मूल वंशानुशंगीयता को निर्वाह करता हुआ शरीर रचना के रूप में विभिन्न प्रकार के शरीर मानव के अवतरण के पहले से ही तैयार हो चुके रहे हैं। मानव शरीर रचना का आरंभिक स्वरूप किसी जीव योनि से माना जाना संभव है। ऐसा होते हुए भी, उस वंश का, अर्थात् इसके पीछे के वंश का कोई स्वीकृति मानव परंपरा में शुरुआत से ही नहीं हो पाई। यह घटना केवल मानव के आने के बाद ही शुरू हुई ऐसी बात भी नहीं है।

इसके पहले भी कई बार जीवों की शरीर रचना बदली है। यह आज भी गवाही के रूप में देखने को मिल रहा है। यह अनुमान किया जा सकता है कि अभी जितनी प्रजातियों के रूप में जीव संसार दिखाई पड़ रहा है, यह सब एक ही साथ नहीं जन्मा है। क्योंकि अब हमें अच्छी तरह से पता लग चुका है कि जीव शरीर रचना में परिवर्तन होने के लिए, जीव शरीर रचना सूत्र में ही पहले से स्थित अनुकूल भ्रूण संवर्धन आशय (गर्भाशय या गर्भ जैसी परिस्थिति) में पलना आवश्यक रहता ही है। यदि पूछा जाय कि यह क्यों बदलता है? तो इसका उत्तर है- "सामन्जस्य रूप में।" ऐसे सामन्जस्य का आधार रचना क्रम में जीवन जागृति क्रम में, मानव शरीर रचना के उपरान्त ही प्रमाणित होना पाया जाता है। - भ.व. 228-229

अस्तित्व में सम्पूर्ण वस्तु है। वस्तु का अभिप्राय वास्तविकता को वर्तमान में प्रकाशित करना है। वस्तु जैसा है वही उसकी वास्तविकता है। हर वस्तु अपने में सम्पूर्ण होना पाया जाता है। हर वस्तु अपने सम्पूर्णता में ही वस्तु है। हर वस्तु

अपने संपूर्णता में यथार्थता, वास्तविकता और सत्यता के रूप में है। कोई भी वस्तु का नाश नहीं होता है इसीलिये अस्तित्व सहज सत्यता प्रमाणित है। रूप और गुण के अविभाज्यता में वास्तविकता; रूप, गुण और स्वभाव के अविभाज्यता में यथार्थता और रूप, गुण, स्वभाव और धर्म के अविभाज्यता में हर वस्तु सहज सत्यता को पहचाना जाता है। इसी आशयों के आधार पर त्रिआयामी अध्ययन प्रत्येक एक के सम्पूर्णता के लिये सीढ़ियाँ अथवा क्रम समझा जाता है। इसी क्रम में पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था में वैभवित सम्पूर्ण वस्तुओं का अध्ययन सहज सुलभ है।

चारों अवस्थाओं में रूप आकार, आयतन, घनता के अर्थ में गण्य होता है। चारों अवस्थाओं का स्वरूप जड़-चैतन्य प्रकृति ही है। भौतिक-रासायनिक रूप में जड़ प्रकृति और जीवन सहज दस क्रियाओं के रूप में चैतन्य प्रकृति प्रमाणित होना पाया जाता है। इसी आधार पर ज्ञानावस्था चैतन्य प्रकृति में है ही, जड़ प्रकृति रूपी शरीर का संचालन जीवन ही सम्पन्न करता हुआ देखने को मिलता है। जीवावस्था में समृद्ध मेधस यथा सप्त धातुओं से रचित शरीर रचनाओं को जीवन संचालित कर पाता है। जीवावस्था और ज्ञानावस्था का अंतर इतना ही है कि जीवावस्था में शरीर रचना विधि के अनुसार (वंशानुषंगीयता) जीवन अपने को प्रकाशित करने में बाध्य है। जबकि ज्ञानावस्था के मानव में यह देखने को मिलता है कि कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता विधि से कर्म करते समय स्वतंत्र और फल भोगते समय परतंत्र विधि से न्याय का अपेक्षा, सही कार्य-व्यवहार करने की इच्छा, सत्यवक्ता के रूप में शरीर यात्रा आरंभ काल से देखने को मिलता है। इसलिये मानव समझ के करने योग्य इकाई के रूप में दिखाई पड़ता है। यही संस्कारानुषंगीय इकाई होने का साक्ष्य है। इस मुद्दे पर हमारा सर्वेक्षण के अनुसार 99% सही उतरती है। यह भी हम अनुभव किये हैं कि हर सर्वेक्षण कार्य में परीक्षण, निरीक्षण क्षमता का जागृत रहना आवश्यक है। - स.श. 96

संस्कार शरीर-गत तथ्य न होकर, जीवन-गत तथ्य है। जीवन में सम्पूर्ण समझदारी का स्थान और प्रणाली है। शरीर में कोई ऐसा अंग, अवयव और इन्द्रियाँ नहीं है, जो जीवंतता के अभाव में ज्ञान इन्द्रियों की क्रियाएं सम्पन्न कर सके। ज्ञानेन्द्रियों में ऐसा कोई स्थान नहीं है जिसमें नियम, न्याय, समाधान, सत्य की प्यास हो। मेधस रचना में ऐसा कोई स्थान नहीं है जो श्रुति और स्मृति का धारक वाहक हो सके। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पाँचों स्मृति के रूप में जीवन में ही प्रभावित रहते हैं। इसी क्रम में नियम, न्याय, धर्म और सत्य की प्यास है। जीवन तृप्त होने का, यही स्रोत है। नियम का प्रमाण, नियंत्रण, संतुलन सहित, पूरकता के रूप में है। नियंत्रण और संतुलन स्वभाव गति के रूप में देखा जाता है। देखने का कार्य समझना है, समझने का कार्य जीवन में है। जीवन में ही जानने, मानने, पहचानने का सम्पूर्ण वैभव समाहित रहता है। मानव परम्परा के रूप में प्रमाणित होने के क्रम में, शरीर के द्वारा निर्वाह सम्पन्न होना पाया जाता है। इससे शरीर की महत्ता एवं प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है कि मानव परम्परा में प्रमाणित होने के क्रम में, एक आवश्यकीय अनिवार्य माध्यम है। -म.वि. 18,22

(D) प्रत्येक मानव में 'चैतन्य जीवन' समान है

हर विकासशील परमाणु भारबन्धन और अणुबन्धन सहित कार्य करता है। हर विकासशील परमाणु सत्ता में ही क्रियाशील रहना पाया जाता है। हर परमाणु गठनपूर्वक ही परमाणु है। गठन का स्वरूप मध्यांश और आश्रित अंश के

रूप में होना व निश्चित दूरी में होना सह-अस्तित्व सहज कार्यशीलता है। आश्रित अंश मध्यांश के सभी ओर चक्राकार में गतिशील रहना होता है। इसीलिये हर परमाणु गतिपथ (परिवेश) सहित परमाणु है। इनमें अंशों का अधिकाधिक समाहित होना एक से अधिक गतिपथ का होना भी होता है। जैसे-जैसे अंशों की संख्या बढ़ती जाती है वैसे-वैसे मध्य में भी अंश जमा होते जाते हैं। यह परमाणु में भार बन्धन का सूत्र है। सह-अस्तित्व विधि से अंश-अंशों के साथ कार्य करने की विधि स्पष्ट है। इसी प्रकार परमाणु, परमाणु के साथ और अणु, अणु के साथ सह-अस्तित्व को व्यक्त करने के क्रम में सह-अस्तित्व का प्रकाशन किये हुए है। अणुरचित रचना ही वृहद रचना के रूप में ग्रह-गोल रूप में दृष्टव्य है।

यह पूर्णतया अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व का नित्य प्रभावी कार्य है। परमाणु में विकास पूर्ण (गठनपूर्ण) होने के बाद अणुबन्धन व भारबन्धन से मुक्त हो जाते हैं। यही चैतन्य परमाणु जीवन पद में प्रतिष्ठित रहना पाया जाता है। ऐसे चैतन्य इकाई भार और अणुबन्धन से मुक्ति पाकर आशा बन्धन से अपने कार्य गतिपथ सहित पुंजाकार रूप में प्रतिष्ठित होना, ऐसे पुंजाकार का एक आकार होना, ऐसे आकार के एक शरीर रचना (पिण्डज या अण्डज विधि से) रचित रहना अस्तित्व सहज कार्यक्रम है। इसी कार्यक्रम के गति क्रम में मानव शरीर रचना भी एक स्वाभाविक क्रिया है। - आ.व.

177

‘जीवन’ का स्वरूप विकासपूर्णता के फलन में चैतन्य पद प्रतिष्ठा सहज एक परमाणु है जो भार बन्धन और अणुबन्धन से मुक्त है। यही ‘जीवन’ के नाम से सम्बोधित है।

जीवन में मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा अविभाज्य रूप में क्रियाशील है। ये सब निश्चित क्रियाओं के नाम हैं। ‘वस्तु’ के रूप में मध्यांश सहित चार परिवेशों के रूप में क्रियाशील इकाई है। इस प्रकार ‘जीवन’ अपने में चैतन्य पद प्रतिष्ठा सहित मानव परंपरा में समझदारी सहित परावर्तन-प्रत्यावर्तन पूर्वक जीवन-सहज क्रियाओं को प्रकाशित करता ही रहता है। यही जागृति है।

व्यवस्था की मूल वस्तु अस्तित्व में केवल परमाणु ही होना पाया गया है। सत्ता में संपृक्त प्रकृति ही जड़-चैतन्य के रूप में वैभूत हैं। इनमें से जड़ प्रकृति भारबन्धन और अणुबन्धन के फलस्वरूप भौतिक-रासायनिक रचनाओं में भागीदारी करता हुआ देखने को मिलता है। यही प्रत्येक जड़ परमाणु अपने में व्यवस्था और रचना सहज समग्र व्यवस्था में भागीदारी का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। जबकि चैतन्य इकाईयाँ भारबन्धन और अणुबन्धन से मुक्त, आशा बन्धन से युक्त, ‘आशानुरूप कार्य गति पथ’ सहित मनोवेग के अनुपात में गतिशील रहना पाया जाता है। ‘जीवन’ अपने में गठन पूर्णता के उपरान्त अक्षय शक्ति, अक्षय बल सम्पन्न होना देखा गया है। यह ‘परिणाम के अमरत्व’ प्रतिष्ठा का फलन ही है। - आ.व. 73-15

प्रत्येक मानव जीवन रूप में ही समान है, यह बल-शक्ति, क्रिया और लक्ष्यों के रूप में समान होना देखा गया है। इसी आधार पर अर्थात् जीवन के आधार पर ही, जीवन-सहज क्रिया कलाप, प्रत्येक मनुष्य को समझ में आना सहज संभव है। जीवन में पांच आयाम, बल और शक्ति के रूप में, पहले से ही इंगित किया जा चुका है। जिसमें से मन जीवनबल है और आशा जीवनशक्ति है। इसी प्रकार वृत्ति-विचार, चित्त-इच्छा, बुद्धि-ऋतम्भरा और आत्मा-प्रामाणिकता के रूप में अध्ययन गम्य है। (सभी जीवन में १० क्रियाएं पाया जाता है)। - म.वि. 37

चैतन्य-प्रकृति और जड़ प्रकृति में मौलिक रूप से यह अन्तर पाया जाता है कि जड़ प्रकृति में परमाणु अणु और अणु रचित पिण्डों के रूप में प्राप्त होते हैं जबकि चैतन्य-प्रकृति (एक ही स्वतंत्र) परमाणु के रूप में ही वर्तमान रहती है। चैतन्य परमाणु में ही अक्षय शक्तियाँ होने के कारण प्रत्येक (मानव) इकाई अपने में जीवन वैभव और महिमा का अनवरत प्रकाशन करती है। जड़ शक्तियाँ क्षरणशील होती है और चैतन्य शक्तियाँ अक्षय होती है। इसी तथ्यवश चैतन्य इकाई में परावर्तन और प्रत्यावर्तन स्वाभाविक रूप में होता है। (*जड़ प्रकृति में मात्र परावर्तन होता है) – भ.व. 88

(E) जीवन में जीने की आशा

सहअस्तित्व विधि अपने आप सार्वभौम होना स्वाभाविक है। सहअस्तित्व अपने में सम्पूर्ण अस्तित्व की ध्वनि को ध्वनित करता है। सम्पूर्ण अस्तित्व अपने में चार पद, चार अवस्थाओं में होना पाया जाता है। इसमें से चार पद प्राणपद, भ्रान्तिपद, देवपद, दिव्यपद के रूप में अध्ययन होता है। चार अवस्थाएँ पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था, ज्ञानावस्था में गण्य होती है। ऐसी स्वीकृतियाँ बहुत जटिल भी नहीं है। पदार्थावस्था के मूल में सम्पूर्ण प्रजाति के परमाणुओं का अध्ययन है। इनमें से कुछ प्रजातियाँ को मानव पहचाना भी है। नहीं पहचानी हुई प्रजातियाँ पहचान में आने की सम्भावना बनी हुई है। इस मुद्दे पर पहले भी जिक्र हुआ है कि कितनी प्रजाति के परमाणु होना संभावित है यह स्पष्ट किया जा चुका है। भौतिक परमाणुएँ 120 या 121 संख्या में होने की बात सूचित हो चुकी है इनमें से 60 भूखे परमाणु के कोटि में, अन्य अजीर्ण कोटि में गण्य है। चैतन्य परमाणु अपने में एक ही प्रजाति का होता है। चैतन्य इकाई की प्रजाति एक होते हुए भी जीने की आशा के आधार पर अपने में स्वयं स्फूर्त कार्य, गति, पथ भिन्न-भिन्न आकार का होता है यह पूंजाकार ही होता है। पूं

जाकार का तात्पर्य एक अलात चक्र अनुभव किया जाता है। अलात चक्र का तात्पर्य रस्सी के एक छोर में आग लगाकर घुमाने से आंखों से सभी ओर आग दिखाई देती है जबकि आग रस्सी के एक छोर में ही रहती है। पंखा जब घूमने लगता है एक गोलाकार चक्र जैसा दिखता है जीवन परमाणु अपने में गठनपूर्ण होते हुए संख्या में एक होता है। यही आशा की गति में गतित होना पाया जाता है। उस गति को मानव संख्या में लाना संभव नहीं है इसी आधार पर जीवन गति अन्य सभी गति को नाप तौल के रूप में परिगणित कर लेता है। कार्य, गति, पथ सहित जीवन अपने में एक आकार प्रकार हो जाता है इस आकार प्रकार का शरीर रचना किसी अंडज पिंडज संसार में बना ही रहता है। जीवन जीने की आशा सहित होने के आधार पर शरीर को जीवन माना रहता है। मानव परम्परा में ऐसी शरीर रचना रचित हो चुकी है जिसको चलाने के क्रम में जागृति की आवश्यकता महसूस होना और प्रमाणित होना है। इसी तथ्य वश मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद तथ्य उद्घाटन करने के लिए प्रस्तुत हुआ। जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में मानव होना पाया गया है। शरीर के साथ जीवन न होने की स्थिति में मृतक माना जाता है। – ज.व. 176-179

(F) देखना = समझना

(i) कल्पना आँखों से अधिक है

मानव यह आदिकाल से मानते ही आया है कि हमें दिखता है। देखने की मूल क्रिया आँखों को माना गया है, आँखों में जैसा भी दिखता है वह हाथों से वैसा, हाथों के जैसा नाक से, नाक जैसा कान से, कानों से जैसा जीभ से, न दिखकर हर वस्तु का विभिन्न आयाम उन-उन ज्ञानेन्द्रियों से पहचान में आता है। जैसे कि एक आँवले को आँखों से देखने से, जीभ से, और हाथों से देखने पर विभिन्न आयाम दिखती है, गंध से भी भिन्न आयाम दिखाई पड़ती है, आँखों से केवल आकार, आयतन, घन में से आकार आयतन का कुछ अंश समाती है और चीजें आँखों में आती नहीं। इन आँखों से देखी हुई एक मार्ग को देखने पर भी मार्ग का चौड़ाई कुछ दूरी तक लम्बाई आँखों से आता है। कहाँ तक मार्ग गया है, वहाँ तक आँखों से दिखाई आता नहीं है; जहाँ तक आदमी को जाना है वहाँ तक मार्ग है, यह तथ्य समझ में आता है।

यह भी मानव सोच कर देखा है, स्मृति के आधार पर यह सब समझकर जो आँखों में नहीं आता है वह सब सुना हुआ है। आदमी से सुनकर स्मृतियों के रूप में क्या चीज पाया यह सोचा गया। उनमें बहुत दिन तक यह मानते रहे सिर में कोई चीज है वहाँ स्मृतियाँ रहती हैं। अन्ततोगत्वा बुद्धिजीवी और तकनीकी मानव ने सिर को भी खोलकर देख लिया वहाँ भी शरीर के अंग अवयव के रचना में भागीदारी किया हुआ वस्तु और द्रव्य ही दिखाई पड़ी। इसी के साथ सूक्ष्मतर नस जालों के रूप में बिछी देखा गया। पहले से पता लगाये हुए मांस-पेशियाँ भाग में था ही-आँख, कान, नाक, गल तंत्र और सिर भाग में बनी हुई ये मेधस तंत्र और मेधस तंत्र से जुड़ी हुई विधियों को अध्ययन किया जा चुका है।

उक्त देखने की परिकल्पना विधि से मानव पर जो कुछ भी प्रतिबिम्बित, प्रभावित रहता है वह सब मानव के लिये देखने की वस्तु के रूप में रहता ही है। उल्लेखनीय तथ्य यही है आँखों से अथवा सभी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देखा हुआ वस्तु अपने स्वरूप में दिखता नहीं। यह बात सर्वेक्षण पूर्वक प्रमाणित होता है कि आँखों पर ही वस्तु का सर्वाधिक भाग प्रतिबिम्बित होता है। बाकी अन्य प्रणालियों से उतना अधिक भाग चित्रित नहीं हो पाता है। आँख के अनन्तर शब्द और कहानी द्वारा मानव की कल्पना में बहुत सारा चीज आता है। ऐसे कथाओं के आधार पर किये गये कल्पनाएँ आँखों में आता नहीं। यही मुख्य मुद्दा है। सर्वमानव के साथ यही घटना घटती रहती है। चाहे कितने ही श्रेष्ठ अभ्यासों में परिपक्व क्यों न हुआ हो, चाहे सामान्य व्यक्ति क्यों न हो इस तथ्य का सर्वेक्षण हर व्यक्ति कर सकता है। यही मुख्य बिन्दु है आँखों से अधिक कल्पना होता है। साथ ही कल्पनाएँ आँखों में दिखती नहीं है। यही व्यथा हर मानव के साथ कमोबेशी बना हुआ है ही। इस मुद्दे में मुख्य रूप में जो विषमता का आधार है वह है देखने का परिभाषा। अभी तक आँखों पर जो कुछ भी प्रतिबिम्बित रहती है, दिखने की वस्तु यही है ऐसी ही मान्यता के आधार पर मानव सहज आँखों से अधिक शक्तिशाली यंत्र-उपकरण को बनाकर भी देखा गया। उपकरणों से दूर की चीज अथवा बहुत छोटी चीज को देखा भी है। इन उपकरणों से परमाणुओं एवम् परमाणु अंशों को देखने का दावा भी किये हैं और दूर में स्थित ग्रह-गोलों को, नक्षत्रों को देखने का सत्यापन किये हैं। – आ.व. 188-193

(ii) गणित = आँखों से अधिक, समझ से कम है

यह सर्वविदित तथ्य है आँखों में जो कुछ भी प्रतिबिम्बित होती है इसे आगे देखने पर पता चलता है मानव की आँखों में जो कुछ भी घटना और रूप दिख पाता है वह आंशिक भाग ही रहता है। हर रूप स्थिति में गति होना पाया जाता है। इस क्रम में रूप का परिभाषा जो आकार, आयतन, घन है उसमें से आकार का ही आंशिक भाग आँखों में प्रतिबिम्बित होता है। आकार और आयतन, घन अविभाज्य है। जो कोई भी आकार है सत्ता रूपी ऊर्जा में, शून्य में समायी रहती है, सभी ओर से सीमित रहता ही है। यही उस वस्तु का विस्तार अथवा आयतन का तात्पर्य है। आकार का स्वरूप लंबा, चौड़ा, ऊँचा, मोटा, गहरा, गोल, चपटा, बेलनाकार, विभिन्न संख्यात्मक कोणाकार में होना पाया जाता है। ऐसे सभी रूप में, से केवल आकार, आयतन का आंशिक भाग ही आँखों में प्रतिबिम्बित हुआ रहता है इससे किसी वस्तु का वर्तमान में होना स्वीकार होता है। स्वीकारने का पक्ष जीवन पक्ष का ही कार्यप्रणाली है।

हर परस्परता में पत्थर-पत्थर अथवा मृदा, पाषाण, मणि, धातुओं के परस्परता में, अन्न-वनस्पति की परस्परता में, पदार्थावस्था और प्राणावस्था की परस्परता में भी परस्पर प्रतिबिम्बन क्रिया बना ही रहता है। उसका सिद्धांत यही है 'बिम्ब का प्रतिबिम्ब रहता ही है'। इसी क्रम में मानव का प्रतिबिम्ब, मानव सहित अन्य प्रकृति के साथ भी बना ही रहता है। अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व में विद्यमान हर वस्तु में प्रतिबिम्ब ससम्मुखता के आधार पर ही होता है या रहता ही है। इसे स्वाभाविक रूप में हर व्यक्ति अपने ही शक्ति, कल्पना और तर्क प्रयोग परीक्षण के आधार पर प्रमाणित कर सकता है। प्रतिबिम्ब की संप्राप्ति के लिये किसी मानव को कुछ भी करना नहीं है। ससम्मुखता में स्थित हर वस्तु का प्रतिबिम्ब रहता ही है। इसी क्रम में हर व्यक्ति की आँखों में, व्यापक रूप में वर्तमान सत्ता में ही हर वस्तु डूबा, घिरा हुआ दिखाई पड़ता है। इसी के साथ-साथ और एक नित्य प्रमाण समझ में आता है सत्ता हर परस्परता में पारदर्शी है क्योंकि हर ससम्मुखता में किसी न किसी सीमित वस्तुओं (इकाईयों) को पाया जाता है। सीमित वस्तुओं का ही प्रतिबिम्ब होता है।

सीमित वस्तुओं की परस्परता के मध्य व्यापक रूप में वर्तमान सत्ता दिखाई पड़ती है। यह स्थिति सर्वत्र, सर्वकाल में सभी मानव के नजरों में आती है। इस तथ्य के आधार पर सत्ता पारदर्शी होना, देखने को मिलता है। क्योंकि सत्तामयता हर परस्परता के मध्य में होता ही है तभी परस्परता में प्रतिबिम्बन होना प्रमाणित होता है। ऐसे पारदर्शी सत्ता में घिरा, डूबा होने का महिमा के साथ-साथ हर सीमित वस्तुएँ ऊर्जा सम्पन्न रहना, उन-उन की क्रियाशीलता के आधार पर प्रमाणित होता है। इससे यह भी पता लगता है-सत्ता में ही हर सीमित वस्तुएँ भीगी हुई है। इस प्रकार हर वस्तु अर्थात् हर सीमित वस्तु सत्ता में ही नियंत्रित, क्रियाशील, संरक्षित रहना भी पता लगता है क्योंकि अस्तित्व न घटता है न बढ़ता है। अस्तु, प्रतिबिम्बन का मूल वस्तु रूप है ही। ऐसे रूपों के परस्परता के मध्य में स्थित साम्य ऊर्जा, सत्ता पारदर्शी होता है।

आँखों से देखने के क्रम में सारे सानुकूलताएँ अस्तित्व सहज रूप में समीचीन रहते हुए आकार, आयतन का आंशिक भाग आँखों के सम्मुख प्रतिबिम्बित होना स्पष्ट हो चुकी है। आँखों पर प्रतिबिम्बित आकार से अधिक आयतन, आकार और आयतन से अधिक घन रहता ही है। इस विधि से जो हम आँखों से देखते हैं उसकी सम्पूर्णता आँखों में आती नहीं है। यह रूप के सम्बन्ध में जो तीन आयाम बतायी गई है उसका प्रतिबिम्बन और आँखों की क्षमता के संबंध

में मूल्यांकित हुई। हर रूप के साथ गुण, स्वभाव, धर्म अविभाज्य रहना स्पष्ट किया जा चुका है। यह भी साथ-साथ हर व्यक्ति में किसी न किसी अंश में गुण, स्वभाव, धर्म को समझने की आवश्यकता-अरमान रहता है। इस विधि से यह स्पष्ट हो गया जितना मानव समझ सकता है वह आँखों में आता नहीं। हर वस्तु आँखों पर होने वाले प्रतिबिम्बन से अधिक है। यही कल्पनाशीलता, तर्क, प्रयोग, अध्ययन और अनुभव का मुद्दा है। अब यह बात सुस्पष्ट हो गई कि देखने का परिभाषा, आशय और सार्थकता समझना ही है, समझा हुआ को समझाना ही है।

(इस ढंग से) आँखों से अधिक कल्पनाशीलताएँ हर मानव में विद्यमान हैं। गणित भी कल्पनाशीलता का ही प्रकाशन है। संख्या के रूप में हर घटना या रूप और गुणों को बताने के लिये प्रयत्न हुआ। गुण ही गति के रूप में होना देखा गया है। गणितीय क्रियाकलाप भी मानव भाषा में गण्य होना पाया जाता है। सर्व मानव में गणना कार्य प्रकट होते ही आया है। ऐसे गणना कार्य को विधिवत् प्रयोग करने के आधार पर रूप सम्बन्धी तीनों आयाम आकार, आयतन, घन को समझने-समझाने का कार्य सम्पन्न होता है। इसी के साथ-साथ गति सम्बन्धी संप्रेषणा भी गणना विधि से लाने का प्रयास हुआ। मध्यस्थ गति गणितीय भाषा में संप्रेषित नहीं हो पायी है। सम-विषमात्मक गतियों को दूरी बढ़ने-दूरी घटने, दबाव और प्रवाह बढ़ने-घटने के साथ परिणामों का आंकलन सहित अध्ययन करने का प्रयास विविध प्रकार से किया गया है। ये दोनों सम-विषम गतियाँ आवेश के रूप में ही गण्य होते हैं जबकि हर वस्तु, हर इकाई, उसके मूल में जो परमाणु है वह अपने स्वभाव गति प्रतिष्ठा में ही उनके त्व सहित व्यवस्था होना पाया जाता है। जो कुछ भी अस्तित्व में त्व सहित व्यवस्था के रूप में व्यक्त है वह सब मध्यस्थ गति के अनुरूप ही कार्यरत होना देखा गया। मानव में इसका कार्य रूप, कार्य प्रतिष्ठा जागृति मूलक विधि से ही स्पष्ट होना देखा गया है। इसका प्रमाण न्याय, धर्म, सत्य मूलक अभिव्यक्ति के रूप में ही प्रमाणित होता है।

मानव संख्या के अर्थ में सीमित नहीं है किंवा कोई भी वस्तु संख्या के रूप में सीमित नहीं है क्योंकि हरेक-एक रूप, गुण, स्वभाव, धर्म सहज वैभव है, अविभाज्य है। गणित केवल रूप सीमावर्ती गणना है। आंशिक रूप में गुण (गति) का भी गणना सम्पन्न होता है। धर्म, स्वभाव और मध्यस्थ गुण (गति) का गणना संभव ही नहीं है। अतएव गणित विधि के साथ गुण और कारण विधि से मानव अपने भाषा को इनके अविभाज्य विधि से समृद्ध बनाने की आवश्यकता है। इन तीनों विधि से ही हर वस्तु को, उन-उनके सम्पूर्णता को समझना सहज है। हर वस्तु अपने सम्पूर्णता में रूप, गुण, स्वभाव, धर्म का वैभव है। ऐसे सम्पूर्णता का महिमा ही है प्रत्येक अपने 'त्व' सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है।

मानव संतुष्टि की नजरिये से रूप, गुण, स्वभाव, धर्म रूपी आयामों को स्पष्टता से हृदयंगम करने (स्वीकारने) के उपरान्त ही हर मानव विकास और जागृति के संदर्भ में समाधानात्मक निर्णय संपन्न होना, फलस्वरूप जागृति और विकास की दिशा में सार्थक हो पाना होता है। यही सारांश है। - ज.व. 48

(अर्थात्) आँखों से अधिक कल्पना में, कल्पना से अधिक समझ में और समझ से अधिक अनुभव में आता है। अतएव आँखों में सम्पूर्ण वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं आता है, समझ में आता है। - ज.व. 174-179

(G) केवल शरीर या केवल आत्मा के आधार पर मानव व्याख्यायित नहीं है

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि बीसवीं सदी के दसवें दशक में वैज्ञानिक अनुसंधान, शोध, प्रयोग (हास विधि सूत्र, यंत्र प्रमाण की महिमा) के साथ मनुष्य शरीर की कोशाओं से ऐसे मनुष्य शरीर के तैयार होने के कार्यक्रम की परिकल्पना दी गई। यह प्रकृति में, वह भी स्वदेज अवस्था में केंचुआ, जोंक आदि रचनाएं विरचित होकर प्रत्येक मृतक कोषा पुनः उसी प्रकार की रचना के लिए बीज रूप है और इसके साकार होने के प्रमाणों को देखा गया है। जैसे एक जोंक को सुखाकर बुरादा बना लें, उसको किसी नमी के स्थान पर, जैसे मिट्टी के बर्तन में पानी भर दें। पानी की नमी धीरे धीरे बहिर्गत होती रहे। उसे पेंदी से लगा हुआ, जोंक का बुरादा डाल दें, कुछ ही दिनों में बहुत से जोंक देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार चमड़े की कोषाएं निष्प्राणित होने के बाद भी, सप्राणित होना प्रमाणित हो जाता है। अभी अत्याधुनिक खर्चीली विधियों से, इसी को दोहराने का उपक्रम किया गया है। इसमें भी मनुष्य शरीर के एक कोषा को, उसमें निहित प्राण सूत्र अथवा रचना सूत्र के आधार पर बहुकोषाओं में प्रवर्तित और रचना सूत्र में स्थापित रचना के रूप में रचित होने के लिए आवश्यकीय रासायनिक द्रव्यों को सुलभ कराने और ऊष्मा व दबाव नियंत्रित कर रखने में, मनुष्य सफल हुआ है। फलस्वरूप कृत्रिम शरीर रचना, एक संभावना के रूप में आ चुकी है। मूलतः यह प्राकृतिक स्वरूप ही है क्योंकि इस कार्य-कलाप में भी किसी शरीर का मूल प्राण कोशाओं का आधार रहता है इसलिए यह भी, प्राकृतिक स्वरूप में भी गण्य हो पाता है। इसका उदाहरण पहले दे चुके हैं।

कृत्रिम शरीर रचना की अस्मिता के सम्बन्ध में मूल मानसिकता को विश्लेषित करने पर पता लगता है कि (1) किसी एक प्रजाति की शरीर रचना को बहु-संख्या में प्राप्त कर लें, इससे बेहतरीन समाज-रचना हो सकती है, इस बात की सूझ-बूझ रंग और नस्ल के आधार पर सोची जा सकती है। सभी रंग और नस्ल भी अभिव्यक्ति की विविधता में और किसी एक ही व्यक्ति में बुहुमुखी प्रवृत्ति और अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। इसके बावजूद अभिलाषाएं या परिकल्पनाएं कृत्रिम मनुष्य के सृजन के मूल में, एक प्रजाति की कामना का होना संभव है। इसी के साथ अन्य प्रजातियों के शरीर रचना की संख्या को घटाने की भी परिकल्पना हो सकती है। इससे संसार का कोई उपकार होने की संभावना नहीं है, क्योंकि मनुष्य संस्कारनुषंगीय इकाई है, सुख धर्मी है और विज्ञान तथा विवेक पूर्ण विधि से जीने की कला में जागृत होना प्रत्याशित, आशित और संभावित तथ्य है।

प्रकारान्तर से केवल, जीवन के आधार पर अथवा केवल शरीर के आधार पर, मानव परम्परा को व्याख्यायित करने वाले सभी प्रयास पराभवित हो चुके हैं। इस तथ्य को ध्यान में लाना इसलिए आवश्यक है कि मानव परम्परा में ऐसे बहुतायत प्रयास हो चुके हैं। अभी तक किसी भी सार्थक प्रयास से अथवा मान्य सार्थक प्रयासों से, समुदाय-चेतना से मुक्त होना और समाज चेतना से संपृक्त होना संभव नहीं हो पाया। जबकि समुदायों में “श्रेष्ठता” सहज रूप में प्राप्त है। बेहतर (श्रेष्ठ) समाज की कल्पना अवश्य ही आती रही है। यह सब समुदाय के रूप में ही सिमटता रहा है। इसका मूल तत्व यह रहा है कि प्रकारान्तर से जीवन कल्पना को परम सत्य मानते हुए, अपने अपने तरीके से आचार संहिता को प्रस्तुत किए। कुछ समुदाय शरीर, मरणशील होने के आधार पर कोई शाश्वत वस्तु जैसे ब्रह्म, ईश्वर नाम और मान्यता के आधार पर आत्मा, रूह आदि नाम दिये। मान्यतायें बनी रही। फलतः इस क्रम में कल्पना के आधार पर आचार संहिता को मानते हुए चलते आए हैं। इन दोनों विधियों से जितने भी प्रयास हुए, पूरक विधि निकल नहीं पाई।

देहवाद से भोगवाद, ईश्वरवाद से एकान्तवाद, भक्ति-विरक्ति के रूप में प्रचलित हुआ। एकान्त, - जिसमें अकेले की महिमा, विशेषता, मोक्ष केवल अकेले के लिए संभव है, स्वर्गवाद - अकेले के लिए स्वर्ग। इन मान्यताओं और आश्वासन विधियों से केवल व्यक्तिवादी अहंता, उससे होने वाली लाभ-हानि मानव परम्परा में हाथ लगी। जबकि अकेले नाम की कोई स्थिति, गति नहीं है। अस्तित्व ही, सह-अस्तित्व है। हर मनुष्य का सह-अस्तित्व में वैभवित रहना स्वाभाविक है। सत्तामयता भी अकेले नहीं है, प्रकृति भी अकेली नहीं है। दूसरे के साथ ही एक, अपने वैभव को प्रमाणित करता है। सम्पूर्ण एक एक सत्ता में ही वैभवित है। सम्पूर्ण सत्ता, प्रकृति के साथ वैभवित है। इस तथ्य के साथ अकेले, कुछ भी नहीं है। सह-अस्तित्व ही सम्पूर्ण एक एक का और समग्र अस्तित्व का सूत्र और व्याख्या है।

जो शरीर को जीवन समझे, उनकी विधि से, भोगवाद पनपा। भोगवाद के साथ संग्रह - एक कड़ी बना। संग्रह का तृप्ति बिंदु नहीं मिला, सबके लिए संग्रह, संभव नहीं हुआ क्योंकि संग्रह की मात्रा का निर्णय संभव नहीं हो पाता। फलस्वरूप सबको संग्रह सुलभ ही नहीं बन पाया। युद्ध, विद्रोह, द्रोह, शोषण की मानसिकता और भी बलवती हुई है। इसी के चलते नैसर्गिक असंतुलन, प्रदूषण के आधार पर पनपता आया। यह किसी मनुष्य के लिए स्वीकृत वस्तु, स्वीकृत घटना नहीं है। इससे, मनोविज्ञान पर भी, पुनर्विचार करने की आवश्यकता बनी ही रही।

हम मानव प्रकान्तर से, संतुलन, समृद्धि, समाधान और समाज न्याय को स्वीकारते आए हैं। चाहे हमें देहवाद (भोगवाद) और आत्मवाद का उपदेश देते रहें। इन दोनों विधियों से चला आया मानव सहज रूप से ही, स्वीकृति के स्वरूपों को, स्पष्ट करते आया। ऐसा, मानव सहज स्वीकृति के अनुरूप, कोई निश्चित फलन, सर्वजनोपयोगी होने की विधि से निष्पन्न नहीं हो पाया। प्रयत्न, विविध रूपों में होते आए। सभी प्रयास देहवाद और ईश्वरवाद (आत्मवाद) ही रहे हैं।

मानव संचेतना का अध्ययन ही शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में है। यह अध्ययनगम्य है। अस्तित्व में ही, व्यापक रूप में साम्य ऊर्जा नित्य वर्तमान है। इसे ईश्वर नाम दिया है। इस बात की चर्चा पहले हो चुकी है। अस्तित्व, जीवन और जीवन जागृति समझने के उपरान्त मानव परम्परा में मानव सहज सामाजिक अखंडता, मानव सहज व्यवस्था में सार्वभौमता समीचीन है। इसलिए भी मानव संचेतनाविद् मनोविज्ञान पर ध्यान देना, आवश्यक रहा है।

मानव संचेतना का तात्पर्य ही संज्ञानशीलता, संवेदनशीलता का संयुक्त रूप है जो जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करने का क्रियाकलाप है। इसी का अध्ययन है। इसमें पारंगत, निष्णात और प्रमाणित होने के अर्थ में मानव सहज संचेतना, उसका वैभव, प्रत्येक व्यक्ति में इसकी सार्थकता को स्पष्ट करना ही आशय है। दूसरे तरीके से मानव संचेतना का अध्ययन अर्थात् मानव के सम्पूर्ण आयाम, दिशा, कोण, परिप्रेक्ष्यों में सार्थकता का निरूपण, विश्लेषण और निष्कर्ष है। - म.वि. 18-22

शरीर संचेतना अथवा इंद्रिय सन्निकर्षात्मक प्रभावों को भी अनुभव कहना, प्रचलन में रहा है। जीवन संचेतना ही, शरीर जीवन्त रहने पर्यन्त प्रमाणित रहती है। जीवन्तता का स्रोत जीवन ही है। जीवन द्वारा अपनी आशा विचार, इच्छा रूपी अक्षय शक्तियों का प्रभावन कार्य के आधार पर, शरीर को जीवन्त बनाए रखना, एक सहज प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के आधार पर ही प्रत्येक मनुष्य, शरीर और जीवन में सह-अस्तित्व प्रतिष्ठा स्थापित होने, क्रियाशील रहने, शरीर यात्रा को सहज सुगम बनाए रखने और जीवन सहज उद्देश्यों को प्रमाणित करने का कार्य देखने को मिलता है।

इसका दृष्ट प्रमाण, शरीर का जीवंत रहना अथवा न रहना ही प्रधान घटना है। ऐसी घटना प्रत्येक मनुष्य के साथ और प्रत्येक मनुष्य में प्रमाणित होती है, यह सर्वविदित तथ्य है। ऐसी घटना, को, एक रासायनिक ऊर्मि के रूप में भी बुद्धिजीवी मानव ने दिखाने का प्रयत्न किया और कुछ मेधावियों ने आत्मा के नाम से इस घटना का विश्लेषण करने का प्रयास किया। यह अध्ययनगम्य हो नहीं पाया। – म.वि. 245

(H) जीवन ही शरीर का दृष्टा है

मनुष्य का अध्ययन (*भौतिक) वस्तु बोध के रूप में होना संभव नहीं हो पाया है। क्योंकि मनुष्य की संपूर्णता रासायनिक भौतिक सीमा में न होकर, अथवा रासायनिक भौतिक वस्तुओं की महिमा शरीर तक ही सीमित रहने के आधार पर, मानव का सम्पूर्ण अध्ययन होना संभव नहीं हुआ। हर मानव जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में ही विद्यमान है और परंपरा के रूप में वर्तमान है। परंपरा के लिए शरीर एक प्रधान आधार है। परंपरा का मतलब ही होता पीढ़ी से पीढ़ी अथवा वंश परंपरा ही रहा है। शरीर परंपरा, रचना विरचना के आधार के रूप में ही सीमित है। जबकि मानव परंपरा में जीवन और शरीर संयुक्त वरीय स्थिति को प्रमाणित करता है। अर्थात् शरीर से अधिक महिमाओं को स्पष्ट कर देता है। शरीर हो, जीवन न हो, ऐसी स्थिति में मानव होता नहीं है। इसलिए मानव संज्ञा में जीवन और शरीर के संयुक्त रूप की ही स्वीकृति है। यह भी मानव की समझ में आ चुका है। शरीर ही जीवंत और निर्जीव होता है, निर्जीवता जीवन का वियोग ही है।

जीवंतता ही जीवन और शरीर का सम्यक प्रकाशन है, अभिव्यक्ति है। इसी क्रम में मानव संतुष्टि और जीवन संतुष्टि को पहचानना एक आवश्यकता रही है। मानव संतुष्टि के साथ जीवन संतुष्टि सार्थक होता ही है। इस तथ्य का अध्ययन पहले स्पष्ट हो चुकी है। मानव संतुष्टि का लक्ष्य के रूप में होना, मानव जीवन सार्थक होता हुआ प्रमाणित होता है। इसी क्रम में मानव अध्ययन करने के लिए अनुभवमूलक विधि से अनुभवगामी पद्धति को अपना लिया। उसी का यहाँ स्पष्टीकरण और उल्लेख है। मानव का सहज विधि से जीवन तृप्ति का ध्यान इसीलिए आवश्यक है कि जीवन बल, शक्ति का नियोजन पूर्वक ही शरीर संरक्षण, पोषण, समाज गति स्पष्ट होती है। जीवन न होने की स्थिति में शरीर का संरक्षण, पोषण नहीं हो पाता है। इसके विपरीत ऐसे शरीर को मृत शरीर घोषित किया जाता है और विसर्जन किया जाता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि शरीर, पोषण, संरक्षण जीवंतता पूर्वक ही संपन्न होता है। इसलिए जितना हम जान पाते हैं, उससे कम चाह पाते हैं, जितना हम चाह पाते हैं, उससे कम कर पाते हैं, जितना हम कर पाते हैं, उससे कम भोग पाते हैं। परिणाम पता लगता है कि भोगने की जहाँ तक सीमा है, वह शरीर ही है। – क.द.

127

जीवन रचना एक गठनपूर्ण परमाणु है, रासायनिक-भौतिक क्रियाकलापों में भाग लेने वाले परमाणुओं में जो श्रम-गति-परिणाम देखने को मिलता है उसमें से परिणाम का अमरत्व, गठनपूर्ण परमाणु में स्पष्ट होता है। यह परमाणु में विकास का एक सोपान है। प्रकृति में जीवन-क्रियाकलाप कभी समाप्त नहीं होती। जीवन नित्य है, शरीर जीवन प्रकाशन के लिये एक घटना के रूप में समीचीन रहता है। शरीर रचना के बारे में वंशानुक्रमीय विधि से गर्भाशय में

रचित होना देखा गया। इसलिये शरीर में आकार-प्रकार-रंग-रूप में विभिन्नता होना देखा गया है। जीवन रचना में परमाणु में गठनपूर्णता समान होना देखा गया है।

जीवन रचना समानता का तात्पर्य जीवन क्रियाकलाप के लिये जितने भी अंशों का परमाणु गठन में समाना आवश्यक रहता है वह सब इसमें समाये रहने के फलस्वरूप जीवन रचना में समानता को विधिवत् देखा गया है, समझा गया है।
-क.द. 112-113

शरीर रचना के अनुसार मानव का पहचान होता ही नहीं, न कभी होगा। इसीलिए हमें जीवन में परिवर्तन पर ध्यान देना बनता है। परिवर्तन आज तक के प्रधान शोध, अनुसंधान से साकार होने की गतिविधियाँ सुस्पष्ट हो चुकी हैं। शेष भाग मनः स्वस्थता है, उसे सहअस्तित्ववादी दृष्टिकोण से सुस्पष्ट होने वाली ज्ञान, विज्ञान, विवेक सम्पन्नता पूर्वक अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी पूर्वक मानव आँकाक्षा और जीवन आकाँक्षा को सार्थक बना सकते हैं। इसे हर नर-नारी प्रयोग पूर्वक प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं -क.द. 162

1. यह बहुत आसान हो गया है कि मानव जीवन को पहचान सकता है। जीवन विद्या इसके लिए हैं। जीवन सहज समानता को प्रत्येक मानव में समझा जा सकता है। इसके लिए अध्ययन सहज विकल्प, "परमाणु में विकास और जीवन ज्ञान" हैं। इन दोनों ऐश्वर्य से संपन्न होने के उपरान्त ईश्वर, देवता आत्मा जैसे रहस्यों से मुक्ति पाने का क्रम अस्तित्व दर्शन से बनता है और स्पष्ट होता है कि मानव ही विकसित और जागृत होकर देवी-देवताओं के पद में हो जाते हैं। ये सब अस्तित्व सहज अभिव्यक्ति क्रम में हैं। इसलिए मानव का इसको जागृति क्रम अथवा जागृति पूर्वक स्वीकारना सहज है। मानव कुल जागृत हैं इस बात का प्रमाण अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था ही है। इसमें भागीदारी के लिए जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान सहज परंपरा ही एक मात्र विकल्प हैं। इस नजरिए से किसी जीवन के अधिकारों को, स्वत्व को, स्वतंत्रता को हनन करना अव्यवस्था का द्योतक होता है। इसलिए जानवरों और मानवों का वध अव्यवस्था का द्योतक सिद्ध हुआ है। नियम-नियंत्रण-संतुलन, न्याय-धर्म-सत्य सहज विधि पूर्वक जीना ही सार्वभौमता और अखण्डता सूत्र है। - भ.व. 215

2. मनुष्य, जीवन और शरीर का संयुक्त रूप है। निरंतर सुखी होने के अर्थ में मानव का लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व प्रमाणित होना ही है। इस सदी के अंत में मनुष्य जागृत है, अथवा जागृति के लिए इच्छुक और प्रयत्नशील है या आवश्यकता को महसूस करते हुए, लक्ष्य व दिशा विहीन है। दिशा, मानवीयतापूर्ण आचरण ही है। अथवा आवश्यकता को महसूस करने, प्रयत्नशील होने और जागृत होने के योग्य है। - म.वि. 41

3. शरीर को सत्य समझकर (शरीर केन्द्रित) आस्वादन करने की स्थिति में, जीवन तृप्ति का स्रोत नहीं बन पाता। अतएव जीवन तृप्ति विधि से ही आस्वादन सार्थक होता है अर्थात् जीवन में, से, के लिए जीवन समझ में आने के बाद ही आस्वादन की सार्थकता, नियम और न्याय के रूप में निरंतर ही सुख, सुन्दर, समाधान के प्रमाणों सहित है। - म.वि. - 88

4. भ्रमित मानव मन की क्रियाएं सर्वाधिक मान्यताओं के आधार पर सम्पन्न होती हुई दिखाई पड़ती हैं। मान्यता का आधार शरीर, इन्द्रिय और इंद्रिय संवेदनाएं हैं। इन पर आधारित मान्यताओं से प्रत्येक मनुष्य समस्याग्रस्त रहता है। प्रमाणिकता के लिए मन अनुभव मूलक विधि से क्रियाओं को संपन्न करता है। यह विचार, इच्छा, ऋतम्भरा, प्रमाण सहज क्रम में, जीवन जागृति का प्रमाण प्रस्तुत होता है। - म.वि. 37
5. मानव परंपरा में जीवन प्रमाणित होने के लिए मानव शरीर की अनिवार्यता समझ में आती है। इस प्रकार अर्थोपार्जन के लिए तन एक महत्वपूर्ण वस्तु है। शरीर का उपयोग करने वाला वस्तु जीवन ही है। जीवन में से मन अधिकांश शरीर को उपयोग करता है। क्रम से अनुभव, बोध, चिंतन, तुलन सम्मत विधि से मन शरीर का उपयोग करता है तभी शरीर का सदुपयोग होना प्रमाणित होता है। शरीर की सुरक्षा के लिए जीवन सदा ही शरीर को जीवंत बनाए रखता है। मानव शरीर को जीवंत बनाए रखने में मन ही प्रयोजित रहता है। - आ.व. 53
6. वस्तुओं का उत्पादन, जीवन शक्तियों के संयोग से, शरीर के अवयवों द्वारा, श्रम नियोजन पूर्वक संपादित होती है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए, जन-मानस को यह भी विश्वास दिलाया है कि भौतिक वस्तु की आवश्यकता शरीर तक ही है। जीवन-तृप्ति के अर्थ में, उपयोग, सदुपयोग और प्रयोजनशीलता को स्पष्ट किया है। जीवन, शरीर के द्वारा, मानव परम्परा में अपनी जागृति को प्रमाणित करना ही परम उद्देश्य है। यही प्रयोजन है। इसे सार्थक बनाने के क्रम में, शरीर- यात्रा जीवन के लिए एक साधन है, न कि साध्य। - म.वि. 132-133
7. शरीर का दृष्टा भी जीवन ही है इसलिये जागृत मानव ही हर समस्या का समाधान और उसका निरन्तर स्रोत होना पाया गया है, देखा गया है। मानव भ्रमवश शरीर को ही जीवन मानकर अपने सभी क्रियाकलापों को करता है- तभी वह सब किया गया का परिणाम समस्याओं के रूप में होती है। समस्याएँ मानव को स्वीकार नहीं है। विज्ञानियों के अनुसार शरीर ही जीवन होना बताया गया है। भ्रम का यही प्रधान बिन्दु है जबकि संज्ञानशीलता और संवेदनशीलता का संतुलन-संगीत परमावश्यक है। हर मानव में संवेदनशीलता, संज्ञानशीलता का होना पाया जाता है। जैसे ऊपर कहे गये उदाहरण के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि मानव अपने कर्म स्वतंत्रतावश विज्ञान, तकनीकी, प्रौद्योगिकी विधि से सामरिक दृष्टियों के और मानव में निहित सुविधा-संग्रह रूपी प्रलोभन की तुष्टि के लिये सम्पूर्ण पर्यावरण को दूषित कर दिया और धरती बीमार हो गई। यह विज्ञान सहज कर्म-स्वतंत्रता का फल है। पर्यावरण संतुलन सहज, संगीत सहज, अवधारणा और अनुभव होने के उपरान्त मानव अपने कर्म स्वतंत्रता को समस्याकारी कार्यों में नियोजित करना समाप्त हो जाता है। संज्ञानशीलता ही अनुभव सूत्र है-संवेदनशीलता ही कार्यसूत्र है। अनुभव ही ज्ञान-स्वरूप है। यह स्वयं नित्य समाधान और प्रामाणिकता है। अनुभवमूलक सभी कार्यकलाप सत्य, समाधान और न्याय के रूप में प्रमाणित होता है। न्याय को हम नैसर्गिक और मानव संबंधों के

साथ अनुभव किये हैं। इसे हर मानव अनुभव करने योग्य इकाई है, इसकी आवश्यकता सदा-सदा ही बना है। मानव परंपरा में अनुभवमूलक अभिव्यक्ति ही ज्ञानावस्था का सार्थक, आवश्यक, वांछित कार्य होना देखा गया है। इसी आधार पर अनुभवमूलक विचार के रूप में इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करने की आवश्यकता निर्मित हुई। - आ.व. 14-15

8. जागृति का प्रमाण मानव ही है। मानव ही जीवन सहज जागृति को दृष्टा, कर्ता, भोक्ता के रूप में प्रमाणित करता है। प्रमाणित करने के मूल वस्तु के रूप में अस्तित्व दर्शन रूपी परमदर्शन, जीवन ज्ञान रूपी परम ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण रूपी परम आचरण को प्रमाणित करता है करने योग्य है। - अ.श. 79-80

9. जीवन ज्ञान जब तक नहीं होता रहा, तब तक हम यह मानने के लिए तैयार थे, बाध्य थे कि वंश के अनुसार रूप, गुण, संस्कार होते हैं। इस प्रकार की मान्यता के साथ जातिवादी, वंशवादी श्रेष्ठता की बहस और वकालत पहले चली। ये सब आज की स्थिति में टूट चुकी है। ब्रह्मवाद, आत्मवाद, जातिवाद, नस्लवाद ये सभी वाद विवादग्रस्त हो चुके हैं। फलस्वरूप, शंकाओं का घेरा बलवती होता जा रहा है। शरीर रचना के आधार पर चेतना निष्पन्न होने, बहने का जो आश्वासन था, वह भी विवादग्रस्त हो गया। अब आदमी कहाँ जाय, यही मुख्य मुद्दे की बात है। इसी 21वीं शताब्दी के पहले दशक तक 20वीं शताब्दी के अंतिम दशक से शुरू हुई, एक विकल्पात्मक प्रस्ताव, सहअस्तित्व वादी विश्व दृष्टिकोण, मानव को एक अखण्ड समाज के रूप में, जाति, धर्म समझ अर्थात् ज्ञान, विज्ञान, विवेक और जीवन अर्थात् चैतन्य इकाई में समानता, अक्षय शक्ति, अक्षय बल के समानता और जागृति के स्वरूप में समानता को बोध कराने के लिए अध्ययन विधि प्रस्तुत हो चुकी है।

10. इसी क्रम में जीवन तृप्ति और मानव तृप्ति की एकरूपता को पहचानने की आवश्यकता है, सार्थक बनाने की आवश्यकता है। इस विधि से अर्थात् सहअस्तित्व वादी नजरिये से मानव शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में विद्यमान है, प्रकाशमान है। ऊपर कही सारी कहानी के तात्पर्य में मानव शरीर में कोई विकास हुआ नहीं और शरीर में कोई विकास होता नहीं। जो कुछ भी महिमा आदि मानव से अत्याधुनिक मानव तक प्रकाशित हुई है, यह सर्वमानव में पाए जाने वाली कर्मस्वतंत्रता, कल्पनाशीलता की अभिव्यक्ति है, यह भी स्पष्ट हो गई है। इसके तृप्ति बिन्दु को शोध, अनुसंधान करते हुए अर्थात् कर्म स्वतंत्रता का शोध अनुसंधान करते हुए, सुखी होने की आकांक्षा ही है, इसी क्रम में मनाकार को साकार करना सार्थक हो गया। यह कल्पनाशीलता कर्मस्वतंत्रता की अभिव्यक्ति जीवन की महिमा है, न कि शरीर की। क्योंकि, शरीर प्राणावस्था की द्रव्य वस्तु, प्रक्रिया से ही सम्पादित हुआ है। ये पूरा रचना प्राणकोषा प्रधान है। ये प्राणकोषाएँ अपने क्षमता से अधिक होना संभव नहीं। मानव शरीर रचना के लिए जितना औकात स्थापित हुई, वह यथावत दोहराता हुआ दिखाई पड़ती है। कर्मस्वतंत्रता, कल्पनाशीलता, मानसिकता जो सर्व मानव में देखने को मिल रहा है। यह मानसिकता मूल स्वरूप में जीवन जागृति की ही एक प्रक्रिया है। - क.द. 50

(I) जीवन ही शरीर को 'जीवंत' बनाये रखता है

मानव, जीवन और शरीर के संयुक्त साकार रूप में है। सम्पूर्ण शरीरों का जीवन्तता पूर्वक कार्य व्यवहार करना पाया जाता है। जीवन, शरीर को जीवंतता प्रदान करने का फल ही है। मानव परम्परा में जीवन जागृति प्रमाणित होता है। जीवन ही इंद्रियों का द्रष्टा है। यह प्रत्येक मनुष्य में प्रमाणित है। यह प्रमाण परस्परता में भी प्रमाणित है। प्रत्येक मनुष्य जीवंतता पूर्वक जीता हुआ और निर्जीवन्तता पूर्वक, मरा हुआ शरीर के रूप में पहचाना जाता है, तदनुसार मनुष्य, निर्वाह भी करता है। जैसे जीवन, मनुष्य के जीते रहने के अधिकार को, परस्पर प्रकारान्तर से स्वीकारता है। यही जीने देने का प्रधान सूत्र है। जीता हुआ आदमी जीना चाहता ही है। जीवित आदमी को देखने वाला आदमी भी, जीवित रहता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य जीवंतता पूर्वक, जीवित मनुष्य को सहज ही पहचानता है। यह कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों में परावर्तित जीवन का वैभव है। यह परावर्तन विधि, सह-अस्तित्व सहज है। समृद्ध मेधस युक्त रचना के उपरान्त ही (अथवा समृद्ध मेधस युक्त शरीर को) जीवन, सहज ही जीवन्तता प्रदान करता है। जीवंतता प्रदान करने की प्रक्रिया यह है कि जीवन अपने जीने की आशा सहज प्रभाव से, मेधस को प्रभावित करता है।

मेधस के द्वारा ज्ञानवाही विधि से, सम्पूर्ण शरीर में जीवंतता का प्रभाव क्षेत्र बना ही रहता है। मेधस पर जीवन का, संकेतों के रूप में जो प्रभाव प्रभावित रहता है, वही सर्वाधिक पांचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, कार्यशील प्रवर्तनशील देखने को मिलता है। जीवन अपने में गठन पूर्ण परमाणु है, चैतन्य पद में संक्रमित इकाई है। यही जीवन प्रतिष्ठा के रूप में वैभवित है। जागृति पूर्वक जीवन अपने द्रष्टा पद का प्रयोग करता है और अभिव्यक्ति, संप्रेषणा, प्रकाशन करता हुआ, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों का द्रष्टा है। यही शरीर के साथ संज्ञानशीलता का भी तात्पर्य है। इच्छानुसार इंद्रिय कार्य करना ही इंद्रिय व्यापार है। (अथवा इंद्रिय कार्यकलाप है)। – म.वि. 245

प्राण कोशाओं से कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों समेत रचना सम्पन्न होने के उपरान्त, जीवन्तता की आवश्यकता शेष रहती है। दूसरी ओर जीवन, चैतन्य पद में होते हुए भी, उसको जागृति की आवश्यकता रहती है। जागृति और जागृति पूर्ण परम्परा का सहज क्रम में, मानव परम्परा ही सर्वोपरी व उपयुक्त है। – म.वि. 66

जीवन और शरीर की संयुक्त परम्परा में ज्ञानेन्द्रियों का कार्य सम्पन्न होना सहज है। कर्मेन्द्रियों का आरंभिक क्रिया-कलाप (अथवा सामान्य लक्षण) प्राणावस्था में भी सम्पन्न होता है। ज्ञानेन्द्रियों का कार्य-कलाप, जीवन्तता पूर्वक ही, सम्पन्न हो पाता है। जीवन के योग में ही, शरीर में जीवन्तता का प्रमाण वर्तमान है। इस क्रम में अंग और अवयवों के रूप में रचित, शरीर रचनाओं में से, मेधस भी एक प्रधान रचना रूपी अवयव और तंत्र है। यह अवयव सर्वाधिक, शरीर रचना के शिरोभाग में होना, देखा जाता है। इन्हीं मेधस पर, जीवन सहज आशा, विचार, इच्छा, संकल्प, अनुभवों और प्रामाणिकताओं को प्रमाणित करना, मनुष्य परम्परा में स्पष्ट है। इस विधि से प्रत्येक मनुष्य जीवन व शरीर के, संयुक्त रूप में, कार्यरत रहते हुए जानने, मानने, पहचानने व निर्वाह करने का क्रिया-कलाप, मानव सहज रूप में प्रमाणित होता है। – म.वि. 145

शरीर संवेदना के क्रिया-कलाप, जीवंतता के आधार पर ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का कार्य संपादित हो पाता है। कर्मेन्द्रियों का क्रियाकलाप, जीवन्तता स्पष्ट न रहते हुए भी कुछ क्षण, कुछ दिन, कुछ मास और वर्ष तक भी पराधीनता विधि से संप्राणित रह सकता है अर्थात् श्वास और हृदय क्रिया चल सकती है। इस अवस्था में मनुष्य सहज परिभाषा का कार्यकलाप नहीं हो पाता, इसका प्रमाण कई लोग देख चुके हैं। अस्तु, शरीर संप्राणित रहना भी आवश्यक है। यह तथ्य ऊपर स्पष्ट किए गए विश्लेषण से निश्चित होता है। जीवन्तता, जीवन का ऐश्वर्य है। श्वास लेने-छोड़ने की प्रक्रिया प्राण कोशाओं से रचित शरीर रचना की महिमा है। इस प्रकार जीवन और शरीर के संयुक्त रूप मानव-परम्परा की मानव तथा पूरकता भी स्थापना, सह-अस्तित्व सहज, प्रसवन के रूप में दिखाई पड़ती है। - म.वि. 16,17

(इस ढंग से) जीवन संचेतना ही, शरीर जीवन्त रहने पर्यन्त प्रमाणित रहती है। जीवंतता का स्रोत जीवन ही है। जीवन द्वारा अपनी आशा विचार, इच्छा रूपी अक्षय शक्तियों का प्रभावन कार्य के आधार पर, शरीर को जीवंत बनाए रखना, एक सहज प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के आधार पर ही प्रत्येक मनुष्य, शरीर और जीवन में सह-अस्तित्व प्रतिष्ठा स्थापित होने, क्रियाशील रहने, शरीर यात्रा को सहज सुगम बनाए रखने और जीवन सहज उद्देश्यों को प्रमाणित करने का कार्य देखने को मिलता है। - म.वि. 245

हर जीवन का ही कार्य वैभव और फलन है। इसका सिद्धान्त यही है कि अधिक शक्ति और बल, कम शक्ति और बल सम्पन्न माध्यम के द्वारा प्रकाशित होता है। जीवन अक्षय शक्ति, अक्षय बल सम्पन्न इकाई है। प्राण कोषाओं का शक्ति और बल उसके रचना के आधार पर सीमित रहता ही है। क्योंकि हर रचना का विरचना क्रम जुड़ा ही रहता है। इस आधार पर इस धरती पर जितने भी प्राण कोशाओं की रचना है शीघ्र परिवर्ती है, भौतिक रचनाएँ दीर्घ परिवर्ती है। इसीलिये मानव शरीर प्राण कोशाओं से रचित रहने के लिये इसमें परिवर्ती कार्य घटना समीचीन रहता ही है। इस प्रकार शरीर बल और शक्ति अपने व्यवस्था के रूप में प्रमाणित होते हुए सीमित और जड़ कोटि में गण्य होना पाया जाता है। रचना सहज श्रेष्ठता मेधस रचना और मेधस तंत्रणा ही प्रधान है। हृदयतंत्र मेधस तंत्र यही मुख्य तंत्र है। इस प्रकार शरीर में मेधस और मेधस तंत्र हृदय और हृदय तंत्र सह-अस्तित्व में शरीर व्यवस्था कार्य सम्पन्न होना मानव शरीर के लिये रस, रसायन स्रोत, पाचन परिणाम, अनावश्यकता का विसर्जन, ये सब तंत्रणाएँ ऊपर कहे गये दोनों तंत्रों के आधार पर कार्यरत रहना पाया जाता है। इसी को शरीर व्यवस्था का नाम दिया जाता है। शरीर जीवन्त न रहने की स्थिति में स्वतंत्र रूप में आहार आदि क्रियाओं का सम्पादन नहीं हो पाता है और ज्ञानेन्द्रियों का क्रियाकलाप शून्य हो जाता है। ऐसे बहुत सारे उदाहरणों को मानव ने देखा है। इससे यह स्पष्ट होता है-शरीर को जीवन्त बनाए रखने का मूल तत्व जीवन ही है। जीवन ज्ञान के साथ-साथ ही यह तथ्य स्वीकार हो पाता है। तब तक भ्रमित रहना भावी है ही। भ्रम का सबसे चिन्हित गवाही यही है-शरीर को जीवन समझना। शरीर को जीवन समझने के मूल में जीवन सहज कल्पना ही आधार है। यह भ्रमित रहने के कारण ऐसा मानना होता है। फलस्वरूप जीवन अपेक्षा के विपरीत, मानव अपेक्षा के विपरीत घटित होता है यही कारण रहा है जागृति विधि को मानव परंपरा को अपनाने के लिये आवश्यकता बलवती हुई। - आ.व. 201 - 202

3.2 जीवन के 10 क्रियाएं – परिचय

प्रत्यावर्तन परावर्तन

	जीवन बल	क्रिया	क्रिया	जीवन शक्ति
1.	आत्मा	अनुभव	प्रामाणिकता	प्रमाण
2.	बुद्धि	बोध	संकल्प	ऋतम्भरा
3.	चित्त	चिन्तन	चित्रण	इच्छा
4.	वृत्ति	तुलन	विश्लेषण	विचार
5.	मन	आस्वादन (मूल्यों का)	चयन (संबंधों की पहचान)	आशा

इस चित्र में मानव में दस क्रियाएँ बताई गई हैं, जिनमें से पाँच क्रियाएँ बल के रूप में तथा पाँच क्रियाएँ शक्ति के रूप में कार्यरत रहती हैं। जागृत मानव में, से, के लिए बल और शक्ति ही, स्थिति और गति के रूप में प्रमाणित होते हैं। स्थिति और गति अविभाज्य है, इसको स्वयं में ऐसा अनुभव किया जा सकता है, निरीक्षण किया जा सकता है। मनोबल आस्वादन-चयन के रूप में, वृत्ति बल तुलन विश्लेषण के रूप में, चित्त बल चिन्तन-चित्रण के रूप में, बुद्धि बल बोध व संकल्प के रूप में, आत्मबल अनुभव प्रामाणिकता के रूप में पहचानने में आता है। शक्तियाँ क्रमशः मन शक्ति चयन के रूप में, वृत्ति शक्ति विश्लेषण के रूप में, चित्त शक्ति चित्रण के रूप में, बुद्धि शक्ति संकल्प के रूप में, आत्म शक्ति प्रामाणिकता के रूप में प्रमाणित हो पाता है। (स्थिति में प्रत्यावर्तन, गति में परावर्तन है) – भ.व. 139-143

जीवन के क्रियाकलाप का स्वरूप:-

- कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता है।
- जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करने की क्रिया है।
- आस्वादन और चयन क्रिया है। (चतुर्थ परिवेश, ३२ अंश)
- तुलन और विश्लेषण क्रिया है। (तृतीय परिवेश, १८ अंश)
- चिन्तन और चित्रण क्रिया है। (द्वितीय परिवेश, ८ अंश)
- बोध और संकल्प क्रिया है। (प्रथम परिवेश, २ अंश)
- अनुभव और प्रामाणिकता पूर्ण क्रिया है। (मध्यांश – मात्र १ अंश)

ये सभी क्रियाएँ जागृतिपूर्ण जीवन सहज रूप में प्रमाणित होना पाया गया और जागृति प्रत्येक व्यक्ति में होना संभावित भी है।

कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता के आधार पर ही मानव ने अपनी आशा, विचार, इच्छा के अनुरूप सामान्य आकांक्षा, महत्वाकांक्षा संबंधी वस्तुओं और उपकरणों को तैयार कर लिया है। इसी के आधार पर निर्भर रहकर अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था साकार नहीं हो पाई। इसलिए मानव सहज विभूतियों को समझना और मानव आकांक्षा सहज अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था को साकार करने के उद्देश्य से मानव का संपूर्ण अध्ययन करना आवश्यक है।

(A) आस्वादन और चयन

बच्चे-बूढ़े, ज्ञानी, अज्ञानी, विद्वान, मूर्ख सब में चयन करना और आस्वादन करने की क्रिया को देखा जा सकता है। बच्चों को बहुत सारे खिलौने, विविध मिठाइयों के समुख रखने पर हर बच्चा अपने-अपने तरीके से किसी-किसी वस्तु को अपनाता हुआ देखने को मिलता है। इस प्रकार सभी बच्चे विविध प्रकार से चयन क्रिया संपन्न करते हुए देखने को मिलते हैं। इसको खेत, खलिहान, फैक्ट्रियों, उद्योगों और उत्पादन, बाजार, व्यापार, जंगल, झाड़ी-औषधि, जड़ी-बूटी आदि सभी जगहों में आजमाया जा सकता है। यह चयन क्रिया सर्वाधिक रुचि मूलक विधि से होता देखने को मिलता है। फलतः आस्वादन का कार्यकलाप पाँचों ज्ञानेन्द्रिय प्रधान विधि से होना पाया जाता है। कर्मेन्द्रियों द्वारा चयन और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधेन्द्रियों द्वारा जीवन आस्वादन क्रिया करता हुआ देखने को मिलता है। इसको हम प्रत्येक स्थिति में परीक्षण कर सकते हैं। स्वयं को भी निरीक्षण परीक्षण की वस्तु के रूप में इस्तेमाल कर सकते हैं और दूसरों को भी उपयोग कर सकते हैं।

(B) तुलन और विश्लेषण

तुलन में मानव प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभात्मक तुलन को हर स्थिति में भ्रमित व्यक्ति करता है। प्रिय-अप्रियता का संपूर्ण तुलन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ ही सर्वाधिक हो पाता है। स्वयं के साथ भी, दूसरों के साथ भी यही देखने को मिलता है। हिताहित संबंधी तुलन शरीर स्वास्थ्य केन्द्रित विधि से होना पाया जाता है। स्वास्थ्य के लिए उचित अनुचित के आधार पर हिताहित का निर्णय होना स्पष्ट है। जहाँ तक लाभालाभात्मक तुलन का कार्य रूप है कम देना, ज्यादा लेना की इच्छा, विचार, आशा से संबद्ध रहता है। इसी क्रम में लाभोन्माद तक लाभोन्मादी व्यापारवाद को मानव परंपरा ने अपनाया है।

ऊपर कही गई तीनों दृष्टियाँ (तुलन) बिना सही समझदारी के भी अधिकांश व्यक्तियों में क्रियाशील रहती हैं। ऐसी तीनों दृष्टियाँ जीवों में भी किसी अंश में क्रियाशील होना, देखने को मिलती हैं।

- प्रियाप्रिय: विषय सापेक्ष
- हिताहित: शरीर सापेक्ष
- लाभालाभ: वस्तु व सेवा सापेक्ष
- न्यायान्याय: व्यवहार सापेक्ष
- धर्माधर्म: समाधान सापेक्ष तथा
- सत्यासत्य: अस्तित्व सापेक्ष पद्धति से स्पष्ट होता है।(व्य.द. 1978, 28)

मौलिक रूप में जागृत मानव में कार्य करने वाली क्रियाशील दृष्टियाँ है, वे दृष्टियाँ है न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म और सत्य-असत्य। मानव परंपरा में सहज रूप में जागृति और इनकी निरंतरता ही जागृति का मतलब है। संबंधों को पहचानना, मूल्यों को निर्वाह करना तथा मूल्यांकन क्रिया व उभय तृप्ति का होना अपने रूप में न्याय है। इस क्रम में न्याय सबके लिए वांछित रहते हुए परंपरागत विधि से सर्व सुलभ होने की स्थिति तथा प्रमाण, किसी परंपरा में देखने को नहीं मिलता है क्योंकि न्याय संहिता व न्यायालयों में फैसला करते हैं, न्याय नहीं। यह स्वाभाविक रूप में मानववादी चिंतन क्रम में दृष्टिगोचर होता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, अंतर्राष्ट्र जैसे परिप्रेक्ष्यों में सामरस्यता आवश्यक हुई। मानव में पाई जाने वाली प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ, न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य रूपी दृष्टिकोणों में सामरस्यता आवश्यक हुई। परिवार, समाज, राज्य, व्यवस्था प्रमाणिकता सहज निश्चित दिशा में सामरस्यता के प्रति परिशीलन करना, पुनर्विचार करना, संतुलित ध्रुवीकृत विधि से निष्कर्षों को पाना आवश्यक हुआ। इसी आधार पर कल्पना, तर्क, विज्ञान, विवेक, अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था रूपी प्रयोजन के अर्थ में समाधानात्मक भौतिकवाद प्रस्तुत हुआ।

मानव जीवन सहज न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्यात्मक तुलन पूर्वक न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि से कार्य करने के क्रम में मानवीय आचरण, अखण्ड न्याय सहज वैभव मानव कुल में सार्थक होगा। सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी, धर्म सहज वैभव, सर्वतोमुखी समाधान सहज विधि से सार्थक होगा। जागृति, प्रमाणिकता, स्वानुशासन सत्य सहज वैभव मानव में, से, के लिए सुलभ रहेगा ही। -भ.व. 88

(C) चिंतन और चित्रण

(मानव में) इच्छाएं अपने आप में रूचि मूलक, मूल्य मूलक व लक्ष्य मूलक प्रणाली से, स्वयं प्रकाशित प्रमाणित होती हैं। इच्छाएं, ईक्षण सहित छवि की महिमा के अर्थ में, मानव के क्रियाकलापों में सार्थक अथवा चरितार्थ होती हैं। - म.वि. 218

न्याय सहज वैभव का दृष्टा जीवन ही होता है। जीवनगत चित्त में ही न्याय साक्षात्कार होता है। यह जीवन में होने वाली छठवीं क्रिया चिंतन है। इसके पहले चयन और आस्वादन, विश्लेषण और तुलन क्रियाओं को, प्रत्येक भ्रमित मानव में इन्द्रिय सन्निकर्ष पूर्वक संपन्न होना स्पष्ट किया जा चुका है। चित्त में ही चिंतन और चित्रण कार्य संपन्न होता है। चिंतन में ही न्याय-धर्म-सत्य रूपी प्रयोजनों को अनुभव रूप में पहचाना जाता है। चिंतन विधि से न्याय के प्रयोजन को मनुष्य पहचानता है, जीवन पहचानता है। फलस्वरूप अखण्ड समाज की कल्पना और परिवार मानव की कल्पना सहज स्पष्ट होता है। फलस्वरूप व्यवहार में प्रमाणित होना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार चिंतन में प्रयोजनों का पहचान कल्पनाशीलता के संयोग से ही हो पाता है। चिंतन का तात्पर्य अनुभव सहज साक्षात्कार से है। साक्षात्कार का तात्पर्य जो जैसा है उसे वैसा ही जानने-मानने-पहचानने-निर्वाह करने से ही है। जो जैसा है उसे जानने-मानने-पहचानने-निर्वाह करने का प्रमाण स्वयं व्यवस्था में जीना और समग्र व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह करने के रूप में स्पष्ट होता है। - अ.श. 219

(D) बोध और संकल्प

जीवन सहज और दो क्रियाएँ बोध और संकल्प के रूप में पहचानी जाती हैं। यह बुद्धि में होने वाला वैभव है। बोध जो कुछ भी होता है न्याय, धर्म, सत्य का ही होता है। न्याय सहज बोध का प्रमाण परिवार मानव के रूप में ही देखने को मिल चुका है। धर्म बोध का तात्पर्य है - सार्वभौम व्यवस्था का बोध होता है। सर्वतोमुखी समाधान को प्रमाणित करने के लिए संकल्पित होना। कल्पनाशीलता = न्याय सहज रूप में संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह कार्य में पहली राहत, पहला सुख जिसकी निरंतरता की संभावना उदय हो चुकी रहती है। सर्वतोमुखी समाधान के रूप में संपूर्ण कल्पनाशीलता नित्य सुख के रूप में परिणित हो जाता है या जागृत हो जाता है। यही कल्पनाशीलता का तृप्ति बिंदु है।

सर्वतोमुखी समाधान पूर्वक ही व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण व्यवहार में मिल पाता है। यही सुख की निरंतरता की गवाही है। यह भी गवाही है कि व्यवस्था की ही निरंतरता होती है, अव्यवस्था का नहीं। अव्यवस्था का परिवर्तन भावी है क्योंकि अस्तित्व में विकास निश्चित है, इससे व्यवस्था निश्चित है। इसलिए अव्यवस्था का परिवर्तन भावी है, यही नियति

है। धर्म बोध सदा सुखद होता है। परम संतोष आनंद सहज प्रतीति बोध में बनी ही रहती है। इसकी सार्थक प्रक्रिया समाधान ही है जो बुद्धि में संकल्प के रूप में वर्तमान रहता है।

(E) अनुभव और प्रामाणिकता

पाँचवीं दो क्रियाएँ जीवन में अनुभव और प्रामाणिकता के रूप में संपन्न होती हैं। मानव संचेतना सहज तृप्ति, उसकी निरंतरता के रूप में अनुभव प्रमाणित होता है। मानव संचेतना जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने का कार्यकलाप है। इसका तृप्ति बिंदु समाधान है। इसका बोध ही धर्म है। जो परम संतोष और आनंद स्वरूप ऐसे जानने, मानने, पहचानने और निर्वाह करने का तृप्ति बिंदु ही अनुभव की वस्तु है। एक बार किसी एक मुहूर्त में अनुभव गम्य होने के उपरान्त अनुभव मूलक विधि से, जीवन व्यक्त होना पाया जाता है। इसके पहले अनुभव गामी विधि से अर्थात् अज्ञात को ज्ञात करने एवं अप्राप्त को प्राप्त करने के क्रम में जागृति होती है। इसी जागृति क्रम में कल्पनाशीलता कर्म-स्वतंत्रता प्रयोग होते ही रहता आया है। – भ.व. 139-143

3.3 जीवन में जागृतिक्रम: भ्रम, बंधन

(A) भ्रम = आशा-विचार-इच्छा बंधन

(*मानव ने) इंद्रिय सन्निकर्षों के आधार पर, शरीर को जीवन मानते हुए स्वीकार किया। रुचियाँ, इन्हीं इंद्रियों द्वारा, रुचि ग्राही होने के रूप में, भ्रमित मन मान लेने से भी, क्षणिक रूप में सुख भासना, देखा गया है। शरीर संवेदनाओं के आधार पर, सम्पूर्ण प्रकार की रुचियों को, भंगुरात्मक (क्षण-भंगुर) ही पाया गया। इनकी स्मृतियों में विवश होते हुए, मानव ने बारम्बार ऐसे प्रयासों में भ्रम में मग्न रहकर, इसे ही सुख का एक मात्र मार्ग है- ऐसा मानते हुए अधिकांश लोगों ने चलकर देख लिया। निष्कर्ष यही निकला कि ऐसी प्रवृत्तियों के आधार पर कोई :-

- (1) व्यवस्था सूत्र से सूत्रित नहीं हुआ।
- (2) सार्वभौम समाज न्याय को पहचानना संभव नहीं हुआ।
- (3) सर्व - समृद्धि का कोई मार्ग, प्रशस्त नहीं हो पाया।

इस प्रकार मानव की अभीप्साएं अभी भी प्रतीक्षा में ही हैं।

भ्रम का कार्य रूप अतिव्याप्ति, अनाव्याप्ति, अव्याप्ति दोष ही है। यही अधिमूल्यन, अवमूल्यन, निर्मूल्यन क्रियाओं के रूप में देखने को मिलता है। इसका मूल रूप बन्धन है।

बन्धन स्वयं में जागृति क्रम है।

उसके पहले जीवनी क्रम है। जीवनी क्रम में जीवों में पाया जाता है। जीवावस्था में भी जीवन रहता है। मूलतः जीवन ही है। जीवन अपने में गठनपूर्ण परमाणु चैतन्य इकाई है। जीवन परमाणु भार और अणुबन्धन से मुक्त रहता है और आशा बन्धन से कार्यप्रणाली आरंभ होता है। जीवन में आशा, विचार, इच्छा, ऋतुम्भरा और अनुभव प्रमाण जैसी शक्तियाँ और मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा रूपी बल अविरत रूप में विद्यमान रहता है। बल और शक्ति अविभाज्य रूप में रहते हैं। यह प्रकृति सहज प्रत्येक इकाई में प्रकाशित महिमा है। गठनपूर्ण परमाणु ही जीवन के रूप

में कार्य करता हुआ समझ में आता है। गठनपूर्ण होने के पहले सभी परमाणु भौतिक-रासायनिक कार्यकलापों में भागीदारी निर्वाह करने में, देखने में आता है। रासायनिक और भौतिक संसार में जो कुछ दिखाई पड़ता है वह सब अनेक परमाणु से अणु, अनेक अणु से रचनाएँ वर्तमानित है।

भौतिक संसार के रूप में पदार्थावस्था, और प्राणावस्था के रूप में वनस्पति संसार एवं सभी जीव शरीर तथा मानव शरीर रचना अर्थात् रासायनिक संसार होना दिखाई पड़ता है। यहाँ संसार का तात्पर्य सार रूप में अर्थात् प्रयोजन रूप में रचनाओं को प्रस्तुत करना ही है। इसका प्रमाण भौतिक-रासायनिक संसार में प्रत्येक इकाईयाँ अपने-अपने 'त्व' सहित व्यवस्था के रूप में ही हैं। बीसवीं शताब्दी के दसवें दशक तक मानव अपने 'मानवत्व' सहित व्यवस्था होने में प्रतीक्षारत है। प्रतीक्षारत रहना भ्रम मुक्ति की ओर गति अथवा दिशा सहज अपेक्षा का द्योतक है। भ्रमित रहना बंधन की प्रगाढ़ता का द्योतक है। इन दोनों स्थिति में अमानवीयता ही प्रचलित रहते हुए, बंधन की पीड़ावश अथवा भ्रम सहज कुण्ठावश जागृति की प्रतीक्षा होना देखा जाता है। प्रगाढ़ रूप में भ्रमित व्यक्ति, समुदाय अथ से इति तक शरीर को जीवन मानने-मनाने के लिये कटिबद्ध रहता है। यही जीवन सहज अनुभव और जागृति का निर्मूल्यन बिन्दु है। जीवन के स्थान पर शरीर को ही जीवन मान लेना प्रगाढ़ भ्रम का गवाही है। इसी भ्रमवश ही मानव जितने भी भ्रमात्मक क्रियाकलापों को कर पाता है वह सब समस्या में ही परिणित हो जाते हैं। जैसे, विज्ञान संसार की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ दूर संचार के रूप में और दूसरा उत्पादन कार्यों में गति के रूप में यंत्रों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। यह अपने में उपलब्धियाँ होते हुए मानव में जागृति, अनुभव परंपरा न होने के कारण इनके उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजनशीलता के स्थान पर सुविधा-भोग-अतिभोग का साधन बनकर रह गया है।

आशा, विचार, इच्छा रूप में बन्धनों को देखा जाता है। जीवन में ही आशा, विचार, इच्छाएँ क्रियाशील रहती हैं। आशा-पूर्ति, विचार-पूर्ति एवं इच्छापूर्ति ही बन्धन का स्वरूप है। भ्रमवश सम्पूर्ण आशा, विचार, इच्छाओं को शरीर-कार्य, शरीर सुविधा, शरीर भोगों के आपूर्ति के लिये दौड़ा लिया। मानव में कर्म स्वतंत्रतावश वैज्ञानिक उपलब्धियों के रूप में यांत्रिकता प्रमाणित हो गई। इन यंत्रों को सदुपयोग करने के स्थान पर अपव्यय करना मानव परंपरा में बाध्यता के रूप में देखा गया, आवश्यकता माना गया है। इसी के परिणामस्वरूप धरती का स्वस्थ मुद्रा अस्वस्थ मुद्रा के रूप में परिणित हो गया। साथ ही जितने भी जीवन अनुभवमूलक विधि से जागृति होने के लिए उम्मीदें लेकर मानव परंपरा में मानव शरीर को संचालित करने के लिये तत्पर रहते हैं उन सबका जीवन आशा अथवा जीवन अपेक्षा ध्वस्त हो जाता है। इसके मूल में भ्रमित मानव परंपरा ही कारक तत्व है। इस प्रकार से भटकता हुआ जीवन संतुष्टि स्वाभाविक रूप में भोग मानसिकता को न्याय मानसिकता में, संग्रह मानसिकता को समृद्धि मानसिकता में, संघर्ष मानसिकता को समाधान मानसिकता में, द्रोह मानसिकता को पूरक मानसिकता में, विद्रोह मानसिकता को धीरता रूपी मानसिकता में, शोषण मानसिकता को विनियम मानसिकता में, युद्ध मानसिकता को सह-अस्तित्व मानसिकता में, शासन मानसिकता को सार्वभौम व्यवस्था मानसिकता में, समुदाय मानसिकता को अखण्ड समाज मानसिकता में प्रयोजित होना अनुभव मूलक विधि से सहज संभावना है। यह निरंतर समीचीन है। यही "अनुभवात्मक अध्यात्मवाद" (आदर्शवाद) का तात्पर्य है। आदर्श किसका है, भ्रमित मानव का।

ऊपर कहे सम्पूर्ण परिवर्तन बिन्दुएँ सकारात्मक होने के कारण जीवन सहज रूप में स्वीकार है। यह सब नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म, सत्य से ही सूत्रित वैभव है। दृष्टा पद प्रतिष्ठा जीवन में ही निहित है न कि शरीर में। इस तथ्य को

पहले इंगित करा ही चुके हैं। इसलिये “अनुभवात्मक अध्यात्मवाद” परिचय विधि से ही आवश्यकता को उद्गमित करता है। - आ.व. 42-45

सर्वप्रथम भ्रम और बन्धन का कार्य रूप, परमाणु में अणु बंधन, भार बन्धन से मुक्ति के अनन्तर; भ्रम ही आशा बन्धन रूप में व्यक्त होना जीव संसार में प्रमाणित होता है। चैतन्य पद में प्रतिष्ठित होने पर आशा, विचार का क्रियाशीलता, कम से कम आशा की क्रियाशीलता होना पाया जाता है। इसका प्रमाण रूप जीवन स्वयं अपने कार्य गतिपथ को अपने ही आशानुरूप स्थापित कर लेता है। आशा का मूल सूत्र जीने की आशा ही है। जीने की आशा जीवनगत मन सहज आस्वादानपेक्षा का प्रकाशन है। यही जीवावस्था में स्पष्ट है।

चैतन्य प्रकृति जब तक जीने की आशा से सीमित रहती है तब तक जीवनी क्रम के रूप में ही प्रिय, हित, लाभात्मक दृष्टियों का आंशिक प्रयोग करते हुए जीवनी क्रम (जीवावस्था) के परम्पराओं को बनाये रखने के रूप में साक्षित है। यही भ्रम का प्रथम चरण है। इस चरण में भ्रम की पीड़ा या बन्धन की पीड़ा प्रभावित प्रमाणित नहीं होती है। - आ.व. 128-129

आशा बन्धन के साक्ष्य में जीने की आशा विधि से सुखी होने के उद्देश्य से इन्द्रिय आस्वादन के लिए चार विषयों को लक्ष्य मान लेना बनता है। इसी के साथ जीवन शक्तियों को लगाने में तत्परता ही बन्धन के स्वरूप में होना देखा जाता है। इस स्थिति में किया जाने वाला भोग विधि भ्रम के रूप में गण्य होता है। आशा और विचार बन्धन के रूप में जब जीवन शक्तियाँ कार्यरत होते हैं तमाम तर्क और वाङ्मय व्यक्त होना आरंभ होता है। जो जिस वाङ्मयको प्रस्तुत करता है उसे सर्वाधिक सत्य मान लेता है। ऐसे ही भ्रमावस्था में दूसरे विधि से लिखे गये सभी वाङ्मय को अपना विरोधी मान लेता है। जो मूल व्यक्ति वाङ्मय स्थापित किया, जिसके प्रति लोगों की आस्था हो गई यही एक समुदाय और ऐसे अनेक समुदाय इस धरती पर होना देखा गया है। ऐसी परम्पराएँ किताब को प्रमाण माना। ऐसी अनेक आदर्श किताबें स्थापित हुई।

उस-उस परंपरा में उन-उन किताबों का अनुमोदन, समर्थन करने वाले व्यक्ति आदर्श, शिष्ट व्यक्ति के रूप में मानने के लिए लोक मानस तत्पर रही है। इस दशक में भी इस प्रकार की मान्यताओं पर आधारित शिष्टता और आदर्शता देखने को मिल रहा है। यह विविध प्रकार से समुदायगत आस्थाओं के रूप में प्रवाहित होते हुए अभी तक अन्तर्विरोध और परस्पर समुदायों का विरोध समाप्त नहीं हो पाया। ये सभी परम्पराएँ उपदेश व आश्वासनों के बलबूते पर सम्मानित होना देखा जाता है। यह आशा-विचार बन्धन का ही स्वरूप है क्योंकि इन सभी समुदायों में सम्मानित विविध वाङ्मय जो आज इस दशक में प्रस्तुत हैं, सर्वसम्मत समझदारी का निश्चयन नहीं कर पाते हैं। इसका कारण मानव का अध्ययन स्पष्ट नहीं हो पाया, अस्तित्व सहज सत्य सह-अस्तित्व के रूप में स्पष्ट नहीं हो पाया। - आ.व. 140-142

आशा बंधन (* से आवेश)

भ्रान्त अवस्था में प्रधानतः छः प्रकार के संवेगों को पाया जाता है, वे हैं 1. काम, 2. क्रोध, 3. मद, 4. मोह, 5. लोभ और 6. मत्सर।

विचार बंधन (*से हठ)

वृत्ति का बंधन विचार का बन्धन है, जो स्वविचार को श्रेष्ठ मानने से है तथा इससे अमानवीय विचार का प्रसव होता है क्योंकि मानव कल्पनाशील है।

इच्छा बन्धन (*से अभिमान)

चित्त का बन्धन इच्छा का बन्धन है, जो स्वयं द्वारा किए गए चित्रण को श्रेष्ठ (भ्रमवश चिन्तन) मानने से होता है। इससे अमानवीयता का पोषण तथा चिन्ता का जन्म होता है। भ्रमित मानव मान्यता पूर्वक चित्रण क्रिया से स्वयं को श्रेष्ठ मानने से इच्छा बन्धन होता है। यही अभिमान है। - व्य.द. 67

आशा, विचार, इच्छा बन्धन को जागृति क्रम में व्यक्त होना अति आवश्यक रहा है क्योंकि इनके परिणाम में पीड़ाओं का आंकलन होना आवश्यक रहा है। इच्छा बन्धन की अभिव्यक्ति इच्छा पूर्ति के लिये धरती का शोषण, वन का शोषण, मानव का शोषण के रूप में देखने को मिलता है। यही वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकी तंत्र का चमत्कार रहा। सभी सामुदायिक शासन अपने विवशता सहित अपने सामरिक सामर्थ्य को बुलंद करने के लिये देशवासियों को एकता अखण्डता का नारा सहित किये जाने वाले सत्ता संघर्ष भी इच्छा बंधन क्रम में एक बुलंद प्रयास और आवाज सहित प्राप्तियाँ होना देखा जाता है। इसी क्रम में यह भी देखा गया विरक्ति, असंग्रहता का दुहाई देने वाले सभी धर्मगद्दी इच्छा बन्धन के तहत अनेक सुविधाओं को इक्का करता हुआ शोषणपूर्वक अथवा परिश्रम के बलबूते पर विविध प्रकार से अपने-अपने वैभव को (इच्छा बन्धन रूपी वैभवों को) व्यक्त करता हुआ देखा गया है। इसमें जो असफल रहते हैं वे सब कुण्ठित और चिन्तित रहता हुआ देखने को मिलता है।

इसी प्रकार शिक्षा गद्दी भी इच्छा बन्धन के अनुरूप ही शैक्षणिक कार्य, वाङ्मयअभीप्साओं को स्थापित करने के कार्य में व्यस्त रहता हुआ देखने को मिला। इस दशक तक स्थापित, संचालित तथा कार्यरत शिक्षण संस्थाओं में कार्यरत व्यक्ति, प्राध्यापक, आचार्य वेतनभोगी होते हुए देखा जाता है। यह इच्छा बंधन का ही प्रमाण है और हर विद्यार्थी को नौकरी (वेतनभोगी) अथवा व्यापारी (शोषणकर्ता) के रूप में स्थापित करता है और इन दोनों क्रियाकलाप का लक्ष्य सुविधा, संग्रह, भोग ही है। यह इच्छा बन्धन का इस दसवीं दशक तक मानव परंपरा का समीक्षा है। - आ.व. 177

प्रत्येक मानव में ये तीनों प्रकार के बन्धन (आशा, विचार, इच्छा) सहित कार्य करता हुआ कल्पनाशीलताओं, उसके क्रियान्वयन क्रम में कर्म स्वतंत्रता का नियोजन दृष्टव्य है। यह भय और प्रलोभन, संग्रह और द्वेष से ग्रसित होना सुदूर विगत से इस वर्तमान बीसवीं शताब्दी की दसवें दशक तक स्पष्ट हो चुकी है। ऐसे बंधनवश ही व्यक्तिवादी अहमताओं और अहमताओं से अहमताओं का टकाराव विविध प्रकार से होते ही आई। यही मानव परंपरा में संघर्ष का स्रोत रहा है। इसका वर्तमान में साक्ष्य यही है शिक्षा जैसी परंपरा में लाभोन्मादी अर्थशास्त्र, भोगोन्मादी समाजशास्त्र, कामोन्मादी मनोविज्ञान शास्त्र, पठन-पाठन, साहित्य कलाओं में रुचि और विवशताएं है।) - आ.व. 32-37

‘भ्रम और बन्धन’ की पीड़ा की पराकाष्ठा किसी न किसी को होना आवश्यक था। यह नियतिक्रम में विधिवत घटित हो ही जाता है क्योंकि अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व में परम लक्ष्य स्थिति निश्चित और स्थिर है। क्योंकि अस्तित्व स्थिर है, जागृति निश्चित है। इसे प्रमाणित होने के लिये, करने के लिये सह-अस्तित्व सहज क्रिया, प्रक्रिया, प्रणाली, पद्धतियाँ अस्तित्व और जागृति के मध्य में सुस्पष्ट है। अस्तित्व का होना नित्य वर्तमान के रूप में दृष्टव्य है। सह-अस्तित्व में ही ज्ञानावस्था सहज मानव प्रकृति जड़-चैतन्य के संयुक्त रूप में परम्परा सहज विधि से जागृति सहज प्रमाण होना पाया जाता है।

जीवन में आशा बन्धन के उपरान्त विचार बन्धन, इच्छा बन्धन बलवती होते हुए मानव शरीर द्वारा कर्म स्वतंत्रता, कल्पनाशीलता, क्रियाशीलता, क्रियाकलाप क्रम उसके परिणाम में आंकलन होना, फलतः जागृतिक्रम परंपरा के रूप में मानव प्रतिष्ठा होना, इसी कर्म स्वतंत्रता-कल्पनाशीलता और जागृतिक्रम प्रणालीवश (क्योंकि यह नियति क्रम है) अव्यवस्था का भास-आभास में पीड़ा होना स्व-भाविक रहा। इसी आधार पर जागृत होने की आवश्यकता, सार्वभौम व्यवस्था का शरण स्वीकृत होना देखा गया। यही समग्रता के साथ मानव और समग्र व्यवस्था के अंगभूत रूप में सर्वमानव समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व सम्पन्न होने की सहज विधि समीचीन है। समग्रता के साथ मानव का निरीक्षण, परीक्षण के फलन में यह तथ्य अनुभव संगत विधि से देखने को मिला। - आ.व. 177

अब बंधन से मुक्ति क्रम में समझदारी व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी होना सहज समीचीन है इसलिए आवर्तनशील विधि को जागृतपूर्वक पहचानना संभव हुआ। - आ.व. 32-37

मानव परंपरा जागृति क्रम में इस शताब्दी के अंतिम दशक तक जूझता ही रहा है। अब जागृत परंपरा के रूप में प्रमाणित होने का सहज समीचीनता देखने को मिल रहा है क्योंकि अनुभवमूलक संप्रेषणा सुलभ हो गया है। इसी के प्रमाण में यह ग्रंथ सूचना के रूप में प्रस्तुत है। प्रमाण का स्रोत हर जागृत मानव ही है।

(B) भ्रमित मानव कार्यकलाप

यह स्पष्ट हो गया कि बन्धन किसको, क्यों, कैसे होता है? बन्धन में होता कैसा है? भ्रम बन्धन का पीड़ा किस विधि से बलवती होती है। कौन-कैसे भ्रम-बन्धन से मुक्त होता है? इसमें मुख्य बिन्दु जीवन ही जागृतिपूर्वक भ्रम-बन्धन से मुक्त होता है, यह स्पष्ट हो चुका है।

जीवन सहज दस क्रिया क्रियाओं में जिसका विशद विस्तार स्वरूप 122 आचरणों के रूप में तालिका में स्पष्ट किया जा चुका है। उक्त तालिका के अनुसार जागृत आचरणों के विधिवत अध्ययन के लिए “मानव संचेतनाविज्ञान” के नाम से शास्त्र प्रस्तुत हो चुकी है। यहाँ जीवन के दस क्रिया सहज कार्य विधि से और ये परस्पर प्रेरित, संयोजित कार्य विधि में जागृति का स्वरूप क्रम और बन्धन मुक्ति क्रम को जैसा देखा गया है वैसा ही प्रस्तुत किया गया है।

जीवन में मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा पाँच अक्षय बल तथा आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा और प्रामाणिकता रूपी पाँच अक्षय शक्तियाँ प्रमाणित होने के लिए तत्पर है। जिनमें से आशा, विचार, इच्छा रूपी शक्तियाँ शरीर को जीवन मानते हुए शरीर को ही सुख का स्रोत मानते हुए, बैटवारा को व्यवस्था का आधार मानते हुए और वस्तुओं को ज्यादा से ज्यादा संग्रह करना सुख का साधन मानना यही सब प्रधानतः भ्रम रूपी कार्य कलाप का स्वरूप बतायी रहती है। इस क्रम में प्रधानतः शरीर के आयु के अनुसार प्रलोभन विधि से उत्साहित करना-होना, पराभावित होना देखा गया है।

शरीर को जीवन मानने के आधार पर शरीरोपयोगी यथा शरीर के लिए प्रिय, हितकारी वस्तुओं को चयन करने जाते हैं तब लाभपेक्षा होता ही है। इस विधि से जब प्रिय, हित, लाभकारी वस्तुओं को मानव चयन करता है, यह कार्य चित्रण तक सम्पादित होता है।

चयन के अनुरूप आस्वादन क्योंकि शरीर को ही जीवन मानने के आधार पर आस्वादन के अनुसार विश्लेषण, विश्लेषण के अनुसार शरीर सीमावर्ती और शरीरोपयोगी वस्तुओं के सम्बंध में विश्लेषण और उसी का चित्रण सम्पादित होना पाया गया। प्रिय, हित, लाभ सीमावर्ती तुलन, चिन्तन का वस्तु नहीं बनती क्योंकि ये सब रुचिमूलक होने के आधार पर पुनः यह सब आस्वादन या भोगमूलक ही होती है। सम्पूर्ण भोग विधि भी आस्वादन के अर्थ में समीचीन है। सभी आस्वादन पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में सभी आस्वादन पंच ज्ञानेन्द्रियों-पंच कर्मेन्द्रियों में, से, के लिए होता है। इसी को मानव जाति का सम्पूर्ण कार्यक्रम स्वीकारना ही भ्रम का द्योतक है। इस सीमा के मानव सर्वशुभ रूपी दिशा से विमुख रहता ही है। फलस्वरूप अनगिनत प्रताड़नों से क्लेशित होना; दुःख, शोकादि पीड़ाओं से पीड़ित होने के रूप में देखा गया है। यह सब भ्रम को ही सत्य मानने का फलन रहा। यथा मृगतृष्णा-मरीचीकावत् अथवा रज्जू-सर्पवत् पराभव का सूत्र बनता है। इसी क्रम में जीवन को जीवन और शरीर को शरीर समझना अति अनिवार्य है। हर मानव को यथार्थता, वास्तविकता, सत्यता को यथावत् समझना अति अनिवार्य है। इसमें तीन ही मुद्दा प्रधान रूप में आते हैं - अस्तित्व, जीवन और मानवीयतापूर्ण आचरण। यही मानव में, से, के लिए मौलिक आचरण के रूप में पहचाना गया।

भ्रमित मानव का सामाजिक होने का प्रश्न ही नहीं होता। अमानव ही पशुमानव और राक्षस मानव के रूप में व्याख्यायित होते हैं। राक्षस मानव क्रूरता प्रधान होते हैं और पशु मानव दीनता प्रधान रहते हैं, ये दोनों अमानवीय कोटि में आते हैं। इसीलिए अमानवीय परंपरा में अपराधों का पनपना होता ही है। - भ.व. 139

आशा बन्धन से 'जीवनी क्रम' परंपरा को आरंभ किया हुआ जीवन, आशा से विचार, विचार से इच्छा बन्धन तक भ्रमित विधि से मानव कार्यकलापों को प्रस्तुत करता है। इच्छाएँ चित्रण कार्य को, विचार विश्लेषण कार्य को और आशा चयन क्रिया को सम्पादित करता हुआ मानव परंपरा में आस्था, प्रलोभन और भय में जीता रहता है। प्रिय, हित, लाभ संबंधी संग्रह-सुविधा-भोग द्वारा प्रलोभन के अर्थ को; युद्ध, शोषण, द्रोह-विद्रोह-संघर्ष ये सब भय को और भक्ति-विरक्ति पूर्वक आस्था त्याग-वैराग्य को मानव ने प्रकाशित किया है। यह परंपरा सहज विधि से ही होना पाया जाता है। परंपरा में इसी के लिये शिक्षा-संस्कार, उपदेश, शासन-पद्धति, संविधान भी स्थापित रही है। इसी क्रम में सामान्य आकांक्षा और महत्वाकांक्षा संबंधी और सामरिक सामग्रियों के रूप में अनेकानेक चित्रण कार्य सम्पन्न

हुआ। ऐसे कुछ यंत्र संचार के लिये मार्ग और सेतु का चित्रण हुआ। इसी से सम्बन्धित अनेकानेक वस्तु, सामग्री, यंत्रों का चित्रण मानव ने किया है।

जीवनी क्रम जीवों में वंशानुषंगीय स्वीकृति के रूप में देखने को मिलता है। यही आशा बन्धन का कार्यकलाप है। वंशानुषंगीय कार्य में उस-उस वंश का कार्यकलाप निश्चित रहता है। तभी जीवावस्था व्यवस्था के रूप में गण्य हो पाता है। ऐसे जीव शरीर जो वंशानुषंगीय निश्चित आचरण को प्रस्तुत करते हैं उनमें समृद्ध मेधस का होना पाया जाता है। ऐसी वंशानुषंगीय रचना क्रम में मानव शरीर भी स्थापित है। इसकी परंपरा भी देखने को मिलती है। उल्लेखनीय मुद्दा यही है, मानव परंपरा में निश्चित आचरण स्पष्ट नहीं हो पाया। इसका कारण मानव ने तीनों प्रकार के बंधन वश जीवों के सदृश्य जीने का प्रयत्न किया। जबकि मानव अपने मौलिक विधि से ही जीने की प्रेरणा बना रहा। इसी क्रम में आचरणों की विविधता, विचारों की विविधता, इच्छाओं की विविधता, अनेकता का कारण बना। इसलिये केवल आशा, विचार, इच्छा से मानव में मानवीयता की स्थापना नहीं हो सकी। अथक प्रयास अवश्य किया गया। 'जीवन' के और आयामों का प्रयुक्ति मानव परंपरा में अवश्यंभावी होने के आधार पर ही अनुभवमूलक विधि का स्थापित होना अनिवार्यतम स्थिति बन चुकी है। – आ.व. 73-76

अस्तित्व में परमाणु का विकास और जागृति सहज अध्ययन क्रम में गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता, आचरणपूर्णता और इसकी निरंतरता को देखा गया है। देखने का तात्पर्य समझने से ही है। परमाणु का वैभव को, अस्तित्व में व्यवस्था की मूल इकाई के रूप में इनके कार्यकलापों को देखा गया है। यह जड़-चैतन्य प्रकृति के संबंध में स्पष्टतया समीकरण होता है। परमाणु अंशों से ही परमाणु रचित रहना पाया जाता है। हर अवस्था में आवेश अव्यवस्था का द्योतक है जैसे मानव में पायी जाने वाली छैः प्रकार के आवेश अव्यवस्था का द्योतक होना देखा गया है। मानव में घटित होने वाले आवेशों को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य के रूप में गणना किया गया है। यह मानव कुल में चर्चित, विश्लेषित, निष्कर्षित विवशता है। प्रत्येक आवेश विवशता के रूप में मानव सहज मानस विधि से मूल्यांकित होता है। (*जबकी) मानव सहज मानसिकता मानवीयतापूर्ण विधि से कार्यरत रहना पाया जाता है।

षड विकार – ६ आवेश

आवेश ही मनुष्य के लिए दुःख का कारण है।

- काम:- प्रजनन या यौन संवेदना क्रिया में सुख पाने की प्रवृत्ति की काम संज्ञा है।
- क्रोध:- स्वयम् की अक्षमता का प्रदर्शन ही 'क्रोध' है।
- मद:- असत्यता के प्रति मान्यता की पराकाष्ठा ही 'मद' है।
- मोह:- मुग्ध हो जाना ही 'मोह' है। मोह से तात्पर्य है, दूसरों के प्रभाव में स्वयम् का खो जाना।
- लोभ:- पात्रता से अधिक विशेष विभूति के प्रति उत्कट वांछा एवम् प्रयास ही 'लोभ' है।
- मत्सर:- दूसरे के हास एवम् पतन हेतु उत्कट कामना 'मत्सर' है।

मन में आवेश, वृत्ति में हठ, चित्त में भ्रम तथा बुद्धि में अहंकार ही आवर्तन-क्रिया है, और मन में मित्र-आशा, वृत्ति में विचार, चित्त में इच्छा और बुद्धि में संकल्प ही प्रत्यावर्तन-क्रिया है। आवेश के मूल में हठ, हठ के मूल में अभिमान और अभिमान के मूल में अहंकार है

- आवेशः अतिक्रमण या आक्रमण से प्राप्त दबाव ही आवेश है
- हठः अपने विचार या व्यवहार से पूर्णतः प्रभावित हो जाना हठ है।
- अभिमानः आरोपित मानदण्ड, यही अधिमूल्यन, अवमूल्यन, निर्मूल्यन दोष है। भ्रमित (आरोपित) चित्रण की अभिमान संज्ञा है। भ्रमित मानव मान्यता पूर्वक चित्रण क्रिया से स्वयं को श्रेष्ठ मानने से इच्छा बन्धन होता है। स्व-बल, बुद्धि, रूप, पद व धन को श्रेष्ठ तथा अन्य को नेष्ट मानने वाली प्रवृत्ति की अभिमान संज्ञा है। आरोपित मान ही अभिमान है।
- अहंकारः आत्मबोध रहित बुद्धि की अहंकार संज्ञा है। जिस प्रकार असत्य का अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार अहंकार का भी अस्तित्व नहीं है।

विषमतापूर्ण विचार ही क्षोभ है। क्षोभ का तात्पर्य दूसरों के प्रभाव से क्षुब्ध हो जाना ही है, अथवा अपने व्यवहार से दूसरों को क्षुब्ध करना ही है। - व्य.द. (1978) अध्याय १४, १७, व्य.द. 2011

- बुद्धि (अहंकार) क्षुब्ध मनुष्य अपने ज्ञान को श्रेष्ठ,
- चित्त-क्षुब्ध मनुष्य अपने तर्क को श्रेष्ठ,
- वृत्ति-क्षुब्ध मनुष्य अपने कार्य को श्रेष्ठ समझता है।

फलस्वरूप ही वादविवाद उत्पन्न होता है।

किसी व्यक्ति, परिवार, समुदाय को अथवा संपूर्ण समुदायों को विवशतायें स्वीकृत नहीं हो पाती हैं। यही मुख्य बिन्दु है जिस पर विचार करना आवश्यक है। विवशताओं से मुक्ति हर एक मानव में आवश्यकता के रूप में होना पाया जाता है, ऐसे विवशता का मूल रूप ही बंधन है। ऐसे बंधनों के स्वरूप को आशा, विचार, इच्छा बंधनों के रूप में देखा गया है। यह जीवनगत क्रिया रूपी आशा, विचार, इच्छायें भ्रमित रहने पर्यन्त बंधन का, बंधन पर्यन्त आवेशों का, सम्पूर्ण आवेश पर्यन्त विवशताओं का होना आंकलित होता है। इसे प्रत्येक व्यक्ति निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण पूर्वक समझ सकता है।

मानव जीवन के अध्ययन क्रम में यह पाया गया है, जीवन ही भ्रम अथवा अजागृतिवश किये जाने वाली क्रियाकलाप भ्रम के रूप में बंधन को और जागृति पूर्णतापूर्वक बंधन से मुक्ति को अनुभव करना एक सहज क्रिया है। इस प्रकार जीवन जागृति ही बंधन मुक्ति का स्वरूप होना, कार्य होना, व्यवहार होना, व्यवस्था और आचरण होना पाया गया है।

जागृति मूलक विधि से जागृतिगामी कार्यक्रम सफल होता है। जागृति मूलक अभिव्यक्ति संप्रेषणाओं को कोई न कोई एक मानव अपने अनुसंधान पूर्वक निश्चित चिंतन, अभ्यास, विचार, अनुभव प्रमाण के आधार पर ही इसका

अभिव्यक्ति, संप्रेषणा संभव होना पाया जाता है। जागृति सर्वमानवों में स्वीकृत तथ्य है जैसे प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य, व्यवहार विचारों को जागृतिपूर्वक ही सटीक मानने का प्रमाण वर्तमान होना पाया जाता है। - स.श. 29-31

मानव ही दृष्टापद प्रतिष्ठा के प्रमाणों को प्रमाणित करने योग्य इकाई है। क्योंकि मानव में ही न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि प्रमाणित होना पाया जाता है। दृष्टियाँ प्रिय, हित, लाभ रूप में भी भ्रान्तिपूर्वक कार्यशील होता है। भ्रमित होने का मूल कारण शरीर को जीवन समझना ही है। इसी भ्रमवश मानव को व्यक्ति और समुदाय के रूप में विचारों का फैलना देखा गया है। व्यक्तिवाद अहमता का द्योतक है। यही समुदाय विधा में युद्ध, द्रोह, विद्रोह, शोषण मानसिकता है। मानव संचेतनावादी मानसिकता में न्याय, धर्म, सत्य ही विचारों का आधार हो पाता है। इसीलिये समाधान, समृद्धि, वर्तमान में विश्वास (अभय) और सह-अस्तित्व में प्रामाणिकता के रूप में हर जागृत व्यक्ति स्वयं स्फूर्त विधि से संपन्न होता है। इससे पता लगता है हर मानव बहुआयामी होने के कारण जागृति पूर्वक ही सभी आयाम-कोणों में मानवत्व को प्रमाणित करना बना रहना यही समाज और समाजशास्त्र का प्रधान आशय है। - स.श. 253

अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन विधि से सह-अस्तित्व में ही विकासक्रम और विकास जागृति क्रम, जागृति के रूप में देखा गया है जिसे पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था, ज्ञानावस्था के रूप में होना स्पष्ट किया जा चुका है। इसी के साथ ज्ञानावस्था में भ्रमवश बन्धन और जागृतिवश मोक्ष होता है। जिसमें से बंधन को विस्तार से आशा बन्धन, विचार बन्धन और इच्छा बन्धन के रूप में विश्लेषित कर चुके हैं।

यह तीनों प्रकार का बन्धन शरीर को जीवन मान लेने से और इन्द्रिय सन्निकर्ष से ही सम्पूर्ण सुख का स्रोत मानने के परिणाम में भ्रम सिद्ध होना पाया गया। जबकि जीवन अपने जागृति को व्यक्त करने के लिये शरीर एक साधन है, इन्द्रिय सन्निकर्ष ही एक माध्यम है। मानव परंपरा ही जीवन जागृति प्रमाण का सूत्र और व्याख्या है। यही भ्रम और निभ्रम का, जागृति और अजागृति का निश्चित रेखाकरण सहज बिन्दु है। - आ.व. 157-158

(*इस ढंग से) अजागृत मानव मन का सहज कार्यकलाप, इन्द्रियों की तादात्म्यता वश, इन्द्रिय संवेदनाओं को सत्य समझने के आधार पर अथवा शरीर को जीवन मान लेने के आधार पर भ्रमित होना पाया जाता है। इसी के पक्ष में जीवन सहज, विचार और इच्छा संयुक्त होकर कल्पनाशीलता का प्रसव और कार्य होते ही रहता है। आलंबन के लिए प्रिय, हित, लाभात्मक दृष्टियाँ कार्यरत हो जाती हैं, फलस्वरूप इन्द्रिय तृप्ति के लिए दिवारात्रि सोचता हुआ, कल्पना करता हुआ, चित्रित करता हुआ, प्रयास करते हुए, प्रयोग करते हुए, मनुष्यों को पहचाना जा सकता है। इस प्रकार मान्यता का दो पक्ष स्थापित होता है, जिसमें से इन्द्रिय संवेदना सापेक्ष मनोविज्ञान प्रचलित हो चुका है। जिसके लोकव्यापीकरण होने के उपरान्त भी मानव परम्परा, बेहतरीन समाज की (अर्थात् व्यक्ति समुदाय मानसिकता के चुंगल से छूटकर, अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था सहज) मानसिक व्यवस्था बन नहीं पाई।

इसका मूल कारण, इन्द्रिय संवेदनाओं को सत्य मानना रहा अथवा अनिवार्य मानना रहा। जबकि जीवन-ज्ञान, अस्तित्व दर्शन, मानवीयता पूर्ण आचरण ध्रुवों के आधार पर, मानव संचेतनावादी मानसिकता (अथवा मनोविज्ञान) स्पष्ट हो जाता है क्योंकि मानव संचेतना का तात्पर्य ही है, जानने मानने, पहचानने, निर्वाह करने में तृप्ति और उसकी निरंतरता का नित्य वर्तमान होना। ऐसे वर्तमान होने का, मानव परम्परा में ही प्रमाणित होना, सहज है। - म.वि. 38-39

(*प्रिय का तात्पर्य) इंद्रियों के योग-संयोग वश स्वीकृत संकेत सापेक्ष प्रवृत्ति और मानसिकता होना पाया जाता है। इंद्रियों का कार्य-कलाप, जीवन अनुग्रह रूपी, जीवंतता पूर्वक संपादित होता है। सभी मनुष्य जीवन्त रहते ही इंद्रिय सन्निकर्षात्मक कार्य करते हैं। अर्थात् इंद्रिय गोचर होने वाले, सभी क्रिया-कलापों को विषय नाम दिया गया है। ऐसा विषय, विषयापेक्षा सहित, शरीर को ही जीवन मान लेने की स्थिति में, जीवन की महिमा सहज कार्य-कलापों, प्रयोजनों को पाना संभव नहीं हो पाया। इसी कारण मनुष्य चाहता कुछ है, करता कुछ है और होता कुछ है।

इंद्रिय जीवन्त रहने के फलस्वरूप ही सन्निकर्षात्मक क्रिया है (अर्थात् इंद्रियों का संयोग होने के उपरान्त, संयोग के अर्थ को साक्षात्कार करने की क्रिया से है)। ऐसे सन्निकर्ष में आए, वस्तुओं के योग-संयोग से सुख-दुख भासते हुए देखा जाता है। जिसमें सुख भासता भी है, उसकी निरंतरता को सन्निकर्षात्मक विधि से पाना संभव नहीं हुआ, प्रमाणित नहीं हुआ। इसी सत्यतावश इंद्रियों के आधार पर, किया गया नाप-तौल और निर्णय, वाङ्मय और कार्य-कलाप जो प्रस्तुत किया गया, वे सभी योजनाएं असामाजिक होना पाई गईं। इस प्रकार शरीर पर आधारित, जितनी भी अभिव्यक्तियां हुईं, उनसे सार्वभौम व्यवस्था, समाज न्याय, अखंड समाज, सर्वतोमुखी समाधान सहज परम्परा को पाना संभव नहीं हुआ। इसलिए बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक समुदाय चेतना ने, साथ ही अंतर विरोध और परस्पर समुदायों के बीच युद्ध और युद्ध की तैयारियों ने, मानव को विवश कर रखा। जबकि सबसे प्रिय सुख, सुन्दर, समाधान, समृद्धि इनमें समरस्यता का कार्य-कलाप भी, मानव परम्परा के लिए व्यावहारिक प्रवृत्ति का आधार है, यह मानव सहज अस्तित्व में पाया जाता है। – म.वि. 67

इंद्रियों का दृष्टा है जीवन ! (*अर्थात्) जीवन, भ्रमित होने के कारण इंद्रिय सन्निकर्षात्मक क्रिया कलाप में जीवन अपने द्रष्टा पद को जीने की आशा, आस्वादानापेक्षा के आधार पर सम्मोहन और आवेश पूर्वक इंद्रिय सन्निकर्ष में तद्रूप स्वीकार लेता है। तद्रूपता का तात्पर्य मैं स्वयं इंद्रिय हूँ। इस प्रकार की स्वीकृति में स्वयं स्वअस्तित्व भुलावा हो जाने से है। अस्तु, जीवन ही जीवन को जीवन से, जीवन के लिये बेहोशी में सुख पाने की स्वीकृति अर्थ में स्वयं की विस्मृति स्वीकृत होना पाया जाता है। परिणामस्वरूप जीवन भ्रमित रहना पाया जाता है। इस प्रकार जीवन आस्वादानापेक्षा और इंद्रिय सन्निकर्ष में सीमित हो जाता है। यही पशुवत जीने का आधार और प्रवृत्ति है। जबकि जागृति पूर्वक जीवन इंद्रिय सन्निकर्ष का दृष्टा होता ही है। न्याय, धर्म, सत्यपूर्वक इंद्रिय सन्निकर्षों को उपयोग सदुपयोग प्रयोजनशील विधि से प्रमाणित करने का कार्यक्रम स्वयं स्फूर्त विधि से होता ही है। – म.वि. 218-219

(C) 'बन्धन' एवं 'मुक्ति' सम्बंधित स्पष्टीकरण

मानव परंपरा में हर संतान अथवा हर मानव कल्पना सहज स्वीकृति के रूप में जागृति को वरना देखा गया है। हर मानव रूपी वस्तु, हर स्थिति, हर गति के प्रति जागृत होना चाहता है, हर सम्बंधों को पहचानना चाहता है जागृत होना चाहता है और इन सबके मूल में सुखी होना चाहता है। इस क्रम में इंद्रिय सन्निकर्ष विधि से सुखी होने के लिये तमाम विधियों को अपनाते हुए संग्रह सुविधा के चक्कर में आदमी फँस गया। संग्रह विहीन स्थिति में व्यक्ति अपने को निरीह अकेले पाता है। संग्रह के आधार पर ही भोग, अतिभोग का आस्वादन किया जाना मान लिया गया है। फलस्वरूप संग्रह का आवश्यकता और विस्तार उसके अनुकूल शोषण प्रवृत्ति, कार्य, तरीके तैयार होते गये। बंधन

के व्यवहार रूप को इसी स्वरूप में देखा गया है। हर कार्य और तरीके के मूल में मानसिकता (आशा, विचार, इच्छा) का होना सुस्पष्ट है। जीवन ही मानसिकता के रूप में कार्य करना स्पष्ट है।

१. वस्तु के रूप में कौन सी चीज है जो बन्धन में पड़ा रहता है ?

भ्रमित जीवन ही बन्धन के रूप में अपने को चार विषय पाँच संवेदनाओं को राजी करने के रूप में व्यक्त करता है। यही मानव परंपरा में मानसिकता का अर्थ है। जीवन में मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा अक्षय बलों के रूप में कार्यरत रहना और आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा और प्रमाण अक्षय शक्ति के रूप में कार्यरत रहना स्पष्ट हो चुकी है।

२. 'वस्तु' के रूप में कौन सी चीज है जो बाँधकर रखती है ?

उत्तर में यही मिलता है कि कोई वस्तु अस्तित्व में ऐसी नहीं है जो जीवन को बंधन में डालती हो। अस्तित्व स्वयं ही सह-अस्तित्व होने के कारण नित्य व्यवस्था सहज प्रेरणा सूत्र है। जीवन जागृति के अनन्तर व्यवस्था में जीने की संभावना हर मानव के लिए समीचीन है।

इससे स्पष्ट है जीवन लक्ष्य रूपी जागृति और जागृति पूर्णता के पहले जो स्थिति-गतियाँ आशा, विचार और इच्छा-प्रिय, हित, लाभ, भय, प्रलोभन और आस्था और इनके संयोग योग से जितने भी क्रियाकलाप होते हैं ये भ्रम रूप होना देखा गया है। यही बन्धन है।

३. वस्तु के रूप में कौन सी चीज है जो मुक्ति दिला दे ?

जीवन जागृति पूर्वक स्वयं में, स्वयं से, स्वयं के लिये भ्रम-मुक्ति पा लेता है। जीवन अस्तित्व सहज वस्तु होना सुस्पष्ट है क्योंकि मूल में सम्पूर्ण परमाणु वस्तु है जीवन भी एक गठनपूर्ण परमाणु होना स्पष्ट है। मुक्ति दिला सकने वाला जीवन से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। 'जीवन' के लिए प्रेरक वस्तु सह-अस्तित्व में स्वयं जागृत जीवन ही है क्योंकि सह-अस्तित्व स्थिर है, जागृति निश्चित है। ?.

४. 'वस्तु' के रूप में ऊपर कहे गये तीनों कहाँ है ?

अस्तित्व में ही जीवन है। जीवन अपने लक्ष्य रूपी जागृति को प्रमाणित करने के पहले भ्रमित रहता है। जैसे सही करने के पहले गलती करता है। परम जागृति जीवन का लक्ष्य है और परम जागृति अस्तित्व में अनुभव सहज प्रमाण ही है। इस प्रकार जीवन जागृति क्रम में भ्रम बन्धन को व्यक्त करता है, पीड़ित होता है, फलस्वरूप जागृत होने की आवश्यकता बनती है। इस प्रकार अस्तित्व नित्य वर्तमान, अस्तित्व में जीवनी क्रम, जीवन जागृति क्रम, जागृति और जागृति पूर्णता अस्तित्व सहज जीवन में, से, के लिए सम्पूर्ण प्रमाण सहज क्रियाकलाप है।

५. क्यों ऐसे बन्धन कृत्य को करता है ?

जीवन जागृति क्रम सहज विधि से भ्रम बन्धन का पीड़ा अपने आप स्पष्ट होता है। इसे जीवन ही स्वीकारता है। भ्रमात्मक कार्यकलाप जीवन में से साढे चार क्रिया के रूप में ही निष्पन्न होती है। जीवन में जागृति दस क्रिया के रूप में होना एक आवश्यक मंजिल होना, उसकी निरन्तरता प्रमाण रूप में स्वाभाविक होना देखा गया। भ्रमबन्धन पूर्वक मानव परंपरा अनेक समुदायों में है, जागृति और जागृति पूर्णता उसकी निरन्तरता सहज वैभव के रूप में अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था वैभवित होती है। इस प्रकार अस्तित्व में भ्रम बन्धन को व्यक्त करने का वस्तु जीवन है। भ्रम को स्वीकारने वाला वस्तु जीवन ही है और भ्रम बन्धन से पीड़ित होने वाला वस्तु जीवन ही है एवं जागृत होने वाले वस्तु जीवन ही है। उसकी जागृति की निरन्तरता को व्यक्त करने वाला भी जीवन ही है। जीवन सह-अस्तित्व में अविभाज्य है। जागृति क्रम में भ्रम बंधन रूप में, जागृति भ्रम-मुक्ति है।

६. जो बन्धन था, मुक्ति पाने के बाद उसका प्रयोजन क्या है?

जीवन जागृति और जागृति पूर्णता के अनन्तर उसकी निरन्तरता का परंपरा के रूप में होना नियति क्रम व्यवस्था है। इस सत्यता के आधार पर जागृति पूर्णता विधि से मानव परंपरा वैभवित होना ही इसका प्रयोजन है। जीवन नित्य होने के कारण जागृति भी नित्य होना स्वाभाविक है। इन क्रम में बन्धन, भ्रम, समस्या से ग्रसित बुद्धिजीवी बनाम शब्दजीवी में यह तर्क उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि जागृति क्रम की भी निरन्तरता होना चाहिए। इसके लिए जागृति पूर्ण प्रणाली से उत्तर यही है कि जागृति क्रम विधि से जीवन अथवा भ्रम बन्धन विधि से जीवन शैशवकाल से शरीर संचालन करता हुआ मानव संतान जागृत होने का अभिलाषा सहित व्यक्त होने के आधार पर अथवा प्रकाशित होने के आधार पर जागृति क्रम और जागृति पूर्ण परंपरा स्वाभाविक रूप में सहज विधि से ही जागृति प्रतिष्ठा स्थापित करना सहज है। क्योंकि जागृत परंपरा में स्वायत्त मानव के लिए अति आवश्यकीय शिक्षा-संस्कार सहज रूप में उपलब्ध रहता ही है। अतएव भ्रमबन्धन का निरन्तरता केवल जीवावस्था में ही प्रमाणित होता है। मानवीयतापूर्ण मानव परंपरा में, से, के लिए भ्रमबन्धन की आवश्यकता सर्वथा निरर्थक, अनावश्यक होना पाया गया है। - आ.व. (2000) 90-91

अनुभवमूलक विधि से ही जीवन सहज सभी कार्यकलाप जैसे अनुभव और प्रामाणिकता के अनुरूप बोध और संकल्प, अनुभवमूलक विधि से प्राप्त बोध और संकल्प के अनुरूप चिंतन और चित्रण, ऐसे चिन्तन और चित्रण के अनुरूप तुलन और विश्लेषण तथा आस्वादन चयन है। यही अनुभव समुच्चय का तात्पर्य है। अनुभवमूलक विधि से शरीर संचालन विधि स्वयं 'त्व' सहित व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी को प्रमाणित कर देता है। हर मानव व्यवस्था चाहता ही है। ऐसी व्यवस्था के लिये परंपरा स्वयं अनुभव मूलक विधि से जागृति सहज प्रमाण होना परमावश्यक है। इस क्रम में जीवन तथा शरीर का संयुक्त रूप में ही जीवन्त मानव के रूप में हर मानव प्रमाणित/मूल्यांकित होता है। शरीर में जीवन्तता अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का क्रियाकलाप पूर्णतया जीवन का ही वैभव होना देखा गया, जीवन ही अस्तित्व में अनुभूत होना देखा गया है। अनुभवमूलक क्रम में जागृत जीवन क्रियाकलाप स्वाभाविक होना समझा गया। - आ.व. 42-45

भ्रम बंधन से मुक्त होना मोक्ष है यही जागृति सहज प्रमाण है। - आ.व. 75

3.4 जीवन जागृति

(A) जीवन ज्ञान के और संकेत

एक से अधिक परमाणु, अणु, अणु रचित पिण्ड और परमाणु ही स्वयं गठनपूर्णता सहित जीवन पद में संक्रमित होने, अमरत्व अर्थात् परिणाम विहिन स्थिति गति सहित सम्पन्न होने का साक्ष्य, आशा, विचार, इच्छा, संकल्प, प्रमाण के रूप में दृष्टव्य है। आशा और आंशिक विचारों के रूप में जीवों में दृष्टव्य है। पक्षी अपने घोंसले में, जानवर अपने-अपने स्थान पर लौट जाते हैं यह आंशिक विचार होने को प्रमाणित करते हैं। वनस्पतियों में जीवन होता नहीं है अर्थात् झाड़ू-पौधे को जीवन संचालित करता नहीं है।

मानव में जीवन का अध्ययन मानव से ही हो पाता है। जीवन सहज वैभव और साक्ष्य आशा, विचार, इच्छा, संकल्प, प्रामाणिकता के रूप में मानव परंपरा में देखने को मिलता है। जीवन क्रियाएं स्वाभाविक रूप में अपने अर्थों को सर्वमानव में प्रकाशित करते ही रहते हैं और स्वीकृत रहते हैं। मानव आशा, विचार, इच्छाओं को कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा व्यक्त करते हुए शरीर को जीवन मानता हुआ देखा जाता है। उक्त विधि से आशा, विचार, इच्छाओं को कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों की सीमा में परिसीमित करना जब संभव नहीं हो पाता है तभी से आशा, विचार, इच्छाओं का मूल रूप जानने, मानने, पहचानने की इच्छाएं स्वयंस्फूर्त होना पाया जाता है। इसी के साथ-साथ आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और प्रामाणिकता और आस्वादन, तुलन, चिन्तन बोध और अनुभव जीवन सहज क्रियायें होने के कारणवश जीवन समुच्चय आशा, विचार, इच्छा के परिसीमा में व्याख्यायित नहीं हो पाती है। यही मुख्य कारण है।

जीवन प्रत्येक मानव में मूल रूप है। जीवन शक्तियाँ और बल अविभाज्य रूप में क्रियाशील रहते ही हैं। इसी कारणवश जीवन के आंशिक क्रियाविधि से सम्पूर्ण क्रियाओं का व्याख्या होना संभव ही नहीं है। अनुभव के अनन्तर सम्पूर्ण क्रियाएं सहज रूप में वर्तमान रहता ही है तथा सभी क्रियाएं अनुभव के अनुरूप होना देखा गया है। अनुभव सह-अस्तित्व में ही होता है। प्रत्येक मानव अपने अस्तित्व को स्वीकारता ही है जबकि शरीर समयाविधि के अनुसार विरचित हो जाता है। इसे परंपरा के रूप में देखा गया है। इसलिये ऐसी शरीर रचना-विरचना को जन्म और मृत्यु कहा जाता है। जबकि जीवन ज्ञान के अनन्तर जीवन का अमरत्व, स्वाभाविक रूप में जीवन को समझ में आता है।

(*इस ढंग से) जीवन ही जीवन को, जीवन से जानने-मानने की व्यवस्था बनी हुई है। प्रत्येक मानव स्वयं का अध्ययन कर सकता है। क्योंकि प्रत्येक मानव में चयन-आस्वादन, विश्लेषण-तुलन, चित्रण-चिन्तन, संकल्प-बोध, प्रामाणिकता और अनुभव, सम्पन्न होता हुआ देखा जा सकता है। प्रत्येक मानव में यह सभी क्रियायें पूर्णतया क्रियाशील होना, इसके दृष्टापद में होना, यह सब सत्यापित प्रमाणित होना ही मानव में जागृत परंपरा का स्वरूप है। उल्लेखनीय तथ्य यही है कि प्रत्येक मानव जागृत होना चाहता है। जागृति और अजागृति के बीच कौन सी ऐसी वस्तु है, कारण है, इसे परिष्कृत रूप में समझना ही एक मात्र उपाय है। हम इसे स्पष्टतया देखे हैं और सभी देख सकते हैं कि शरीर को जीवन समझना ही मूल मुद्दा है भ्रम का। इसके साथ जुड़ा हुआ दूसरा मुद्दा शरीर के बिना मानव परंपरा नहीं है। इन्हीं के अनुपम संयोग से ही अनेक समस्या और समाधानकारी गति और प्रवाह है। प्रत्येक मानव किसी न किसी

अंश में आशा, विचार, इच्छा के रूप में प्रभाव है क्योंकि यह दूर-दूर तक प्रभावित करते आया। इसीलिये इसे प्रवाह के रूप में देखना सबके लिये सुलभ है। मानव में व्यक्त होने वाली संपूर्ण गतियाँ, प्रवाहित होने वाले आशा, विचार, इच्छा, सहित किये जाने वाले कायिक, वाचिक, मानसिक, कृत, कारित, अनुमोदित क्रियाकलाप ही हैं। - स.श. 60-61

(B) जागृत जीवन सहज क्रियाएं

जीवन प्रत्येक व्यक्ति में समान रूप से क्रियाशील रहना पाया जाता है। इसके लिए अध्ययन वस्तु करने वाला मानव है। मानव के अध्ययन क्रम में सर्वप्रथम हम कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता को देख पाते हैं। कल्पनाशीलता का उपयोग विविध विधि से होता हुआ कर्म स्वतंत्रता सहज कार्य-विन्यास गति में सर्वेक्षित होना पाया जाता है। इसके साथ परीक्षण-निरीक्षण एक आवश्यकता बनी रहती है। आबाल, वृद्ध, गरीब-अमीर, ज्ञानी-अज्ञानी, विद्वान और मूर्ख सभी व्यक्तियों में कल्पनाशीलता कर्म स्वतंत्रता संप्रेषित होता हुआ देखने को मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि सभी मानव में यह समान रूप से विद्यमान है। समानता के मुद्दे में मानव का ध्यान मात्रा और गुणों के ओर दौड़ना स्वाभाविक है। यह जीवन का ही एक अपेक्षा है साथ ही कल्पनाशीलता कर्मस्वतंत्रता जीवन सहज गति स्वरूप होना पाया जाता है। तथापि जीवन अपने मात्रा सहित ही वैभविता है। ऐसी मात्रा को एक गठनपूर्ण परमाणु के रूप में जाना गया है और माना गया है। फलस्वरूप जीवन के क्रियाकलापों को पहचानना संभव हो गया है। -आ.व. 32-37

(i) कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता

जीवन का अध्ययन संपन्न करने के क्रम में कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता प्रत्येक मनुष्य में पहचानना और पहचान कराने की विधाओं में स्पष्ट किया जा चुका है। मनुष्य कितना भी कल्पना करें उसमें कल्पना धाराएं निर्गमित होती ही हैं। इससे यह पता लगता है कि कल्पनाशीलताएं हर व्यक्ति में अक्षय रूप में हैं

(ii) चयन-आस्वादन

कल्पनाशीलता के अनन्तर प्रत्येक मानव चयन, आस्वादन करता हुआ देखने को मिलता है। चयन पहचान पूर्वक ग्रहण करने और उसका आस्वादन अपने ही इच्छापूर्ति के लिए सम्पन्न करता हुआ देखने को मिलता है। इससे पता लगता है कि चयन करने के अनन्तर आस्वादन, आस्वादन के अनन्तर पुनः चयन क्रिया आवर्तनशील विधि से सम्पन्न होता हुआ देखने को मिलता है। यह क्रिया कितना भी करें और करने के लिए यथावत् चयन-आस्वादन क्रिया उद्गमन बना ही रहता है। इसके साथ यह भी पता लगता है चयन आस्वादन करने का जीवन सहज शक्तियों का उद्गमन होता रहता है।

(iii) विश्लेषण –तुलन

प्रत्येक मानव में विश्लेषण और तुलन क्रियाएं सहज ही देखने को मिलती हैं। यह भी अक्षय रूप में होना प्रमाणित होती है अथवा समझ में आता है। विश्लेषण विधियों में अभी तक कितना भी किया है और विश्लेषण करने के लिए निरंतर प्रयास जारी है। इससे पता लगता है मानव में विश्लेषण क्रिया अक्षुण्ण और अक्षय है। इसी के साथ-साथ प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभात्मक, न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्यात्मक तुलन क्रियाओं को मानव ने सम्पन्न करने के क्रम में प्रयास किया है। जिसमें से प्रिय, हित लाभात्मक तुलनाएं निर्णायक बिन्दुओं तक अपने विवशता को फैलाया है। अभी भी न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्यात्मक तुलन परिशीलन क्रम में ही गुजर रहा है क्योंकि अभी तक तीन मुद्दों पर निर्णायक बिन्दु, स्वरूप और गति प्रयोजन मानव परंपरा में शेष है। इस तुलन क्रिया को कितना भी किया जाय और तुलन करने के लिए जीवन सहज शक्तियों का उद्गमन सदा ही बना रहता है। इस निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण क्रिया से भी इसकी अक्षयता समक्ष में आता है। – अ.श. (2001) २८-३३

विचार का परिमार्जन केवल इसके, इससे श्रेष्ठ शक्ति के प्रभाव में आने पर ही संभव है, क्योंकि यह नियम है कि अविकसित विकसित के सान्निध्य से ही विकास की प्रेरणा पाता है व विकास को प्राप्त करता है। विचार पक्ष का परिमार्जन मात्र चित्त-शक्ति के प्रत्यावर्तन से ही सम्भव है, जिससे वैचारिक पक्ष में मानवीयता के प्रति आदर का भाव उत्पन्न होकर तदनु रूप व्यवहार सम्भव हो सकेगा। – व्य.द. 1978, अध्याय १७

(iv) चित्रण-चिंतन

मानव के अध्ययन क्रम में चित्रण और चिन्तन जीवन सहज अक्षुण्ण क्रियाकलाप होना समझ में आता है। इस क्रिया में जो चित्रण क्रियाकलाप है यह जीवन में सम्पन्न होने के उपरान्त ही वाणी में और बाह्य चित्रण में उपस्थित होता है। इस तथ्य को अपने में प्रमाणित करना होता ही है और लोगों के प्रमाण के लिए दृष्टा भी बन पाता है। सह-अस्तित्व में ही मानव का होना स्पष्ट है। सह-अस्तित्व में अकेले कोई चीज होता नहीं है। संपूर्ण चीज होता है। सम्पूर्णता अपने सह-अस्तित्व चारों अवस्थाओं के रूप में प्रकाशमान है। इसी यथार्थतावश एक दूसरे पर प्रतिबिम्बन बना ही रहता है। इसलिए जीवन सहज कल्पनाशीलता, सह-अस्तित्व सहज प्रतिबिम्बनों और मूल्यांकनों के योगफल में संपूर्ण चित्रण कार्य सम्पन्न होना पाया जाता है। इसी के साथ जो चिन्तन क्रिया होती है यह 'मूल्यों का साक्षात्कार क्रिया है।' प्रत्येक इकाई में मूल्यों का होना मानव में मानव मूल्य, जीवों में जीव मूल्य, प्राणावस्था में प्राण मूल्य एवं पदार्थावस्था में पदार्थ मूल्य अक्षुण्ण रूप में रहता ही है। हर वस्तु और मानव की पहचान मूल्यों के आधार पर ही हो पाती है। जबकि प्रत्येक इकाई में रूप, गुण, स्वभाव, धर्म का अध्ययन है। स्वभाव और धर्म मूल्यों के रूप में स्पष्ट होते हैं। मूल्यों का मूल्यांकन करना ही चिन्तन कार्य है। मानव मूल्य धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा है, यही मानव की व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में प्रमाणित होने का सूत्र है। यह स्वयं में परावर्तन, प्रत्यावर्तन के रूप में आवर्तनशील है। परावर्तन में मूल्यों की संप्रेषणा और प्रत्यावर्तन में मूल्यों का मूल्यांकन होना

पाया जाता है। यह प्रत्येक परीक्षण, निरीक्षण पूर्वक प्रमाणित होता है। ये क्रियाकलाप भी अक्षुण्ण और अक्षय समझ में आता है क्योंकि कितना भी मूल्यांकन करें, कितना भी मूल्यों को संप्रेषित करें और मूल्यांकित संप्रेषित करने की जीवन सहज शक्तियाँ उद्गमित रहती ही है। इसलिए इनको अक्षय और अक्षुण्ण रूप में पहचानना मानव सहज है। - अ.श. (2001) २८-३३

जागृति 'चिन्तन बल' विधि से आरंभ होता है जबकि भ्रम बन्धन 'आशा, विचार, इच्छा शक्ति' विधि से होना साक्षित हुई है। यही प्रधान बिन्दु है जिसे हर व्यक्ति को समझना संभव है। क्योंकि आस्वादन, तुलन, चिन्तन, बोध और अनुभव ये पाँच बल जीवन में सदा-सदा व्यक्त होने के लिये हैं"। - आ.व. 128-129

सम्पूर्ण चिन्तन देश, दिशा, काल मुक्त होना पाया जाता है। - म.व. २४४

(v) बोध, संकल्प

जीवन में बोध और संकल्प क्रियाएं हर मानव में होना पाया जाता है। ये क्रियाएं जागृति की दूसरी सीढ़ी है। जागृति का पहला सीढ़ी चिन्तन* (*अध्ययन विधि में साक्षात्कार) ही है, जिससे मूल्यों का पहचान हो पाता है फलतः मूल्यांकन सम्पन्न हो पाता है। इसलिए न्याय सुलभ होना भी सहज हो जाता है।

(*इस) क्रियाकलाप में मूल्य, धर्म और सत्य बोध होना पाया जाता है अर्थात् सह-अस्तित्व रूपी परम सत्य बोध, स्वभाव और धर्म रूपी मूल्यों का बोध होना ही बोध का तात्पर्य है। ऐसे बोध के उपरान्त व्यवस्था में जीने, समग्र व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह करने का संकल्प होता है। बोध और संकल्प की महिमा ही है अस्तित्व सहज, वस्तु सहज, स्थिति सहज, गति सहज, विकास सहज, जागृति सहज सत्यता बोध और निर्वाह करने की निष्ठा, संकल्प के रूप में होता ही है। इस प्रकार मूल्यों का साक्षात्कार बोध और संकल्प पूर्वक निष्ठापूर्ण कार्यप्रणाली मानव कुल में व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण है। कम से कम परिवार में व्यवस्था का स्वरूप, कार्य, प्रयोजन स्पष्ट होता है। व्यवस्था का स्वरूप संबंधों को पहचानने के रूप में, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन, उत्पादन कार्य में भागीदारी के रूप में स्पष्ट हो जाता है। प्रयोजन अपने आप में कार्य व्यवहार से ही स्पष्ट होना पाया जाता है वह समाधान और समृद्धि है।

इस प्रकार बोध पूर्वक प्रवर्तन अर्थात् अभिव्यक्ति, संप्रेषणा और प्रकाशन बोध सहित होने के आधार पर संकल्पों की दृढ़ता निष्ठा के रूप में प्रमाणित होती है। इस तथ्य को हर व्यक्ति में अध्ययन किया जा सकता है और वैभव की आवश्यकता पूरकता प्रत्येक व्यक्ति में देखने को मिलता ही है, इसलिए अध्ययनपूर्वक न्याय, धर्म, सत्य बोध करना एक व्यवहारिक सत्य के रूप में अनुभव किया गया और आंकलित किया गया। इससे सर्वमानव पारंगत को समृद्ध संपन्न होने के लिए मानव परंपरा ही जागृत होने की आवश्यकता है। परंपरा का स्वरूप मानवीयतापूर्ण शिक्षा, मानवीयतापूर्ण संस्कार, मानवीयतापूर्ण संविधान और मानवीयतापूर्ण व्यवस्था के रूप में ही नित्य वैभव और गति होना ही सार्थकता है। ऐसी सार्थक स्थिति को परंपरा में प्रमाणित करने के लिए सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान को अध्ययनगम्य करना ही होगा। इस विधि से मानव परंपरा जागृत होने और

वैभवित होने की संभावनाएं स्पष्ट है। इसी क्रम में आवर्तनशीलता का साक्षात्कार भी एक अनिवार्य बिन्दु है। यह स्वयं अर्थात् जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान पूरकता विधि से आवर्तनशील है। - अ.श. (2001) २८-३३

(vi) अनुभव प्रामाणिकता

जीवन ज्ञान, सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान तथ्यों सहज विधिवत् अध्ययनपूर्वक बोध होना देखा गया है। ऐसे बोध सहज तथ्यों को उद्धाटित करने के क्रम में और लोकव्यापीकरण करने के क्रम में प्रमाणित होते ही हैं। फलस्वरूप अनुभूत भी होते हैं। इस प्रकार नित्य प्रमाण और अनुभव सहज रूप में ही सम्पन्न होता हुआ देखा गया है। यही कैवल्य और जागृति की महिमा है। - आ.व. 260

अनुभव और प्रामाणिकता का वैभव न्याय, धर्म और सत्य रूपी वस्तुओं को अस्तित्व में नित्य वर्तमान रूप में समझने और समझाने की क्रियाकलाप, बोधगम्य रूपी वस्तुओं का संप्रेषण और अभिव्यक्ति होना पाया जाता है।

(*इस ढंग से) सम्पूर्ण समझ चिन्तन, बोध, संकल्प, अनुभव और प्रामाणिकता के रूप में वैभवित रहता ही है। इसमें से चिन्तन, बोध, अनुभव जीवनगत गरिमा है और स्थिति है। प्रामाणिकता ऋतम्भरा ये महिमा है गति है। इस विधि से हमें स्वयं के प्रति निष्कर्ष यही समझदारी अर्थात् जानना-मानना-पहचानना-निर्वाह करने में पूर्ण जागृति ही हमारे तृप्ति का नित्य स्रोत है। जाने हुए को मानना अर्थात् स्वीकारना ही इमानदारी का स्वरूप है। जानने मानने के आधार पर संबंधों को पहचानना ही जिम्मेदारी है। निर्वाह करना ही अर्थात् समझा हुआ के अनुरूप निर्वाह करना ही भागीदारी का परिभाषा है, जो स्वयं इमानदारी का ही प्रमाण है। समझे बिना जो कुछ निर्वाह किया जाता है भ्रम सिद्ध हो जाता है।

जानने-मानने में सम्पूर्ण मूल्य समझ में आता है। इसके तृप्ति बिन्दु में इसकी पूर्णता की स्वीकृति होती ही है। इसी अधिकारपूर्वक अभ्युदय के अर्थ में व्यक्त होना प्रमाणित होता है। सम्पूर्ण मूल्यों का स्वरूप जीवन मूल्य, मानव मूल्य, स्थापित मूल्य, शिष्ट मूल्य और वस्तु मूल्यों के रूप में गण्य होता है। सुख, शांति, संतोष, आनन्द के रूप में जीवन मूल्य समझ में आता है। यह तभी प्रमाणित हो पाता है जब मानव ऊपर कहे गये दसों क्रिया रूपी जीवन को समझ लेता है। सुख का स्वरूप तुलन और विश्लेषण के साथ आस्वादन और चयन संतुलित होने की स्थिति में जागृति होने में आता है। इसे प्रत्येक व्यक्ति स्वयं में समझ सकता है। इसी प्रकार चिन्तन, चित्रण के साथ तुलन, विश्लेषण संतुलित होने की स्थिति में शांति समझ में आता है। बोध और संकल्प के साथ चिन्तन-चित्रण संतुलित होने की स्थिति में संतोष समझ में आता है। अनुभव और प्रामाणिकता के साथ बोध संकल्प रूपी ऋतम्भरा संतुलित होने की स्थिति में आनन्द समझ में आता है। इसमें सहजता यही है कि प्रत्येक मानव अपने में इन जीवन सहज क्रियाओं के साथ स्वयं से; स्वयं में; स्वयं के लिए परीक्षण-निरीक्षण पूर्वक सत्यापित करना बनता है। इस विधि से अस्तित्व सहज यथार्थता, वास्तविकता, सत्यता को समझना संभव है। अस्तित्व ही परम सत्य वास्तविक और यथार्थ है। प्रत्येक एक अस्तित्व में अविभाज्य है। - अ.श. (2001) २८-३३

परिणाम का अमरत्व, गठनपूर्ण परमाणु में स्पष्ट होता है। यह परमाणु में विकास का एक सोपान है। ऐसे जीवन ही मानव शरीर द्वारा जागृति को प्रमाणित करने के क्रम में श्रम का विश्राम को मानव चेतना के रूप में स्पष्ट कर देता है। इसका प्रमाण समाधान = विश्राम = जागृति है। इस विधि से श्रम का विश्राम अर्थात् समाधान पद में ही मानवीयता पूर्ण समाज और व्यवस्था अपने अखंडता और सार्वभौमता के साथ वैभवित होना समीचीन है। ऐसी जागृतिपूर्वक परंपरा स्थापित होना और उसकी निरंतरता होना ही वैभव का तात्पर्य है। - अ.श. ४८

प्रत्येक मानव सहज रूप में समाधान को स्वीकारता है न कि समस्या को क्योंकि समाधान सुख के रूप में ही होना समझ में आता है। अस्तु मानव व्यवस्था में जीने, व्यवहृत होने के फलस्वरूप ही नित्य समाधान अक्षुण्ण रहना पाया जाता है। ऐसी जागृत परंपरा ही जीवन में क्रियापूर्णता का साक्ष्य है। इनकी महिमा क्रम में जीवन में जागृति पूर्णता का होना जिसका कार्यरूप अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान सहज नित्य अभिव्यक्ति, संप्रेषणा, प्रकाशन पूर्वक प्रमाणित होना देखा जाता है। जागृति पूर्णता प्रत्येक मानव में अपेक्षित है। इसे जागृति पूर्ण पद के रूप में पहचाना गया है। यही पद है सम्पूर्ण भ्रमों से मुक्त पद। इसी पद में मानव ही देव मानव, दिव्य मानव के रूप में अपने ज्ञान-दर्शन-आचरण पूर्वक सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह करता है। ऐसे देवमानव दिव्यमानव पद में सर्वाधिक उपकार होना समीचीन है। उपकारी का तात्पर्य है उपाय पूर्वक जीवन जागृत कार्य-व्यवहार में पारंगत और समर्थ होने में सहायक होने से है। इस पद को आचरणपूर्णता नाम से संबोधित किया है। इस प्रकार परिणाम का अमरत्व (गठनपूर्णता), श्रम का विश्राम (क्रियापूर्णता) और गति का गंतव्य (आचरणपूर्णता) ही सह-अस्तित्व में परमाणु सहज विकास होने के अनन्तर जीवन लक्ष्य होना, सार्थक होने का तथ्य अध्ययनगम्य है। इस प्रकार इस धरती में भ्रमात्मक मानव समुदायों से निर्भ्रम मानव, अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था एवं मानव परंपरा वैभवित होने का अध्ययनगम्य रूप में प्रस्तुत है। - अ.श. (2001) २८-३३

जीवन जागृति, जीवन-विद्या बोध होने के उपरान्त है। यह जीवन क्रिया कलापों के अंतर्सम्बन्ध को, परस्पर जीवन प्रभाव क्षेत्र अनुबन्ध क्रम से स्पष्ट करता है। निरीक्षण, परीक्षण विधिपूर्वक अभ्यास से, द्रष्टा पद प्रतिष्ठा सहज ही प्रमाणित होता है। - स.श. 154

(*अर्थात्) जागृति जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के क्रम में हैं। यह व्यवहार में स्पष्ट होता है। सर्वप्रथम चयन और आस्वादन में जागृति, दूसरा विचार (विश्लेषण) और तुलन में जागृति। तीसरा चिंतन और चित्रण में जागृति। चौथा बोध और संकल्प में जागृति। पाँचवें चरण में परम तृप्ति की अनुभूति और उसका प्रामाणिकता। मानवीयता व्यवहार में प्रमाणित होना ही जीवन जागृति सहज अभिव्यक्ति, संप्रेषणा और प्रकाशन है। यही दूसरी भाषा में जागृति सहज अनुभव बल, विचार शैली तथा जीने की कला हैं। यही मानव परंपरा की मूलपंजी हैं। जागृति सहज वैभव ही मानवीयतापूर्ण परंपरा का वैभव हैं। इसलिए मानव परंपरा का जागृत होना, जागृत रहना सर्वोपरि एवं अनिवार्य हैं। - भ.व. ३२०

(C) परावर्तन – प्रत्यावर्तन

“चैतन्य प्रकृति का परावर्तन ही व्यवहार एवं उत्पादन, उसका प्रत्यावर्तन ही अनुभूति है।” – अ.द, १६२

मानव जागृति पूर्वक स्थिति-गति में प्रमाणित होना चाहता है। ऐसे प्रमाण स्वयं के भी और सम्पूर्ण के भी संबंध में आशित हैं। सर्वप्रथम इस सिद्धान्त को हृदयंगम करना होगा कि स्थिति, गति अविभाज्य है। ‘होना’, ‘गति रहना’ इसका मूल प्रमाण है। एक परमाणु भी होने के आधार पर गति रहता है। ग्रह गोल भी होने के आधार पर गति रहता है। सम्पूर्ण पदार्थ संसार ‘होने’ के आधार पर ही रचना विरचना रूपी गति को बनाये रखता है। सारे वनस्पति भी होने के आधार पर ही, पुष्टि के रूप में गति रहते हैं। संपूर्ण जीव संसार भी होने के आधार पर ही गति रहता है। मानव जागृति होने के आधार पर ही गति को प्रमाणित करता है। इस प्रकार सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व में नित्य प्रतिष्ठा प्राप्त संपूर्ण वस्तु स्थिति-गति के रूप में वर्तमान है। इस विधि से संपूर्ण स्थिति-गति अविभाज्य है। स्थिति में बल, गति में शक्ति अथवा स्थिति को बल, गति को शक्ति के रूप में देखा जाता है और बल और शक्ति अविभाज्य है ही। –क.द. 112-113

जीवन में परावर्तन, प्रत्यावर्तन क्रिया संपादित होती है। इसे प्रकारान्तर से प्रत्येक व्यक्ति में, निरीक्षण, परीक्षण पूर्वक, अध्ययन किया जा सकता है। यही क्रिया अर्थात् निरीक्षण-परीक्षण क्रिया सार्थक हो पाती है।

- स्व-निरीक्षण विधि, प्रत्यावर्तन को, और पर-निरीक्षण विधि परावर्तन को प्रमाणित करती है।
- चयन-क्रिया अर्थात् ग्रहण करने का क्रियाकलाप परावर्तन विधि से और आस्वादन क्रिया प्रत्यावर्तन विधि से, स्वयं में संपन्न होती है।
- विश्लेषण क्रिया परावर्तन विधि से और तुलन क्रिया (प्रिय, हित, लाभ, न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि) प्रत्यावर्तन विधि से संपन्न होती है।
- चित्रण क्रिया परावर्तन विधि से इच्छा पटल में चित्रित हो पाती है। परावर्तन में रचनाओं, क्रियाओं के रूप में प्रमाणित हो पाता है और चिन्तन-क्रिया साक्षात्कार विधि से सार्थक होती है।
- साक्षात्कार की सम्पूर्ण वस्तु जीवन मूल्य, मानव मूल्य, स्थापित मूल्य, शिष्ट मूल्य और वस्तु-मूल्यों के रूप में द्रष्टव्य है। मूल्यों का संतुलन तुलन होकर, तृप्ति विधि में संलग्न रहता है। इस प्रकार साक्षात्कार की तृप्ति का स्रोत मूल्य हैं और उसकी (मूल्यों की) निरंतरता का भावी होना, पाया जाता है।
- जीवन में संपन्न होने वाली अवधारणा बोध-बुद्धि सहज प्रत्यावर्तन क्रिया है। सभी अवधारणाएं, अध्ययन अथवा अनुसंधान विधि से स्थापित हो पाती हैं। अनुभव मूलक विधि अनुभवगामी पद्धति से, बोध होना पाया जाता है।
- अनुभव सत्य बोध कराने में प्रमाणित होता है और
- संकल्प, पूर्णता के अर्थ में, कल्पनाओं को गति देने से है।

- कल्पनाएं – आशा, विचार, इच्छा के संयुक्त रूप में प्रवाहित रहती हैं। जीवन शक्ति अक्षय होने के कारण, प्रत्येक व्यक्ति में कल्पनाशीलता का अक्षय होना पाया जाता है क्योंकि यह कल्पना, जीवन शक्तियों का ही प्रवाह है।
- कल्पनाएं, सत्य संकल्प के अनुरूप परावर्तित होकर मानव परम्परा के, अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में सार्थकता को प्रमाणित करती है।
- प्रमाणिकता, परावर्तन के रूप में, स्वतंत्रता को व्यवहार में, प्रमाणित करती है। इसी क्रम में स्वयं व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी, स्वयं स्फूर्त विधि से सम्पन्न होती है।
- अस्तित्व दर्शन, जीवन-ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण सहज प्रमाणों को सम्पूर्ण आयाम, कोण, दिशा, परिप्रेक्ष्यों में प्रमाणित करना सहज होता है। यही जागृति पूर्णता का परावर्तन है।
- इसके प्रत्यावर्तन में जागृति सहज आनंद, अस्तित्व में नित्य अनुभूति, आनंद की निरंतरता के रूप में अथवा स्रोत के रूप में पाया जाता है। इस प्रकार जीवन-ज्ञान, अस्तित्व दर्शन की सार्थकता स्पष्ट है।

मानवीयता पूर्ण आचरण परम आचरण है अथवा सम्यक आचरण है। यह आचरण मानवत्व का सूत्र और व्याख्या है क्योंकि अस्तित्व में प्रत्येक एक, अपने “त्व” सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है। इस क्रमानुगत विधि से मानव, “मानवत्व” सहित व्यवस्था है, यह प्रमाणित होता है। – म.वि. 26-28

मुख्यतः न्याय, धर्म, सत्य रूपी दृष्टियों की क्रियाशीलता वृत्ति में एवं फलन स्वरूप इनका साक्षात्कार चित्त में, बुद्धि में बोध और अनुभव की स्वीकृति, आत्मा में इनका अनुभव और अनुभव बोध तथा साक्षात्कार की पुष्टि चिंतन में सम्पन्न होना ही अनुभवमूलक जागृतिपूर्ण स्थिति गति होना स्पष्ट है। अतएव जीवन को विधिवत् चेतना विकास मूल्य शिक्षा विधि से मध्यस्थ दर्शन सह-अस्तित्ववाद का अध्ययन एवं समझ लेना जीवन ज्ञान का तात्पर्य है। जीवन ही दृष्टा पद में होने के कारण अस्तित्व सहज सम्पूर्ण दृश्य का दृष्टा होना सहज है। इस प्रकार अनुभव करने वाली वस्तु जीवन है। अनुभव करने योग्य वस्तु अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व है। प्रमाणित करने योग्य वस्तु हरेक मानव है। प्रमाणित होने के लिये वस्तु अखण्ड समाज और सार्वभौम व्यवस्था है। अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व में अनुभव ही परम सत्य में अनुभव। आ.व., 73-76

वृत्ति में तुलन और विश्लेषण क्रिया निरंतर सम्पन्न होता ही रहता है। यह हर जीवन में जागृति के अनंतर निश्चय के अर्थ में ही सार्थक होना पाया जाता है। निश्चयता का ध्रुव बिन्दु जीवन में वहन क्रिया के रूप में ही होना समझ में आता है। वहन क्रिया क्षमता का द्योतक होता है। वही प्रकाशन और संप्रेषण क्रिया योग्यता के अर्थ में होना पाया गया। – म.वि. 152

(*इस ढंग से) परावर्तन-प्रत्यावर्तन को हम पहचानने, पहचानवाने के रूप में समझने, समझने के रूप में सीखने, सीखने के रूप में हम अपने में होना पाते हैं। इसमें से समझने समझाने का जो भाग है, इसी में परावर्तन प्रत्यावर्तन सुस्पष्ट होता है। प्रत्यावर्तन विधि से समझते हैं, समझाने की विधि से परावर्तित होते हैं। मानव के लिए जितनी भी क्रियायें हैं, वे कायिक, वाचिक, मानसिक, कृत, कारित, अनुमोदित भेदों से हैं। इन सबके मूल में परावर्तन, परावर्तन के मूल में प्रत्यावर्तन, प्रत्यावर्तन के वैभव में परावर्तन क्रिया अनूद्युत विधि से संपादित होती है। – क.द. १२३

मानव परंपरा उत्तरोत्तर जागृत होने के रूप में परावर्तित रहता ही है। प्रत्यावर्तन में सुख, शान्ति, संतोष, आनन्द से सराबोर रहता ही है। मानवाकाँक्षा अपने आप में कार्य व्यवहार व्यवस्था विधि से प्रमाणित होता ही है। यही 'जीने' का तात्पर्य है। अर्थात् कार्य, लक्ष्य और प्रयोजन प्रमाण होना, उसकी निरंतरता बने रहना ही जीने का तात्पर्य है।

मानव कुल में से ज्ञान विज्ञान विवेक प्रमाणित होता है। यही निर्विवाद स्वत्व का स्वरूप है। ऐसे स्वत्व परावर्तन में सार्थकता का आंकलन और स्वीकृति के आधार पर ही स्वत्व में आंकलन बनता ही रहता है, निरंतर श्रेष्ठता की ओर हम अपने में से प्रमाणित होना बनता ही है। एक बार प्रमाणित होने के बाद प्रमाण विधि में श्रेष्ठता की शृंखला बन जाती है। यह प्रत्यावर्तन में दृढ़ता का सूत्र बनता है। मानव में प्रमाण विधि से ही सार्थक पूंजी, प्रत्यावर्तन विधि से निरंतर प्रखर और वृद्धि होते ही जाता है। वृद्धि मतलब आज एक मुद्दे में प्रमाणित हुए, कल दो मुद्दे में, परसों तीन मुद्दे में प्रमाणित होने की स्वीकृति समाहित होती जाती है। यह प्रत्यावर्तन क्रिया बोध और अनुभव में समाहित होते रहने से है अर्थात् स्वीकृति रहने में है, यही पुनःश्च परावर्तन के लिए पूंजी बना रहता है।

ऐसे अनुभव ही बोध में समाधान के रूप में अवस्थित रहता है। फलस्वरूप परावर्तन में हम समाधान को प्रमाणित कर पाते हैं। इस विधि से परावर्तन क्रिया अनुभव के लिए नित्य स्रोत होना प्रत्यावर्तन विधि से स्पष्ट होता है। जागृति को प्रमाणित करने के लिए यही सूत्र और व्याख्या है। हर प्रत्यावर्तन अनुभव सूत्र है। हर परावर्तन अनुभव सूत्र की व्याख्या है। इस विधि से मानव के स्वरूप का प्रमाण प्रत्यावर्तन में ज्ञान विज्ञान विवेक के रूप में, परावर्तन में कार्य व्यवहार व्यवस्था में भागीदारी के रूप में प्रमाणित होता है। यही जागृत परंपरा है। पीढ़ी से पीढ़ी इसको बनाये रखना हर मानव का कर्तव्य और दायित्व है। - क.द. १२६

(D) जागृति का स्वरूप

जागृति = बन्धन मुक्ति

- न्याय पूर्ण विचार से आशा बन्धन एवं विचार बन्धन से मुक्ति होती है।
- धर्म पूर्ण चिन्तन से अथवा चित्रण से इच्छा बन्धन से मुक्ति होती है।
- आत्मा-बोध से बुद्धि में अहंकार से मुक्ति होती है। भ्रमित बुद्धि ही अहंकार है। - व्य.द., 1978

नाम	बल क्रिया	शक्ति क्रिया	नाम
आत्मा में	सहअस्तित्व सहज अनुभव	प्रामाणिकता	ही प्रमाण
बुद्धि में	अनुभव प्रमाण बोध	प्रमाणित करना (संकल्प)	ऋतंभरा
चित्त में	चिंतन न्याय धर्म सत्य	चित्रण	ही शुभेच्छा ही सर्वशुभ
वृत्ति में	तुलन न्याय, धर्म, सत्य	विश्लेषण सर्वशुभ सम्पन्न	विचार ही नित्य शुभ
मन में	मूल्यों का आस्वादन	चयन (प्रमाणित करने का)	आशा
↓	↓	↓	↓
यही जीवन व यही जागृत परंपरा का प्रमाण है।	प्रत्यावर्तन में सुख शांति संतोष आनंद सहअस्तित्व में परावर्तन में समाधान समृद्धि अभय अनुभव प्रमाण	परावर्तन मानव परंपरा में ही अभिव्यक्ति सम्प्रेषण प्रकाशन	शरीर समृद्धि पूर्ण मेधस तंत्र ज्ञान क्रिया वाही प्रमाण है। अभिव्यक्ति

जागृत जीवन में बल व शक्ति

अक्षय बल	अक्षय शक्ति
आत्मा में अनुभव बल, सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व में अनुभव होता है।	आत्म शक्ति प्रमाणिकता में प्रमाण,
अनुभव बोध: बुद्धि में बोध, न्याय-धर्म-सत्य सहज स्वीकार बुद्धि बल में होता है।	प्रमाणित करने के लिए संकल्प शक्ति बुद्धि शक्ति में,
चित्त में चिन्तन रूप में स्पष्ट होता है।	चित्रण क्रिया चित्त शक्ति में, प्रमाणित चित्रण करने में, भाषा भाव (अर्थ) समेत चित्रण है। चित्रण जिसमें भाव भंगिमा मुद्रा अंगहार समाया रहता है।
वृत्ति में तुलन क्रिया में न्याय-धर्म-सत्य का स्पष्ट होना, विश्लेषण सम्पन्न होता है।	प्रमाणीकरण विधि-विधानों का विश्लेषण करना ही विचार है।
न्याय-धर्म-सत्य सम्मत मूल्यों का आस्वादन मन में सम्पन्न होता है। यह सदा-सदा होता है। इसलिए यही जागृति सहज मनोबल अक्षय है।	प्रमाणित होने के लिए निश्चित विचारों के अनुसार संबंधों का चयन क्रिया कर पाने की आशा में, से, के लिए किया जाना स्पष्ट है।

जागृत मानव परम्परा में अनुभव प्रमाणों को प्रमाणित करने में जीवन जागृत रहता है। कल्पनाशीलता जागृति के अनुरूप कार्य करता है अर्थात् प्रमाणों के बोध सहित बुद्धि में संकल्प, संकल्प के अनुरूप चिन्तन-चित्रण कार्य चित्त में सम्पन्न होता है। फलतः चित्रण के अनुसार तुलन-विश्लेषण होता है। पुनश्च प्रमाणों के आधार पर आस्वादन पूर्वक चयन क्रिया मन में सम्पन्न होती है। यही जागृति के अनुसार होने वाले परावर्तन प्रकाशन है।

आस्वादनार्थ प्रमाणों के प्रकाश में प्रकाशित होने के फलस्वरूप तृप्त, संतुष्ट समाधान के रूप में परावर्तन सहज है यही जागृत जीवन का फलन है। संविधान – ४६, ५५

मानव में अनुभव के रूप में स्थिति, प्रमाण के रूप में गति दिखाई पड़ती है। यथार्थता, वास्तविकता, सत्यता का बोध सहित बुद्धि ही स्थिति एवं उसे प्रकाशित करने की प्रवृत्ति के रूप में संकल्प ही गति है। बोध ही अनुभव और प्रमाण का अभिव्यक्ति है। अनुभव प्रमाण (जीता हुआ साक्ष्य) बोध स्वीकृति, अभिव्यक्ति सूचना; ऐसा सूचना दूसरों के अनुभव के लिए प्रयोजन है। न्याय, धर्म, सत्य के साक्षात्कार (चिंतन) करने के रूप में चित्त में स्थिति और इसका चित्रण के रूप में चित्रित हो पाना गति है। चित्त क्रियाकलाप का सम्पूर्ण चित्रण तुलन के रूप में अर्थात् न्याय, धर्म व सत्य रूप में स्पष्ट होना वृत्ति सहज स्थिति है, वृत्ति में सम्पन्न हुये तुलन का विश्लेषण विधि में विश्लेषित होना व सम्प्रेषित होना वृत्ति सहज विचार गति है। विश्लेषण के स्पष्ट अथवा सार रूप में मूल्य स्वीकृत होता है। इसे आस्वादन करना ही मन की स्थिति है, इसकी सार्थकता के लिये चयन क्रिया को सम्पादित करने के रूप में गति होना हर मानव में सर्वेक्षित है। इस ढंग से मानव भी सभी प्रकार से स्थिति-गति में होना स्पष्ट होता है। इस प्रकार मानव समझदारी से सम्पन्न होने के उपरान्त प्रमाणित होना स्वभाविक होता है। इसका मतलब यही हुआ हम जब तक प्रमाणित नहीं होते, तब तक प्रमाणित होने के लिए ज्ञानार्जन, विवेकार्जन, विज्ञानार्जन कर लेना ही शिक्षा और शिक्षण का तात्पर्य है। इसके लिए सह अस्तित्ववादी शिक्षा क्रम समीचीन है। अतएव समझदार मानव होने के लिए ध्यान देने की आवश्यकता है। - क.द. ९३

जागृत मानव ही विकसित मानव है। जागृति के लिए प्रयत्नशील मानव ही विकासशील मानव हैं। जागृति के लिए प्रयत्नशील मानव को अल्प जागृत व अर्ध जागृत मानव जागृति क्रम कोटि में पहचाना जा सकता है। जागृति का प्रमाण हैं - अस्तित्व दर्शन अर्थात् सह-अस्तित्व के प्रति पूर्ण जागृति अर्थात्:-

1. अस्तित्व कैसा है, इसका संपूर्ण उत्तर जिसके पास हो।
2. जो जीवन ज्ञान अर्थात् चैतन्य स्वरूप के अध्ययन में पारंगत हो और जिसका मानवीय आचरण वर्तमान में प्रमाणित हो, यही जागृत व्यक्ति का स्वरूप है।

इसका मतलब यही हुआ कि जो जीवन को भले प्रकार से जानता मानता हो; अस्तित्व को भले प्रकार से जानता मानता हो और मानवीयतापूर्ण आचरण अर्थात् स्वधन, स्वनारी, स्वपुरुष और दयापूर्ण कार्य-व्यवहार करता हो; तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग एवं सुरक्षा करता हो, संबंधों को पहचानता हो, मूल्यों का निर्वाह करता हो- यही मूल्य, चरित्र, नैतिकतापूर्ण मानवीय आचरण है। इस प्रकार जागृत मानव का स्वरूप, कार्य और प्रमाण स्पष्ट हो जाता है। यह मानव कुल में अध्ययनगम्य होना और व्यवहारिक होना सहज है। जागृत मानव परंपरा का आधार भी इन्हीं तीन तथ्यों का मानव परंपरा में होने मात्र से है। जीवन ज्ञान और मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान के रूप में मानवीयता प्रमाणित होती है। सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान से वर्तमान रूप में विद्वत्ता प्रमाणित होती है। जीवन ज्ञान ही जीवन विद्या है। अस्तित्व ही विद्वत्ता की संपूर्ण वस्तु है। मानवीयता ही संपूर्ण आचरण हैं। अखण्ड समाज ही विद्वत्तापूर्ण मानवत्व का वैभव है। सार्वभौम व्यवस्था ही अस्तित्व में जागृत मानव के अविभाज्य वर्तमान होने का प्रमाण है। मानव में स्वानुशासन ही जागृति पूर्णता का प्रमाण है। इस प्रकार अच्छाईयों में प्रमाणित, समर्थित मानव में धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा सहज मानवीय स्वभावों से अनुप्राणित, अभिप्रेरित और जीता-जागता स्थिति मिलता है। सही, न्याय, समाधान, अभ्युदय सम्पन्न श्रेष्ठतम मानव परिवार, मानव समाज, मानव व्यवस्था का सहज वैभव है।

यही विकसित परिवार अर्थात् जागृत परिवार, जागृत समाज अथवा जागृत मानव अखण्ड समाज के अर्थ में सार्थक हो पाता है।

यह समाधानात्मक भौतिकवाद की सार्थकता और उद्देश्य है।

जागृति के आधार पर ही मानव संबंध, मूल्य और मूल्यांकन विधि से न्याय को प्रमाणित करता है। यह जागृति का प्रमाण है। सह -अस्तित्व में संबंध सहज वर्तमान हैं, इसको पहचान लेना जागृति हैं। संबंध को पहचानने का प्रमाण ही हैं मूल्यों का निर्वाह करना। इससे यह सूत्र स्पष्ट हो जाता हैं कि मूल्यों का निर्वाह करना जीवन सहज हैं। संबंधों को पहचानना मानव सहज है। शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में मानव हैं। मानव सहज रूप में जो-जो पहचान पाता है उसी में जीवन शक्तियाँ और बल अभिव्यक्त होते हैं। इसका प्रमाण मानव इतिहास रूपी विभिन्न आयामों में इसके कार्यकलापों को स्मरण में लाने पर स्वयं स्पष्ट होता है। जैसे-जैसे आदि काल से मानव जिस वस्तु को पहचान कर पाता था उसी में मानव शक्तियाँ अर्थात् आशा, विचार, इच्छा रूपी शक्तियाँ लगता ही रहा है। इसे किसी भी आयाम के साथ विचार कर देखें और वर्तमान में किसी भी एक पहचान के साथ अपना परीक्षण कर देखें। इस धरती के प्रत्येक मानव को देखें तब हम यही पाते हैं कि जो संबंधों को जैसा पहचान लिए हैं उसी में उसकी शक्तियाँ बहती हुई दिखाई देती है। जैसे एक व्यक्ति अपने बच्चे को पहचान लिया उस स्थिति में ममता व वात्सल्य मूल्य अपने आप बहता है। उसी प्रकार जैसे स्वयं के बच्चे को पहचाने और ममता वात्सल्य बहा, वैसे ही किसी भी बच्चे को पहचानने की स्थिति में वैसा ही ममता और वात्सल्य का बहना देखने को मिलता है।

एक मित्र का एक मित्र के साथ संबंध पूर्णतया पहचानने के उपरान्त पहचान तथा निर्वाह हो पाता है। वैसे ही प्रत्येक मित्र के साथ पहचान तथा निर्वाह हो पाना स्वाभाविक है। ऐसे ही गहराई से देखें तो प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्मुख मित्रता सहित मुलाकातें होने की कामना करता ही है। प्रत्येक व्यक्ति से हर व्यक्ति विश्वास की अपेक्षा रखता है, न कि अविश्वास की। इसका प्रमाण यही है कि अनजान देश, अनजान व्यक्ति, अनजान भाषा आदि की विपरीतता होते हुए भी एक दूसरे से मिलने के लिए जब कोई व्यक्ति मानसिकता बनाता है, तब सामने वाला व्यक्ति विश्वास निर्वाह करने में ही अधिक भरोसा करता है। इसी क्रम में हर संस्था में भागीदारी करने वालों की परस्परता में विश्वास निर्वाह होने की इच्छा बनी रहती है। हर समुदाय, हर देश की परस्परता में भी विश्वास निर्वाह की निश्चित रूप रेखा के साथ निर्वाह करने की स्थिति में परस्पर मित्र राष्ट्र, मित्र समुदाय कहलाते हैं। अर्थात् परस्पर निश्चित अपेक्षाएँ निर्वाह होने की स्थिति में यह परस्पर मित्रता कहलाती हैं। इसका निश्चित न्याय बिन्दु या सार्वभौम न्याय बिन्दु मानवीयता और पांडित्य के साथ ही प्रमाणित हो पाता है।

अस्तित्व सहज मानव में समग्र अस्तित्व के प्रति विश्वास, वर्तमान के प्रति विश्वास, स्वयं के प्रति विश्वास होना, संबंधों को पहचानना, मूल्यों का निर्वाह करना, मूल्यांकन करना बन जाता है। यह जागृत मानव परंपरा में ही सर्व सुलभ सर्वसाध्य हो पाता है। समुदाय परंपराओं में यह संभव नहीं हो पाता। इसका प्रमाण आज तक का बीता हुआ इतिहास है।

विश्वास मूलतः वर्तमान में निष्ठा ही है। निष्ठा के फल में समाधान होने की स्थिति में उसकी (निष्ठा की) निरंतरता होने के लिए प्रयास बना रहता हैं। वर्तमान में समाधान व्यवस्था का ही प्रमाण है। ऐसा सर्वतोमुखी समाधान, सार्वभौम

व्यवस्था व अखण्ड समाज परंपरा में प्रमाणित होता है। सर्वतोमुखी समाधान क्रम में प्रत्येक मानव व्यवस्था में भागीदारी के रूप में प्रमाणित हो पाता है। यही प्रत्येक मानव में समाधान का प्रमाण है। - भ.व. 130-133

अनुभव मानव सहज अपेक्षा एवं वैभव है। मुख्य रूप में इन्द्रिय सन्निकर्षात्मक स्वीकृतियाँ आबाल-वृद्ध पर्यन्त प्रभावित रहता ही है। इसके मूल्यांकन के लिये और समीक्षा के लिये मूल्य मूलक व लक्ष्य मूलक सिद्धांत, सूत्रों व व्याख्याओं के प्रति मानव का प्रमाणित होना आवश्यक है। क्योंकि इन्द्रिय सन्निकर्षात्मक विधियों, कार्यों और इसके लिये आवश्यकीय साधनों की संग्रह विधियों से कोई भी समुदाय परंपरा मानवापेक्षा व जीवनापेक्षा को प्रमाणित करने में असमर्थ रहा है अथवा पराभवित रहा है। इसी के साथ-साथ समाधान, समृद्धि, अभय व सह-अस्तित्व की अपेक्षा हर समुदायों में बना ही रहा किन्तु प्रमाणित नहीं हो पाया है। इस तारतम्य में यह स्पष्ट हो जाता है कि आदि काल से ही मानव सार्वभौम शुभ चाहते हुए अभी तक पराभवित होने का कारण एकांतवादी व भोगवादी प्रवृत्ति ही है। वैभवित होने का मार्ग भी सुस्पष्ट हो चुका है। यह केवल सह-अस्तित्व में अनुभवमूलक प्रणाली ही है जो लक्ष्य मूलक, मूल्य मूलक अपेक्षाओं को सार्थक रूप देने में समर्थ होना देखा गया है। मूल्य मूलक प्रणाली से स्वाभाविक रूप से मानवापेक्षा सफल हो जाता है। लक्ष्य मूलक प्रणाली से जीवनापेक्षा सार्थक होना देखा गया है।

प्रणालियाँ मूलतः इन्द्रिय सन्निकर्षात्मक अथवा अनुभवात्मक होना ही देखा गया है। इन्द्रिय सन्निकर्षात्मक प्रणालियों पर आधारित प्रयोगों को मानव ने इस धरती पर किया है। इसका समीक्षा पहले हो चुका है। अब केवल मूल्य मूलक, लक्ष्य मूलक विधि ही सम्पूर्ण मानव के लिये शरण होना समीचीन है। मानव में मूल्य व लक्ष्य की अपेक्षा सदा रहते हुए इसके विपरीत प्रणाली से इसको पाने की अपेक्षा किया। - आ.व. 224-225

(E) जागृति सहज मार्ग

सर्वशुभ का स्वरूप समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व ही है; और हम समाधानित रहने की स्थिति में ही समस्याओं का निराकरण कर पाते हैं। इसे वर्षों-वर्षों अनुभव कर देखा गया है। ऐसे समाधान अनेक दिशा, कोण, परिप्रेक्ष्य, आयामों के लिये आवश्यक होना पाया गया है। प्रत्येक मानव अपने में समाधानित होने की विधि मूलतः “मानव जाति एक, कर्म अनेक” के रूप में देखने, समझने, करने, करने के लिये मत देने के रूप में होना पाया गया।

मानव जाति को सर्वमानव में, से, के लिए अपेक्षित सर्वशुभ का धारक-वाहकता के रूप में होना, पहचाना गया है। सर्वशुभ ऊपर कहे हुए समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व रूप में होना देखा गया है। यह समाधान, समृद्धि का प्रमाण रूप में जीकर देखा गया है। इन दोनों का धारक, वाहक होने के उपरान्त अभयता अखण्ड समाज और सह-अस्तित्व का प्रमाण अनिवार्य हो जाता है। इस अनिवार्यता को सहज सुलभ रूप में समाधानित करने की विधि जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान पूर्वक होता देखा गया है। जीवन ज्ञान ही परमज्ञान होने के कारण सर्व मानव में अभयता का स्रोत सहज विधि से वर्तमान होना देखा जाता है। देखने का तात्पर्य समझने से है। समझ अपने मूलरूप में जानना, मानना, पहचानना निर्वाह करने के रूप में प्रमाणित है। समझ का धारक-वाहकता जीवन सहज महिमा होना देखा गया है। जानने, मानने के क्रम में ही जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान पूर्वक ही प्रत्येक मानव समाधानित हो जाता है। यही सर्वतोमुखी समाधान का नित्य स्रोत है। इसके मूल में सत्य यही है कि अस्तित्व नित्य वर्तमान है। अस्तित्व न

बढ़ता है न ही घटता है। अस्तित्व में जीवन भी अविभाज्य है। अस्तित्व में ही रासायनिक, भौतिक रचना-विरचना परिणामों के रूप में दृष्टव्य है। ऐसे भौतिक-रासायनिक रचनाओं में से एक रचना मानव शरीर भी है। मानव शरीर रचना विधि मानव परंपरा में सर्वविदित है। इसीलिये जीवन ज्ञान की आवश्यकता अति अनिवार्य है। – स.श. 58-60

(i) जीवन

अस्तित्व में जागृति निश्चित होने के प्रमाण में ज्ञानावस्था की अभिव्यक्ति है। ज्ञानावस्था में मानव ही गण्य है। मानव परंपरा संज्ञानशीलता और संवेदनशीलता के संयुक्त रूप में तृप्त होना पाया जाता है। ज्ञान का मूल स्वरूप जीवन ज्ञान और अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व रूपी व्यवस्था का ज्ञान है। जीवन ज्ञान मानव स्वयं अपने जीवन सहज क्रियाकलापों के आधार पर विश्वास करना बन पाता है। यह मूलतः अनुभव सहज क्रिया है। इसको जानना-मानना एक आवश्यकता है ही। जीवन को जानने-मानने के क्रम में शरीर रचना और शरीर सीमाओं के संदर्भ में भले प्रकार से पारंगत होना एक आवश्यकता है। जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में ही ज्ञानावस्था प्रकाशमान होने के आधार पर ही मानव सहज विधि से ही

- (1) अपना ही कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता शरीर से भिन्न तरंग के रूप में अनुभव करना बनता है।
- (2) आशा, विचार, इच्छाएँ जीवन सहज क्रिया होने के रूप में स्वयं से, स्वयं के लिये परीक्षण-निरीक्षण कर सकता है।
- (3) आस्वादन, तुलन, चिन्तन, बोध क्रम में अध्ययन विधि से जो अनुभूतियाँ प्रतीत होते हैं या भास-आभास होते हैं इसका परीक्षण स्वयं ही हर मानव, हर काल में, हर देश में किया जाना समीचीन है। इन क्रियाकलापों के निरीक्षण से पता लगता है कि जीवन्त मानव में आस्वादन का अनुभव भास; न्याय, धर्म, सत्यरूपी नित्य वस्तु का भास होना, हर व्यक्ति अपने से निश्चय कर सकता है। चिन्तन में ही न्याय, धर्म, सत्य का आभास होना और प्रतीति होना प्रमाणित होता है।

साक्षात्कार अपने में प्रयोजनों* (*प्रयोजन = न्याय धर्म सत्य) का निश्चयन सहित तृप्ति के लिये स्रोत रूप में अध्ययन विधि से पहचान लेता है। फलस्वरूप बोधपूर्वक सार्थकता सहित न्याय, धर्म, सत्य सहज स्वीकृति ही संस्कार और बोध रूप में जीवन में अविभाज्य क्रिया रूपी बुद्धि में स्थापित हो जाता है। यही अध्ययन पूर्वक होने वाली अद्भुत उपलब्धि है। न्याय सहज साक्षात्कार सह-अस्तित्व सहज संबंधों का साक्षात्कार सहित मूल्यों का साक्षात्कार होना पाया जाता है। यही मुख्य बिन्दु है। सह-अस्तित्व सहज सम्बन्धों को पहचानने में भ्रम रह जाता है यही बन्धन का प्रमाण है। यही जीवन को शरीर समझने का घटना है।

बन्धन को जीवन क्रियाकलाप में जाँचा जाना एक आवश्यकता है। बन्धन का स्रोत भ्रमित जीवन क्रिया से ही समीचीन रहता है। यह प्रिय, हित, लाभ दृष्टियों के रूप में आहारादि विषय – प्रवृत्तियों दीनता, हीनता, क्रूरतावादी मानसिकता सहित प्रकाशित होती है। ऐसे क्रियाकलाप पर्यन्त जीवन भ्रमित रहना स्पष्ट होता है। जीवन अपने को भ्रमित स्वीकारना बनता नहीं, निर्भ्रम होने की चाहत जीवन में बना ही रहता है। यही भ्रम-मुक्ति का सूत्र बनता है। अतएव भ्रमवादी

जितने भी क्रियाकलापों को फैलाए रहते हैं उसकी निरर्थकता का आंकलन होता है, सार्थकता के लिये प्रयासोदय होता है। यही जागृति क्रम में होने वाली सह-अस्तित्व सहज वैभवशाली कार्य है। - आ.व. (२०००), 49-50

जीवन में होने वाली सामान्य क्रियाएँ शक्ति और बल के रूप में अध्ययन से बोध और निश्चयन होती है। हरेक व्यक्ति अपने “स्व” जीवन क्रियाकलाप को अध्ययनपूर्वक बोध सम्पन्न हो जाते हैं उसी क्षण में यह निश्चयन होती है कि जीवन क्रियाएँ सभी जीवन में समान होना पाया जाता है। जीवन शक्ति और बल भी अपने में अक्षय होना जीवन क्रिया और उसकी अक्षुण्णता समझ में आते ही उसकी अक्षुण्णता का बोध होता है। अवधारणा सुदृढ़ हो जाती है। इसी तथ्य वश जीवन शक्तियों और बलों की अक्षयता इनको कितने भी उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजनशीलता विधि से नियोजित करने के उपरांत भी जीवन शक्ति और बल यथावत रहना स्वयं में, से के लिए अनुभूत होता है। अनुभूत होना ही जागृत होना है। जीवन ज्ञान सहित ही अस्तित्व में अनुभूत होना स्वाभाविक होता है। फलस्वरूप जीवन सहज जागृति मानव सहज जीवन लक्ष्य समान होना विदित होता है। इस प्रकार जीवन लक्ष्य, जीवन शक्तियाँ, जीवन बल, जीवन सहज क्रियाकलाप और जीवन रचना प्रत्येक जीवन में समान होना अनुभव होता है। फलस्वरूप सह-अस्तित्व में विश्वास होना, अनुभव होना स्वाभाविक है। फलस्वरूप सर्वशुभ में, से, के लिए जीना स्वाभाविक प्रक्रिया बनती है। यही सार्वभौम व्यवस्था और अखण्ड समाज का मूल सूत्र होना पाया जाता है न कि शरीर रचना की विविधता।

जागृत जीवन विधि से ही मानव परंपरा में अनुभव प्रमाण और प्रयोग प्रमाण व्यवहार में सार्थक विधि से प्रमाणित होता है। यही अनुभवमूलक जागृति सहज जीने की कला, उसकी महिमा है। - आ.व. 62-64

(ii) न्याय धर्म सत्य सहज जागृति

मान्यताएं पूर्वानुक्रम, परानुक्रम भेद से पाई जाती हैं। पूर्वानुक्रम पद्धति प्रणाली, मानवीयता पूर्ण विचार-चिंतन-बोध-अवधारणा और अनुभव मूलक होने के क्रम में अध्ययन गम्य है। परानुक्रम मान्यता का स्रोत शरीर, मानव, जीवजगत से प्राप्त प्रेरणाओं के रूप में है और (इनमें से जितनी भी प्रकार से इन्द्रिय सन्निकर्षपूर्वक माना गया है अथवा) जितनी भी मान्यताएं होती है। वे सब प्रिय, हित, लाभात्मक, तुलन विश्लेषण संबंधों के आधार पर संयत होना पाया जाता हैं। संयत होने का तात्पर्य प्रिय हित लाभ प्रवृत्तियां न्याय, धर्म, सत्य संगत होने से है। - म.वि. ४९

(*इस ढंग से यह स्पष्ट है की) शरीर को सत्य समझकर आस्वादन करने की स्थिति में, जीवन तृप्ति का स्रोत नहीं बन पाता। अतएव जीवन तृप्ति विधि से ही आस्वादन सार्थक होता है अर्थात् जीवन में, से, के लिए जीवन समझ में आने के बाद ही आस्वादन की सार्थकता, नियम और न्याय के रूप में निरंतर ही सुख, सुन्दर, समाधान के प्रमाणों सहित है।

जीवन में दृष्टियां प्रिय, हित, लाभ, न्याय-धर्म-सत्य को परिशीलन करने के क्रम में कार्यरत हैं। जिसमें से प्रिय-हित लाभ दृष्टियां इन्द्रिय सन्निकर्ष होने के आधार पर भ्रमात्मक होना अथवा भ्रमपूर्वक ही प्रिय-हित-लाभ को सुख का आधार मानना मूल्यांकित हो चुका है। अतएव जीवन, जागृति पूर्वक, न्याय-धर्म-सत्य पूर्ण दृष्टियों से स्वयं को और अस्तित्व को देखने योग्य होता है। देखने का तात्पर्य समझने से है। - म.वि. ६१, ७८

देखने वाली इकाई मानव ही होना स्पष्ट है। भ्रमित मानव में देखने का गुण प्रिय, हित, लाभ; जागृत मानव में न्याय, धर्म और सत्य पूर्ण विधाओं के रूप में कार्यरत होना अध्ययन गम्य है। प्रिय, हित, लाभात्मक दृष्टियाँ क्रम से इंद्रिय सापेक्ष, शरीर (स्वास्थ्य) सापेक्ष, वस्तु (संग्रह) सापेक्ष होना सर्वविदित है। न्याय मूल्य मूलक व्यवहार प्रमाण, धर्म सार्वभौम व्यवस्था प्रमाण और सत्य जीवन ज्ञान, सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान के रूप में आवर्तनशील है। प्रमाण सदा ही पूर्णता और उसकी निरंतरता उस के फलन रूप में तृप्ति और उसकी निरंतरता होना पाया जाता है। तृप्ति के स्रोत में न्याय, धर्म, सत्य को और अतृप्ति के स्रोत में प्रिय, हित, लाभ को देखा जा सकता है अथवा मिलता है।

तृप्ति-अतृप्ति का कार्य रूप मानव में ही अध्ययन गम्य है। इसमें मुख्य बिन्दु हर व्यक्ति में तृप्ति का कार्य स्रोत होना ही जागृति है। ऐसा स्रोत जानने-मानने के रूप में देखा गया। यह हर व्यक्ति में निहित है। मूलतः जीवन सहज कार्य है। शरीर के द्वारा मानव परंपरा में यह सत्यापित हो पाता है। यह मुख्य बिन्दु पर मानव का जागृति ही सार्वभौमता का आधार है। - आ.व. 122-123

अनुभवगामी विधि में न्याय, धर्म (समाधान) और सत्य साक्षात्कार एक साथ ही होना पाया जाता है। ('न्याय धर्म सत्य एक समूह है, अनुभव का। यह क्रम से साक्षात्कार होता है' -संवाद २०१४) यह इस छोर से जुड़ा हुआ देखा गया है कि भ्रम से पीड़ित होने के साथ ही जीवन स्वीकृति सहज वस्तुओं की अति अनिवार्यता बन जाती है। इसी अनिवार्यतावश जीवन में इंद्रिय लिप्सा से मुक्ति चाहने की आवश्यकता अपने पराकाष्ठा में बलवती हुआ रहता ही है। इसे योग-संयोग विधि से ही देखा गया है। यह संयोग अपने आप अस्तित्व सहज विधि से सह-अस्तित्व प्रणाली से नियति क्रम के रूप में समीचीन रहता है। यह पीड़ा और नियति सहज समीचीनता का संयोग ही है। ऐसी घटना सर्वप्रथम किसी एक व्यक्ति के साथ घटित होता है अथवा एक व्यक्ति के द्वारा उद्घाटित हो पाता है। इसी को हम अनुसंधान या अभ्यास का फलन नाम दिया करते हैं।

उक्त विधि से घटित अनुसंधान को शैक्षणिक विधि से लोकव्यापीकरण करना-कराना आवश्यकीय कार्य रहता ही है। अनुसंधान के अनन्तर यही अग्रिम-प्रक्रिया है। यह सर्वविदित है।

मूलतः यह घटना स्वयं अनुभव ही है। अनुभव सहज विधि से ही जागृति और जागृति का प्रमाण सहज रूप में समीचीन रहता है। इसलिये अनुभव के अनन्तर अनुभव की निरन्तरता होती ही है। यही अस्तित्व सहज वैभव के रूप में न्याय, धर्म, सत्य रूपी जीवन स्वीकृत वस्तु को देखा गया। सटीक देखने का भाषा ही है अनुभव क्रिया। ऐसे अनुभव में समाधान और न्याय समाहित रहता ही है। इसी प्रकार चिन्तन में अर्थात् साक्षात्कार किया में समाधान और सत्य साक्षात्कारित रहता ही है। इतना ही नहीं व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी के अर्थ में जीने की स्थिति में न्याय, समाधान और सत्य व्यवहार में प्रमाणित रहता ही है। यही अनुभवमूलक अध्ययन है। अनुभवमूलक जीने की सम्पूर्णता मानव परंपरा में ही परमावश्यकता के रूप में दिखाई पड़ती है। इसकी समीचीनता अर्थात् भ्रम की पीड़ा और निर्भ्रमता या जागृति की समीचीनता, योग, संयोग की घटना विधि से सम्पन्न होना भी आवश्यक रहा। इसके अनन्तर ही इसके लोकव्यापीकरण की गति अपने आप शुरू होती है। यह स्वाभाविक रूप में सर्वमानव में स्वीकृत रहता ही है। जैसे न्याय सबको चाहिये, धर्म अर्थात् सार्वभौम व्यवस्था अखण्ड समाज होना चाहिये, सत्य समझ में आना चाहिये। क्योंकि

ये जीवन सहज स्वीकृति होने के कारण इन्हें बिना समझे जीवन स्वीकारा ही रहता है। इसीलिये यह सबके लिए आवश्यक है। - आ.व. 144-146

सत्य ही, नियम, न्याय व धर्म के रूप में परिप्रेक्ष्यानुसार समझ में आता है अथवा अवधारणा व अनुभव मूलक क्रम में प्रमाणित होता है। - म.वि. 203

जागृति का प्रमाण अस्तित्व में प्रत्येक-एक व्यवस्था के रूप में कार्यरत रहने और समग्र व्यवस्था में भागीदारी सूत्र में सूत्रित रहने की सत्य में जानना-मानना-पहचानना-निर्वाह करना ही है। अस्तित्व में इस तथ्य के प्रति तभी संभव होना पाया गया कि जीवन ज्ञान स्पष्टतया हमें अनुभवमूलक विधि से प्रमाणित होने के रूप में देखा गया। इस प्रकार जागृति का तात्पर्य सह-अस्तित्व में अनुभव मूलक मानसिकता भी होना स्पष्ट है। जबकि अनुभव मूलक विधि से यह स्पष्ट है कि जीवन का मूल बलों का नाम आत्मा, बुद्धि, चित्त, वृत्ति और मन है। इनका स्थिति कार्य रूप अनुभव, प्रमाण, बोध, चिन्तन, तुलन और आस्वादन क्रियाएं हैं। यह प्रत्येक मानव में प्रमाणित होने का स्रोत और व्यवस्था है। यही तथ्य मानव अपने में जागृति को आंकलित करने का स्रोत जागृत मानव परंपरा ही है। यही अनुभव सम्मुच्चय का भी स्वरूप है। मन वृत्ति का; वृत्ति चित्त का, चित्त बुद्धि का, बुद्धि आत्मा का अनुभव करता है। क्योंकि हर आस्वादन तुलन के कसौटी में, हर तुलन चिन्तन (साक्षात्कार) के कसौटी में, संपूर्ण साक्षात्कार बोध के कसौटी में, समग्र बोध अनुभव के कसौटी में, संपूर्ण अनुभव अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व के कसौटी में संतुलित, नियंत्रित होने की जीवन सहज कार्यकलाप को देखा जाता है। यही प्रत्येक व्यक्ति में स्वनियंत्रण का और संतुलन का सूत्र है। - आ.व. 198-199

अनुभव अस्तित्व में ही होना पाया जाता है। अनुभव के पहले समझदारी जानने-मानने-पहचानने के रूप में होना पाया जाता है। यह सच्चाई का अध्ययनपूर्वक होन वाला अवधारणा, संस्कार है। इसके पूर्व रूप में विचार और चित्रण ही रहता है। यही श्रुति, स्मृति, शब्द और चित्रण है। शब्द और चित्रण के आधार पर कितने भी क्रियाकलापों को मानव संपादित करता है यह सब अस्थिरता के साथ ही जूझता हुआ देखा गया है अस्थिरता में भ्रम ही प्रधान कारण है। इसीलिये ही स्मरण और चित्रण के उपरान्त कहीं न कहीं अस्थिरता-अनिश्चयता को प्रकाशित करता ही है। इसी सीमा तक हम इस बीसवीं सदी के अंत तक झेलते आये हैं। स्थिरता की स्वीकृति बोध रूप में ही होना फलस्वरूप व्यवहार में न्याय-समाधान-सत्य प्रमाणित होना पाया जाता है। ऐसा बोध जानने-मानने-पहचानने का ही महिमा है। यह क्रिया जीवन में ही जागृति सहज विधि से होने वाली वांछित प्रक्रिया है।

अस्तित्व में अनुभव सत्ता में संपृक्त प्रकृति के रूप में ही देखा गया है। सत्ता में संपृक्त रहने के आधार पर ही क्रियाशीलता नियंत्रण, संतुलन, संरक्षण साम्य ऊर्जा स्रोत होना देखा गया है। इसीलिये प्रकृति में नियंत्रण, संरक्षण निरंतर बना ही रहता है। - आ.व. 149-150

(iii) बोध, अनुभव

भ्रम मुक्ति की कल्पना मानव परंपरा में आदिकाल से अथवा सुदूर विगत से रही है। अर्थात् भ्रम से मुक्त होने का आशवासन वाङ्मय में सुदूर विगत से सुनने को मिलता है, उनका भाषा जीवन मुक्ति रही है। भाषा के रूप में यह प्रचलित है ही। मुख्य रूप में बंधन का स्वरूप, मुक्ति की आवश्यकता, उसकी समीचीनता और लोकव्यापीकरण यही मुख्य मुद्दा जागृतिपूर्ण अभिव्यक्ति के लिये वस्तु रहा आया। यही अभी अनुभवमूलक विधि से अनुभवगामी प्रणाली पूर्वक अस्तित्व बोध, सह-अस्तित्व बोध, विकास बोध, जीवन बोध, जीवन जागृति बोध, रासायनिक-भौतिक रचना-विरचना बोध संभव हो गया। ऐसे बोध कराने के क्रम में एक से अधिक मानव बोध सम्पन्न हो चुके हैं। इसी प्रमाण से यह पता लगता है कि इसका लोकव्यापीकरण संभव है।

मूल व्यक्ति, जो अनुसंधान पूर्वक सत्यापित करता है, वह सत्य, समाधान, न्याय और जागृति के सम्बंधों में स्वयं को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करता है। ऐसे सत्यापन को हीवाङ्मय कहा जा सकता है। यह दोनों स्थिति घटित होने के उपरान्त मूल व्यक्ति के रूप में प्रामाणिकता सहित प्रस्तुतियाँ बोधगम्य हो जाना ही, मूल व्यक्ति के रूप में और व्यक्ति भी जागृत बोध सम्पन्न होने का प्रमाण होता है। बोध सहज अभिव्यक्ति प्रयास में सह-अस्तित्व में ही संपूर्ण वस्तु होना स्वयं मानव में, से, के लिए अनुभव होता ही है। इस विधि से अनुभव मूलक अध्ययनप्रणाली अनुभवगामी विधि को सत्यापित करती है। अध्ययन की सार्थक मंजिल अध्ययनपूर्वक इंगित वस्तुएँ विधिवत बोध होने के रूप में सार्थक हो जाता है। यह अनुभव सम्पन्न मानव से ही सफल होता है। - आ.व. १४०-१४२

जीवन में निरन्तर सम्पन्न क्रिया कलापों में से मन एक क्रिया है, दूसरी क्रिया है वृत्ति (विचार), तीसरी क्रिया है साक्षात्कार (चित्त) किसी को समझने के लिए, अर्थ स्वीकृति के लिए, अर्थ पूर्वक वस्तु स्वीकृति के लिए जो प्रायोजित है। जैसे पानी शब्द के साथ ही पानी रुपी वस्तु को अस्तित्व में स्वीकारने की क्रिया यह चित्त क्रिया है। इसी प्रकार बुद्धि में बोध क्रिया, बोध क्रिया निश्चयता, स्थिरता को स्वीकारने की अर्हता, इसी को दूसरी भाषा में सत्य, धर्म, न्याय को दृढ़ता पूर्वक स्वीकारने की क्रिया है। पाँचवीं क्रिया अनुभव क्रिया। अनुभव क्रिया की महिमा नित्य समाधान, नित्य सुख, शान्ति, संतोष, आनन्द के रूप में सत्य को स्वीकारने, प्रमाणित करने और आनन्द रुपी आशवासन से परिपूर्ण होने की क्रिया है। ये पाँचों क्रियायें जीवन बल के रूप में कार्य करता हुआ स्पष्ट होता है। अनुभव ही प्रमाण है। इसका फलन आनन्द है। जीवन स्वत्व है, इसको प्रमाणित करने के क्रम में संकल्प, संकल्प को परावर्तित करने के लिए चित्रण, चित्रण को सार्थक बनाने के लिए विश्लेषण, विश्लेषण को क्रियान्वयन करने के लिए चयन (तौर-तरीका का चयन) पूर्वक प्रमाणित करता हुआ मानव को पहचाना जा सकता है। इस विधि से ये पाँचों परावर्तित होने वाली क्रियाओं को शक्ति नाम दिया गया। इसी बल को स्थिति, परावर्तित करने वाले क्रिया को गति नाम दिया है। इस प्रकार मानव का स्थिति, गति, जीवन क्रियाकलाप के आधार पर अर्थात् जीवन के स्थिति गति के आधार पर परस्पर पहचानने में आता है। -क.द. 162

जीवन रचना के आधार पर जीवन में आत्मा अविभाज्य क्रिया होना स्पष्ट हो गई है। अस्तित्व में अनुभव ही आत्मा सहज क्रिया है। अनुभव ही दूसरे नाम से प्रत्यावर्तन क्रिया है और इसका परावर्तन क्रिया को प्रामाणिकता-प्रमाण नाम दिया है। अनुभव मूलकता आत्मा में होने वाली क्रिया है। यही परम जागृति है। यह जागृति सह-अस्तित्व में अनुभव मूलकता आत्मा में होने वाली जागृति ही है। जागृति सह-अस्तित्व में अनुभव हुई है।

इसी जागृत स्थिति में होने वाली गति को प्रत्यावर्तन नाम दिया गया है। सम्पूर्ण प्रत्यावर्तन दर्शन और ज्ञान नाम से प्रतिष्ठित हैं। ज्ञान और दर्शन स्वाभाविक रूप में ओत-प्रोत रूप में वर्तमान है। सम्पूर्ण अस्तित्व सत्ता में संपृक्त जड़-चैतन्य प्रकृति ही सह-अस्तित्व का मूल स्वरूप है। इसका सामान्य कल्पना हर मानव में होना संभव है। कल्पना का मूल स्रोत आशा, विचार, इच्छा का अस्पष्ट गति रूप है क्योंकि सम्पूर्ण कल्पनाएँ परावर्तन में कार्यरूप रहना देखा जाता है। मानव ही कल्पनाशीलता का प्रयोग करता है। इसे ऐसा भी कहा जा सकता है कि हर व्यक्ति प्रकारान्तर से कल्पनाशीलता का प्रयोग करता है। भ्रमित मानव द्वारा कल्पनाशीलता का सर्वाधिक प्रयोग शरीर और इन्द्रिय सन्निकर्ष के रूप में ही स्वाभाविक है। यह भ्रम विवशता है।

यही कल्पनाएँ चिन्हित रूप में स्पष्ट होने के लिए तत्पर होते हैं। तभी विधिवत विश्लेषण और निश्चित चित्रण विचार रूप में सम्भावनाओं को स्वीकारना बनता है। संभावनाओं का लक्ष्य प्रिय, हित, लाभ सीमाओं में सीमित रहना पाया जाता है। यही भ्रमात्मक कार्य सीमा का अर्थ इति है।

जागृति सहज विधि में यह सुस्पष्ट है कि न्याय, धर्म, सत्य उसका साक्षात्कार, बोध, अनुभव ही अध्ययन और अनुसंधान का लक्ष्य और कार्य है। इन्हीं कार्य रूप के आधार पर अस्तित्व और जीवन अवधारणा में स्थापित होना सफल अध्ययन का द्योतक और कसौटी भी है। इसी के आधार पर स्वायत्त मानव का सर्वेक्षण, निरीक्षण और परीक्षण होना स्पष्ट हो जाता है। स्वायत्त मानव ही अस्तित्व में अनुभव सहज जागृति का धारक-वाहक होना स्पष्ट है। इस प्रकार अध्ययन सहज रूप में जीवन और अस्तित्व बोध की अभिव्यक्ति और प्रमाणित होने के क्रम में आत्मा अस्तित्व में अनुभूत होना, जीवन में केन्द्रीय होना, मध्यस्थ क्रिया और मध्यस्थ बल सम्पन्नता का स्वीकृत होना, परम तृप्त होना है।

जीवन रचना मध्यांश सहज मध्यस्थ क्रिया, मध्यस्थ बल, मध्यस्थ शक्ति संतुलन के अर्थ में सदा-सदा प्रयुक्त रहता ही है। इसके अनंतर ही मध्यस्थ क्रिया सम्मुख्य क्रम से जीवनी क्रम और जीवन जागृति क्रम व्यक्त होता है। इसी क्रम में जागृत होना जीवन सहज प्रवृत्ति, प्रयास, आवश्यकता के योग-संयोग विधि से सम्पन्न होता है।

यही अनुसंधान शोध और अध्ययन के लिए भी संयोजक तत्व है। यह तत्व सदा-सदा जीवन प्रतिष्ठा में कार्यरत रहता ही है। इसकी प्रखरता के आधार पर ही अनुसंधान, शोध, अध्ययन सहज हो जाता है। यही जागृत मानव परंपरा में प्रमाण भी है। इस प्रकार यह सुस्पष्ट हो जाता है कि आत्मा अध्ययन विधि से अस्तित्व में अनुभूत होता है। दूसरा, अनुसंधान विधि से भी अस्तित्व में अनुभूत होना पाया जाता है।

अनुसंधान विधि से भी सर्वप्रथम अस्तित्व में बोध होना देखा गया है इसके उपरान्त ही आत्मा अस्तित्व में अनुभूत होना देखा गया है। अध्ययन विधि से भी यही स्थिति अर्थात् पहले सत्य बोध तदोपरांत अनुभव होना पाया जाता है। इन दोनों विधियों में से अध्ययन विधि लोकव्यापीकरण के लिए कम समय में बोध होने की स्थिति बनती है। अनुसंधान विधि से हर व्यक्ति को जिज्ञासा होना अनिवार्य है। जबकि अध्ययन विधि से सम्पूर्ण प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है। प्रश्न स्थली रिक्त होना, उसी स्थली में सम्पूर्ण उत्तर स्थापित होना, अध्ययन और अध्यापन का संयोग और फलन है। जबकि प्रश्न विहीन स्थिति में अनुसंधान का आधार नहीं बनता।

इस प्रकार परंपरा में सभी प्रश्नों का उत्तर अध्ययन विधि से हर मानव में हर स्थिति, परिस्थितियों में सम्पूर्ण प्रश्नों का उत्तर सह-अस्तित्व सहज विधि से समीचीन है।

अनुसंधान विधि एवं अध्ययन विधि से पहले बोध ही होता है, तदोपरांत “बोध” का आत्मा में अनुभव होता है। अनुभव के उपरान्त “अनुभव सहज बोध” अध्ययन एवं अनुसंधान विधि में एक जैसा होता है एवं एक ही होता है। इसमें मुख्य तथ्य यही है यथार्थता, वास्वतिकता, सत्यतापूर्ण विधि से अध्यापन सामग्री, वस्तु, प्रक्रिया परिपूर्ण रहना आवश्यक है। अनुसंधान के लिये (अज्ञात) प्रश्न चिन्ह अति आवश्यक है। हर अनुसंधान को अध्ययन और अध्यापन कार्य विधि से लोक व्यापीकरण होना सुगम हो जाता है। इस प्रकार अनुभव के अनन्तर ही ‘अनुभव बोध’ होना देखा गया है। यह हर व्यक्ति में होना समीचीन है।

जीवन सहज जागृतिपूर्ण प्रक्रिया में देखा गया है कि सह-अस्तित्व रूपी अस्तित्व में आत्मा ही अनुभूत होता है। फलस्वरूप आत्मा सहज मध्यस्थ क्रिया ही मध्यस्थ बल, मध्यस्थ शक्ति के रूप में प्रभाव क्षेत्र का होना देखा गया है।

इसी प्रभाव क्षेत्र वश ‘अनुभव’ का बोध बुद्धि में ‘अनुभव’ का साक्षात्कार चित्त में ‘अनुभव’ का सार्थकता तुलन रूपी वृत्ति में (न्याय, धर्म, सत्य) और ‘अनुभव’ का आस्वादन (मूल्य रूप में) मन में प्रभावित और स्वीकृत होता है। उसी क्षण से ‘निष्ठा’ की निरन्तरता पायी जाती है। ‘निष्ठा’ का तात्पर्य अनुभव प्रभाव का निरन्तरता में ही जीवन की सभी क्रियाएँ अभिभूत रहने से है। अनुभव प्रभाव क्षेत्र स्वयं ही निरन्तर होना पाया जाता है क्योंकि अस्तित्व में अनुभव से अधिक कुछ शेष रही नहीं पाती है। सम्पूर्ण अस्तित्व ही अनुभव गम्य होने के आधार पर मध्यस्थ क्रिया का प्रभाव क्षेत्र सदा-सदा के लिए जीवन क्रिया रूपी समस्त परावर्तन-प्रत्यावर्तन क्रिया में संतुष्ट, तृप्त, समाधानित होना देखा गया है। यही जीवनापेक्षा सहज सुख, शांति, संतोष, आनंद से भी इंगित है। आ.व. (2000), 58-65

(F) जानने-मानने का तृप्ति बिंदु = अनुभव

मानव में ही जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने की क्रियाकलाप परम्परा में स्पष्ट हो जाती है या प्रमाणित हो जाती है। जाने बिना मानना रूढ़िवादिता के रूप में स्पष्ट है। जानते हुए नहीं मानना एक अन्तर्विरोध अथवा का स्वरूप होना पाया गया है। इसलिए यह समझ में आता है जानना, मानना मानव-परम्परा में, से, के लिए एक अनिवार्य क्रिया है। जानना मानना ही प्रमाण का आधार बनता है। प्रमाण क्रियान्वयन होने की स्थिति में पहचानना, निर्वाह करना भी होता है। प्रमाण किसके साथ प्रस्तुत होना है इस का पहचान होना आवश्यक है। इस विधि से सर्वमानव मानव के साथ ही जानने मानने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। यह प्रमाण समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व ही होता है जिसके फलस्वरूप में सुख, शान्ति, सन्तोष, आनन्द होना पाया जाता है। अनुभव धारक ही वाहकता का स्रोत है। अनुभवमूलक विधि से ही अखंडता और सार्वभौमता का प्रमाण होना पाया जाता है। इसकी स्वीकृति अनुभव के पहले से ही मानव में सर्वेक्षित हुई है। इसे प्रत्येक व्यक्ति कर भी सकते हैं। हर निश्चयन निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण की सहज प्रक्रिया से ध्रुवीकृत होता है और निश्चित होता है। - ज.व. 95-96

ज्ञानावस्था सहज मानव में, से, के लिये अनुभव प्रामाणिकता के रूप में सर्वोपरि प्रमाण है। नियम, न्याय, धर्म, सत्य यह अनुभवमूलक विधि से ही प्रमाणित होना देखा गया। अनुभव का मूल रूप (स्थिर बिन्दु) जानने-मानने का तृप्ति बिन्दु ही है। जानने-मानने का जो मौलिक स्थिति कारण-गुण-गणित है वह केवल मानव में ही होना पाया जाता है। यह कल्पनाशीलता और जागृति की सम्भावना के योगफल में गतित होना पाया जाता है। इसी प्रकार नियम, न्याय, धर्म, सत्य भी अध्ययन विधि से जानना; मानना बन जाता है। फलस्वरूप प्रामाणिक होने के लिये पहचानना, निर्वाह करना सम्भावना निर्मित होती है। - आ.व. 15-18

जानने-मानने के संतुलन बिंदु का नाम है बोध। जानने-मानने के तृप्ति बिंदु का नाम है अनुभव। - संवाद, २०१०

प्रामाणिकता का स्वरूप जानने-मानने की तृप्ति बिन्दु को अनुभव करना ही है। जानने का मूल तत्व सह-अस्तित्व रूपी अस्तित्व ही है। अस्तित्व में ही जीवन और जागृति, अस्तित्व में ही विकास और रचना-विरचना होना देखा गया है। यही जानने का तात्पर्य है। इसी के आधार पर मानव का सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार निर्धारित हो जाना ही, निर्धारित विधि से मानव परंपरा प्रमाणित होना ही अनुभव का तात्पर्य है। यह न्याय, धर्म, सत्य सहज अनुभव विधि से ही सार्थक होना देखा गया है।

ऊपर जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने का शब्द प्रयोग किये हैं। इनमें से जानने की वस्तुएँ में से प्रधान वस्तु को सह-अस्तित्व के रूप में बता चुके हैं। अस्तित्व ही सह-अस्तित्व के रूप में नित्य वर्तमान है। सह-अस्तित्व का स्वरूप अपने में सत्ता में संपृक्त प्रकृति है। क्यों और कैसे का उत्तर पा लेना ही जीवन जागृति क्रम सहज प्रवर्तन और जागृतिपूर्वक प्राप्ति है। हर प्रवर्तन में मानव प्राप्ति चाहता ही है। प्राप्ति ही मान्यता का आधार है। अस्तित्व में ही जीवन और जीवन जागृति का होना जानना है। अस्तित्व में ही विकास, रचना, विरचनाओं को जानना होता है। क्योंकि अस्तित्व नित्य वर्तमान है ही; अस्तित्व में 'जो कुछ' भी है यह 'सब कुछ' को मानव जानना चाहता है। इसे जानना सम्भव है इसको हम देख चुके हैं। मानव और नैसर्गिक परस्परता में सम्बन्ध रहता ही है क्योंकि सह-अस्तित्व नित्य प्रभावी रहता ही है। इसे जानना जागृत मानव के लिये सहज है। इसी के साथ अर्थात् सम्बन्ध के साथ मूल्यों को जानना भी जागृत मानव के लिए परम सहज है। मानव ही अस्तित्व में अनुभव सहज प्रमाणों को प्रस्तुत करता है। अस्तित्व में मानव जागृतिपूर्वक ही व्यवस्था, उसकी सार्वभौमता, समाज और उसकी अखण्डता को जानता है।

जानने का फलन मानने के रूप में आता ही है। मानने का स्वरूप है :- "यह सत्य है इसे स्वीकारना है।" और सत्य सहज प्रयोजन स्वयं से या सबसे जुड़ी हुई स्थिति को और गति को स्वीकारना ही मानना है। इससे स्पष्ट होता है हर स्थिति में वस्तु सहज वास्तविकताओं को जानना सहज है। इसी क्रम में उसके गति और प्रयोजन के साथ 'सह-अस्तित्व' में, से, के लिये आवश्यकताओं को स्वीकारना ही मानना है क्योंकि प्रयोजन हर व्यक्ति में एक आवश्यकता है। इसलिये जानने-मानने की क्रिया मानव में परम मौलिक है। अन्य प्रकृति में यांत्रिक रूप में ही पहचानने, निर्वाह करने की क्रियाकलापों को देखा जाता है।

मानव ही जानने-मानने के आधार पर पहचानने-निर्वाह करने में प्रयोजनशील होता है। मानने का आधार प्रयोजन होना है। जानने का आधार क्यों और कैसे के उत्तर के रूप में है। साथ ही 'वस्तु' कैसा है ? यह भी जानने में आता है। वस्तु कैसा है ? यह जानने का स्वरूप है। इसी से क्यों और कैसे का उत्तर स्वयं स्फूर्त विधि से निर्गमित होता है।

मानने का तात्पर्य प्रयोजन पहचानने के अर्थ में सार्थक होता है। जैसे-अस्तित्व सहज नित्य स्थिति को जानना, सह-अस्तित्व प्रयोजन सूत्र को पहचानना स्वाभाविक होना पाया गया।

अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व को पहचानने की क्रिया-स्वरूप ही निर्वाह करने के अर्थ को प्रमाणित कर देता है। इस प्रकार जानना-मानने के लिये उत्सव और उत्साह है; जानना-मानना, पहचानने के लिये उत्सव और उत्साह है; जानना-मानना-पहचानना, निर्वाह करने के लिये उत्सव और उत्साह है। यह सर्वमानव में हृदयंगम और स्वीकार्य योग्य सूत्र है। - आ.व. 15-18

(*इस ढंग से) जागृति जीवन में ही घटित होना पाया जाता है और प्रमाण-प्रयोजन मानव परंपरा में होना पाया जाता है। जागृति का संपूर्ण स्वरूप जानना-मानना-पहचानना-निर्वाह करना, दूसरे प्रणाली से अनुभवमूलक विधि से अभिव्यक्ति, संप्रेषण एवं प्रकाशन करना ही है। जानने-मानने की संपूर्ण वस्तु अस्तित्व, अस्तित्व ही सह-अस्तित्व, सह-अस्तित्व में परमाणु विकास, परमाणु विकास क्रम में गठनपूर्णता (चैतन्य पद) में संक्रमित होना और जीवनी क्रम, जीवन जागृति क्रम, जीवन जागृति (क्रियापूर्णता), जीवन जागृतिपूर्णता (आचरणपूर्णता) और उसकी निरंतरता, रासायनिक-भौतिक रचना विरचना आवर्तनशील और पूरक विधि से अध्ययन करना सहज है। जीवन ही दृष्टा, कर्ता, भोक्ता पद में होने के कारण अध्ययन करने में समर्थ है। मानव शरीर भी एक रासायनिक, भौतिक रचना है। अस्तित्व ही सह-अस्तित्व के रूप में नित्य प्रभावी होने के कारण जीवन और शरीर का सम्बन्ध और सह-अस्तित्व सहज रूप में देखने को मिलती है।

इसी कारणवश शरीर को जीवन्त बनाए रखते हुए जीवन अपने निज ऐश्वर्य को, अर्थात् जागृतिपूर्ण ऐश्वर्य को मानव परंपरा में प्रमाणित करने के क्रम में जीवन क्रियाकलाप प्रमाणित होता है। अस्तु आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा, और अनुभव प्रमाण, जीवन के वैभव है ही, इनमें से आशा, विचार, इच्छाएं, अनुभवपूत होने पर्यन्त भ्रमित रहना देखा गया है। अनुभवपूत होने का तात्पर्य अनुभवमूलक विधि से आशा, विचार, इच्छाओं को शरीर के द्वारा मानव परंपरा में और नैसर्गिक परिवेश में व्यक्त और प्रयोग करने से है। भ्रम का तात्पर्य जो जैसा है उससे अधिक, कम या उस वस्तु से भिन्न वस्तु मान लेने से है। निर्भ्रमता का तात्पर्य भी सुस्पष्ट है कि जो जैसा है उसे वैसा ही जान लें, मान लें, पहचान लें और निर्वाह कर लें। जो जैसा है का तात्पर्य सह-अस्तित्व में चार अवस्था व चार पदों का होना इंगित करा चुके हैं। इस प्रकार जीवन ही दृष्टा पद में होना, जीवन और शरीर का संयुक्त रूप में मानव परंपरा का होना जिसका प्रयोजन सर्वशुभ होना, सर्वशुभ घटित होने के लिए मानव परंपरा ही जागृत होना एक अनिवार्य स्थिति है। -अ.श. 34, 35

(G) मध्यस्थ क्रिया की महिमा

मध्यस्थ क्रिया उसकी महिमा और उसकी अक्षुण्णता को जानना-मानना-पहचानना, तदुसार निर्वाह करना मानव सहज मौलिकता है। मध्यस्थ क्रिया अपने आप में स्वभावगति का नित्य स्रोत होना सभी अवस्थाओं में पहचाना जाता है। इसी क्रम में ज्ञानावस्था में कार्यरत जीवन में भी स्वभावगति और आवेशित गति को पहचानना सहज है। इस सहजता को इस प्रकार पहचाना गया है कि मानवत्व सहित अभिव्यक्त और प्रकाशित होना मानव सहज स्वभाव गति

है। अमानवीयता वादी प्रकाशन और कार्यकलाप आवेशित गति के रूप में दिखाई पड़ती है। अमानवीयतावादी प्रवृत्तियाँ संघर्ष, युद्ध, शोषण, द्रोह, विद्रोहरत रहना पाया जाता है जबकि मानवीयतापूर्ण आचरण, व्यवहार और व्यवस्था गतियाँ स्वभावगति समाधान के रूप में देखने को मिलता है।

जागृतिक्रम में आशा, विचार, इच्छा बन्धन रहते हुए मानव प्रिय, हित, लाभवादी कार्यकलापों में व्यस्त रहते हुए भी जीवन सहज नियंत्रण, शरीर को जीवंत और नियंत्रित बनाये रखने में 'मध्यस्थ क्रिया' कार्यरत रहता है। इसी के साथ-साथ अव्यवस्था की पीड़ा, व्यवस्था की भासपूर्वक आवश्यकता, और पाने की आशा 'मध्यस्थ क्रिया' के रूप में ही निर्गमित होती है। अतएव जागृति की संभावना की ओर ध्यानाकर्षण होना 'मध्यस्थ क्रिया' की ही महिमा है।

जागृति की आवश्यकता स्वयं 'मध्यस्थ क्रिया' का ही वैभव होना देखा गया है। आवश्यकता की आपूर्ति जीवन सहज अक्षय बल, अक्षय शक्ति सम्पन्नता सहित नियंत्रण रूपी 'मध्यस्थ क्रिया' में समाहित रहता है। इसका प्रमाणीकरण विधि और इसके उपयोग विधि और तृप्ति विधियों जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन सहज अध्ययन क्रम में लोकव्यापीकरण होना देखा गया।

जागृति क्रम तक 'मध्यस्थ क्रिया' की महिमा ही है जो जागृति के लिये आवश्यकता, अनिवार्यता को स्वयं स्फूर्त विधि से स्पष्ट करता आया है। सबसे समीचीन और सुलभ तथ्य यही है पदार्थावस्था से ज्ञानावस्था तक ज्ञानावस्था में जागृतिपूर्णता तक मानव को अध्ययन करने का अवसर और स्वयं का मूल्यांकन करने का अर्हता ये दोनों ऐश्वर्य एक साथ सर्वमानव के लिये सुलभ हो गया है। जागृति में, से, के लिये अध्ययन और उसकी आवश्यकता एवं अनिवार्यता मानव सम्मुख हो चुकी है।

मध्यस्थ क्रिया सहज न्याय और धर्म (सर्वतोमुखी समाधान) व्यवहार में फलित होना स्वाभाविक होता है और प्रामाणिकता के लिये अपरिहार्यता निर्मित हो जाती है। 'क्रिया पूर्णता' की स्थिति में 'मध्यस्थ क्रिया' की महिमा है। तात्त्विक रूप में इस को इस प्रकार से देखा गया है न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य दृष्टियाँ भ्रम बन्धन से मुक्ति; श्रम का विश्राम; न्याय, धर्म, सत्य बोध होते ही स्वाभाविक रूप में प्रमाणित हो जाता है। इसी के साथ-साथ अनुभव की आवश्यकता अपने आप बलवती होता है। जीवन अपने में से व्यवस्था में भागीदारी सहज विधि को स्वीकार लेता है। यह सर्वदा के लिये संस्कार और बोध होना पाया जाता है। यही श्रम का विश्राम स्थिति है।
-आ.व.(2000), 70-75

जीवन ही मानव शरीर द्वारा जागृति को प्रमाणित करने के क्रम में श्रम का विश्राम को मानव चेतना के रूप में स्पष्ट कर देता है। इसका प्रमाण समाधान = विश्राम = जागृति है। इस विधि से श्रम का विश्राम अर्थात् समाधान पद में ही मानवीयता पूर्ण समाज और व्यवस्था अपने अखंडता और सार्वभौमता के साथ वैभवित होना समीचीन है। ऐसी जागृतिपूर्वक परंपरा स्थापित होना और उसकी निरंतरता होना ही वैभव का तात्पर्य है। - क.द. 112-113

'आचरणपूर्णता' चैतन्य इकाई में व्यक्त होना, प्रमाणित होना नियति सहज अभिव्यक्ति होने के कारण ही है। परिणाम का अमरत्व, श्रम का विश्राम और गति का गंतव्य सह-अस्तित्व सहज जागृति विधि सहित अभिव्यक्त होना, इसी धरती पर सुस्पष्ट हो जाता है।

‘आचरणपूर्णता’ स्थिति में मध्यस्थ क्रिया का जागृति पूर्णता सहज अर्थात् सह-अस्तित्व में अनुभव सहित प्रभाव क्षेत्र में सम्पूर्ण जीवन अभिभूत हो जाता है। इसको ऐसा देखा गया है कि जागृतिपूर्ण होते ही अर्थात् अस्तित्व में अनुभव होते ही जीवन के सभी अवयव पूर्णतया अनुप्राणित हो जाते हैं अर्थात् अनुभव सहज विधि से अनुप्राणित हो जाते हैं। यही बुद्धि में ‘सहजबोध’ चित में ‘सहज साक्षात्कार’, वृत्ति में ‘सहज तुलन’ एवं मन में ‘सहज आस्वादन’ नित्य प्रतिष्ठा के रूप में होना देखा गया है। इस जागृति प्रतिष्ठा सम्पन्न जीवन में चयन प्रक्रिया प्रामाणिकता से, विश्लेषण प्रक्रिया प्रामाणिकता से, चित्रण प्रक्रिया प्रामाणिकता से, संकल्प प्रक्रिया प्रामाणिकता से अभिभूत अनुप्राणित रहना देखा गया है। यही जागृति पूर्ण जीवन में मध्यस्थ क्रिया की महिमा है। जिसकी आवश्यकता, अनिवार्यता, प्रयोजनीयता कितना है, कहाँ तक है? यह हर व्यक्ति मूल्यांकन कर सकता है।

तात्त्विक रूप में ‘आचरण पूर्णता’ ही गंतव्य होने के कारण अस्तित्व ही नित्य वर्तमान और स्थिर होना अस्तित्व में अनुभव के फलन में सत्यापित होता है। यही सत्यापन सम्पूर्ण जीवन क्रियाकलापों में अनुप्राणन विधि में स्थापित हो जाता है अर्थात् आत्मा में हुई अनुभव से जीवन सहज सभी क्रियाएँ अनुप्राणित हो जाते हैं और अनुभव के फलन में तृप्ति अथवा आनन्द आत्मा में होना स्वाभाविक है।

यही तृप्ति जीवन के सभी क्रियाओं में जैसे पाँचों शक्तियाँ और चारों बलों में तत्काल ही अनुप्राणित हो जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन ही अनुभव सहज प्रतिध्वनि बन जाता है। यही तृप्त जीवन, ‘दिव्य जीवन’, ‘भ्रम मुक्त जीवन’, ‘जागृतिपूर्ण जीवन’ होना देखा गया है, समझा गया है। अस्तु! मध्यस्थ क्रिया के अनुरूप समूचा जीवन क्रियाकलाप होना ही जागृतिपूर्णता होना देखा गया है। इसी महिमावश जीवन में सम-विषमात्मक कार्यकलाप शून्य हो जाता है। इसी के लिये हर जीवन आतुर-कातुर, आकुल-व्याकुल रहता है। अतएव, मानव परंपरा में क्रियापूर्णता, आचरण पूर्णता सहज परंपरा की आवश्यकता है। आ.व., (2000), 70-75

गठनपूर्णता की मौलिकता है-अणुबन्धन और भारबन्धन मुक्ति और आशा, विचार, इच्छा बन्धन का प्रकाशन और इसी क्रम में आशा, विचार, इच्छा बंधन मुक्ति ही जागृति का स्वरूप है। फलस्वरूप जागृत जीवन का निश्चित कार्यकलाप मानवीयता और मानवीयता पूर्ण परंपरा है। ऐसी चैतन्य इकाई में मध्यस्थ क्रिया का स्वरूप और कार्य भी यथा स्थिति को बनाए रखने और जीवनी क्रम, जागृति क्रम और जागृति को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए नित्य वैभव को नियंत्रित किये रहना ही परंपरा के रूप में मध्यस्थ क्रिया सहज मौलिकता है। - आ.व. 92

इस अभिव्यक्ति में मध्यस्थ सत्ता, मध्यस्थ क्रिया, मध्यस्थ बल, मध्यस्थ शक्ति, मध्यस्थ जीवन सहज प्रमाण ही मानव परंपरा का एकमात्र सहज मार्ग है। अतएव मानव परंपरा की अनिवार्यता सहज ही विदित होता है। अस्तित्व स्वयं नित्य सह-अस्तित्व है इसलिये जागृत जीवन सह-अस्तित्व में तृप्त होता है। ऐसी तृप्ति का बहुमुखी अभिव्यक्ति ही परंपरा के नाम से ख्यात होता है। अस्तु, मध्यस्थ जीवन, मध्यस्थ क्रिया, मध्यस्थ सत्ता, बल और शक्ति सहज वैभव के संबंध में प्रतिपादन और व्याख्याएँ प्रस्तुत है। यही मध्यस्थ दर्शन सह-अस्तित्ववाद है। - आ.व. 102-103

(H) जागृति ही प्रमाणों का आधार है

मानव परम्परा में जागृति ही प्रमाणों का आधार है। जीवन में जागृति मानव परम्परा में ही चरितार्थ रूप मानव का होना पाया जाता है। जीवन जागृति मानव शरीर द्वारा मानव परम्परा में प्रमाणित होती है। जीवन का तात्त्विक स्वरूप को गठन पूर्ण परमाणु चैतन्य इकाई के रूप में और रचनाओं को रासायनिक भौतिक रूप (और रचना) में समझा गया है कि -

(1) जीवन अपने स्वरूप में, गठनपूर्ण परमाणु है। गठनपूर्ण परमाणु का तात्पर्य है कि जिस गठन में, सम्पूर्ण परिवेश, मध्य में स्थित अंश अपने अपने में तृप्त हो।

(2) जीवन परमाणु में, मध्य बिंदु में और आश्रित परिवेशों में, जितनी जितनी संख्या में अंश स्थित होना है, वह पूर्ण हुआ रहता है। इसकी कार्य-योजना “सह-अस्तित्व सहज” है, मानव सहज कार्य-योजना जागृति को प्रमाणित करना ही है।

(3) गठन पूर्ण परमाणु चैतन्य पद में होता है, जिसको जीवन नाम दिया गया है। ऐसे परमाणु अर्थात् जीवन परमाणु संक्रमण के साथ ही अणुबंधन मुक्ति, भारबन्धन मुक्ति और आशा बन्धन से युक्त होना पाया जाता है। यही बिंदु है - जीने की सहज आशा और आस्वादानापेक्षा उद्गमित रहती है।

(4) जीवन परमाणु अक्षय बल, अक्षय शक्ति सम्पन्न रहता है क्योंकि मात्रात्मक परिवर्तन, जीवन परमाणु में होता नहीं। यह अणुबंधन मुक्ति के साथ ही, आशा बन्धन महिमा स्वरूप देखा जाता है।

(5) जीवन परमाणु अपनी वर्तुलात्मक गति से अधिक कम्पनात्मक गति वैभव सम्पन्न होता है, यह भारबन्धन मुक्ति का फलन है। यही आशाबन्धन के साथ ही प्रवर्तन विधियों को, पहचानने, निर्वाह करने के कार्यक्रम को निर्धारित करता है। मनुष्येतर जीवों के कार्यकलाप (वंशानुषंगीयता के क्रम में) वंशानुषंगीयता का स्वरूप, कार्य, शरीर रचनानुषंगीय विधि से प्रमाणित रहता है। जीवन में आशा-चयन और आस्वादन में; विचार-तुलन और विश्लेषण में; इच्छाएं, चिंतन (साक्षात्कार) और चित्रण में; अवधारणा-बुद्धि बोध और संकल्प में; आत्मा-प्रमाण अनुभव और प्रामाणिकता में कार्यरत रहता है। इसका प्रमाण प्रत्येक जागृत मनुष्य ही है।

(6) प्रत्येक जागृत मनुष्य में ऊपर कहे गए सभी लक्षणों को अध्ययन करना संभव है इसमें और खूबी यही है कि जीवन सहज महिमा को स्वयं में अनुभव कर सकता है और मानव में ही सहज रूप में प्रमाणों को पा सकता है।

(7) जागृत मानव परम्परा में प्रत्येक मनुष्य, जागृति सहज प्रमाण है एवं स्वयं प्रमाणित होना चाहता है। सभी मनुष्यों से यही अपेक्षा है, अपितु प्रत्येक मनुष्य मनाकार को साकार करने वाला, मनः स्वस्थता का आशावादी है। यह परिभाषा प्रत्येक मनुष्य में देखने को मिलती है। मनाकार को साकार करने का तात्पर्य सामान्य आकांक्षा जैसे - आहार, आवास, अलंकारों सहित समृद्धि का अनुभव करने की आकांक्षा और महत्वाकांक्षा जैसे - दूरश्रवण, दूरगमन, दूरदर्शन साधनों से संपन्न होने की कामना स्पष्ट होती है। मनः स्वस्थता का तात्पर्य सुख, शांति, संतोष, आनंद और उसकी निरंतरता सहज स्थिति को वरण करना है।

(8) मानवापेक्षित परिवार मूलक, स्वराज्य व्यवस्था क्रम में, सम्पूर्ण सामान्य आकांक्षाएँ प्रमाणित होना एवं सुलभ होना संभव है। इसी के साथ महात्वाकांक्षा सम्बंधी उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजनशीलता भी प्रमाणित होना सहज है।

(9) जीवन सहज रूप में बल और शक्तियाँ अक्षय हैं, अविभाज्य हैं और शाश्वत हैं। इनमें से बलों का नाम मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा और शक्तियों का नाम आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा और प्रामाणिकता दिया गया है। जीवन सहज बलों में संगीतीकरण ही, मनः स्वस्थता का सम्पूर्ण स्वरूप है। शक्तियों में संगीतीकरण ही व्यवहार में प्रमाणित होने का सूत्र है। मानव परम्परा में परस्परता और व्यवहार, एक सहज कार्यकलाप है। जीवन में अनुभव, मनः स्वस्थता का परम है क्योंकि अनुभव सत्य में, से के लिए होता है, उसका प्रमाण व्यवहार परम्परा में ही सार्थक होना संभव है। ऐसे बलों में संगीतीकरण को देखा (समझा) गया है कि जागृत जीवन सहज क्रिया व आचरण के अनुसार वृत्ति के अनुरूप मन के कार्य करने की स्थिति में सुख मिलता है, जिसका प्रमाण स्वयं के प्रति विश्वास, श्रेष्ठता के प्रति सम्मान, प्रतिभा और व्यक्तित्व में संतुलन तथा व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलम्बी होने से है।

यह तभी संभव होता है जब वृत्ति, चित्त के अनुरूप; चित्त, बुद्धि के अनुरूप; बुद्धि, आत्मा के अनुरूप; आत्मा, अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व के अनुरूप कार्य करने की स्थिति में और गति में प्रमाणित होता है। इसलिए चित्त के अनुरूप वृत्तियाँ तुलन और विश्लेषण संगीतीकरण विधि से, शांति सहज प्रमाण को देखा गया है। बुद्धि के अनुरूप कार्य करता हुआ चिंतन और चित्रण सत्यबोध सहज कार्यप्रणाली और प्रक्रिया में संगीतीकरण स्वयं संतोष के रूप में प्रमाणित होना पाया गया है। बुद्धि, आत्मानुरूपी विधि से, कार्यकलापों को संपन्न करती है, तब परम संगीत, आनंद के नाम से ख्यात होता है। आत्मा में, अस्तित्व के अनुरूप कार्य होना सहज है। यह सहजता, मानवीयता पूर्ण प्रामाणिकता सम्पन्न परम्परा की महिमा से सर्व सुलभ होता है। दूसरा, अनुसंधान विधि से भी संपन्न होता है। इस प्रकार बलों में संगीतीकरण प्रणाली से मनः स्वस्थता का प्रमाण और शक्तियों में संगीतीकरण प्रणाली से नैसर्गिक संतुलन, अखंड समाज में संतुलन, सार्वभौम व्यवस्था में संतुलन, मानवीय शिक्षा-संस्कार, स्वास्थ्य-संयम सहित न्याय-सुलभता, उत्पादन सुलभता, विनिमय-सुलभता सम्पन्न संस्कृति, सभ्यता, विधि व्यवस्था में संतुलन संभव है। -
म.वि. 13-16

(I) अनुभव और जागृति की स्थिरता और निश्चयता

निश्चयता, स्थिरता सर्वमानव में चिराकांक्षा के रूप में बनी ही है। सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व, ज्ञान और स्वीकृति का आधार है। यह सर्वमानव में सर्वेक्षण पूर्वक विदित होने वाला तथ्य है। स्वयं को जाँचने से भी यही स्पष्ट होता है। हम सब स्थिरता व निश्चयता को ही स्वीकार करते रहे हैं, न कि अस्थिरता, अनिश्चयता को। स्थिरता के सहज आधार पर ही निश्चयता का होना स्वभाविक है। विकास सहज निश्चयता, सर्वमानव में जीवन क्रिया के रूप में प्रमाणित है। जीवन की पाँच क्रियायें स्थिति के रूप में और पाँच गति क्रिया के रूप में सर्व मानव में अध्ययन होना स्वभाविक है। अध्ययन करने वाला भी मानव ही है। अध्ययन के उपरान्त प्रमाणित करने वाला भी मानव, प्रमाणित रूप में जीने वाला भी मानव ही है। इस प्रकार मानव ही जागृति का प्रमाण है। जीवन क्रिया सर्वमानव में गति के रूप में चयन, विश्लेषण, इच्छा, संकल्प और प्रमाणों के रूप में होना पाया जाता है, इसे परावर्तन के नाम से भी जाना

जाता है। इसी के साथ पाँच स्थिति क्रियायें आस्वादन, तुलन, चिंतन, बोध और अनुभव क्रिया के रूप में पाया जाता है। तभी मानव परम्परा अनुभव प्रमाण प्रमाणित होना पाया जाता है। जीवन की पाँच स्थिति क्रियाओं को बल के रूप में तथा पाँच गति क्रियाओं को शक्ति के रूप में व्यक्त करते हैं।

जागृत जीवन द्वारा संबंध उनके निर्वाह एवं प्रयोजनों के अर्थ में किया गया चयन का नाम – आशा, सुख से जीने की आशा, यह पहली जीवन शक्ति है। दूसरा, आशा के अनुरूप, अर्थात् जागृत जीवन सहज आशाओं के आधार पर विश्लेषण सम्पन्न होना ही विचार है। तीसरा, जागृत जीवन के विश्लेषण के अनुरूप चित्रण होते रहना ही इच्छा है। चौथा, जागृत जीवन के न्याय, धर्म, सत्यता को प्रयोजित, और व्यवहारित करने का नाम है ऋतम्भरा। पाँचवां, अनुभव सहज प्रमाणों का प्रमाणिकता नाम है। इस प्रकार पाँच शक्तियों का होना मानव को समझ में आता है। इसी प्रकार पाँच बलों की भी प्रमाणिकता है –

1. जागृत जीवन में अनुभव एवं उसकी निरंतरता क्रिया का नाम है आत्मा।
2. अनुभव के यथावत् बोध करने वाली अर्थात् पूर्णतया स्वीकार करने वाली क्रिया का नाम है बुद्धि।
3. अनुभव अनुसार न्याय, धर्म, सत्य को स्वीकार करने की निरंतरता को बनाए रखने वाली क्रिया चिंतन का नाम है चित्त।
4. साक्षात्कार किया गया न्याय धर्म सत्य को अनुभव मूलक विधि से तुलन करने वाली क्रिया का नाम है वृत्ति।
5. तुलन के अनुसार संपूर्ण मूल्य, चरित्र, नैतिकता की अपेक्षा अथवा आस्वादन करने वाली क्रिया का नाम है मन।

इस प्रकार पाँच बल एवं पाँच शक्तियों का स्पष्टीकरण जीवन में होने वाली क्रिया के रूप में है।

जागृत मानव में प्रमाण अथवा सम्पूर्ण प्रमाण सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व में अनुभव का ही प्रकाश है। अनुभव के प्रकाश में प्रमाण के अतिरिक्त कोई दूसरा वस्तु समाहित रहता ही नहीं। इसलिए प्रमाणों को परम, पावन, पूर्ण नामों से भी इंगित करते हैं। दूसरे क्रम में अनुभव प्रमाणों की परम स्वीकृति संकल्पों में, संकल्प का चित्रण इच्छाओं में, ऐसी चित्रणों का विश्लेषण विचारों में, ऐसे विचारों का आस्वादन मूलक विधि से चयन क्रिया आशाओं में सम्पादित होना समझ में आता है। अनुभवमूलक विधि से ये सभी दस क्रियाओं में निश्चयता स्पष्ट होती है।

जीवन ज्ञान सम्पन्नता विधा में यह अध्ययनगम्य वस्तु है। स्थिति क्रियायें अनुभवगामी और अनुभवमूलक विधि से अभिव्यक्त होना, और अनुभवमूलक विधि से प्रमाणित होना सार्थक है। मानव परम्परा में, से, के लिये तीसरा कोई सार्थक प्रक्रिया, विधि अस्तित्व में नहीं है। मानव सहज विधि से आवश्यकता के आधार पर यही परम होना पाया जाता है। मानव लक्ष्य ही परम आवश्यकता के रूप में पहचानने में आता है, समझ में आता है। फलतः मानव सचेष्ट होता हुआ भी देखने को मिलता है।

मानव लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व है, यह अनुभवमूलक विधि से ही प्रमाणित होना पाया जाता है। अनुभव, जीवन सहज प्रमाण एवं वैभव क्रिया है। इसके आधार पर ही प्रमाण परम्परा मानव कुल में चरितार्थ होना

समीचीन है। इसी क्रम में हमें निश्चयता को प्रमाणित करने का सौभाग्य स्पष्ट हो जाता है। यह हर नर नारी के लिए समीचीन है।

अनुभव ही जागृति और जीवन की परम अभिव्यक्ति, सम्प्रेषणा, प्रकाशन है। परम का तात्पर्य अनुभव से ज्यादा होता नहीं, जीवन उससे कम में अधूरा रहता है। अनुभव पूर्वक जीवन में तृप्ति होना पाया जाता है। जीवन तृप्ति अपने आप में मानव परम्परा में समाधान, समृद्धि, अभय के आधार पर सुख, शांति, संतोष के रूप में पहचानना होता है। सहअस्तित्व में अनुभव ही परम है, यही आनन्द है। इसका प्रमाण, मानव परम्परा में, से, के लिये परम है। इनका अर्थात् मानव लक्ष्य का मूल्यांकन प्रणाली, व्यवस्था में समाहित रहता है, यही न्याय सुरक्षा व्यवस्था है। न्याय सुरक्षा विधि से मानव हर स्थिति गति में विश्वस्त रहना, आश्वस्त रहना पाया जाता है। फलस्वरूप, जीवन सहज सम्पूर्ण वैभव मानव परम्परा में प्रमाणित होने का मार्ग प्रशस्त रहता है। यही जागृति परम्परा है। जीवन तृप्ति का प्रमाण मानव का अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में भागीदार होना है। मानव परम्परा में व्यवस्था होना, व्यवस्था विधि से ही समाधान, समृद्धि, अभय सहअस्तित्व प्रमाणित होना स्वभाविक रहता है। यही जागृति का भी प्रमाण है, सम्पूर्ण मानव जीवन का भी प्रमाण है। मानव परम्परा का परम वैभव है। प्रयोजन रूपी व्यवस्था ही मानव परम्परा की सर्वोच्च उपलब्धि है। इन्हीं उपलब्धियों में स्थिरता, निश्चयता स्पष्ट है।

मानव परम्परा जागृत होने में स्थिरता, अस्तित्व सहज विधि से प्रमाणित होता है, सुस्पष्ट होता है। निश्चयता मानवीयता पूर्ण आचरण विधि से प्रमाणित होता है, सुस्पष्ट होता है। इसकी अपेक्षा मानव में पीढ़ी से पीढ़ी में रहा आया है। इस प्रकार मानव का विकास और जागृति को प्रमाणित करने में समर्थ होना ही, मानव का उत्थान, वैभव, राज्य होना पाया जाता है। राज्य का परिभाषा भी वैभव ही है। उत्थान का तात्पर्य मौलिकता रूपी ऊँचाई में पहुँचने से या पहुँचने के क्रम से है। वैभव अपने स्वरूप में परिवार व्यवस्था और विश्व परिवार व्यवस्था ही है। ऐसी व्यवस्था में भागीदारी मानव का सौभाग्य है। इस क्रम में अध्ययन, शिक्षा संस्कार के रूप में उपलब्ध होते रहना भी व्यवस्था का बुनियादी वैभव है। वैभव ही राज्य और स्वराज्य के रूप में सुस्पष्ट होता है। स्वराज्य का मतलब भी मानव के वैभव से ही है। यह वैभव समझदारी पूर्वक ही हर मानव में पहुँच पाता है। यह शिक्षा पूर्वक लोकव्यापीकरण हो पाता है। ऐसी व्यवस्था अपने आप में द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध मुक्त रहना इसके स्थान पर समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व पूर्वक रहना पाया जाता है। यही सार्वभौम व्यवस्था का तात्पर्य है।

युद्ध और संघर्ष मुक्त जागृति और प्रमाण युक्त परंपरा ही व्यवस्था का सूत्र और व्याख्या है। समझदारी पूर्वक हर मानव अर्थात् नर-नारी का अपने जागृति को प्रमाणित करना स्वयंस्फूर्त प्रवृत्ति है। इन प्रवृत्तियों के आधार पर मानव का वर्तमान में विश्वास को प्रमाणित कर पाना होता है। यही कड़ी है। वर्तमान में विश्वास के आधार पर ही सहअस्तित्व प्रमाणित हो पाता है।

जागृत मानव परंपरा में ही स्थिरता सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व विधि से प्रमाणित होता है और निश्चयता मानवीयतापूर्ण आचरण विधि से प्रमाणित होता है।

अध्याय 4. मानवीयतापूर्ण आचरण

4.1 मानवीय आचरण परिचय

(A) मानवीयता पूर्ण आचरण की आवश्यकता क्यों ?

सम्पूर्ण मानव में किसी को पहचानने के लिए उसकी मानसिकता ही ध्रुव बिंदु है, चाहे पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था की कोई भी इकाई हो। जैसे अस्तित्व सहित गठित-संगठित आचरणों को पहचानना होता है, इसे विशेषकर परमाणु, अणु और अणु रचित पिण्डों में परीक्षण, निरीक्षण, सर्वेक्षण पूर्वक पहचानना सहज है।

पदार्थावस्था में मृत, पाषाण, मणि, धातु के रूप में वैभव होना पाया जाता है। मिट्टी के आचरण को उर्वरक-संपन्नता और अनुर्वरकता के आधार पर पहचाना जाता है। मिट्टी विद्युतग्राही नहीं होती। पाषाणों को विभिन्न प्रजाति के रूप में उसमें संगठित सम्मिलित अणुओं के आधार पर पहचाना जाता है। ऐसे सभी पाषाण, विभिन्न अनुपातीय मिश्रण रूप में अस्तित्व में होते हैं। इसी के साथ इन में कठोरता भी है, जो भार या दबाव वहन के रूप में पाया जाता है। पाषाण विद्युत-ग्राही नहीं होते।

पदार्थावस्था में मणि समुच्चय तात्विक गठन संगठन सहित पिण्ड के रूप में है। सभी मणियों के गठन में सर्वाधिक एक ही प्रजाति के परमाणुओं से संपन्न अणु का रहना देखा जाता है। इनमें भी कठोरता को नापना और रचना विधि को पहचानना संभव है। मणियों में कुछ मणियां विद्युत ग्राही होती हैं। सर्वाधिक मणियां विद्युत ग्राही नहीं होती। मणियों में सर्वाधिक मणियां किरण-ग्राही होती हैं, कुछ मणियां किरण स्रावी भी होती हैं।

सभी प्रजाति के धातु विद्युत ग्राही होते हैं और इनकी कठोरता के आधार पर इनके आचरणों को पहचाना जाता है। यही इनका प्रधान आचरण है। ऐसी धातुओं में से विकिरणात्मक धातुएं होना भी पहचाना जाता है जिसमें सम्पूर्ण परमाणु अपने परिवेशीय अंशों के गति सहित उष्मा (अग्नि) मध्यांशों में समाहित होता रहता है। दूसरी भाषा से परिवेशीय अंशों की गति सहज अग्नि अंतर्नियोजित होता रहता है। यह विकिरण का स्रोत बना रहता है। ऐसे सभी परमाणु अजीर्ण परमाणु के रूप में व्याख्यायित हैं।

इस प्रकार पदार्थावस्था का स्वरूप और आचरण नित्य प्रकाशमान है। इस सबको मनुष्य ही समझने योग्य इकाई है। प्राणावस्था की सभी वनस्पतियों के अस्तित्व, पुष्टि सहित सारक-मारक आचरण को, मनुष्य किसी न किसी रूप में पहचानता है, पहचान सकता है।

मनुष्येतर जीवों को अस्तित्व, पुष्टि, आशा सहित वंशानुषंगीय आचरण के रूप में मानव ने देखा है और उक्त तीनों अवस्थाओं में पाये जाने वाले आचरण के प्रति मानव विश्वास करता है। इसी के साथ साथ यह भी निष्कर्ष मानव

पाता है कि, मनुष्येतर सभी संसार अपने आचरण रूपी फलन तथा उसकी निरंतरता के प्रति आश्वस्त रहता है। इसी क्रम में मानव, मानव सहज आचरण को पहचानने में, आदर्श को पहचानने में असमर्थ रहा।

सुदूर विगत से अब तक किए गए दो प्रकार के चिंतन भौतिकवादी चिंतन और आदर्शवादी चिंतन पर जितने भी प्रयत्न और प्रयोग मानव कर पाया, इसके फलन में निश्चय रूप में मानवीय आचरण, शिक्षा संस्कार और कार्य, न्याय विधान परम्परा में प्रमाणित नहीं हो पाया। इसलिए मानवीय आचरण का अनुसंधान एक आवश्यकीय मुद्दा बना ही रहा। इसी क्रम में मानव सहज बहुआयामी अभिव्यक्ति सहज आचरण को मानवीयतापूर्ण आचरण के रूप में पहचानना, मानव कुल के लिए एक आवश्यकता रही।

प्रत्येक मनुष्य का बहुआयामी, प्रवर्तनशील, कार्यशील, विचारशील और मूल्यांकनशील होना पाया जाता है। इतनी ही नहीं, कल्पनाशील, अध्ययनशील, विश्लेषण और तुलनशील होना पाया जाता है। इन सभी प्रवर्तन, विचार, व्यवहार, कार्यों में कोई उद्देश्य भी होता है। इस प्रकार मनुष्य की प्रवर्तनशीलता, उद्देश्यों के आधार पर सफलता-विफलताओं को आकलित करना, पुनः सफलता के लिए प्रयत्नशील होना, मानव कुल प्रतिष्ठा के रूप में वैभव देखने को मिलता है। इस क्रम में मानव का निश्चित आचरण अथवा सार्वभौम आचरण (सभी स्वीकार सकें, ऐसा आचरण अथवा सभी में कोई आचरण समान रूप से वर्तता हो) को पहचानने का भी प्रयास रहा है। इन्हीं विधियों से, इन्हीं तमाम प्रवर्तनों को, भौतिकवादी विधि से, शरीर संवेदनाओं को आधार मानते हुए जब मानव में, मानसिकता का विश्लेषण किया गया, तब कामुकता आधार बना। कामुकता को सफल बनाने के लिए, बाकी सभी प्रवर्तनों को एक आवश्यकता माना गया, जिससे कामोन्मादिता प्रोत्साहित हुई। इसे कुछ लोग गौरव सहित स्वीकारते भी रहे, कुछ लोग अस्वीकारते भी रहे। यह प्रतिपादन विशेषकर भौतिकवादी चिंतन के आधार पर रहा है।

भौतिकवादी चिंतन ज्ञान हास विधि का आकलन होने के कारण कामोन्मादी मनोविज्ञान भी, मानव कुल के लिए हास का कारण बना जिसके परिणाम स्वरूप भोगोन्माद, लाभोन्माद-शोषण, द्रोह-विद्रोह और युद्ध मानसिकता बनते आया। - म.वि. 1-3

रहस्यमय ईश्वर केन्द्रित चिंतन के आधार पर ईश्वरीय शासन को परम मानते आए हैं। इसीलिए ईश्वरीय भय, ईश्वर के प्रतिनिधि रूपी राजा का भय, शक्ति केन्द्रित शासन का भय रहा और इसके साथ साथ प्रलोभन जुड़ा ही रहता है। चूंकि कोई भी भय के साथ, सोच नहीं पाता, कर नहीं पाता, जी नहीं पाता, फिर भी मानव विचार करते आया, काम करते आया, जीते आया। भय के साथ प्रलोभन का सहारा बना रहा तथा आस्थाओं का सहारा बना रहा। आस्थाओं का ध्रुव तीन तरीके से परिलक्षित हुआ - (1) ईश्वर और ईश्वर तुल्य व्यक्तियों के प्रति (2) राजा और संविधानों के प्रति (3) गुरुजनों और विविध प्रकार के साधनाओं के प्रति आस्थाएं अर्पित होती रहीं। इन सभी के मूल में स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य की चर्चा, सभी धर्म कहलाने वाली परंपराओं में प्रतिपादित रही हैं। जिसमें से पाप और नरक के प्रति भय और पुण्य तथा स्वर्ग के प्रति प्रलोभन रहा, इन दोनों से मुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ स्थिति बताई जाती है। प्रायः सभी प्रकार के धर्म ग्रंथों में इस प्रकार की मानसिकता को देखा जा सकता है। - म.वि. 4-7

(उपदेशों के आधार पर, अवतारी पुरुषों के अनुरूप 'आदर्श' आचरण की परिकल्पना दी गई। अनेको सज्जन इसमें तुल गए, परन्तु ऐसे आचरणों का कोई सार्वभौमिक स्वरूप, सर्व मानव सम्मत स्वरूप नहीं हुआ, शिक्षा में नहीं आ पाया – संवाद, २००७)

इस प्रकार रहस्यमय ईश्वर केंद्रित चिंतन ज्ञान लोक मानस पर, भय और प्रलोभन घृणा के रूप में अपना प्रभाव डालते आया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पहले से ही लाभ, द्वेष, संग्रह-शोषण की बात मानव मानस में बढ़ती आयी है।

भौतिकवादी चिंतन के उपरांत जिस कामोन्मादी मनोविज्ञान का विश्लेषण अध्ययनगम्य हुआ, उससे पहले से रहा आया, भय तथा प्रलोभन और अधिक प्रभावशील हुआ – यह एक प्रक्रिया सहज परिणाम रहा। इन दोनों परिणामों में भोगोन्माद होना एक अनिवार्य घटना रहा। यह घटना बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में अधिकांश लोगों को विदित हो चुकी है। इनके सम्मिलित प्रभावों के आधार पर अथवा अलग अलग प्रभाव पर मानव का आचरण सहज निश्चयन होना संभव नहीं हुआ। इसके विपरीत प्रकारान्तर से इसकी चाहत (मानवीयता पूर्ण आचरण की अपेक्षा) बनी ही रही। इस प्रकार मानव का पुनर्अध्ययन होना आवश्यकता बन गई। इस क्रम में रहस्यमय ईश्वरवादी चिंतन के आधार पर मनुष्य सहज जितनी भी परिकल्पनाएं हुई, वे विविध देश, विविध काल और भौगोलिक परिस्थितियों में मानव जीवन, जीवनी-क्रम और जीवन के कार्यक्रम को अध्ययन गम्य कराने में असफल रही हैं। भक्ति व विरक्ति विधि से भी सार्वभौम रूप में लोकव्यापीकरण प्रभावित नहीं हो पाया। इसी प्रकार अस्थिरता, अनिश्चयता मूलक वस्तु केन्द्रित चिंतन ज्ञान के आधार पर मानव-जीवन, जीवनी क्रम, जीवन के निश्चित कार्यक्रम का अध्ययन नहीं हुआ। इसलिए निश्चयात्मक, मानवीयता पूर्ण आचरण की परिकल्पना, अध्ययन और प्रमाण तथा इसे व्यावहारिक प्रयोजन के साथ बोधगम्य करा देना ही “मानव संचेतना वादी मनोविज्ञान” का अभिप्रेत मुद्दा है। – म.वि. 4-7

(B) मानवीयतापूर्ण आचरण का आधार

मानवीयता पूर्ण आचरण को पहचानने का आधार, अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन ज्ञान है। यह चिंतन अस्तित्व में, अनुभव मूलक विधि से सहज सुलभ हुआ है। सहज का तात्पर्य, प्रत्येक मनुष्य में, से, के लिए अध्ययन मूलक प्रणाली से बोधगम्य होने से और अनुभव मूलक प्रणाली सहित अभिव्यक्त होने से है। सुलभ का तात्पर्य, इसके लोक व्यापीकरण होने की संभावना, आवश्यकता और प्रयोजन से है। अस्तित्व ही नित्य वर्तमान है। इस रूप में, सत्ता में संपृक्त प्रकृति के रूप में सह-अस्तित्व होना प्रतिपादित एवं व्याख्यायित हुआ है। नित्य वर्तमान सहज सह-अस्तित्व में ही सम्पूर्ण भाव, क्रिया, स्थिति, गति और अस्तित्व सहज प्रयोजन (पदार्थ, प्राण, जीव और ज्ञानावस्था) निरंतर प्रमाण रूप में देखना मानव में, से, के लिए सहज है। जिसमें से मानव ज्ञानावस्था में, मनुष्येतर सम्पूर्ण जीव जीवावस्था में; सम्पूर्ण अन्न वनस्पतियां प्राणावस्था में; और अन्य सभी वस्तुएं पदार्थावस्था में सूत्रित एवं व्याख्यायित हैं। व्याख्यायित होने का तात्पर्य प्रकाशित होने से है। अस्तित्व ही नित्य प्रकाशमान है, विद्यमान है। यह प्रधानतः चार अवस्थाओं में इस धरती पर प्रमाणित हैं। इस धरती में स्थित परम्परा सहज मानव, अध्ययन करने की इकाई है। इस विधि से मनुष्य ही अस्तित्व में अध्ययन करने वाली इकाई है, जिसके आधार पर वह कार्य व्यवहार करने वाला है। अध्ययन पूर्वक ही मानव समझदार होना होता है।

अस्तित्व में प्रत्येक एक अपने “त्व” सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है, यह समझ में आता है। समझने का तात्पर्य, जानने और मानने से है। अध्ययन में, से, के लिए मानव में से के लिए तीन मुद्दे देखने को मिलते हैं। देखने का तात्पर्य समझना है यह -

(1) अस्तित्व दर्शन (2) जीवन ज्ञान (3) मानवीयता पूर्ण आचरण ही है। ये तीन मुद्दे हैं। अस्तित्व सहज रूप में यह धरती अनन्त ब्रह्माण्डों अथवा अनन्त सौर-व्यूहों में से एक सौर-व्यूह में स्थित है। यह धरती अपने आप समृद्ध होने के उपरान्त, मनुष्य से भी समृद्ध हुई है। इस धरती पर मनुष्य सहज अवस्थिति के अनन्तर मानव, जो कुछ भी अपनी कल्पनाशीलता, कर्म-स्वतंत्रता के चलते, अभी तक भय, प्रलोभन, आस्थावादी परिकल्पना में उथल पुथल होना देखा गया, यह जागृति-क्रम घटना में गण्य है। “जागृति सहज अभिलाषा सहित, जागृति क्रम का प्रमाण होना पाया जाता है।” जागृत मानव के लिए ही, प्रमाणित होना वांछनीय है। प्रमाणित होने के क्रम में अभी तक सार्वभौम व्यवस्था, अखंड समाज की अपेक्षा बनी रही है, यह अभी भी अपेक्षित है।

भय, प्रलोभन, आस्था के अनन्तर न्याय, समाधान और प्रामाणिकता, प्रकारान्तर से सभी मनुष्यों में अपेक्षित है। अपेक्षाएं मानव में कर्म स्वतंत्रता कल्पनाशीलता वश ही, बहती हुई देखने को मिलती हैं। यही मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान का अनुसंधान क्रम सूत्र है। - म.वि. 4-7

(C) मानवीयतापूर्ण आचरण का स्वरूप

अस्तित्व में प्रत्येक इकाई अपने आचरण रूपी व्याख्या सहित ही अपने-अपने ‘त्व’ को प्रमाणित करता हुआ देखने को मिलता है। इसी क्रम में सम्पूर्ण जागृत मानव ‘मानवत्व’ को अपने आचरणपूर्वक प्रमाणित करना स्वाभाविक है, व्यवहारिक है और अपेक्षित है। मानव प्रकृति ही जीवन जागृति पूर्वक मानवत्व को आचरण में प्रमाणित करना होता है। अन्य प्रकृति यथा पदार्थावस्था में प्रकृति परिणामानुषंगीय विधि से अपने-अपने ‘त्व’ को आचरणों में प्रमाणित करता हुआ देखने को मिलता है। यथा दो अंश का परमाणु अपने निश्चित विधि से आचरण करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ दो अंश वाले जाति के सभी परमाणु एक ही आचरण करते हैं। इसलिये इस प्रजाति के सम्पूर्ण परमाणुओं का आचरण एक ही है। इसी प्रकार 3, 4 या 5 आदि विभिन्न संख्यात्मक परमाणुओं का आचरण, अपने-अपने प्रजातियों में सम्पूर्णता के रूप में एक ही है। इसमें कोई व्यतिरेक होता नहीं है। परमाणुओं की अनेक प्रजातियाँ हैं। इसी क्रम में अणुओं में निश्चित प्रजाति के अणुओं का आचरण और निश्चित रचना का आचरण अक्षुण्ण होना पाया जाता है। जैसे विभिन्न तत्वों के परमाणुओं से रचित अणु, अणु रचित पिण्ड रचनाओं का आचरण सर्वदेश-सर्वकाल में एक ही होता है।

प्राणावस्था में सम्पूर्ण रचनाएँ प्राणकोशाओं से रचित रहना विदित है। ऐसे प्राण कोषाएँ मूलतः समान होते हुए रचना में विविधता होना देखा गया। इसका नियंत्रण बीजानुषंगीय विधि से सम्पन्न होता हुआ दिखाई पड़ता है। बीजों के आधार पर वृक्ष, वृक्षों के आधार पर बीज प्रमाणित होना सर्वविदित है। इनके सम्पूर्ण आचरण अपने-अपने प्रजाति के सम्पूर्णता में एक ही होता है। जैसे-बेल, दूब, पीपल, कमल, गुलाब आदि सभी पेड़-पौधे वृक्ष, पुष्प, लता और

उन-उनमें विविध प्रजातियाँ बीज, वृक्ष, न्याय क्रम में नियंत्रित है। उन-उन प्रत्येक प्रजातियों के सम्पूर्ण एक-एक अपने आचरण के रूप में एक ही होते हैं।

जीव संसार अनेक प्रजातियों के रूप में दृष्टव्य है। प्रत्येक प्रजाति सहज जीव कितने भी संख्या में हो उन-उन का आचरण एक ही होना पाया जाता है। जैसे कुत्ता, बिल्ली, गाय, घोड़ा, गधा, हाथी आदि जीव संसार दृष्टव्य है। इन-इनके आचरणों में स्थिरता, संतुलन स्पष्ट दिखाई पड़ता है। ये जीव संसार वंशानुषंगीय विधि से नियंत्रित और संतुलित होना पाया जाता है।

इन तथ्यों के अवलोकन से यह पता लगता है कि सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति रूपी सह-अस्तित्व ही पूरकता विधि से पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था अपने में व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में होना अस्तित्व सहज वैभव नित्य वर्तमान है। इसी धरती में चारों अवस्थायें वर्तमान में दिखाई पड़ती हैं।

ज्ञानावस्था में मानव को स्वयं को पहचानने की आवश्यकता है। यह गौरवमय प्रतिष्ठा हर व्यक्ति में, से, के लिये स्पष्टतया समीचीन है। अभी मानव, जीवन-ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान सहज विधि से जागृत पद प्रतिष्ठा को पहचानना स्वाभाविक हो गया है। ज्ञानावस्था का तात्पर्य ही है जागृति पूर्वक ही 'त्व' सहित व्यवस्था को प्रमाणित करता है। परम्परा के रूप में करता ही रहेगा। जागृति क्रम से जागृति की स्वीकृति ही संस्कार है। संस्कार की परिभाषा भी यही है पूर्णता के अर्थ में अनुभव बल, विचार शैली, जीने की कलायें पुनः अनुभव बल के लिये पुष्टिकारी होना ही मानवीयतापूर्ण संस्कार प्रतिष्ठा ऐसा जागृति रूपी संस्कार ही मानव का स्वत्व स्वतंत्रता व अधिकार के रूप में है क्योंकि जीवन में ही जागृति का मूल्यांकन होता है। मानव परंपरा में जागृति प्रमाणित होती है। यही, प्रमाण परम्परा का तात्पर्य है।

अध्ययन, मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार ही मानव को सदा-सदा के लिये जागृति व जागृति परम्परा के लिये समीचीन स्रोत है। ऐसे शिक्षा-संस्कार को हर मानव के लिये सुलभ होना मानव सहज अथवा मानवीयतापूर्ण मानव के पुरुषार्थ का मूल्यांकन है। इससे पता चलता है कि मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार परम्परा मानव परम्परा का पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का तात्पर्य ही है, अपनी प्रखर प्रज्ञा और उसका निरंतर कार्य है। ऐसा प्रखर प्रज्ञा मानव में ही प्रमाणित होता है। प्रधान रूप में यही मानव सहज मौलिकता पुरुषार्थ ही जागृति और जागृति पूर्णता का प्रमाण है। इसकी अभिव्यक्ति ही जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान है। ऐसे जागृति रूपी अथवा जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन रूपी जागृति को प्रमाणित करना ही पुरुषार्थ का प्रमाण है। इस विधि से हर मानव इसे अध्ययन विधि से जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना ही जागृति और उसकी परम्परा है। निर्वाह करने के क्रम में ही आचरण, व्यवस्था, व्यवस्था में भागीदारी प्रमाणित होता है।

मानवीयता का स्वरूप - मानवीय आचरण है जो मूल्य, चरित्र, नैतिकता के रूप में प्रमाणित होता है। - स.श. 147

(i) चरित्र

मानवीयतापूर्ण आचरण, कार्य रूप में स्वधन, स्वनारी/ स्वपुरुष, दया पूर्ण कार्य व्यवहार के रूप में देखा जाता है। यह मानवीयता पूर्ण चरित्र के रूप में प्रमाणित होता है। - म.वि. 28-29

(ii) सम्बन्ध एवं मूल्य

मूल्यों का प्रमाण संबंधों को पहचानने के उपरान्त ही होता है। यह सर्वमानव विदित है अथवा सर्वमानव इसे परीक्षण कर सकता है। अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व विधि से सम्बन्ध नित्य वर्तमान है। संबंध का तात्पर्य पूर्णता के अर्थ में अनुबंधित होने से है। अनुबंध का तात्पर्य निष्ठा से है। वह भी स्वीकृतिपूर्वक स्वयं स्फूर्त निष्ठा से है। यह निष्ठा स्वायत्त मानव में ही प्रतिपादित और प्रमाणित होता है।

संबंधों के आधार पर जैसा मानव संबंधों को प्रयोजनों और व्यवस्था के सूत्रों के रूप में देखा गया है कि सम्मान संबंध जिसमें सम्मानित होने वाला और सम्मान करने वाले का परस्परता में होने वाले कार्यव्यवहार सम्मान संबंध का साक्ष्य है। सम्मान संबंध में स्पष्ट हो चुका है कि स्वयं से अधिक जागृत प्रमाणित व्यक्तियों के प्रति, स्वयं के प्रति विश्वास के आधार पर स्वयं स्फूर्त विधि से मुखरित और आचरित होने वाला क्रियाकलाप जिसका प्रयोजन सम्मानित होने वाले व्यक्ति में सम्मान किया या स्वीकृति होना आवश्यक है। सम्मान परस्परता में मूल्यांकन है। ऐसा सम्मान करने और सम्मानित होने का मूल्यांकन उभयतृप्ति का स्रोत होना पाया जाता है। सम्मान करने, सम्मान स्वीकृत करने का क्रियाकलाप ही जागृति सहज व्यवहार कहलाता है। संबंध स्वयं से, स्वयं के लिये, स्वयं में जाना, माना, पहचाना हुआ, निर्वाह करने के लिये आधार है। स्वयं में तृप्ति पाने का उद्देश्य अथवा तृप्ति होने का उद्देश्य और तृप्ति रहने का उद्देश्य बना ही रहता है। संबंधों को पहचानने के उपरान्त उसका प्रयोजन केवल भय मुक्ति ही है। - स.श. 81-85

मानव परंपरा में मूल्यांकित, प्रमाणित होने वाले सम्पूर्ण मूल्य पाँच वर्गों में और तीस संख्या में देखने को मिलता है। यथा-

- जीवन मूल्य चार हैं :-
 - 1. सुख 2. शांति 3. संतोष 4. आनन्द।
- मानव मूल्य छह हैं :-
 - 1. धीरता 2. वीरता 3. उदारता 4. दया 5. कृपा 6. करुणा।
- स्थापित मूल्य नौ हैं :-
 - 1. कृतज्ञता 2. गौरव 3. श्रद्धा 4. प्रेम 5. विश्वास 6. ममता 7. वात्सल्य 8. स्नेह 9. सम्मान।
- शिष्ट मूल्य नौ हैं :-
 - 1. सौम्यता 2. सरलता 3. पूज्यता 4. अनन्यता 5. सौजन्यता 6. उदारता 7. सहजता 8. निष्ठा 9. अरहस्यता/स्पष्टता
- वस्तु मूल्य दो हैं :-
 - 1. उपयोगिता मूल्य, 2. कला मूल्य। - स.श. 148-149

(iii) नैतिकता

मानवीयता पूर्ण आचरण में नीति का स्वरूप तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग और सुरक्षा के रूप में नैतिकता प्रमाणित होता है। - म.वि. 28-29

मूल्य चरित्र नैतिकता = 'न्याय सूत्र' = 'व्यवस्था में भागीदारी'

1. मूल्य प्रधान विधि से परिवार व्यवस्था और
2. परिवार व समाज विधा में चरित्र प्रधान विधि से मूल्य और नैतिकता प्रमाणित होता है।
3. नैतिकता प्रधान विधि से समग्र व्यवस्था प्रमाणित होती है।

यह तीनों स्थितियाँ (मूल्य, चरित्र, नैतिकता) मानव में ही परिभाषित रहना पाया जाता है। मानव में यह परिभाषित होने के आधार को मानवत्व रूपी मूल्य, चरित्र, नैतिकता का सामरस्यता सूत्र में वर्तमान रहता हुआ देखा गया है, देखा जा सकता है। इसका प्रयोजन सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह करना ही होता है। सार्वभौम व्यवस्था अपने में नैतिकतापूर्ण अखण्ड समाज संतुलन को सूत्रित-व्याख्यायित करता है। यही मानवत्व के संबंध में सम्पूर्ण अध्ययन का स्वरूप होना देखा गया है।

मूल्य, चरित्र, नैतिकता ही मानव में, से, के लिये न्याय सूत्र का आधार है। मानव में ही यह परस्पर अपेक्षा है, परस्परता में मूल्य, चरित्र, नैतिकता को मूल्यांकित करें। इसी मूल्यांकन विधि में उभयतृप्ति और अखण्ड समाज रचना सहज सूत्र देखने को मिला है। इस विधि से मूल्य, चरित्र और नैतिकता ही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का प्रमाण, सूत्र एवं व्याख्या है। - स.श. 132-150

मूल्य, चरित्र, नैतिकताएं अविभाज्य रूप में स्वायत्त मानव में प्रमाणित होने का क्रम ही आचरण है। मानव अपने स्वायत्त आचरण सहित ही कायिक, वाचिक, मानसिक, कृत, कारित, अनुमोदित रूप में सामाजिक होना प्रमाणित करता है।

जीवन जागृति आचरण पूर्वक प्रमाणित होता है

संबंधों के क्रम में मानव ऊपर कहे विधि से अपने जीवन सहज जागृति को प्रमाणित करता है। ऐसे सम्पूर्ण मूल्यांकन जीवन तृप्ति, व्यवहार प्रयोजन के ध्रुवों पर समीकृत होना पाया जाता है। जीवन तृप्ति का स्वरूप प्रामाणिकता के रूप में देखने को मिलता है। प्रामाणिकता अपने सम्पूर्णता में जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान ही है। जीवन तृप्ति और उसका प्रमाण में, से, के लिये इससे अधिक या कम कुछ होता नहीं है। क्योंकि अस्तित्व स्वयं कम-ज्यादा से मुक्त है। जीवन ज्ञान भी कम और ज्यादा से मुक्त है। जीवन ही जागृतिपूर्वक अस्तित्व दर्शन करता है। अस्तित्व में जीवन भी अविभाज्य वर्तमान है। इसी परम सत्यतावश मानव में प्रमाणित होने की आवश्यकता, अवसर सहज ही नित्य समीचीन है क्योंकि अस्तित्व और अस्तित्व में जीवन नित्य वर्तमान रहा आया है। हर मानव

शरीर श्रेष्ठ रचना रूपी प्रकृति, विकासपूर्ण रूपी जीवन का संयुक्त साकार रूप में मानव तथा मानव परंपरा है। जीवन अपने जागृति को प्रमाणित करना ही मानव परंपरा में प्रधान कार्य है। जागृति को प्रमाणित करने के क्रम में सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज ही साक्ष्य है। यही जागृति लोकव्यापीकरण होने का भी साक्ष्य है। – स.श. 81-85

4.2 विवेक

विवेक का तात्पर्य जीवन का अमरत्व, शरीर का नश्वरत्व, व्यवहार सहज (के) नियमों का अध्ययन और व्यवहार में प्रमाणित करने का, सहज क्रिया कलाप है। “जीवन का अमरत्व” – तात्पर्य परमाणु की गठनपूर्णता से है। गठनपूर्णता के अनंतर संक्रमण सहज, चैतन्य पद प्राप्त परमाणु, जीवन के नाम से ख्यात (प्रसिद्ध) हैं। ऐसे जीवन के अमरत्व ज्ञान (नित्य साक्षात्कार) जीवन-विद्या से मानव में स्थित जीवन की पुष्टि होती है। फलतः जीवन के प्रति जीवन का विश्वास, जीवन कार्यों के प्रति जीवन का ही विश्वास, जीवन प्रयोजन के प्रति जीवन का विश्वास पाया जाता है। जीवन सहज रूप में, पांच अक्षय बलों, पांच अक्षय शक्तियों का अंतर्सम्बन्ध और जीवन कार्य प्रयोजन के सम्बंध में पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। – म.वि. 22-28

बौद्धिक समाधान का फलन ही बौद्धिक, सामाजिक और प्राकृतिक नियम है। अस्तित्व में अनुभव का स्वीकृति ही अस्तित्व बोध और सर्वतोमुखी समाधान है। अस्तित्व अपने में सह-अस्तित्व के रूप में वर्तमान है; सदा नियमित और व्यवस्थित है। इसी सत्यतावश मानव भी व्यवस्था में, से, के लिए समाधानित और समृद्धि, अभय और सह-अस्तित्व को प्रमाणित करने की विधि बौद्धिक, सामाजिक और प्राकृतिक नियमों के रूप में सार्थक होना पाया जाता है।

नियमपूर्वक ही व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी अस्तित्व में दृष्टव्य है। – आ.व. 181

बन्धन वश ही मानव में तनाव और ग्रंथियाँ बनी रहती हैं। बंधन मुक्ति के अनन्तर तनाव रहित विधि से ही सम्पूर्ण कार्यकलाप सम्पन्न होते हैं। यहाँ यह भी बोध समन्वित होता है कि स्वभाव गति प्रतिष्ठा में ‘त्व’ सहित व्यवस्था अक्षुण्ण रह पाता है। मानव में स्वभाव गति मानवत्व ही होना स्पष्ट हो चुकी है। मानवत्व सहज सम्पूर्ण कार्य यथा बौद्धिक, सामाजिक और प्राकृतिक नियम मानव के स्वभाव गति प्रतिष्ठा में सहज रूप में निर्वाह होना पाया जाता है। इस प्रकार जागृति की आवश्यकता स्वभाव गति प्रतिष्ठा के लिये अनिवार्य है। बौद्धिक समाधान का ध्रुव अस्तित्व और मानव होने की स्वीकृति है। अस्तित्व में मानव ज्ञानावस्था की इकाई होने के कारण मानव और अस्तित्व के बीच चारों अवस्थाएँ अध्ययन के लिये वस्तु होना पाया जाता है। –आ.व. 185

मानव परम्परा में अखण्ड समाज-सार्वभौम व्यवस्था प्रमाणित होना ही परम प्रयोजन है। इस प्रयोजन और इसकी अक्षुण्णता क्रम में भागीदारी को निर्वाह करना ही विवेकपूर्ण विचार-कार्य-व्यवहार है। विवेचना कार्य ही विवेक है। न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य ही विवेचना का स्वरूप है।

मानव परंपरा सदा-सदा ही सुखापेक्षा में पीढ़ी से पीढ़ी में गुजरता आया है। सुख सर्वसुलभ होने का क्रम ही सार्वभौम व्यवस्था, विधि और अखण्ड समाज रचना विधि, इन्हीं दो मुद्दे के आधार पर इसकी अक्षुण्णता को पहचाना गया है। इसकी अक्षुण्णता क्रम में भागीदारी निर्वाह करता हुआ हर मानव सुखी रहता है। – स.श. 171

सार्थक निष्कर्षों को निकालने की आवश्यकता अधिकांश लोग महसूस करते हैं। निष्कर्ष की ओर कल्पना, विचार, इच्छाओं को दौड़ाने पर परंपराओं की निरर्थकता समझ में आता है। इसके बदले में क्या हो- यह सार बात है। समाधानात्मक भौतिकवाद ने निर्णायक विधियों को पाने के लिए विज्ञान, विवेक और ज्ञान सम्मत तर्क प्रणाली को अपनाया। विज्ञान का तात्पर्य कालवादी, क्रियावादी, निर्णयवादी ज्ञान से हैं। विवेक का तात्पर्य जीवन का अमरत्व अर्थात् जीवन ज्ञान संपन्नता, शरीर का नश्वरत्व और व्यवहार के नियम अर्थात्:-

1. बौद्धिक नियम
2. सामाजिक नियम
3. प्राकृतिक नियम से है।

(A) बौद्धिक नियम का तात्पर्य

1. असंग्रह अर्थात् आवर्तनशील अर्थ व्यवस्था में भागीदारी, आवश्यकता से अधिक उत्पादन।
2. स्नेह अर्थात् संबंधों को पहचानने में, मूल्यों को निर्वाह करने में विश्वास।
3. विद्या: जीवन विद्या में पारंगत रहना, पारंगत होने में विश्वास, प्रतिभा और व्यक्तित्व में सामरस्यता सहज विश्वास। व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलंबी होने में विश्वास।
4. सरलता अर्थात् संबंधों को पहचानने में विश्वास मूल्यों को निर्वाह करने में विश्वास और मूल्यांकन करने में विश्वास।
5. अभय अर्थात् स्वयं मानवत्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी होने में विश्वास है।

“जो जैसा है उसको अधिक, कम या न समझना ही अविद्या है। जो जैसा है उसे वैसा ही समझ लेना विद्या है। “जिस वस्तु को समझना है उसका पूर्ण विश्लेषण हो जाना ही विद्या है। – अ.द. 147

(B) सामाजिक नियम = चरित्र

1. स्वधन अर्थात् प्रतिफल, पारितोष और पुरस्कार रूप में प्राप्त धन से है।
2. स्वनारी और स्व पुरुष-विवाह पूर्वक प्राप्त दाम्पत्य संबंध।
3. दया पूर्ण कार्य-व्यवहार अर्थात् अविकसित के विकास में सहायक होने का संपूर्ण कार्य है। जीने देना और जीना ही दया है।

(C) प्राकृतिक नियम

प्राकृतिक नियम चार सूत्रों से संबद्ध है :-

1. पूरकता, उपयोगिता, नियम, नियंत्रण, संतुलन
2. उदात्तीकरण, संरक्षण
3. विकासक्रम, विकास, जागृति, जागृति
4. त्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी

प्राकृतिक नियम:- अपने स्वरूप में, प्राकृतिक संपदा के साथ, मानव का अपने को नैसर्गिक संबंध के रूप में पहचान और पहचानने में विश्वास है, क्योंकि मानव के लिए मानवेत्तर प्रकृति नैसर्गिक हैं और मानवेत्तर प्रकृति के लिए मानव नैसर्गिक है। इसमें पूरकता विधि को निर्वाह करना प्राकृतिक नियम है।

1. संतुलन:- प्राकृतिक संपदा को ऋतु संतुलन के अर्थ में संरक्षित करना व करने में विश्वास; असंतुलन की स्थिति में, संतुलित बनाने में विश्वास। प्राकृतिक संपदा को उसकी अभिवृद्धि के अनुपात में संतुलन को ध्यान में रखते हुए उपयोग, सदुपयोग करने में विश्वास।
2. संरक्षण:- धरती, जलवायु, वन, खनिज को संरक्षित करने में विश्वास।
3. मूल्यांकन:- प्राकृतिक ऐश्वर्य को उपयोगिता के आधार पर मूल्यांकन करने में विश्वास।

उक्त तीनों नियमों (बौद्धिक, सामाजिक, प्राकृतिक नियम) में इंगित व्यावहारिक प्रमाणों के आधार पर मानव, मानवीय समाज रचना में अर्थात् अखण्ड समाज रचना कार्य में सफल होता है। -भ.व. 139-143

4.3 मानवीय सम्बन्ध एवं मूल्य

(A) मानव सम्बन्ध आधार

जीवन अपने स्वरूप में प्रत्येक मानव में समान रूप में कार्यरत है और होने की संभावना से परिपूर्ण है। इसे इस प्रकार देखा गया है कि जीवन रचना सम्पूर्ण जीवन में समान है। जीवन शक्तियाँ अक्षय रूप में हर जीवन में समान है। जीवन लक्ष्य प्रत्येक जीवन का समान है। जीवन सहज कार्यकलाप प्रत्येक जीवन में समान है। इन सभी वैभवों का प्रमाण मानव ही है। जागृत मानव में जीवन सहज लक्ष्य सार्थक होने के लिये चिन्हित, मार्ग स्पष्ट रहना, यही चिन्हित मार्ग को अर्थात् जीवन जागृति को परंपरा के रूप में अर्थात् धारक-वाहकता पूर्वक पीढ़ी से पीढ़ी सहज सुलभ करना-कराना और करने के लिये मत देना मानव सहज पुरुषार्थ परमार्थ का तात्पर्य है। जिसका साक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व है। जिसका व्यवहार रूप अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी है। - स.श. 186

सह-अस्तित्व विधि से ही सम्पूर्ण प्रयोजन पूरकता, विकास, संक्रमण, जीवन, जीवनीक्रम, जीवन का कार्यक्रम, जागृति और जागृति का निरंतरता स्वाभाविक रूप में प्रयोजनों के अर्थ में ही स्पष्ट हो जाता है। जैसे - एक परमाणु में एक से अधिक अंश निश्चित दूरी में रहकर कार्य करता हुआ देखने को मिलता है। फलस्वरूप परमाणु एक व्यवस्था के स्वरूप में मौलिक प्रस्तुति है। इसी प्रकार विभिन्न संख्यात्मक अंशों से गठित परमाणुओं का; रचना कार्य के योगफल में व्यवस्था के रूप में वर्तमान रहना स्पष्ट हुआ है।

अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व में अथ से इति तक, सह-अस्तित्व ही सम्बन्धों का मूल सूत्र है। परमाणु अंशों का संबंध और उसका निर्वाह के समानता में परमाणु व्यवस्था, परमाणुओं के परस्पर संबंध और उसका निर्वाह बराबर अणु व्यवस्था; अणु-अणु के साथ परस्पर सम्बन्ध और उसका निर्वाह बराबर रचना व्यवस्था। हर रचनाएँ विरचित होते हुए पुनः रचना के लिये पूरक होना पाया जाता है।

जीवन और शरीर सम्बन्ध उसका निर्वाह वंशानुषंगीयता और व्यवस्था; जीवन और शरीर का परस्पर संबंध + जीवन जागृति सहज निर्वाह = संस्कारानुषंगीय अभिव्यक्ति एवं मानवीय व्यवस्था है।

मानवीयता सहज सभी सम्बन्धों का प्रधान प्रमाण व्यवस्था के रूप में जीना, समग्र व्यवस्था में भागीदारी करना ही है। इस परम लक्ष्य को सदा-सदा परंपरा निर्वाह करने के क्रम में ही सभी प्रकार के सम्बन्धों को पहचानना मानव में, से, के लिये अनिवार्य है। इससे स्पष्ट हुआ है कि अस्तित्व ही सह-अस्तित्व के रूप में व्यवस्था में भागीदारी को प्रकाशित करता है। अस्तित्व में मानव अविभाज्य होने के कारण मानव अपने मानवत्व सहित व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करना ही जागृति, समाधान, सर्वतोमुखी समाधान, व्यवस्था उसकी निरंतरता ही मानव परंपरा में परम प्रयोजन है। यही महिमा सर्वमानव शुभ के रूप में प्रमाणित हो जाती है। यही सह-अस्तित्व पूर्ण परिवार, समाज पुनः अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था स्वरूप में स्पष्ट होना पाया जाता है।

उक्त तथ्यों का हृदयंगम और पारंगत विधियों से परिवार मानव के रूप में प्रमाणित होना स्वाभाविक है। यही मानव परंपरा का अनिवार्य आवश्यकता, सार्थकता है।

सम्बन्धों को मानव के सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार के आधार पर सम्बोधन रूप में पहचाना जाता है। हर सम्बन्धों का प्रयोजन भी उसी के साथ स्पष्ट है।

सम्बन्धों के साथ ही शिष्टता विधि स्वाभाविक है। सम्बन्धों का सम्बोधन मानव संबंधों के आधार पर ही निश्चित मूल्य और शिष्टता का द्योतक होता है। यह परिवार (अखण्ड समाज) क्रम में और सभा-विधि में जैसे परिवार सभा और विश्व परिवार सभा में भी परस्पर सम्बोधन मानव संबंधों का सम्बोधन विधि से ही शिष्टता का निश्चयन है।

परिवार विधि में हर सम्बोधन प्रयोजन से लक्षित होना पाया जाता है। और हर प्रयोजन हर व्यक्ति के अपेक्षा सहित सम्बोधन का वस्तु है।

परिवार क्रम में :-

सम्बोधन	प्रयोजन
➤ पिता	- संरक्षण
➤ माता	- पोषण
➤ पति-पत्नी	- यतित्व-सतीत्व
➤ पुत्र-पुत्री	- अनुराग
➤ स्वामी (साथी)	- दायित्व
➤ सेवक (सहयोगी)	- कर्तव्य
➤ गुरु	- प्रामाणिकता
➤ शिष्य	- जिज्ञासु
➤ भाई-बहन-मित्र	- जागृति (समाधान-समृद्धि)

— स.श. 184-185

(B) मानव सम्बन्धों के प्रकार

1. माता – पिता, पुत्र – पुत्री
2. भाई – बहिन
3. मित्र – मित्र
4. गुरु – शिष्य
5. पति – पत्नी
6. स्वामी (साथी) – सेवक (सहयोगी)
7. व्यवस्था संबंध (व्यवस्था – कार्यप्रणाली)

हर सम्बन्धों में पूरकता प्रधान ज्ञान प्रणाली व्यवस्था के रूप में कार्यप्रणाली गति के रूप में सह-अस्तित्व सहज रूप में ही स्पष्ट होता है। हर संबंध एक-दूसरे के पूरक होने के अर्थ में नित्य प्रतिपादन है। अस्तित्व सहज व्यवस्था क्रम में पूरकता विधि प्रभावशील है। इसके मूल में अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व ही है।

हर सम्बोधन में अपेक्षाएँ समाहित रहना पाया जाता है। हर सम्बन्धों के सम्बोधन प्रक्रिया में जागृति की अपेक्षा रहता ही है। उसके साथ तीन सम्बन्ध ही देखने को मिला। ये तीन सम्बन्ध मानव सम्बन्ध, नैसर्गिक सम्बन्ध, और व्यवस्था सम्बन्ध हैं। मानव सम्बन्ध में अपेक्षाएँ शरीर पोषण-संरक्षण, समाजगति की अपेक्षाएँ प्रकारान्तर से समायी रहती है। पोषणापेक्षा-पोषण प्रवृत्तियाँ तन, मन (जीवन) और धन, के सम्बन्धों में अथवा तन, मन (जीवन) और धन रूपी तथ्यों का पोषण, संरक्षण अपेक्षा और प्रवृत्ति मानव सहज गति होना पाया जाता है। यथा-

1. जागृत मानव अन्य की जागृति के लिये प्रवृत्त रहता है।
2. स्वस्थ मानव अन्य के स्वस्थता के लिए प्रयत्नशील रहता है।
3. समृद्धिशील मानव अन्य के समृद्धि सम्पन्नता में सहायक होने के लिये प्रवृत्तिशील रहता है।
4. न्याय प्रदायी क्षमता सम्पन्न मानव, अन्य को न्याय सुलभ होने के लिये प्रवृत्तिशील रहता है।
5. किसी उत्पादन-कार्य में पारंगत मानव अन्य को पारंगत बनाने के लिये प्रवृत्तिशील रहता है।
6. मानव स्वयं व्यवस्था में जीता हुआ समग्र व्यवस्था में भागीदारी करते हुए अन्य को व्यवस्था में भागीदारी के लिये प्रेरित करने में प्रवृत्तिशील रहता है। - स.श. 191-192

परिवार सम्बन्ध, मानव सम्बन्ध, समाज सम्बन्ध ये सब आवश्यकतानुसार उपयोग करने का नाम है। सबका निर्देशित अर्थ, चिन्हित अर्थ अखण्ड समाज ही है। अखण्ड समाज का पहचान, लक्ष्य, प्रयोजन, प्रणाली, पद्धति, नीतियों के समानता से है। मानव लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व होना ही है। प्रयोजन व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी है। मानवीयतापूर्ण पद्धति न्याय, उत्पादन, विनिमय, स्वास्थ्य-संयम और शिक्षा-संस्कार में पूरकता प्रणाली परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था प्रणाली और नीति तन, मन, धन रूपी अर्थ के सुरक्षा हैं, यही मानव का मौलिक अभिव्यक्ति, संप्रेषणा, प्रकाशन है। अस्तित्व नित्य प्रकाशमान होने के कारण अस्तित्व में हर वस्तु का प्रकाशित रहना स्वाभाविक है। - स.श. 197

अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था में, से, के लिये जागृति ही प्रधान आधार है। जागृति केवल मानव में ही होना पाया जाता है। इसलिये मानव में ही अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था की संभावना बनी हुई है। दूसरे विधि से हर-मानव स्व जागृति को वरता ही है। अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था की अपेक्षा करता ही है। यही ज्ञानावस्था सहज मौलिक अपेक्षा है। जागृति जीवन सहज अधिकार है। यही जीवन क्षमता के रूप में विद्यमान रहता है। यही योग्यता पात्रता के रूप में अभिव्यक्त, संप्रेषित और प्रकाशित होते हैं। - स.श. 196

‘सम्बन्ध’ एवं ‘संपर्क’ में अंतर

संबंध एवं सम्पर्क के विषय में एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

- इन दोनों में दायित्व का निर्वाह आदान प्रदान के आधार पर होता है परन्तु दोनों में भेद यह है कि संबंध की परस्परता में प्रत्याशाएं पूर्व निश्चित रहती हैं तथा इसके अनुरूप ही आदान प्रदान होता है।
- सम्पर्क में आदान एवं प्रदान परस्परता में पूर्व निश्चित नहीं रहता। इसलिए सम्पर्क में आदान व प्रदान क्रियाएं ऐच्छिक रूप में अवस्थित है।
- संबंध दायित्व प्रधान एवं सम्पर्क कर्तव्य प्रधान है।
- सम्पर्क में परस्परता में स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष दयापूर्ण कार्य व्यवहार की अपेक्षा रहती ही है।
- मानव अथवा इससे विकसित तक ही संबंध है जबकि समस्त इकाईयाँ परस्पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्पर्क में है ही। -व्य.द. अध्याय १६

1. पिता-माता एवं पुत्र-पुत्री संबंध

माता-पिता के संबंध में पुत्र-पुत्री के साथ मातृ भाव में शरीर भाव प्रधान रहता है तथा पितृ संबंध में बौद्धिक विकास की भावना प्रधान रहता है। मूल रूप में माता पोषण तथा पिता संरक्षण स्वरूप है। माता एवं पिता के बिना संतान का संवर्धन तथा विकास संभव नहीं है। परस्परता में आशा प्रत्याशा रहता है। फलतः हर माता-पिता अपने संतान में उस दिशा में पूर्ण विकास की कामना करते हैं जिस दिशा में वह स्वयं को अपूर्ण अनुभव करते हैं - व्य.द, १९७८, १५६

माता पिता की पहचान हर मानव संतान किया ही रहता है। शिशुकाल की स्वस्थता का यह पहचान भी है। अतएव माता-पिता जिन मूल्यों के साथ प्रस्तुत होते हैं, वह ममता और वात्सल्य है। ममता मूल्य के रूप में पोषण प्रधान क्रिया होने के रूप में या कर्तव्य होने के रूप में स्पष्ट है। इसलिए मां की भूमिका ममता प्रधान वात्सल्य के रूप में समझ में आती है। ममता मूल्य के धारक-वाहक ही स्वयं में माँ है तथा पिता वात्सल्य प्रधान ममता के रूप में समझ में आता है।

अभिभावक संतान का अभ्युदय ही चाहते हैं। कुछ आयु के अनन्तर इसका प्रमाण चाहते हैं।

माता एवं पिता हर संतान से उनकी अवस्था के अनुरूप प्रत्याशा रखते हैं। उदाहरणार्थ शैशवावस्था में केवल बालक का लालन पालन ही माता-पिता का पुत्र-पुत्री के प्रति कर्तव्य एवं उद्देश्य होता है तथा इस कर्तव्य के निर्वाह के फलस्वरूप वह मात्र शिशु की मुस्कुराहट की ही अपेक्षा रखते हैं। कौमार्यावस्था में किंचित शिक्षा एवं भाषा का परिमार्जन चाहते हैं। इसी अवस्था में आज्ञापालन प्रवृत्ति, अनुशासन, शुचिता, संस्कृति का अनुकरण, परंपरा के गौरव का पालन करने की अपेक्षा होती है। कौमार्यावस्था के अनंतर संतान में उत्पादन सहित उत्तम सभ्यता की कामना करते हैं। सभ्यता के मूल में हर माता-पिता अपने संतान से कृतज्ञता (गौरवता) पाना चाहते हैं तथा केवल इस एक अमूल्य निधि को पाने के लिये तन, मन एवं धन से संतान की सेवा किया करते हैं। संतान के लिये हर माता-पिता अपने मन में अभ्युदय तथा समृद्धि की ही कामना रखते हैं, इन सब के मूल में कृतज्ञता की वाँछा रहती है। जो संतान माता-पिता एवं गुरु के कृतज्ञ नहीं होते हैं, उनका कृतघ्न होना अनिवार्य है, जिससे वह स्वयम् क्लेश परंपरा को प्राप्त करते हैं और दूसरों को भी क्लेशित करते हैं। - व्य.द, अध्याय १६

माता - पोषण

पोषण = इकाई + अनुकूल इकाई।

माता जब पुत्र-पुत्रियों को पहचानती है, तभी मातृत्व का प्रसव गुण पोषण के रूप में प्रमाणित होता है। स्वभाव गति सम्पन्न प्रत्येक मां अपनी संतान को पहचानती है, फलतः निर्वाह करती है। इसी कारणवश, संतान की शरीर स्वस्थता और मानसिकता का, माता की योग्यता व साधन के अनुसार अथवा परिवार की दक्षता अनुसार पोषण सम्पन्न होता है, जो संस्कार कहलाता है। मां अपनी संतान की, स्वीकृत मानसिकता का स्रोत है। साथ ही भाषा, संबोधन, सम्बंधों

की पहचान, संस्कार (स्वीकारने के लिए निर्देशन) का स्रोत भी है। सम्बंधों के आधार पर, संबोधनों का होना सहज है।

उल्लेखनीय (ध्यान देने योग्य) मुद्दा यह है कि मां ही प्रथम प्रधान कारण है कि वह बोली, भाषा, खान-पान में, संबोधन में विश्वास को स्थापित करती है। संबोधन से सम्बंधों में विश्वास स्थापित करना सहज है। इसी क्रम में जाति, धर्म, कर्म का मूल संस्कार भी, अधिकांश रूप में मां से संतानों को अंतरित-निक्षेपित होता है। शैशव बाल्य अवस्था में बालक विश्वास को आधार मानता है। मां पर संतानों का विश्वास होना एवं पोषण संरक्षण होना सहज रूप में देखा जाता है।

इस धरती पर जितनी भी समुदाय परंपराएं हैं, वे सब किसी न किसी नस्ल, रंग, रहस्यात्मक धर्म, संप्रदाय, पंथ, मत, भाषा, देशत्व वाली मानसिकता एवं संस्कारों को प्रदान करती हैं।

अधिकार, पद, शोषण मूलक धन और समर शक्ति के आधार पर ग्रसित समुदाय, जाति और भाषा पर आधारित समुदाय के रूप में स्पष्ट है। जबकि इस धरती पर अनेक समुदाय के लोग रहते हैं। प्रत्येक समुदाय में विभिन्न भाषावादी लोगों के होते हुए, सम्बंधों में, संबोधन का अर्थ अधिकांश समान है। यह मानव सहज अभिव्यक्ति है। प्रत्येक देश, भाषा, काल में, मनुष्य की परस्परता में, संबोधन सहज रहा है। इसका अर्थ भी सहज रहा है। ये दोनों स्थितियां अपने आप में प्रमाणित करती हैं कि सम्बन्ध अस्तित्व-सहज रूप में रहता ही है। फलतः सम्बोधन व अर्थ प्रकाशित होता है।

मानव, अस्तित्व सहज प्रकाशन है, साथ ही जागृति क्रम में प्रकाशन है। यह प्रत्येक मनुष्य में प्रमाणित होता है। प्रत्येक मनुष्य सुख धर्मी है। सुख की अपेक्षा में ही मानव समस्त सम्बन्धों को पहचानने व निर्वाह करने के क्रम में है। यह मनुष्य में दृष्टव्य है। मनुष्य का संबोधन के साथ सम्बन्धों का अर्थ एवं आचरण समेत सहज होना पाया जाता है।

माता ही शरीर का पोषण, भाषा का पोषण, नाम का पोषण, परिचयों का पोषण, संस्कृति का पोषण करने के क्रम में संस्कारों का निक्षेपण सहज रूप में करती है। प्रत्येक मां अपनी संतान को सम्बंधों का सम्बोधन, प्रारंभिक अवस्था में सिखाती है और जैसे ही उम्र बढ़ती है, वैसे ही सम्बोधन के साथ गौरव, विश्वास, सेवात्मक आचरणों को सिखाती है। यहां पर मानव को, मानवीयता के नाते सम्बोधनों एवं आचरणों को सिखाना आवश्यक है। जिससे सभी समुदाय चेतना, मानव संचेतना में विलय हो सके। मानव में मानवीयता पूर्ण संस्कार पोषण, बुनियादी कार्य है। प्रत्येक व्यक्ति में यह महत्वपूर्ण कार्य मां से आरंभ होता है, यही मानव संस्कृति की अंकुरण क्रिया है। मानव जाति और धर्म, अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था रूपी सत्य को, स्थापित करना, मानव संस्कार है। सम्बन्धों की पहचान, शिष्टता का अभ्यास, मानव संस्कार है। मानव जाति, मानव में मानवीय सम्बन्ध, मानव समाज, मानवीय व्यवस्था (संविधान मानवीयता पूर्ण मानव का आचरण) के प्रति अवधारणाओं को स्थापित करना शिक्षा संस्कार है।

आरंभिक अथवा बुनियादी कार्य माता-पिता अथवा अभिभावकों और बंधुओं से सम्पन्न होता है। दूसरा, शिक्षा संस्थानों में दृढ़ होता है। राज्य व्यवस्था, संविधान पूर्वक पूर्ण एवं मूल्यांकित व प्रमाणित हो पाता है। इस प्रकार मां का पोषण कार्य शरीर, संस्कार, शिक्षा, व्यवहार, आचरण की बुनियाद है।

पिता- संरक्षण

संतान को, संतान के रूप में स्वीकार किये हो, ऐसी स्थिति में वे अभिभावक (अभ्युदय भावना सम्पन्न) अपने बच्चों का संरक्षण करते हैं यह एक सर्वसाधारण क्रिया है।

प्रधानतः पिता संरक्षण में, माता पोषण में सर्वाधिक रूप में प्रमाणित होते हैं या होना चाहते हैं। संरक्षण का प्रधान कार्य स्वास्थ्य, शिक्षा- संस्कार, संस्कृति-सभ्यता, आचरण और मूल्यों का आस्वादन, ये प्रधान मुद्दे हैं।

स्वास्थ्य संरक्षण :- सन्तान का संरक्षण शरीर और मानसिकता के अर्थ में स्पष्ट है। शरीर संरक्षण अभ्यास से, संतुलित आहार योजना से रोग निवारण उपायों से संभव हो पाता है। मानवीय संस्कारों से, मानवीय शिक्षा से, मानवीयता पूर्ण आचरण से, मानसिक संरक्षण सहज ही हो पाता है। जहां तक शरीर संरक्षण के क्रिया कलाप है, वह सर्वाधिक लोगों को विदित हैं। यह यथा स्थिति होते हुए, इसका सामान्य विचार करना भी, आवश्यक है। - म.वि. 103-105

हर जागृत अभिभावक इन पांच विधियों में, से, के लिए स्वीकारते है, तभी पुत्र पुत्री का सम्बन्ध जागृत परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी के रूप में स्वीकार होता है। यह माता पिता का अधिकार, स्वीकृति अथवा मान्यता का स्वरूप है। इनमें से स्वयं की जागृति के अनुरूप, निर्वाह करता हुआ, देखने को मिलता है।

(१) शरीर रचना की कारकता सहज स्वीकृति और जीवन जागृति में पूरकता बराबर पिता।

(२) पोषण सुरक्षा की स्वीकृति

(३) संतानों में आवश्यकीय आजीविका का स्रोत अथवा आधार रूप में स्वयं को स्वीकारना।

(४) शिक्षा संस्कार प्रदान करने में सक्षम योग्य स्वीकारना (मानना)।

(५) सम्पूर्ण ज्ञान प्रावधानित करने के लिए स्वयं में स्वीकारना (मानना) - म.वि. 56

अभिभावक जितना जागृत रहते हैं, उसी के अनुरूप संतानों की सर्वतोमुखी सम्पदा का संरक्षण होना सहज है। शारीरिक, मानसिक रूप से स्वस्थ अभिभावक ही स्वस्थ संतानों को प्रस्तुत कर पाते हैं। स्वस्थ वे हैं, जिनमें मानवीय संचेतना विकसित हो चुकी हो। समुदाय चेतना संपन्न व्यक्ति का, मानसिक रूप से स्वस्थ होना संभव नहीं है। मानवतावादी विचार संपन्न, मानवीयता पूर्ण आचरणरत, मनुष्य ही, स्वस्थ मानस संपन्न होता है। अस्तु प्रत्येक मानव को, मानवीयता के प्रति जागृत रहना अनिवार्य है। यही स्वस्थ संतान को प्रस्तुत करने का सूत्र है। शरीर संरक्षण सामान्य रूप में निर्वाह होता है।

संस्कार, नाम-जाति, धर्म, दीक्षा, शिक्षा सहज रूप में आवश्यक है। नाम संस्कार संबोधन के अर्थ में, जाति संस्कार - मानव जाति के अर्थ में, धर्म संस्कार मानव-धर्म (सर्वतोमुखी समाधान) के अर्थ में, दीक्षा-संस्कार जीवन जागृति, स्वानुशासन के अर्थ में सार्थक है। - म.वि. 106

पुत्र-पुत्री सम्बन्ध की, धारक वाहकता जागृत माता-पिता में होना, सहज है। इन जागृति के मूल में अभ्युदय आकांक्षा, सभी में रहती है। इसीलिए माता पिता संतान के लिए, अभिभावक होते हैं। (अभ्युदय की कामना, कल्पना - योजना

में अभिभूत रहने की स्थिति और गति, जिनमें हो - अभिभावक) . ऐसी स्थिति में परिभाषा में, कहे गए सभी स्वीकृत सूत्र अभ्युदय के लिए आवश्यक होते हैं, यह भी स्पष्ट है। अभ्युदय का स्वरूप, सार्वभौम तत्व है। - म.वि. 58

2. भाई – बहिन

भाई – बहिन / भाई :- एकोदर (एक उदर = पेट से पैदा होने वाले) को भाई का संबोधन है।

- भाई और बहन के सम्बन्ध को सौहार्द-भाव के नाम से जाना जाता है – इसमें परस्पर विकास की प्रत्याशा एवम् होड़ है। इसमें दोनों पक्षों का हास दोनों पक्षों को ही सहनीय नहीं होता। एक का विकास दुसरे पक्ष के विकास को आप्लावित कर देता है। जैसे यदि कोई बहिन किन्हीं विशेष सदुणों से संपन्न है तो इसके कारण बहिन स्वयं में जितना आप्लावित है उतना ही अथवा उससे अधिक आप्लावन भाई में पाया जाता है। इसी प्रकार भाई का भाई के साथ अथवा बहिन का बहिन के साथ पाया जाता है।
- परन्तु उसके विपरीत भाई अथवा बहिन में अपने दुसरे भाई अथवा बहिन के भौतिक समृद्धि के संदर्भ में परस्पर आप्लावन नहीं पाया जाता। अपितु यदि किसी भाई अथवा बहिन की पास भौतिक सम्पत्ति एकत्र हो जाय तो दूसरा भाई अथवा बहिन उसमें से कुछ हिस्सा पाने की आशा रखते हैं, परन्तु भाई अथवा बहिन को प्राप्त भौतिक समृद्धि के प्रति जो गौरव है, उससे वे पूरा का पूरा प्रसन्न होने में असमर्थ होते हैं। (व्य.द. 1978, 158)

भाई-बहन की पहचान एक निश्चित आयु में हो पाती है। पहचान होते ही परस्परता में सच्चाई, समझदारी और परिवार सम्मत अथवा जागृत मानव परिवार सम्मत अपेक्षा के अनुसार, कौमार्य अवस्था में आज्ञापालन सहयोग और अनुसरण जैसे कार्यों में परस्पर मूल्यांकन होना पाया जाता है। यही मित्रों के साथ भी होता है। जब भाई-बहन इन मुद्दों पर मूल्यांकन करने लगते हैं तब भी अभिभावक और गुरुजनों के साथ आज्ञापालन संबंध रहता ही है। अनुसरण भी इन्हीं दो पक्षों से जुड़ा रहता है। मूल्यांकन में ये सब बात स्पष्ट होना स्वाभाविक रहता है। जहाँ तक सहयोग की अभिव्यक्ति है, इसमें एक दूसरे को अधिकाधिक सटीकता की और विचार अथवा प्रकाशित होने की संभावना बनी ही रहती है।

कौमार्य और युवावस्था के बीच भाई-बहन, भाई-भाई, बहन-बहन; के परस्परता में अनुशासन की बात आती है। अनुशासन आज्ञा पालन के क्रम में एक पक्षीय हो पाते हैं। अनुशासन गुरुजनों व अभिभावकों से जीने में प्रमाणित रहने के आधार पर, अनुशासन बोध संतानों में होना स्वाभाविक है। इन्हीं तथ्य के आधार पर, हर मानव संतान अनुशासन को अपने विचारों से जोड़ना शुरू करता है। उसी के साथ आवश्यक-अनावश्यक तथा उपयोगी, अनुपयोगी विधा में भी वैचारिक प्रयुक्तियाँ होना स्वाभाविक रहता है। इस प्रकार अनुशासन आवश्यकता, उपयोगिता के आधार पर स्वीकृत होना शुरू होता है। शनैः-शनैः हर मानव संतान क्रम से अनुशासन में दक्ष होना पाया जाता है। इन सभी विधाओं में मानव संतान गुजरता हुआ अर्थात् आज्ञापालन, अनुशासन प्रक्रिया से, सोच विचार प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ अपने आप में निश्चय की प्रक्रियाएँ आरंभ होते ही यही निश्चयन प्रक्रिया सुस्थिर होना ही आज्ञापालन और अनुशासन के आशय रहता ही है।

जैसे ही युवावस्था में पहुँचते हैं, स्वाभाविक रूप में स्वानुशासन का प्रमाण आवश्यकता के रूप में होता ही है। यही अभ्युदय का प्रमाण होना पाया जाता है। स्वानुशासन सर्वतोमुखी समाधान के रूप में ही प्रमाणित होता है। यही मानव संचेतना की अपेक्षा और सार्थकता है। यह शिक्षा-संस्कार कार्यों से लोक सुलभ होना पाया जाता है। जागृत मानव परंपरा में ही मानवीय शिक्षा-संस्कार सार्थक होना पाया जाता है। इस विधि से कार्य-व्यवहार विचार सम्पन्न होते हुए भाई-बहन-मित्र संबंधों में विश्वास पूर्वक सम्मान व मूल्यांकन पूर्वक परस्परता में स्नेह मूल्य को सदा-सदा प्रमाणित करना होता है। इस विधि से इन संबंधों में विश्वास, सम्मान, स्नेह मूल्य प्रधान रहता है साथ ही प्रेम मूल्य स्पष्ट होना भावी रहता है - म.वि. 56

हर मित्र, हर भाई, हर बहन समृद्धिपूर्वक व्यवस्था में जीना ही उद्देश्य है। इस विधि से भाई-बहन सम्बन्धों में शिशु कौमार्य अवस्था से ही पूरकता को पहचानने का क्रम बना हुआ है। अन्य सम्बन्धों में कुछ आयु के बाद ही पूरकता संबंध बन पाता है। यथा गुरु-शिष्य सम्बन्ध कुछ आयु के बाद आरंभ होता है। पति-पत्नी संबंध कुछ आयु के बाद आरंभ होता है।

भाई-बहन संबंध शिशुकाल से ही इंगित-निर्देशित हुआ रहता है। इनमें संस्कारों का समावेश रहना सार्वभौम व्यवस्था अखण्ड समाज सहज मानसिकता के लिए अर्पित होता ही रहता है। जैसा - हर लड़कियों को बहन के रूप में सम्बोधन करने का क्रम चाहे अपने परिवार की हो चाहे अड़ोस-पड़ोस, गाँव की क्यों न हो और भाई का सम्बोधन से सम्बन्धों का प्राथमिक अथवा आरंभिक परिचय इंगित होना पाया जाता है फलस्वरूप क्रम से विचार, इच्छा, चिन्तन, बोध और अनुभव में प्रमाणित होना पाया जाता है। सम्बोधन आरंभिक संस्कार है, इसका प्रधान क्रिया उच्चारण है। उच्चारण के अनन्तर रूप, कार्य, व्यवहार, आचरणों के आधार पर गुण स्वभावों को पहचानना संभव हो जाता है। यह हर शिशु में कार्यरत जीवन सहज महिमा है।

धर्म बोध अध्ययन विधि से सम्पन्न हुआ रहता ही है। गुण, स्वभाव, कार्य-व्यवहार में निहित रहता है। उसके प्रमाणों, साक्ष्यों के आधार पर व्यवस्था अथवा समाधान कारक होना मूल्यांकित होता है। यही मूल्य और मूल्यांकन का महिमा है। उभय तृप्ति पाने का विधि भी यही है। अतएव शिशु, बाल्य, किशोर अवस्थाओं से ही भाई-बहनों और मित्रों का नैसर्गिकता और उसकी निरंतरता होने के आधार पर परस्पर मूल्यांकन अति सहज है। मूल्यांकन वास्तविक और सहायतापूर्ण होना स्वाभाविक है। यही पूरकता का परम उद्देश्य भी है। इस विधि से सुस्पष्ट है मित्र एवं भाई-बहन का सम्बन्ध सदा-सदा ही मूल्यांकन प्रणाली में गतित होना पाया जाता है। उभय जागृति के लिये यही सर्वोत्तम प्रणाली है। स्वाभाविक रूप में मानव परंपरा में एक भाई को एक बहन, एक मित्र को एक मित्र समीचीन रहता ही है।

भाई, प्रगति के अर्थ में, बहन, उन्नति के अर्थ में है:

प्रगति :-

- समाधान प्रधान समृद्धि सहज अपेक्षा प्रक्रिया और प्रमाण।।
- मानवत्व रूपी आचरण सहज व्यवस्था व समग्र व्यवस्था अर्थात् परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था में भागीदारी।

उन्नति :-

- समृद्धि प्रधान समाधान सहज अपेक्षा, प्रक्रिया एवं प्रमाण।
- जागृति और उसकी निरंतरता की ओर गति।

बहन :- एकोदरीय (एक पेट से पैदा होने वाली) अथवा एकोदरवत् बहनें होती हैं। यह सम्बन्ध निरंतर, विकास के लिए प्रेरक है। मानव के संबंध में उन्नति शब्द का तात्पर्य जागृति और उसकी निरंतरता से है। यही परस्परता में, से, के लिए प्रेरक होना पाया जाता है। प्रत्येक बहिन का, भाइयों से सभी ओर श्रेष्ठता की अपेक्षा बनी रहती है। मनुष्य सहज रूप में बल, बुद्धि, रूप, पद, धन, सम्पदा के रूप में विदित है। इनमें श्रेष्ठता की कामना, सभी सम्बन्धों की परस्परता में, प्रत्याशा के रूप में, देखी जाती है। साथ ही सच्चरित्रता, व्यवहार में सामाजिक, सच्चरित्र मानवीयता पूर्ण आचरण, व्यवसाय में स्वावलम्बी अथवा समृद्धि की अपेक्षा, हर भाई बहिन के सम्बन्ध में, सहज रूप में देखने को मिलती है। इस प्रकार यह सम्बन्ध परस्पर विकास व उन्नति का प्रेरक और सहायक होना सहज है। - म.वि. 85, 86

3. मित्र – मित्र

मित्र :- सहोदरवत् (सगे भाई जैसा) जो होते हैं, उन्हें मित्र सम्बन्ध का सम्बोधन है।

भाई-भाई, भाई-बहन, बहन-बहनों के बीच उनके सम्बन्ध और परस्पर परीक्षण कार्यकलाप जागृतिगामी दिशा, व्यवहार और कार्यप्रणाली के साथ गतिशील होता है। यही परस्पर पूरकता विधि को प्रमाणित करता है। इसका स्रोत मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार परंपरा ही है। बाल्यावस्था से ही घर परिवार, शिक्षण संस्थाओं में मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार सुलभ होना सहज रहता ही है। इसके फलस्वरूप प्राप्त शिक्षा-संस्कार और कल्पनाशीलता-कर्म स्वतंत्रता के योगफल में मुखरण होना स्वाभाविक क्रिया है। मुखरण होने का तात्पर्य हर विद्यार्थी अपने-अपने ढंग से प्रकाशित-संप्रेषित होना ही है।

प्रत्येक जीवन, मानव परंपरा में जागृति और जागृतिपूर्ण होने और प्रमाणित होने के उद्देश्य से ही इस शरीर को जीवन्त बनाए रखने, शरीर संवेदना का दृष्टा होने के अर्हता सहित शरीर यात्रा को आरंभ करता है।

मित्र-मित्र सम्बन्ध - जीवन ज्ञान सम्पन्नता के अनन्तर सुस्पष्ट हो जाता है कि सभी सम्बन्ध जीवन जागृति और उसका प्रमाणीकरण प्रणाली का ही पहचान है। जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान सम्पन्न होने के उपरान्त सम्पूर्ण प्रकार के सम्बन्धों, मूल्यों, मूल्यांकनों और उभयतृप्ति का पहचान, स्वीकृति मानसिकता, गति, प्रयोजन पुनः पहचान, मूल्यांकन क्रम आवर्तित रहता ही है। यह अनुस्यूत प्रक्रिया है। जीवन ही दृष्टा-कर्ता-भोक्ता होने का तथ्य जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान में पारंगत होने के फलन में सह-अस्तित्व में वर्तमानित रहता है। इसी आधार पर मित्र सम्बन्ध परस्पर अभ्युदय के लिये कामना, कार्य, मूल्यांकन करने में समर्थ रहता ही है। मित्र सम्बन्ध में भाई-भाई, बहन-बहन सम्बन्ध

के सदृश जाँच, पड़ताल, विश्लेषण, निष्कर्ष, मूल्यांकन सहायक होना पाया जाता है। दूसरे भाषा में सहायक होना ही सार्थकता है।

हर सम्बन्ध कम से कम दो व्यक्तियों के बीच होना पाया जाता है। भाई और मित्र सम्बन्ध में समानता है। इसको आमूलतः विश्लेषण करने पर लड़कों के साथ लड़कों की मित्रता, लड़कियों की मित्रता लड़कियों से हो पाता है। क्योंकि आशय बहिन-बहिन और भाई-भाई का ही सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का पावन रूप उभय जागृति, कर्तव्य, दायित्व उसकी गति प्रयोजन और उसका मूल्यांकन विधि से ही मित्रता और भाई-बहन सम्बन्ध सदा-सदा ही मानव परंपरा में पावन रूप में उपकार विधि और उसका शोध, निष्कर्ष को प्रस्तुत करते ही रहेंगे। पावन का तात्पर्य व्यवस्था के अर्थ में है। यही उपकार का स्वरूप है। यद्यपि सभी सम्बन्धों में आशित, इच्छित, लक्षित और वांछित तथ्य समाधान, समृद्धि अभय, सह-अस्तित्व ही है। इस आशय अथवा आवश्यकता की आपूर्ति और इसके सर्वसुलभ होने के लिये समझना-समझाना, करना-कराना, सीखना-सीखाना स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसी क्रम में समाज गति, व्यवस्था, व्यवस्था में भागीदारी, स्वाभाविक रूप में मूल्यांकित होता है। ऐसे मूल्यांकन प्रणाली से ही मानव परंपरा में मानवीयतापूर्ण प्रणाली, पद्धति, नीति का दृढ़ता सुखद, सुन्दर, समाधान, समृद्धिपूर्वक प्रमाणित होना नित्य समीचीन रहता है। ऐसे सर्ववांछित उपलब्धि के लिये मित्र संबंध अतिवांछनीय होना पाया जाता है।

समाधान, समृद्धि सहज समानता ही मित्र संबंध है एवं सर्वतोमुखी समाधान में सहभागिता हो उसकी 'मित्र' संज्ञा है।

जिसमें बैर का अभाव हो उसकी मित्र संज्ञा है।

दोनों पक्ष की समृद्धि में चाहे कितना अन्तर हो, मैत्री की परस्परता में अनिष्ट चिन्तन का स्थान नहीं है। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि संपन्न या असम्पन्न पक्ष यदि किसी विपरीत घटना या परिस्थिति से घिर जाए तो दूसरा पक्ष अपना पूरा तन, मन, और धन व्यय करने के लिए तथा मित्र को उस घटना-विशेष अथवा परिस्थिति विशेष से उभारने के लिये प्रयत्नशील हो जाय। यही मित्रता की चरम उपलब्धि है। घटना ग्रस्त या परिस्थिति ग्रस्त मित्र की जो कठिनाइयाँ हैं, वह पूरी की पूरी दूसरे मित्र को प्रतिभासित होती है। मित्रता की कसोटी ही यह है कि परस्पर की कठिनाइयों को दूसरा पक्ष अधिक स्वीकार लेता है और यदि उसका परिहार है, तो उसके लिये अपनी शक्तियों की नियोजित करता है।

ऐसी मित्रता की निरंतरता न्याय पूर्ण व्यवहार सम्बन्ध से ही सफल होती है। निर्वाह के इन समस्त सम्बन्धों से व्यष्टि से समष्टि तक पोषण अन्यथा शोषक सिद्ध है। -व्य.द., 1978, 162

मित्रता की निरंतरता न्याय पूर्ण व्यवहार से ही सफल होती है। निर्वाह के इन समस्त सम्बन्धों से व्यष्टि से समष्टि तक पोषक अन्यथा शोषक सिद्ध है। मित्र-मित्र सम्बन्ध की परस्परता में विश्वास, सम्मान व स्नेह मूल्य प्रधान है एवं प्रेम संबंध भावी रहता है। - व्य.द. 126

4. गुरु-शिष्य

गुरु-शिष्य सम्बन्ध - इस सम्बन्ध में सम्बोधन का आशय सुस्पष्ट है। एक समझा हुआ, सीखा हुआ, जीया हुआ का पद है दूसरा समझने, सीखने, करके जीने का इच्छा, प्रवृत्ति जिज्ञासा का प्रस्तुति, ऐसे जिज्ञासु को शिष्य अथवा विद्यार्थी कहा जाता है, नाम रखा जाता है, सम्बोधन भी किया जाता है। दूसरे को गुरु आचार्य नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार गुरु का तात्पर्य प्रामाणिकता पूर्ण व्यक्ति का सम्बोधन। प्रामाणिकता का स्वरूप, समझदारी को समझाने व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी के रूप में जीते हुए रहते हैं, दिखते हैं। फलस्वरूप मानवीयतापूर्ण आचरण, मानव का परिभाषा हर करनी में, कथनी में व्याख्यायित रहता है। यही गुरु के स्वरूप को पहचानने की विधि है। समझदारी का तात्पर्य सुस्पष्ट हो चुका है: जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान में पारंगत रहना। उसका प्रमाण अध्ययन प्रणाली से बोधगम्य करा देना ही समझाने का तात्पर्य है। मानव सहज जागृति परंपरा में स्वाभाविक ही हर अभिभावक जागृत रहना पाया जाता है। घर, परिवार, बंधु-बान्धवों से भी सम्बोधन पहचान सहित कितने भी भाषा बोलने के लिए सीखाए रहते हैं उन सबमें मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार सूत्रों से अनुप्राणित सार्थक विधि रहेगा ही। विद्यार्थी विद्यालय में पहुँचने के पहले से ही मानवीयतापूर्ण संस्कारों का बीजारोपण होना स्वाभाविक है। यही जागृत परंपरा का मूल प्रमाण है।

शिक्षा-संस्कार में अथ से इति तक मानव का अध्ययन प्रधान विधि से अध्यापन कार्य सम्पन्न होना सहज है। अध्ययन मानव का, मानव में, से, के लिये ही होना दृढ़ता से स्वीकार रहेगा। प्रत्येक मानव के अध्ययन में शरीर और जीवन का सुस्पष्ट बोध सुलभ होना पाया गया है। जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन निबद्ध विधि से अध्ययन सुलभ होने के कारण अस्तित्व मूलक मानव का पहचान, मानवीयतापूर्ण पद्धति, प्रणाली, नीति समेत पारंगत होने की विधि रहेगी। इसी विधि से हर आचार्य विद्यार्थियों को शिक्षण-शिक्षा पूर्वक अध्ययन कार्य को सम्पन्न करने में समर्थ रहते हैं। जिसमें उनका कर्तव्य और दायित्व प्रभावशील रहना स्वाभाविक है। क्योंकि हर आचार्य शिक्षा, शिक्षण, अध्ययन का प्रमाण स्वरूप में स्वयं प्रस्तुत रहते हैं इसलिये यह सार्थक होने की संभावना अथवा निश्चित संभावना समीचीन रहता है।

गुरु: प्रामाणिक

परिभाषा : गुरु :- शिक्षा संस्कार नियति क्रमानुवर्णीय विधि से, जिज्ञासाओं और प्रश्नों को समाधान रूप में, अवधारणा में प्रस्थापित करने वाला मनुष्य गुरु है। जागृति क्रम में मानव को अप्राप्त का प्राप्त, अज्ञात का ज्ञात करने के लिए, होने के लिए विधि, नियम, प्रक्रिया सहज समझदारी में पारंगत बनाना ही प्रामाणिकता का प्रमाण है। प्रामाणिकता पूर्ण गुरुजन ही अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व रूप में अवधारणा को प्रतिस्थापित करा सकता है। अवधारणायें अस्तित्व, विकासक्रम, विकास, जीवन, जीवनी क्रम, जीवन जागृतिक्रम, जीवन जागृति सहज रूप में, परस्परता में, अर्थात् समझा हुआ और समझने के लिये तथा मनुष्यों से है। गुरुजन इन मुद्दों में पारंगत रहेंगे, यह समझदारी है, समझदारी के आधार पर ही मानवीय शिक्षा-संस्कार संपन्न होता रहेगा, संस्कार का तात्पर्य ही अवधारणा है। विद्यार्थियों में स्थापित होने से उसकी निरंतरता का प्रमाण व्यवहार व्यवस्था में प्रमाणित होने से है। फलस्वरूप ही

अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी सहज कार्य-कलाप हर मानवीय शिक्षा-संस्कार सम्पन्न मानव से चरितार्थ होना पाया जाता है। – म.वि. 76-77

शिष्य – जिज्ञासु

परिभाषा : शिष्य :- जागृति लक्ष्य की पूर्ति के लिए शिक्षा संस्कार ग्रहण करने, स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत व्यक्ति, जिसमें गुरु का सम्बन्ध स्वीकृत हो चुका रहता है। यही जिज्ञासात्मक शिष्टता है।

जिज्ञासु :- जीवन ज्ञान सहित निर्भ्रम शिक्षा ग्रहण करने के लिए तीव्र इच्छा का प्रकाशन।

समझने, सीखने, करने के लिए पूर्ण जिज्ञासा सहित प्रयत्न संपन्न व्यक्ति, शिष्य के रूप में शोभनीय होता है। सफल होने के सभी लक्षणों से युक्त वातावरण में विश्वास होना और विश्वास को वातावरण में प्रभावित करने, प्रमाणित करने की सभी प्रक्रिया अध्ययन है।

अस्तित्व, विकास, जीवन, जीवन जागृति, रासायनिक-भौतिक रचना-विरचना, सम्पूर्ण मानव के लिए समझने-समझाने की वस्तु है। सीखने की जो कुछ भी प्रमाणित वस्तु है, यह मानव में मानवीयतापूर्ण आचरण, कर्म अर्थात् व्यवसाय में स्वावलम्बन, व्यवस्था में भागीदारी, मानवीयता पूर्ण आचरण का अभ्यास, प्रामाणिकता सहज अभिव्यक्ति है। साथ ही सार्वभौम व्यवस्था और अखंड समाज में निष्ठा है। ये सम्पूर्ण जिज्ञासाएं व्यावहारिक रूप में चरितार्थ होती हैं। प्रौढ़ता की पराकाष्ठा में, से, के लिए स्वानुशासन की जिज्ञासा का होना पाया जाता है। जिज्ञासा मानव सहज प्रकाशन है।

जिज्ञासा में ही न्यायिक अपेक्षाएं संयत, नियंत्रित होती हैं। मानव मूलतः सहज रूप में सही कार्य व्यवहार करने का इच्छुक है, न्याय सहज अपेक्षा और सत्य वक्ता है। इस आधार पर – जिज्ञासाएं उद्गमित होते ही रहती हैं। जब तक प्रामाणिकता का स्रोत, मानव परम्परा में स्थापित न हो जाए, तब तक इसी जिज्ञासा की पुष्टि में, कल्पनाशीलता- कर्म स्वतंत्रता पुनः प्रयास के साथ क्रियान्वित रहते ही हैं। इसे प्रत्येक मनुष्य में देखा जा सकता है। सम्पूर्ण जिज्ञासाएं अज्ञात को ज्ञात करने, अप्राप्त को प्राप्त करने के क्रम में हैं। कर्मस्वतंत्रता और कल्पनाशीलता, जीवन तृप्ति के पक्ष में, प्रमाण और स्रोतों को अन्वेषण करने की प्रक्रिया है। – म.वि. 78-79

गुरु-शिष्य: सारांश

गुरु की ओर से शिष्य के प्रति आशा बंधी रहती है कि जो अध्ययन कराया जाता है, उसका बोध शिष्य को होगा। शिष्य कृतज्ञ व आज्ञाकारी होगा।

शिष्य की गुरु से प्रत्याशा रहती है कि उसकी वांछा तथा जिज्ञासा के आधार पर उन्हीं दिशाओं में गुरु द्वारा अध्ययन कराया जाएगा। गुरु और शिष्य दोनों में उपलब्धि की कामना की साम्यता है। प्रक्रिया में पूरकता है। एक प्रदाता है और दूसरा प्राप्तकर्ता है। प्राप्तकर्ता और प्रदाता की एक ही अभिलाषा है कि 'बोध' पूर्ण हो जाये।

जिस पक्ष में शिष्य का बोध-पूर्ण हो जाता है, उस समय गुरु पर्व मनाता है अर्थात् गुरु को प्रसन्नता की अनुभूति होती है, जिसको वात्सल्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि हर एक बड़े अपनों से छोटों में वांछित गुणों की प्रसारण क्रिया में तत्पर रहते हैं। (व्य.द. 1978, 158)। इसके बदले में जो तोष (उत्सवित होना) वे पाते हैं, वही इसकी उपलब्धि है। प्रदाय के बदले में किसी भौतिक वस्तु की प्राप्ति की अभिलाषा नहीं रहती।

शिष्य का गुरु के साथ विश्वास सहित पहचान किया रहना सहज है। यह स्वाभाविक मिलन है। योग, मिलन के रूप में स्पष्ट होता है। गुरु-शिष्य का योग अपने में जागृति के आकाँक्षा पूर्वक कार्य-व्यवहार और अध्ययन करना, क्योंकि गुरु ही अध्ययन कराने वाला होना सुस्पष्ट है। अध्ययन कराने के क्रम में सदा-सदा शिष्य द्वारा ग्रहण करने की अपेक्षा व विश्वास समाया रहता है। उसमें जितने भी शिष्य सार्थक होते हैं, गुरु में प्रसन्नता का स्रोत समाया रहता है, यह स्पष्ट हो चुका है। यही गुरु-शिष्य के परस्परता में सफलता का प्रमाण है। जैसे-जैसे शिष्य का आकाँक्षा और जिज्ञासा शांत होता है, वैसे ही सभी संशय दूर होते जाते हैं। ऐसे संशय मुक्ति विधि से गौरव, श्रद्धा, कृतज्ञता मूल्य शिष्य में गुरु के लिए अर्पित होना पाया जाता है। इस प्रकार गुरु शिष्य में मूल्यों का मूल्यांकन पूर्वक उत्सवित होना स्वाभाविक होता है। - व्य.द. 124

5. पति-पत्नी संबंध

मानव परंपरा में विवाह संबंध अधिकांश लोगों में वांछित है। यह संबंध अपने-आप में परस्पर सर्वतोमुखी समाधान सहित विश्वास वहन करने की प्रतिज्ञा पूर्वक आरंभ होने वाला संबंध है। हर संबंधों में विश्वास वहन होना एक अनिवार्य और सामान्य स्थिति है। विवाह सम्बन्ध में भी विश्वास निर्वाह आवश्यक है ही। विवाह संबंध में होने वाले शरीर संबंध और उसकी अपेक्षा परस्परता में आयु के अनुसार विदित रहता है। इतना ही नहीं सर्वविदित रहता है। सभी संबंधों में जीवन सहज भागीदारी समान रूप में विद्यमान रहता है। विश्वास सभी संबंधों में जीवन सहज अपेक्षा है। क्रम से व्यवहार संबंध, व्यवस्था संबंध और शरीर संबंधों को विश्वासपूर्वक ही नियंत्रित किया रहना देखने को मिलता है।

शरीर संबंध माता-पिता के सम्बन्ध में गर्भाशय और उसमें निर्मित होने वाले शरीर के रूप में गण्य होता है। भाई-बहन के साथ एकोदर अर्थात् एक गर्भाशय में निर्मित शरीरों के रूप में संबंध होना दिखता है। इसी क्रम में प्रत्येक मानव संतान की शरीर रचना में, उसके वैभव में स्वीकृतियाँ बना ही रहता है। हर मित्र संबंध, हर भाई-बहन के सम्बन्ध में शरीर संबंध का स्वरूप कहे गये स्वरूप में ही स्वीकृत रहता है। पति-पत्नी संबंध प्रधानतः गर्भाशय में शरीर रचना कार्य प्रवृत्ति ही होना पाया जाता है। इसी के साथ यौवन सम्पन्नता सहित यौन विचार से होने वाली आवेश मुक्ति के क्रियाकलाप को भी शरीर सम्बन्ध में पहचाना गया है। इस प्रकार शरीर सम्बन्ध का अर्थ विवाह सम्बन्ध से इंगित होने वाला बात स्पष्ट है। यह सामान्य रूप में मानवोत्तर प्रकृति और मानव से निर्मित वातावरणों का निरीक्षण विधि से भी

शरीर सम्बन्ध विवाह विधि से होने वाला तथ्य इंगित रहता ही है। इसीलिये इसके लिये अलग से कोई शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता नहीं रह जाता।

दाम्पत्य जीवन की चरमोपलब्धि 'एक ही मन ओर दो शरीर होकर' व्यवहार करना है। दाम्पत्य जीवन में व्यवहार निर्वाह सम्पर्क एवम् सम्बन्ध ही है। तात्पर्य यह है कि दाम्पत्य जीवन व्यक्ति के रूप में दो है और व्यवहार के रूप में एक है।

पति-पत्नी दोनों में से किसी के द्वारा भी अज्ञान के कारण कितने भी अंश में एस प्रतिज्ञा - 'एक मन ओर दो शरीर होकर जिएंगे' - का निर्वाह नहीं किया जाता या जितने अंश में उक्त प्रतिज्ञा का उल्लंघन किया जाता है, उतना ही दोनों पक्ष अपनी २ पूर्व-धारणाओं के कारण उत्पीड़ित हो जाते हैं। इसका फल होता है कि दो विचारधारा के अनुरूप दो व्यवहारधारा आरंभ हो जाती है। परस्पर विश्वास की कमी के फलस्वरूप कुछ अवधि तथा आयु के पश्चात् दोनों अपने को अलग-अलग अनुभव करने लगते हैं। इसके मूल में कारण यही होता है कि उसमें से प्रत्येक यह अनुभव करता है कि उसके द्वारा मूल-भूत विश्वास का निर्वाह नहीं किया जा सका।

ऐसा एक मन और दो शरीर वाला जीवन जीने या अनुभव करने के लिये, दोनों पक्षों के लिये यह आवश्यक है कि सम्बन्धात्मक तथा सम्पर्कात्मक व्यवहारों का निर्वाह करने में अपनी आर्थिक तथा मानसिक प्रयुक्तियाँ किस अनुपात एवम् रीति नीति से नियोजित करेंगे, इसका निर्णय पूर्व में ही कर लेंगे और इसके पश्चात् ही उन प्रयुक्तियों से वांछित सुख एवं आह्लाद का अनुभव होगा, जो सम्बन्ध एवम् सम्पर्क का निर्वाह करने पर या पूर्णतया निर्वाह करने पर हर व्यक्ति से प्राप्त होता है। मूलतः दोनों पक्षों द्वारा निर्विरोधपूर्वक अपने सम्बन्ध एवम् सम्पर्क का निर्वाह करना ही अवसर, आवश्यकता तथा उपलब्धि है। जहाँ तक मान, सम्मान, प्रतिष्ठा, आदर और यश का प्रश्न है, वह पति अथवा पत्नी दोनों में सम्मिलित रूप से रहता है तथा उनमें से किसी एक को भी मिलने पर दूसरे पक्ष में वह समान रूप से बँटता ही है। व्य.द. १९७८, १५७

पति-पत्नी संबंध में परस्परता में मूल्यों का पहचान इस प्रकार से होता है कि विश्वास पूर्वक सम्मान, स्नेह व प्रेम मूल्यों का निरंतर अनुभव होता है या समय-समय पर होता है। न्यूनतम विश्वास मूल्य बना ही रहता है। प्रेम मूल्य; दया, कृपा, करुणा की अभिव्यक्ति है। इस विधा में पति में मूल्यांकन के आधार पर दया, कृपा, करुणा मूल्यों का स्पष्ट होना, उसी प्रकार से पत्नी द्वारा भी इन मूल्यों का स्पष्ट होना ही प्रेम मूल्य है। वास्तविक रूप में पात्रता के अनुसार वस्तु का मूल्यांकन, पात्रता के अनुसार योग्यता का मूल्यांकन, योग्यता के अनुसार पात्रता का मूल्यांकन परस्परता में होना स्वाभाविक क्रिया है। यह नित्य नैमित्तिक है। नित्य मूल्यांकन का तात्पर्य हम मूल्यांकन में अभ्यस्त हो गये हैं। नैमित्तिक का तात्पर्य-प्रयत्न पूर्वक ध्यान पूर्वक मूल्यांकन करने से है। ऐसी स्थिति बारंबार होते-होते मूल्यांकन सहज रूप से होना पाया जाता है। इस प्रकार योग्यता के अनुसार पात्रता, पात्रता के अनुसार योग्यता का मूल्यांकन विशेषकर पति-पत्नी संबंध में होना अति आवश्यक है। ये दोनों मूल्यांकन के साथ ही पात्रता और योग्यता में संतुलन स्थिति को पाया जाता है। तीसरी विधि से पति या पत्नी अथवा दोनों में योग्यता, पात्रता हो ही नहीं, यह दाम्पत्य जीवन अथवा किसी भी प्रौढ़/युवा में संभव ही नहीं है। यही हो सकता है कि योग्यता और पात्रता का न्यूनातिरेक हो सकता है। इसी में सामंजस्य को पाने के लिए दाम्पत्य जीवन का महती उपयोग होना पाया जाता है। इन तथ्यों को, पूर्व आशयों को भुलावा देना ही दुःख और परेशानी का कारण है। यही भ्रम है। - व्य.द. १९७८, १५७

स्वनारी/स्वपुरुष की परिभाषा

– विधिवत् विवाह पूर्वक प्राप्त नारी या पुरुष।

व्याख्या :- इस मुद्दे पर अनेक समुदाय परम्पराएँ विविध प्रकार से विवाह कार्य को सम्पन्न करते हैं। इसका पार्थिव या दैहिक प्रयोजन शरीर सम्बन्ध ही होना, ऐसे विवाह सम्बन्ध में जुड़े हुए नर-नारियों में प्राप्त, धन का उपभोग करने में समानाधिकार अथवा न्यूनातिरेक अधिकार के रूप में स्वीकृत रहा है। इससे अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था का आधारभूत सूत्र व्याख्या नहीं हो पाया। इसका साक्ष्य अनेक और विविध समुदाय परंपरा ही है।

विवाह सम्बन्ध मूलतः -

1. परिवार व्यवस्था में जीने और समग्र व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करने की प्रतिज्ञा है।
2. विवाह संबंध 'परिवार मानव' रूप में व्यवस्था विधि से जीने की कला को स्वीकारने की प्रतिज्ञा है।
3. विवाह सम्बन्ध परिवार में, से, के लिये आवश्यकीय वस्तुओं के लिये अपनाया गया उत्पादन-कार्य में भागीदारी करने की प्रतिज्ञा है।
4. परिवार मानवता सम्पन्न व्यक्ति में ही सम्पूर्ण अथवा मानवीयतापूर्ण प्रतिज्ञाएँ निर्वाह होते हैं। इस विधि से विवाह के पहले हर नर-नारी परिवार मानव के रूप में प्रतिज्ञा स्वीकार करने के लिये 'स्वायत्त मानव' के रूप में प्रतिष्ठित रहना, विवाहाधिकार तन, मन, धन का सदुपयोग-सुरक्षा करने में प्रतिज्ञा का आधार है।
5. किसी भी मानव परिवार में, से विवाह सम्बन्ध का योजना मानव कुल के लिये उपयुक्त है। विवाह सम्बन्ध नस्ल या रंग की सीमाओं से विशालता के लिये सहायक होना देखा गया है। इसीलिये विवाह-बेला में नस्ल-रंग से संबंधित विचारों व आग्रहों से मुक्त होने की प्रतिज्ञा है।
6. विवाह सम्बन्ध मानवीयतापूर्ण व्यवहार करने के लिए प्रतिज्ञा है।
7. विवाह सम्बन्ध, सम्बन्ध, मूल्य, मूल्यांकन एवं उभयतृप्ति के लिये कार्य करने में प्रतिज्ञा है।
8. प्रत्येक नर-नारी जो विवाहपूर्वक जीने की कला को प्रमाणित करने के लिये उद्देश्य बना लिये हैं। वे दोनों जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान सम्पन्न होने में पारंगत होने में और मानवीयतापूर्ण आचरण में प्रमाणिक होने का घोषणा करते हुए तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग और सुरक्षा करने के लिये प्रतिज्ञा करेंगे।

संबंधों के विशालता विधि को ध्यान में रखते हुए विवाह सम्बन्ध में किसी भी मानवीयतापूर्ण परिवार में पले हुए स्वायत्त मानवाधिकार सम्पन्न नर-नारी का विवाह सम्बन्ध घटित होना मानव कुल सहज नैसर्गिक है। इसकी स्वीकृति हर नर-नारी में अवधारणा के रूप में होना आवश्यक है। – स.श. 151-150

- पति = यतीत्व = यत्न पूर्वक तरने के लिए, जागृति निर्भ्रमता और जागृति सहज निरंतरता के लिए किया गया सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार; निर्भ्रमता सहित की गई प्रक्रिया एवं प्रयास।
- पत्नी = सतीत्व = सत्व अर्थात् संकल्प, निष्ठापूर्वक समझना ही तरना। – म.वि. 100

6. साथी (स्वामी) –सहयोगी (सेवक)

साथी

- दायित्व-कर्तव्य।
- सर्वतोमुखी समाधान प्राप्त व्यक्ति। ऐसे व्यक्ति का ही, किसी और व्यक्ति के अभ्युदय के लिए, साथी होना संभव है। अभ्युदय ही सर्वजन आकांक्षा है। इसे सफल बनाना, मानव परम्परा है। इसमें (अर्थात् अभ्युदय में) पारंगत व्यक्ति दूसरों को अभ्युदयशील, अभ्युदयपूर्ण प्रमाणित करने के क्रम में, साथी (स्वामी) का पद पाता है।
- स्वयं को जो पहचान चुका है, जान चुका है, मान चुका है, वे निर्वाह करने के क्रम में साथी (स्वामी) कहलाते हैं।
- दायित्व :- परस्पर व्यवहार, व्यवसाय एवं व्यवस्थात्मक सम्बंधों में निहित, मूल्यानुभूति सहित, शिष्टता पूर्ण निर्वाह।

सहयोगी

- कर्तव्य दायित्व।
- पूर्णता अथवा अभ्युदय के अर्थ में मार्गदर्शक अथवा प्रेरक के साथ-साथ अनुगमन करना, स्वीकार पूर्वक गतित होना।
- कर्तव्य :- (१) प्रत्येक स्तर में प्राप्त सम्बंधों एवं सम्पर्कों और उनमें निहित मूल्यों का निर्वाह। (२) जिस कार्य को करने के लिए स्वीकार किए रहते हैं, उसे करने में निष्ठा को बनाए रखना।

साथी (स्वामी) एक नामकरण है जिसकी सार्थकता परिभाषा में ही इंगति हो चुकी है। अस्तित्व ही सह-अस्तित्व है, यह विदित हो चुका है। इसी क्रम में सम्बन्धों को पहचानना निर्वाह करना, जानना मानना संभव है और यह प्रमाणित होता है। श्रेष्ठता का गुणानुवादन सुनकर, श्रेष्ठता के लिए साथी (स्वामी) का वर्णन, मनुष्य सहज (की) संभावना है। साथी (स्वामी) शब्द के साथ ही अपेक्षाएं, श्रेष्ठत एवं शुभ के वांछित स्रोत के रूप में ही भास-आभास हो पाता है। ऐसे साथी (स्वामी) अभ्युदय के अर्थ में- समाधान, समृद्धि, अभय एवं सह-अस्तित्व के सफल होने के लिए, दिशादर्शन करते हैं। सहयोगियों में स्वयं स्फूर्त होने के लिए, पूरक विधि से, प्रमाणित हो पाते हैं। जागृति सूत्र विधि से, प्रत्येक व्यक्ति में सर्वतोमुखी समाधान सहज अभ्युदय को, प्रमाण रूप, में विश्व विहित प्रक्रियाओं से पारंगत बनाना, साथी (स्वामी) का ही दायित्व है।

सेवक अथवा सहयोगी साथी का अर्थ, जागृति और सर्वतोमुखी समाधान ही होता है। इसमें साथी (स्वामी) और सहयोगी (सेवक) के आशय, समान होने के कारण, पूरकता ही, स्वामी का काम है। पूरकता को स्वीकारना ही, सेवक (सहयोगी) का कार्य बन जाता है। पूरक विधि से ही, सह- अस्तित्व वैभवित है। इसी क्रम में मानव का एक मात्र मार्ग है, सह-अस्तित्व क्रम में, प्रत्येक मनुष्य, किसी न किसी के लिए पूरक होता ही है और किसी न किसी से पूरकता पाता ही है। ऐसी पूरकता वश जागृत होना, प्रत्येक व्यक्ति में, से, के लिए अवश्य ही सफल होने का मार्ग प्रशस्त होता है।

प्रत्येक व्यक्ति किसी का सहयोगी या किसी का साथी है ही। सम्पूर्ण मूल्यों और सम्बंधों का निर्वाह स्वयं स्फूर्त सेवा है। इस तथ्य के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति का परस्परता में सम्बंध व मूल्यों का निर्वाह करना ही कर्तव्य है। इसी विधि से प्रत्येक व्यक्ति किसी के लिए साथी है, किसी के लिए सहयोगी है। इस प्रकार दायित्व और कर्तव्य सहज निर्वाह ही सेवा है। यही मूल्यों का आस्वादन भी है। दायित्व के रूप में साथी (स्वामी) कर्तव्य के रूप में सहयोगी (सेवक) का स्वरूप स्पष्ट है। – म.वि. 60-61

साथी-सहयोगी संबंध एक दूसरे के लिए पूरक विधि से सार्थक होना पाया जाता है। यह संबंध सहयोगी की कर्तव्य निष्ठा से व साथी के दायित्व निष्ठा से सार्थक होना पाया जाता है। यह परस्पर पूरक संबंध है। इनमें मूल मुद्दा दायित्व को निर्वाह करना, कर्तव्यों को पूरा करने में ही परस्परता में संगीत होना पाया जाता है। यह जागृत परंपरा की देन है। इसमें मुख्यतः विश्वास मूल्य रहता ही है। गौरव, सम्मान, स्नेह मूल्य अर्पित रहता है। सहयोगी के प्रति सम्मान मूल्य विश्वास के साथ अर्पित रहता है। इस विधि से मंगल मैत्री होना स्वाभाविक है।

उपलब्धि एवं विकास के आधार पर साथी सहयोगी संबंध दो पक्षों में गण्य है। उसे साथी (स्वामी) से सहयोगी (सेवक) अकिंचनता को स्वीकारता है। उसे परिप्रेक्ष्य में सहयोगी, साथी को श्रेष्ठ मानता है, जो उसकी मौलिकता है। इस संबंध में साथी, सहयोगी का पूरा उत्तरदायी हो जाता है और सहयोगी साथी को ही उस परिप्रेक्ष्य के पक्षों का कर्त्ता मानता है। इस संबंध में साथी के विशेष गुण, निपुणता कुशलता दिखाई पड़ता है। साथी – सहयोगी संबंध वह है जिसमें पद एवं भौतिक आदान-प्रदान परस्परता में निश्चित व प्रत्याशित रहता है। इस प्रकार इस संबंध में भी सुखद स्थिति की निरंतरता देने वाली वस्तु विश्वास ही है। अस्तु, इसमें विश्वास की स्थिरता प्रदान किया रहना ही इस संबंध की अंतिम अनुभूति है। – व्य.द. 126

सामाजिक सम्बन्ध (अर्थात् मानव सम्बंधों) के आधार पर, व्यवसाय सम्बन्ध, सफल होने की व्यवस्था है। केवल व्यवसाय सम्बन्ध के आधार पर, मानव सम्बन्ध एवं मूल्यों की पहचान नहीं हो पाती। व्यवसाय सम्बन्ध के लिए रासायनिक भौतिक वस्तुएं हैं जो मूलतः प्राकृतिक अथवा रूपात्मक अस्तित्व में, से निश्चित अवस्था के रूप में वर्तमान है। उस पर श्रम नियोजन पूर्वक, उत्पादित वस्तुओं में उपयोगिता अथवा कला मूल्य को स्थापित किया जाता है। वर्तमान तक लाभोन्मादी मानसिकता के आधार पर सम्पूर्ण व्यवसाय के निर्भर होने के फल स्वरूप (अथवा प्रलोभन मूल्यांकन के फलस्वरूप) यह विफल होते आया। जबकि अस्तित्व में लाभ से इंगित वस्तु नहीं हैं और न ही उस भय और प्रलोभन की सत्ता है। अस्तित्व में सम्पूर्ण व्यवस्था नियम- निरंतर, नियम प्रवर्तन, नियम-नियंत्रण, नियम-न्याय संतुलन, मूल्यों का निर्वाह और मूल्यांकन के रूप में, सार्वभौम है।

इसी के साथ पूरकता विधि क्रम में, उदात्तीकरण, विकास, जागृति देखने को मिलती है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सभी समुदाय परंपराएं भ्रमवश ही लाभ, प्रलोभन तथा भय के दलदल में फंस गई हैं। इसका समाधान मूल्यों पर आधारित मूल्यांकन है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन है, संग्रह के स्थान पर आवर्तनशील अर्थव्यवस्था है, सुविधा, भोग, अतिभोग के स्थान पर उपयोगिता, सदुपयोगिता, प्रयोजनीयता है। इस आधार पर साथी सहयोगियों का कर्तव्य व दायित्व, व्यवहृत होना ही है, जो समीचीन है। – म.वि. 62

7. व्यवस्था सम्बन्ध

(व्यवस्था संबंध = समग्र व्यवस्था में भागीदारी = राज्य* एवं नागरिक* सम्बन्ध)

राज्य की उपयोगिता विधि तथा व्यवस्था द्वारा जन-जाति के विकास एवम् समृद्धि को बनाए रखने में है। राज्य की इस उपादेयता के प्रति जीवन के प्रत्येक पक्ष में अनवरत गौरव को स्वीकारना ही सभ्य नागरिक* का लक्षण है। साथ ही राज्य का जो मूल उद्देश्य विकास और समृद्धि है, उसके लिये अंगभूत मनुष्य का अपने जीवन के कार्यकलापों को बनाए रखना ही उसके द्वारा एक सभ्य नागरिक के रूप में राज्य के साथ सम्बन्ध निर्वाह है। - व्य.द. (1978) 162 (*पुस्तक में 'राज्य' के स्थान पर 'शासन' एवं 'नागरिक' के स्थान पर 'प्रजा' शब्द के प्रयोग किये गए हैं)

व्यवस्था में जीने का प्रमाण परिवार में होता है। समग्र व्यवस्था में भागीदारी सहज क्रम में व्यवस्था संबंध को पहचानने की आवश्यकता उत्पन्न होती है। जैसा परिवार में न्याय-सुरक्षा का प्रमाण संबंध, मूल्य, मूल्यांकन तन, मन, धन का सदुपयोग -सुरक्षा विधि से प्रमाणित हो जाता है। यही परिवार मानव का मानवीयतापूर्ण परिवार का परिभाषा है। इसीलिये परिवार में परस्पर हुई पिता-पुत्र, भाई-बहन, मित्र, गुरु, शिष्य, पति-पत्नि, माता-पिता इन संबंधों में संबोधन सहज संबंध चिन्हित होता है और उत्पादन-कार्य में भागीदारी प्रमाणित रहता ही है। हर परिवार में वस्तुओं का उपयोग, सदुपयोग भी साक्षित रहता है। विनिमय-कार्य के लिये और विशाल संबंध की आवश्यकता बनी रहती है। एक परिवार की आवश्यकता जितने प्रकार की वस्तुओं की बना रहता है उनमें से कुछ वस्तुओं को किसी भी परिवार में उत्पादित होना स्वाभाविक है विनिमयपूर्वक एक परिवार में उत्पन्न वस्तु को दूसरे परिवार प्राप्त कर लेना ही वस्तुओं का आदान-प्रदान का तात्पर्य है। इस विधि से विनिमय एक आवश्यकीय क्रियाकलाप है; यह स्पष्ट हो जाता है। व्यवस्था के आयामों में विनिमय एक आयाम है। व्यवस्था रूप में ही संपूर्ण आयाम सहित परंपरा स्पष्ट होती है यथा मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार परंपरा अन्य सभी चार आयामों के लिये स्रोत और संतुलन सूत्र होना पाया जाता है। - स.श. 235-236

मानवत्व सहित व्यवस्था में विधि समायी रहती है। विधान निर्वाह रूप में प्रमाणित होता है। व्यवस्था का धारक-वाहक जागृत मानव ही होता है। व्यवस्था में भागीदारी करने के लिए मानव को जागृत होना रहना आवश्यक है। जागृति पूर्वक ही हर नर-नारी जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

सामाजिक दायित्व का प्रमाण हर समझदार परिवार में समाधान, समृद्धिपूर्वक जीने में प्रमाणित होता है। यह क्रमशः सम्पूर्ण मानव का एक इकाई के रूप में पहचान पाना बन जाता है। पहचानने के फलन में निर्वाह करना बनता ही है। ऐसी निर्वाह विधि स्वाभाविक रूप में मूल्यों से अनुबंधित रहता ही है। यही व्यवस्था में भागीदारी की स्थिति में परिवार व्यवस्था से अन्तर्राष्ट्रीय या विश्व परिवार व्यवस्था तक स्थितियों में भागीदारी की आवश्यकता रहता ही है। ऐसे भागीदारी के क्रम में मानव अपने में, से समझदारी विधि से प्रस्तुत होना बनता है। समझदारी विधि से ही हर नर-नारी व्यवस्था में भागीदारी करना सुलभ सहज और आवश्यक है। इसी क्रम से मानव लक्ष्य प्रमाणित होते हैं जो समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व के रूप में पहचाना गया है, इसे प्रमाणित करना ही मानवीयता पूर्ण व्यवस्था है। - व्य.द. 126-127

(C) सम्बन्ध सहज मूल्य

मानव परम्परा में सम्पूर्ण प्रयोजन “व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी” के रूप में “परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था” ही है, जिसका लक्षण समाधान, समृद्धि, अभय तथा सह-अस्तित्व ही है। यही सर्व मानव स्वीकृति है।

प्रत्येक मनुष्य व्यवस्था को वरता है (अथवा व्यवस्था में जीना चाहता है)। इस आशय की सार्वभौमता को, अध्ययन गम्य कराना मानव परम्परा का ही प्रधान कार्य है। शिक्षा पूर्वक ही सम्पूर्ण अवधारणाएं स्थापित हो पाती हैं। प्रचार, व्यवहार, व्यवस्था पूर्वक, पुष्ट होते हैं। मानव अभी तक अपनी संचेतना के प्रति जागृत होने के क्रम में ही है। संभावनाएं समीचीन हैं ही। – म.वि. 53

संबंधों को प्रयोजन के अर्थ में पहचानने से मूल्य अपने आप बहते हैं। प्रयोजन = समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व, जीवन जागृति, अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था ही है। – संवाद, २००७

मानवीय चेतना संपन्न मानव संबंध में स्थापित व शिष्ट मूल्य निम्न है। सभी संबंधों का निर्वाह ही व्यवस्था है। – विकल्प, 22; म.वि. 136

1. विश्वास 2. सौजन्यता

विश्वास :-

- परस्परता में निहित मूल्य निर्वाह।
- व्यवस्था की समझ, समाधान की अभिव्यक्ति और संप्रेषणा।
- सबध निर्वाह निरंतरता सहित मूल्यों के निर्वाह की निरंतरता

सौजन्यता

- सहकारिता, सहभागिता, सहयोगिता, पूरकता।
- परस्पर पूरकता ही सौजन्यता है।

पूरकता विधि से ही विश्वास सहज प्रमाण संपन्न होता है। पूरकता हर परस्परता में समीचीन है। मानव सहज परस्परता, नैसर्गिकता सहज परस्परता नित्य विद्यमान है। – म.वि. 43

विश्वास एक साम्य मूल्य है। सम्पूर्ण सम्बंधों में, सहज विश्वास ही, वर्तमान में सुख पाने की विधि है। – म.वि. 46-47

प्रत्येक मानव, विश्वास पूर्वक जीना ही चाहता है। विश्वास को मूल्यों के क्रम में जानना, मानना, सम्बंधों को पहचानना व निर्वाह करना सरल, सुंदर, समाधान और इसकी निरंतरता है। इसका प्रमाण – शिशु काल में प्रत्येक मानव संतान,

विश्वास के अलावा कुछ करता ही नहीं। परम्परा में, विश्वास सहज धारक वाहकता प्रमाणित होने के उपरान्त, परम्परा में आए (अथवा अवतरित) सभी मानव संतान, शिशु काल की विश्वास निष्ठा को जागृत परम्परा सहज रूप में ही अपनाए रखते हैं। इसका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। – म.वि. 50

3. सम्मान 4. सौहार्द्रता

सम्मान :-

- व्यक्तित्व प्रतिभा की स्वीकृति और उसका सन्तुलन सहज प्रकाशन
- व्यक्तित्व, प्रतिभा की श्रेष्ठता की स्वीकृति निरन्तरता स्पष्टता।
- व्यक्तित्व एवं प्रतिभा में श्रेष्ठता सहज प्रमाण का पहचान, स्वीकृति – प्रमाणित होने की प्रवृत्ति
 - व्यक्तित्व का तात्पर्य – आहार, विहार, व्यवहार के रूप में प्रमाणित होना। व्यक्तित्व – आचरण, प्रतिभा = समझदारी।
 - प्रतिभा का तात्पर्य – जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन व मानवीयतापूर्ण आचरण में पारंगत होना।

सौहार्द :-

- जिस प्रकार से स्वीकृति हो उस अवधारणा, अनुभव, स्मृति और श्रुति को यथावत प्रस्तुत करने का क्रियाकलाप।
- स्पष्टता से मूल्यांकन, क्रियाकलाप में स्पष्टता, सार्थकता। – म.वि. 50

सम्मान अथवा सम्मानात्मक मानसिकता तभी संभव हो पाती है, जब मूल्यांकन विधियों को जानने-मानने, पहचानने और निर्वाह करने की आवश्यकता महसूस होती है। मूल्यांकन सहज आवश्यकता, जागृत जीवन का कार्यक्रम प्रमाण सहज प्रक्रिया है। किसी भी आयाम, दिशा, कोण, परिप्रेक्ष्य में, श्रेष्ठता की स्वीकृति सहित प्रकाशन ही, सम्मान के रूप में समर्पण पूर्वक स्पष्ट होता है। मूल्यांकन के साथ अरहस्यता स्वाभाविक ही वर्तमान रहता है, फलस्वरूप मूल्यांकन की संप्रेषणा, भाषा, मुद्रा, भंगिमा – अंगहार सहित संप्रेषित हो पाती हैं। – म.वि. 54

5. स्नेह 6. निष्ठा

स्नेह :-

- न्यायपूर्ण व्यवहार में निर्विरोधिता
- संतुष्टि, प्रसन्नता, उत्सव में, से, के लिए स्वयं स्फूर्त मिलन और निरन्तरता।
- अभ्युदय में, से, के लिए स्वयं स्फूर्त उभय मिलन एवं उसकी निरन्तरता।

निष्ठा :-

- मानवीयता पूर्ण विचार व्यवहार में निरंतरता, मानवीयता सहित व्यवस्था सहज वर्तमान
- जागृति पूर्ण लक्ष्य को निश्चित अवधारणा व स्मरण पूर्वक प्राप्त करने व प्रमाणित करने का निरंतर प्रयास। – म.वि. 55

स्नेह सम्बंध भी स्वयं स्फूर्त सम्बन्ध हैं। इसमें निहित आशय और प्रक्रिया भी स्पष्ट हो चुकी है। इसमें निरंतरता को बनाए रखना ही निष्ठा है। निष्ठापूर्वक ही सम्पूर्ण सम्बन्ध सफल हो पाते हैं। स्वयं स्फूर्त विधि ही, संतुष्टि का आधार बिंदु है। इसीलिए उभय संतुष्टि है क्योंकि हर सम्बन्ध में एक से अधिक व्यक्तियों का होना पाया जाता है। इसलिए उभय संतुष्टि (अथवा जो जो संबंधित रहते हैं, संतुष्टि क्रम में) स्नेह सम्बंध का निरंतर वैभवित होना पाया जाता है। – म.वि. 55

7. ममता 8. उदारता

ममता :-

- अपनत्व की पराकाष्ठा पूर्वक पोषण संरक्षण कार्य।
- स्वयं की प्रतिरूपता की स्वीकृति, उसकी निरंतरता।

उदारता :-

- स्व प्रसन्नता पूर्वक, दूसरों की जीवन जागृति, शरीर स्वस्थता व समृद्धि के लिए आवश्यकता अनुसार तन, मन, धन रूपी अर्थ का अर्पण-समर्पण करना।
- प्राप्त समाधान रूपी सुख सुविधाओं (समृद्धि) का, दूसरों के लिए सदुपयोग करना और प्रसन्न होना।
- प्रतिफलापेक्षा विहीन कर्तव्य दायित्व वहन, तन मन धन अर्पण।

ममता की परिभाषा, सूत्र और व्याख्या ममत्व के (मेरा पन के) आधार पर ही हो पाती है। यह मन में होने वाली अनुभवमूलक प्रमाण के आधार पर, कल्पनाशीलता (व्यवहारिक तरीकों) को संयत कर पाता है। यह शिशुकाल में सर्वाधिक रूप में माता-पिता के चरित्र में अथवा अभिभावकों के चरित्र में दिखने वाला तथ्य है।

शुभ सहज के स्वरूप में, जागृति न होते हुए भी मानव शुभाकांक्षा करता है। ममता सहज प्रभाव, भले ही अभिभावक, भ्रमित क्यों न रहते हों, जब तक ममता का भाव (मूल्य) रहता है, तब तक उदारता पूर्ण चरित्र प्रकाशित रहता है।

उदारता पूर्वक जब मनुष्य अपने आचरण को प्रस्तुत करता है, तब अपने पास जो कुछ भी तन, मन, धन रूपी अर्थ होता है उसे प्रसन्नता और उत्सव के रूप में ही, अर्पण- समर्पण करना प्रमाणित होता है। यह प्रधानतः मात्रात्मक रूप में अधिकाधिक व्यक्त हो पाता है। इसमें अर्थात् ममता सूत्र में निष्ठा, पूर्णतया अभिव्यक्त होती है। ममतावश पोषण

कार्य भरपूर सम्पन्न होता है और संरक्षण कार्य, सहजता से संपन्न हो जाता है। इस प्रकार प्रधानतः पोषण कार्यों में ममता सहित मातृत्व को और ममता सहित संरक्षण कार्यों को पृत सम्बंध में होना पाया जाता है। पितृ सम्बंध संरक्षण पोषण रूप में ममता व उदारता मूल्य व मूल्यों के रूप में, सम्पन्न होना, पाया जाता है। ममता और उदारता, मानव परम्परा में, संतानों के साथ, सहज ही वर्तमान होने वाला आचरण है। – म.वि. 48

9. वात्सल्य 10. सहजता

वात्सल्य

- सर्वतोमुखी समाधान के अर्थ में पोषण संरक्षण

सहजता

- स्पष्टता एवं प्रामाणिकता।
- व्यवहार, रीति, विचार एवं अनुभव की एकसूत्रता।

वत्स (पुत्र-पुत्री) रूपी सम्बन्ध बोध के साथ ही वात्सल्य रूपी मूल्य का प्रकाशन होता है। यह वात्सल्य संतान व संतानवत् सम्बंधों का बोध सहित प्रत्येक परिवार मानव में देखने को मिलता है। सन्तान का रूप बोध होना, लोक व्यापीकृत है। संतान का अर्थ बोध होना अपरिहार्य है। परिवार मानव को सन्तान में, पारिवारिक अर्थ बोध होना सहज है। वात्सल्य सम्बंध बड़े बुजुर्गों के साथ माता-पिता के साथ गुरु-आचार्यवत् व्यक्तियों के साथ वात्सल्य सम्बंध स्वीकृत होना पाया जाता है। संतानवत् स्वीकारने का महत्वपूर्ण तथ्य इतना ही है कि तन, मन, धन का ऐसे वात्सल्य सम्बंध को निर्वाह करता हुआ व्यक्ति, नियोजित करता हुआ देखने को मिलता है। जैसे कोई भी सामान्य सज्जन परिवार में संतान होता है।

उनके लिये उस सम्बंध के साथ उपलब्ध तन, मन रूपी अर्थ का नियोजन करते हैं। मूलतः मानव अपेक्षा हर सम्बंधों की अक्षुण्णता के अर्थ में आरंभ होता है। मानव जब जागृत परम्परा में होता है तब सम्पूर्ण सम्बंध और उसमें निहित मूल्यों की अक्षुण्णता बनी ही रहती है। फलतः परिवार में अक्षुण्णता, समाज में अक्षुण्णता, का प्रमाण बना ही रहता है। इससे यह पता चलता है कि जीवन जागृति पूर्वक हम मानव सम्बंध और मूल्यों की अक्षुण्णता को बनाये रख पाते हैं। सम्बंध और मूल्य कभी भी समाप्त नहीं होता है यह भी तथ्य सामान्य लोगों को पता है। मूल्य यथावत बना ही रहता है सम्बंध भी बना ही रहता है, निर्वाह होता ही है।

सम्पूर्ण सम्बंध मानव की जिज्ञासा के अनुसार सम्बन्धों का संबोधन प्रचालित है। इन सभी सम्बन्धों में शुभेच्छा ही सर्वाधिक लोगों में आकलित होता है। मानव सहज प्रयोजनों के अर्थ में सम्बन्धों की दृढ़ता में निरंतरता रहता ही है। ऐसी दृढ़ता के आधार पर ही जागृति पूर्वक निष्ठा सहज स्वीकार होना पाया जाता है। सम्पूर्ण निष्ठा में मानव अपने दायित्व कर्तव्यों को स्वीकारने की स्थिरता होना पाया जाता है फलस्वरूप व्यवस्था और व्यस्था में भागीदारी सहज हो जाता है।

हर मूल्य का अनुभव मुद्रा, भंगिमा, भाव, अंगहार सहित सम्बंधों में व्यक्त होना पाया जाता है। वात्सल्य के साथ जैसे भाषा को पीछे रखकर भाव प्रभावित हो जाता है।

वात्सल्यता अपने आप में भावी पीढ़ी में जागृति को सार्थक बनाने में निश्चयन के साथ उत्सवित रहने का उद्गार ही वात्सल्य कहलाता है। – म.वि. 230-231

11. श्रद्धा 12. पूज्यता

श्रद्धा :-

- श्रेय की ओर गतिशीलता अर्थात् आचरण पूर्णता की ओर गुणात्मक परिवर्तन।
- जागृति और प्रमाणिकता की ओर गति व उसकी निरंतरता।
- प्रामाणिकता, श्रेष्ठता की ओर प्रवृत्ति एवं संकल्प सहित गति

पूज्यता:-

- गुणात्मक विकास और जागृति के लिए सक्रियता।
- गुणात्मक परिवर्तन के लिए सक्रियता

जीवन वैभव क्रम में अथवा जागृति क्रम में जो प्रेरणा, प्रमाण, कर्माभ्यास, व्यवहारभ्यास व चिंतनाभ्यास है, उसके लिए प्राप्त सूत्र, व्याख्या, प्रेरणा, लक्ष्य और दिशा निर्देशन एवं स्वीकृतियां जीवन सहज है। इन सबका प्रयोग जीवन जागृति के लिए ही है। ऐसी प्रेरणा एवं निर्देशों को पाने के पहले से ही जीवन जागृति अथवा मोक्ष के प्रति तीव्र जिज्ञासा का होना देखा जाता है मोक्ष का तात्पर्य भ्रम मुक्ति से है। भ्रम मुक्ति (का तात्पर्य) जागृति से ही है। जागृत परम्परा में हर मानव को जागृति पूर्वक भ्रममुक्ति सहज है। नियति क्रम में भ्रम मुक्ति अथवा जीवन जागृति निश्चित है। जीवन ही जागृति पर्यन्त जिज्ञासु रहना जागृति सहज आवश्यकता को महसूस करता पाया जाता है।

सार्थकता वश पूज्यता कृतज्ञता सहित जीवन जागृति पद में प्रतिष्ठित होने के लिए ही समझदार जागृत और प्रमाणित मानव के सान्निध्य में स्वाभाविक रूप में पूज्यता पूर्वक जिज्ञासा सहित प्रस्तुत होना पाया जाता है। ऐसी स्थिति में प्रेरणाओं को पाकर जो गति निर्मित होती है अर्थात् चिंतन प्रधान गति पहचान में आती है उसी का नाम श्रद्धा है। दूसरी भाषा में यही तथ्य इंगित होता है, वह है श्रेय की ओर दिशा गतिशीलता। ऐसी गतिशीलता के लिए प्राप्त सभी प्रेरणाओं से ऐसा जागृत प्रेरणाशील जागृत मानव के प्रति परम पूज्यता का प्रकाशन होता ही है। इस प्रकार श्रेय की ओर गतिशीलता श्रद्धा है और उसके लिए प्राप्त दिशा दर्शन लक्ष्य सहज स्पष्टता और स्वीकार पूर्वक ही प्रेरक के प्रति पूज्यता का प्रकाशन सहज होना पाया जाता है। – म.वि. 235, 236

13. गौरव 14. सरलता

गौरव:-

- निर्विरोध पूर्वक, अंगीकार किए गए अनुकरण।
- विकसित (जागृत) को पहचान एवं उनके अनुरूप होने में उत्साह और निरंतरता

सरलता :-

- ग्रंथि व तनाव रहित अंगहार, एवं उसका प्रकाशन

विकसित, जागृत मानव, मूल्यों का निर्वाह करते हुए मूल्यांकन पूर्वक श्रेष्ठता का गौरव पाता और करता है। गौरव स्वयं मूल्य, मूल्यांकन, उभय तृप्ति के अर्थ में (अथवा स्वीकार किया हुआ के अर्थ में) प्रतिपादन, अभिव्यक्ति व संप्रेषणा है। ऐसी अभिव्यक्ति, संप्रेषणा सरलता पूर्वक होना पाया जाता है। सरलता अपने में जिस गौरव को व्यक्त करती है, उसके लिए किया गया शरीर विन्यास, सम्पूर्ण आवेशों से मुक्त स्वभाव गति सम्पन्न मानव सहज गति है। धीरता, वीरता, उदारता पूर्ण, मुद्रा, भंगिमा, अंगहारों की अभिव्यक्ति है। गौरव क्रिया-कलाप में सार्थकता की स्वीकृतियां, सर्वाधिक प्रभावशील रहती हैं। फलस्वरूप सरलता सहज ही सम्यक होती है।

अस्तु, श्रेष्ठता, मनुष्य के जीवन जागृति पूर्वक में होने वाली अभिव्यक्ति है। श्रेष्ठता, प्रत्येक मनुष्य को स्वीकार्य है। श्रेष्ठता की अभिव्यक्ति में, सरलता पूर्वक सम्मानित करना पाया जाता है। जागृति पूर्वक ही मानव पद प्रतिष्ठा प्रमाणित होता है। – म.वि. 133

15. कृतज्ञता 16. सौम्यता

कृतज्ञता:-

- जिस किसी की भी सहायता से उन्नति (विकास और जागृति) की प्राप्ति में सफलता मिली हो, उसकी स्वीकृति।
- प्राप्त सहायता उपकार के प्रति स्वीकृति प्रसन्नता व निरंतरता की स्वीकृति

सौम्यता:-

- स्वेच्छा से स्वयं का नियंत्रण।
- स्वयं स्फूर्त प्रणाली, की पद्धति से स्वयं का नियंत्रण

जीवन जागृति क्रम में (अथवा विकास में) जिस किसी से भी सहायता प्राप्त हुई हो, उसे स्मरण में रखना और स्वीकारना तथा स्वीकार किये हुए को अभिव्यक्त करना, कृतज्ञता है। यह समाधान में, से, के लिए सहायक प्रक्रिया

है। जीवन ही जागृति पूर्वक, समाधान का धारक-वाहक होता है। सम्पूर्ण जागृति, समाधान और प्रामाणिकता के रूप में प्रमाणित हो जाना ही, मानव परम्परा की गरिमा व महिमा है। मानव समाधान पूर्वक ही, सुख और शांति का अनुभव करता है। – म.वि. 129

17. प्रेम 18. अनन्यता

प्रेम:-

- पूर्णानुभूति
- दया, कृपा, करुणा की संयुक्त अभिव्यक्ति। पूर्णता में रति व उसकी निरंतरता।

अनन्यता:-

- मनुष्य की परस्परता व नेसर्गिकता में पूरक क्रियाकलाप।
- प्रामाणिकता व समाधान में निरंतरता। अविकसित के विकास में सहायक क्रिया। जागृति पूर्ण पहचान।

प्रेम ही जीवन में पूर्ण मूल्य है। अनन्यता ही प्रधान शिष्टता है, जो प्रेम को अभिव्यंजित करने में समर्थ है। प्रेममयता ही विवेक सम्पन्न एवं अभयता का अनुभव है। यह संबोधन क्रम से स्थापित सम्बंधों को ज्ञान कराता है। प्रत्येक सम्बंध में, स्थापित मूल्य प्रसिद्ध है। प्रत्येक सम्बंधों की चरितार्थता केवल वर्तमान में विश्वास एवं सम्पूर्ण सम्बंधों की पहचान मूल्यों का निर्वाह ही है – जो जीवन का लक्ष्य और कार्यक्रम है। प्रत्येक चेतन्य इकाई जीवन पद में है, जीवन जागृति पूर्वक प्रेम और अनन्यता की दया, कुपा, करुणा के संयुक्त रूप में प्रमाणित करता है। प्रेमानुभूति स्वयं स्वतंत्रता स्वानुशासन के रूप में प्रमाणित होता है। अस्तित्व में अनुभूति पूर्वक ही प्रेमानुभूति और अभिभूति प्रमाणित होता है। स्वतंत्रता जीवन का लक्ष्य है। अभिभूति ही नियम नियंत्रण, संतुलन न्याय, धर्म सत्य सहज विधि से पूरक होने का प्रमाण है। पूरक होने का प्रमाण मानव सम्बंधों के नेसर्गिक सम्बंधों में सार्थक होना पाया जाता है। मानव सहज मानव संचेतना का प्रमाण सहजता के आधार पर स्वानुशासन सहज ही सार्थक होना पाया जाता है। प्रेमानुभूति का प्रधान लक्षण अनन्यता है। प्रत्येक मनुष्य, अपने से विकसित के साथ अनन्यता को स्थापित करता है। यह जागृति परम्परा की महिमा है। – म.वि. 223

(D) सम्बन्ध एवं मूल्य सारांश

(i) मानव सम्बन्ध एवं प्रयोजन

मानव सम्बंधों को सात प्रकार से नाम सहित प्रयोजनों को इंगित कराया है। संबंध क्रम से पोषण, संरक्षण, अभ्युदय, जागृति, प्रामाणिकता, जिज्ञासा, यतित्व, सतीत्व, विकास-प्रगति, दायित्व-कर्तव्य प्रयोजनों का स्वरूप है। इन

प्रयोजनों के अर्थ में हर संबंधों का कार्यकलाप साक्षित होना ही विधि है। दायित्व और कर्तव्य के सम्बन्ध में व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी, परिवार और समाज में भागीदारी एक आवश्यकीय स्थिति और गति होना स्पष्ट किया जा चुका है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि दायित्व और कर्तव्यों के साथ ही मौलिक अधिकारों का प्रयोग सार्थक होता है। जितने भी प्रयोजन हैं वह सब मानव कुल में ही प्रमाणित होता है। वह १). माता - पिता, २). भाई - बहन, ३) गुरु - शिष्य, ४) मित्र, ५) पति - पत्नी, ६) स्वामी (साथी) - सेवक (सहयोगी), ७) पुत्र - पुत्री। इस प्रकार से ७ संबंध। इसमें से पति-पत्नी संबंधों को छोड़कर बाकी सभी सम्बन्ध पुत्र-पुत्रीवत्, माता-पितावत्, गुरुवत्, शिष्यवत्, मित्रवत्, भाई-बहिनवत्, स्वामी-सेवकवत् के रूप में पहचाना जाना सहज है। इसमें सर्वाधिक अथवा विशाल रूप में होने वाले प्रतिष्ठा को मित्र के रूप में पहचाना जाना स्वाभाविक है।

इन सभी सम्बन्धों के साथ सार्थकता अथवा प्रयोजनों की अपेक्षा परस्पर स्वीकृत रहा करता है जैसा - माता-पिता से अपेक्षा जागृति, प्रामाणिकता सहित समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व का होना प्रत्येक संतानों में अपेक्षित-प्रतीक्षित रूप में मिलता है। हर संतान के साथ माता-पिता की अपेक्षा जागृति, प्रामाणिकता सहित समाधान, कर्तव्य और दायित्व सहज निष्ठा का अपेक्षा, प्रतीक्षा, आवश्यकता के रूप में सर्वेक्षित होता है। हर शिष्य अपने गुरु से प्रामाणिकता, समाधान और वात्सल्य की अपेक्षा रखता है। हर विद्यार्थी से गुरु की अपेक्षाएं तीव्र जिज्ञासा, ग्राह्यता सहित अवधारणाओं के रूप में देखना बना ही रहता है।

भाई-बहनों के परस्परता में अभ्युदय अर्थात् सर्वतोमुखी समाधान, वर्तमान में विश्वास सहित पूरकता का अपेक्षा बना ही रहता है। इसी प्रकार मित्र सम्बन्धों में भी होना पाया जाता है।

पति-पत्नी सम्बन्धों में परस्पर व्यवस्था, व्यवस्था में भागीदारी परिवार मानव का सम्पूर्ण दायित्व-कर्तव्य, अपेक्षा, प्रतीक्षा बना ही रहता है।

स्वामी (साथी)-सेवक (सहयोगी) सम्बन्ध में स्वयं स्वीकृत प्रणाली, स्वयं स्वीकृत विधि से व्यवस्था में भागीदारी निर्वहन के आधार पर घोषणा कार्यप्रणाली है। इस क्रम में भाई सम्बोधन या बहन सम्बोधन समुचित रहता है। इसी की आवश्यकता है। व्यवस्था सम्बन्ध में परिवार सभा से विश्व परिवार सभा तक की समान सम्बोधन होना और कार्यों की समानता भी प्रमाणित होना पाया जाता है। यह स्वाभाविक विधि है हर सभा में एक प्रधान व्यक्ति को निर्वाचित कर लेना, पहचानना, अधिकार सम्पन्न रहना एक आवश्यकता बना रहता है। यह जनतांत्रिक प्रणाली, पद्धति, नीतियों को प्रमाणित करने का गठन कार्य है। अतएव सभा प्रणाली में भाई-बहन-मित्र सम्बोधन में समानता, दायित्वों, कर्तव्यों का वहन करने में स्वयं स्फूर्त स्वीकृत विधि से सम्पादित होता है। यही जनतांत्रिकता का तात्पर्य है। इसी विधि से विरोध विहीन, विवाद विहीन, सामरस्यता और समाधान पूर्ण अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में कार्यरत रहना पाया जाता है। इसकी आवश्यकता सर्वमानव में होना पाया जाता है। इसकी नित्य समीचीनता जागृति विधि पूर्वक स्पष्ट हुआ है।

यहाँ इस तथ्य पर ध्यान रहना आवश्यक है कि प्रत्येक सम्बोधन में प्रयोजनों का अभीष्ट बना ही रहता है। अभीष्ट का तात्पर्य अभ्युदय को अनिवार्यता के रूप में स्वीकारा गया अनुभव मूलक मानसिकता से है। इस प्रकार सम्बोधन के साथ प्रयोजन उभय पक्ष में स्वीकृत होना, इंगित होना ही सार्थकता है। सम्बोधन की सार्थकताएँ व्यवहार, कार्य,

आचरण, प्रवृत्ति का मूल रूप होना देखा गया। क्योंकि हर मानव में विचारपूर्वक ही कार्य-व्यवहार सम्पन्न होना देखा जाता है।

सम्बन्ध का तात्पर्य स्वयं में पूर्णता सहित हर मानव में पूर्णता के अर्थ में अनुबंधित रहना स्वाभाविक है। यह मानव में ही प्रमाणित होने वाला मौलिक अभिव्यक्ति है। यही ज्ञानावस्था का परिचायक है। इसी के साथ मानव को, इसकी अपेक्षा, आवश्यकता नियति सहज विधि से देखने को मिलता है। अर्थात् मानव संबंध के अनुरूप प्रयोजनों को प्रमाणित करने में निष्ठा स्वयं स्फूर्त होता है। अपेक्षाओं के अनुसार सार्थक होना, चरितार्थ होना ही सम्बन्धों का सम्पूर्ण प्रयोजन है। प्रयोजनों का सूत्र अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था, परिवार मानव और स्वायत्त मानव रूप में ही मानव परंपरा में देखने को मिलता है। यही प्रयोजनों का मूल रूप है। इसे ज्ञानावस्था का स्वरूप भी कहा जा सकता है। जागृत मानव परंपरा में यह सार्थकता का स्वरूप शिक्षा-संस्कारपूर्वक परंपरा में स्थापित होता ही रहेगा। जागृत शिक्षा-संस्कार के सम्बन्ध में स्पष्ट किया जा चुका है। जागृतिपूर्ण परंपरा अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व विधि से अनुप्राणित रहने के आधार पर ही जागृत मानव परंपरा का अक्षुण्णता समीचीन रहना पाया जाता है। अतएव सम्पूर्ण सम्बन्ध और उसका सम्बोधन निश्चित प्रयोजन के अर्थ में अपेक्षित रहना ही सम्बोधन का तात्पर्य है। इसमें हर व्यक्ति जागृत रहना यह प्राथमिक दायित्व है। इन्हीं दायित्वों, मौलिक अधिकारों का प्रयोजन सहज ही सफल हो पाता है।

फलस्वरूप मानव परंपरा में जीने की कला विधि के रूप में प्रमाणित होता है। विधि का प्रमाण स्वयं सम्बन्ध-मूल्य-मूल्यांकन-उभयतृप्ति, मानव परिभाषा के अनुरूप हर मानव अपने मौलिक अधिकार रूपी स्वतंत्रता का प्रयोग करना, तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग-सुरक्षा करना और स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष, दयापूर्ण कार्य-व्यवहार में निष्ठान्वित रहना विधि है। यही सम्पूर्ण उत्सवों का आधार होना पाया जाता है। – अ.द. 26 -28

(ii) जीने में सम्बन्ध एवं आचरण स्वरूप

आचरण विहीन इकाई नहीं है। अस्तु, मानवीयतापूर्ण आचरण व्यक्ति में, सहयोग-सहकार्य योग्य क्षमता परिवार में, प्रोत्साहन योग्य प्रचार, प्रदर्शन एवं प्रकाशन समाज में, उसका संरक्षण एवं संवर्धन योग्य विधि एवं व्यवस्था राष्ट्र में, उसके अनुकूल परिस्थितियाँ अन्तर्राष्ट्र में प्राप्त कर लेना ही पाँचों स्थितियों की एकसूत्रता का सूत्र है।

प्रत्येक मानव के लिए स्थापित संबंध समान हैं। संबंधों में निहित मूल्य नित्य हैं। किसी का सान्निध्य दूर होने मात्र से, उस संबंध में निहित मूल्य का परिवर्तन नहीं है, इसी प्रकार वियोग में भी। वियोग शरीर का है न कि मूल्यों का, जो प्रत्यक्ष है। जैसे माता-पिता से वियोग। जीवन कालीन वियोग में भी पिता के प्रति जो मूल्य है, उसका परिवर्तन नहीं है।

प्रत्येक परस्परता में दायित्व समाया हुआ है। यही स्थापित मूल्यों में वस्तु व सेवा को अर्पित करता है। सभी अर्पण, मूल्यों के प्रति समर्पण है। यही अर्पण प्रक्रिया ही कर्तव्य है। व्यवहारपूर्वक यह प्रमाणित होता है कि ऐसा कोई संबंध नहीं है, जिसमें मूल्य न हो और जिसके प्रति दायित्व व कर्तव्य न हो।

संबंध का पहचान मूल्यों का निर्वाह ही परिवार समाज एवं व्यवस्था है। जन्म, जीवन, व्यवहार विशिष्ट, शिष्ट, नीति एवं उत्पादन विनिमय वैभव से संबंध प्रसिद्ध हैं।

1. जन्म संबंध = माता-पिता एवं भाई-बहन, पति-पत्नि, पुत्र-पुत्री
2. जीवन-जीवन संबंध = गुरु-शिष्य, जागृत सभी संबंध
3. शिष्ट-शिष्ट संबंध = मित्र, साथी-सहयोगी
4. नीति-नीति संबंध = विधि, व्यवस्था, संस्कृति एवं सभ्यता
5. उत्पादन- (*विनिमय) संबंध = क्षमता, अवसर, साधन एवं वितरण (*साथी-सहयोगी)

संबंधों में निहित मूल्यवत्ता-वश ही उसकी अक्षुण्णता पाई जाती है। यही अखंड समाज की अक्षुण्णता भी है।

मूल्यों की स्थिरता ही अखंडता एवं अक्षुण्णता है, जो नियति क्रम में पाये जाने वाले तथ्य हैं। समाज की पाँचों स्थितियाँ परस्पर पूरक हैं, जिसकी एकसूत्रता ही अखंडता है। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में “नीतित्रय” का संतुलन, राष्ट्रीय जीवन में मानवीयता के संरक्षण एवं संवर्धन योग्य विधि-व्यवस्था एवं शिक्षा-प्रणाली-पद्धति, सामाजिक जीवन में मानवीयता का प्रचार, प्रदर्शन, प्रकाशन एवं प्रोत्साहन; परिवार-जीवन में मानवीयता के प्रति समर्पण, विश्वास एवं निष्ठा, व्यक्ति के जीवन में मानवीयता पूर्ण आचरण, व्यवहार, अभ्यास अनुभव, विचार, व्यवहार, उत्पादन तथा आवश्यकता से अधिक उत्पादन ही लोक मंगल-कार्यक्रम है। यही चारों आयामों एवं पाँचों स्थितियों की एकसूत्रता का सूत्र है।

प्रत्येक मानव में सीमित शक्ति, निश्चित दायित्व, कर्तव्य एवं स्थापित संबंध पाये जाते हैं, जिनकी एकसूत्रता “नियम त्रय” एवं मानवीयता पूर्ण पद्धति से प्रमाणित होती है। यही गुणात्मक परिवर्तन का औचित्य और मानव की आचार संहिता है। – अ.द. 26-28

परिवार ही बुनियादी व्यवस्था, न्याय एवं शिक्षा है। प्रत्येक मानव के जीवन जागृति और प्रमाणित होने का आधार भी यही है।

मानव का प्रथम परिचय परिवार में स्पष्ट होता है। प्रतिभा एवं व्यक्तित्व का संतुलन व्यवहार में प्रमाणित होता है एवं आचरण-प्रकटन का भी परिवार ही बुनियादी क्षेत्र है, उसकी विशेषतानुसार ही विशाल एवं विशालतम सीमा सिद्ध होती है।

समग्रता के अध्ययन को सुलभ बनाना एवं विधि व्यवस्था को सफल बनाना ही मानवीय संस्कृति सभ्यता की अक्षुण्णता को पाना है। यही व्यवहारात्मक जनवाद का प्रत्यक्ष रूप है।

मानव जागृति के अर्थ में गुणात्मक एकता की संभावना है, भोगात्मक भ्रमात्मक एकता की संभावना नहीं है। – अ.द.

(iii) स्थापित मूल्य सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं – शाश्वत हैं, निरंतर हैं

स्थापित संबंधों में निहित स्थापित मूल्यों का परिवर्तन किसी भी देश, काल व स्थिति में नहीं है। यही स्थायित्व का लक्षण और अनिवार्यता का मूल कारण है। स्थापित मूल्य, मानव मूल्य, जीवन मूल्य देशकाल से बाधित (सीमित) नहीं है। प्रत्येक संबंध में निहित स्थापित मूल्य निकट व दूर, भूत भविष्य एवं वर्तमान से प्रभावित नहीं है। प्रत्येक स्थापित मूल्य तीनों कालों में एवं सभी देशों में एक सा है।

यह अपरिवर्तनीयता स्वयं में स्पष्ट करती है कि स्थापित मूल्य ही नित्य है, जबकि प्रत्येक इकाई में पाई जाने वाली उपयोगिता एवं सुंदरता का परिणाम व परिवर्तन प्रसिद्ध है। “मूल्य मात्र अनुभव ही है।” (*स्थापित मूल्यों की अनुभूति एवं शिष्ट मूल्यों की अभिव्यक्ति होती है)। क्रिया में मूल्यों की स्थिति का अभाव नहीं है। उसे अनुभव करने की क्षमता के अभाव में वह रहस्य, अज्ञात एवं अप्राप्त है।

स्थापित मूल्य नौ हैं :-

1 कृतज्ञता, 2. गौरव, 3. श्रद्धा, 4. प्रेम, 5. विश्वास, 6. वात्सल्य, 7. ममता, 8. सम्मान, 9. स्नेह।

सामाजिक मूल्य मानवीयता सहज मानव आचरण के आधार है। इनमें से विश्वास “साम्य” मूल्य है और “प्रेम” पूर्ण मूल्य है। व्यवहार निर्वाह काल में उक्त स्थापित मूल्यों के साथ आचरण-प्रक्रिया (शिष्टता) रहती है, जो क्रमशः सौम्यता, सरलता, पुज्यता, अनन्यता, सौजन्यता, सहजता, उदारता, सौहाद्रता तथा निष्ठा है। यही शिष्टता है, जो स्थापित मूल्य में समर्पित रहती है, जो प्रसिद्ध है।

भौतिक समृद्धि के लिए ही मानव उत्पादन करता है, जिसकी उपयोगिता महत्वाकांक्षा व सामान्य आकांक्षा की सीमा में निहित है। यह भी जीवन का अविभाज्य आयाम है। यह स्पष्ट है कि उत्पादन ही मानव जीवन का सर्वस्व नहीं है। यही कारण है कि मानव सामाजिक, आर्थिक, राज्यनीति को पालन करने के लिए बाध्य है।

व्यवहारात्मक जनवाद का आधार केवल “न्याय” ही है, क्योंकि प्रत्येक मानव जन्म से ही न्याय का याचक है। यही “नीतित्रय” की समन्वयता की एकसूत्रता का भी कारण है साथ ही जनवादी चिंतन, निरीक्षण व स्पष्टीकरण का आधार भी है। व्यवहार का आधार न्याय ही है।

मानव की परस्परता में आश्वस्त एवं विश्वस्त होने का आधार न्याय ही है।

अखण्ड समाज परम्परा में स्थापित मूल्य का निर्वाह ही शिष्टता की अभिव्यक्ति तथा “अर्थ” का सदुपयोग है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय जीवन में एकसूत्रता ही “न्याय” है। यही सार्वभौम कामना है, जो व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार में, परिवार के सहयोग एवं सहकार्य में, समाज के प्रोत्साहन एवं प्रेरणा में, राष्ट्र के संरक्षण तथा संवर्धन में एवं अंतर्राष्ट्रीयता के अनुकूल परिस्थिति एवं एकसूत्रता में चरितार्थ होती है। यही सर्व-मानव की कामना, मांगल्य शुभ, संगीत, वांछनीय अनिवार्यता, ऐतिहासिक उपलब्धि, नियतिक्रम स्थिति, अखंडता, अभयता, सतर्कता एवं स्वर्ग है। - अ.द., 31-33

(iv) सम्बन्ध में मूल्याङ्कन, दायित्व, कर्तव्य निर्वाह

जो जिसका मूल्यांकन नहीं करेगा वह उसका सदुपयोग नहीं करेगा या नहीं कर सकेगा। अतः मानव के हर पक्ष का मूल्यांकन आवश्यक है।

सम्पूर्ण संबंधों के मूल में मूल्यांकन आवश्यक है। मूल्यांकन मौलिकता का ही होता है। मौलिकता के आधार पर ही कर्तव्य का निर्धारण तथा निर्वाह होता है। दायित्वों का निर्वाह जिस इकाई के प्रति होना है उस इकाई के प्रति न होने से उसका पोषण अवरूद्ध होता है अथवा शोषण है साथ ही जिस इकाई द्वारा दायित्व का निर्वाह होना है उसे, न होने की स्थिति में प्रतिफल के रूप में अविश्वास ही मिलेगा। अविश्वास ही द्रोह, विद्रोह तथा आतंक का कारण बनता है जो शोषण की ओर प्रेरित करता है।

प्रत्येक संबंध में सम्पर्क निहित है ही। संबंध में भाव (मौलिकता) पक्ष विशिष्ट है तथा भौतिक पक्ष गौण है। प्रत्येक संबंध में भाव का जितना तिरस्कार होता है भौतिक पक्ष उतना ही प्रबल होता है। संबंधों में भाव का निर्धारण मानवीय परम्परा के अनुसार है। संबंधों के निर्वाह में भाव पक्ष का तिरस्कार कर भौतिक पक्ष को वरीयता प्रदान कर जब आचरण किया जाता है तो अपने से अविकसित को विकास का लक्ष्य मान लेने की भ्रमित मान्यता का जन्म होता है जबकि समस्त भौतिक पक्ष मनुष्य से अविकसित है ही। इसलिए विकास का मार्ग अवरूद्ध होता है। परिणामतः मानवों ने भौतिक उपलब्धियों के लिए ही युद्ध किया है।

अतः संबंध में भाव पक्ष का तिरस्कार ही उस संबंध का शोषण है।

अतः यह सिद्ध है कि समस्त संपर्कात्मक तथा सम्बन्धात्मक व्यवहार से भौतिक तथा भावात्मक शोषण एवं पोषण है। वर्तमान में भौतिक शोषण को अधिक महत्व दिया है तथा भावात्मक शोषण को उपेक्षित किया है। जबकी हास की गति भावात्मक शोषण के फलस्वरूप तीव्र गति से और भौतिक शोषण से धीमी गति से है, क्योंकि भाव पक्ष भौतिकता से अति विकसित है। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि विकास बौद्धिकता में है, जो सहअस्तित्व के रूप में परिलक्षित होता है तथा भौतिकता में कोई विकास नहीं होती बल्कि उपयोगिता और उपभोग बढ़ जाता है।- व्य.द. 1978, 149-50

मानव के लिए पोषण युक्त संपर्कात्मक एवं संबंधात्मक विचार एवं तदनुसार व्यवहार से ही मानवीयता की स्थापना संभव है, अन्यथा, शोषण और अमानवीयता की उपलब्धि है।

शोषण और पोषण तीन प्रकार से होता है।

- दायित्व का निर्वाह करने से पोषण अन्यथा शोषण है। प्राप्त दायित्वों में नियोजित होने वाली सेवा के नियोजित न करते हुए मात्र स्वार्थ के लिए जो प्रयत्न है एवं दायित्व के अस्वीकारने की जो प्रवृत्ति है उसको दायित्व का निर्वाह न करना कहते हैं।

- दायित्व को निर्वाह न करने पर स्वयं का विकास, जिसके साथ निर्वाह करना है उसका विकास तथा इन दोनों के विकास से जिन तीसरे पक्ष का विकास हो सकता है वह सभी अवरूद्ध हो जाते हैं। विकास को अवरूद्ध करना ही शोषण है।
- दायित्व का अपव्यय अथवा सद्गुण करना – दायित्व के निर्वाह में आलस्य एवं प्रमाद पूर्वक प्राप्त प्रतिभा और वर्चस्व का न्यून मूल्य में उपयोग करना ही दायित्व का अपव्यय है।

दायित्व का विरोध करना अथवा पालन करना – मौलिक मान्यताएं जो संबंध एवं सम्पर्क में निहित हैं उसके विरोध में हास के योग्य मान्यता को प्रचारित एवं प्रोत्साहित करना ही दायित्व का विरोध करना है। दायित्वों का विरोध अभिमान वश एवं अज्ञानवश किया जाता है। – व्य.द. १९७८, अध्याय १६

(v) जागृति पूर्वक ही सम्बन्ध निर्वाह हैं

सम्बन्धों को पहचानना, निर्वाह करना तभी संभव हो पाता है जब जीवन ज्ञान अस्तित्वदर्शन, मानवीयता पूर्ण आचरण में पारंगत हो जाये इसी के लिए मानव परम्परा में बहुआयामी प्रयास की आवश्यकता है। – अ.द. 43

दूसरे के पहचान कर (लेने से) जीने का विश्वास होना पाया जाता है। जागृत मानव अपने प्रतिभा और व्यक्तित्व की पहचान बनाने में तत्काल समर्थ होता है। इसमें कठिनाई तभी आती है भ्रमित आदमी के साथ अथवा भ्रमित आदमी जागृत आदमी के साथ जीना होता है इस विधि से निष्कर्ष को पाना आवश्यक है ही।

जागृत आदमी के साथ एक या अनेक भ्रमित आदमी जीने की स्थिति में जिम्मेदारी जागृत आदमी की ही होती है कि भ्रमित आदमी को जागृत पद के लिये और जागृति के लिए प्रेरित करे। मूलतः एक पक्ष जागृत रहना मुख्य मुद्दा है। – ज.व. 69-71

अस्तित्व ही नित्य व्यक्त अभिव्यक्त हैं क्योंकि अस्तित्व सदा-सदा स्थिर, शाश्वत है, नित्य वैभव है। इन्हीं तथ्यों से यह भी ज्ञात होता है कि अस्तित्व में, से, के लिये कोई रहस्य व कोई अवरोध एवं संघर्ष नहीं है। विरोध नहीं है, विद्रोह नहीं है, विपन्नता नहीं है। बड़े-छोटे के रूप में कुंठा-निराशा नहीं है। युद्ध व शोषण नहीं है। ये सभी नकारात्मक पक्ष मानव के द्वारा अपनाया हुआ भ्रमित परम्परा का देन है। – स.श. 197

जागृतिपूर्वक ही सम्बन्ध स्वीकृति अवधारणा में हो पाता है यही एक संस्कार है। ऐसी अवधारणा ही सम्बन्धों का प्रयोजन सहज सत्य के रूप में स्वीकृत होना देखा गया। यह क्रिया जागृत जीवन शक्तियों का दर्शन क्रियाकलाप के फलस्वरूप घटित होना देखा गया है। जागृत जीवन बल ही मूल्य और मूल्यांकन में प्रस्तुत होता है। फलस्वरूप समाधान समीकृत (फलित) होता है। यही मानव धर्म सहज सुख का स्रोत है। यह स्रोत प्रत्येक मानव में जागृत जीवन के रूप में वैभवित होना पाया जाता है। – स.श. 197

जीवन जागृत होने में कोई भी, कितना भी भ्रमित परिकल्पनाएं बाधा का कारण नहीं हो पाता है, जैसे-विविध रंग, जाति, वर्ग, देश, भाषा, लिंग, नस्ल। यह सभी मिलकर अथवा किसी एक जो मानव में विविधता का कल्पना समा लिया वह सब जागृति के सम्मुख होने के स्थिति में अपने आप विलय हो जाता है। एक सूत्र में सभी व्यर्थ-अनर्थ, पाश्वीय-राक्षसी कल्पनायें मानवीयता सहज जागृति के प्रभाव के साथ साथ ही सभी भ्रम, निभ्रम (जागृति) में विलय हो जाते हैं। जैसे एक गणित का प्रश्न का, सही उत्तर पाने के लिये प्रक्रिया-प्रयास तब तक किया जाता है जब तक सही उत्तर पाया नहीं गया। जब सही उत्तर समझ में आ जाती है उसी के साथ-साथ गलती करने वाला विविध भ्रम अपने-आप उत्तर ज्ञान में विलय हो जाता है। विलय होने का तात्पर्य इतना ही है जिसका प्रभाव शेष नहीं निशेष हो जाता है। – स.श. 197-198

सम्बन्ध का स्वीकृति अथवा अवधारणा अपने स्वरूप में समाधान और उसकी निरंतरता ही है। यह विज्ञान और विवेक सम्मत तर्क विधि से बोध होता है। ऐसा बोध सम्पन्न होने का अधिकार, प्रत्येक जीवन में समाहित रहता ही है। यहाँ यह भी स्मरण में रहना आवश्यक है कि जीवन ही दृष्टा, कर्ता और भोक्ता होता है। यह जागृतिपूर्वक ही अनुभव गम्य होता है क्योंकि बोध के अनन्तर अनुभव ही एकमात्र जागृति के लिये सोपान है। अध्ययनपूर्वक अस्तित्व बोध जीवन बोध और संबंध बोध होना देखा गया है। इन्हीं सम्बन्ध बोध में प्रयोजन रूपी समाधान को व्यक्त करना ही अथवा प्रमाणित करना ही मूल्यों का निर्वाह है। – स.श. 198

समाधान अपने स्वरूप में सुख ही है। यही समाधान सम्पूर्ण आयाम, कोण, परिप्रेक्ष्य, देश, कालों में प्रमाणित होने के क्रम में ही सर्वतोमुखी समाधान कहलाता है। हर विधाओं में प्रमाण सहज अभिव्यक्ति अनुभवमूलक विधि से ही सम्पन्न होना पाया जाता है। इसलिये सम्बन्ध अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व में अनुभव होना स्वाभाविक है और जागृति का साक्ष्य है।

जागृति क्रम में जानना, मानना, पहचानना अध्ययन विधि से अध्ययनपूर्वक निर्देशन सहित बोध होना पाया जाता है। इसी क्रम में जागृत परंपरा प्रदत्त विधि से सम्बन्धों का पहचान, प्रयोजनों का बोध स्वाभाविक रूप में होना पाया जाता है। यह हर मानव संबंध, नैसर्गिक सम्बन्धों में निहित मूल्यों, मूल्यांकन, प्रयोजन के रूप में समझ में आता है। यही सम्बन्ध और मूल्य बोध होने की विधि है।

सम्बन्ध और मूल्य अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व में ही होना स्पष्ट हो चुका है। शरीर और जीवन का संयोग भी सह-अस्तित्व सहज सूत्र से ही सूत्रित है। सर्वमानव भी सह-अस्तित्व में ही जीवन जागृति को प्रमाणित करने का कार्य करता है, या करना चाहता है या करने के लिये बाध्य है। सह-अस्तित्व स्वयं मानव में होने वाले अनुभव सहज स्वीकृति है। इन स्वीकृति के साथ ही प्रमाणित होने के क्रम में सम्बन्ध मूल्य, मूल्यांकन, उभयतृप्ति प्रमाणित होना पाया जाता है। यही चरित्र का चरमोत्कर्ष प्रयोजन है। ऐसे चरित्र के आधार पर ही नैतिकता स्वाभाविक रूप में सार्थक होता है। इसे भली प्रकार से परखा गया है, जीकर देखा गया है। – स.श. 201

(उपरोक्त) विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो गया कि जीवन जागृतिपूर्वक ही हर मानव स्वायत्तता पूर्वक परिवार मानव होने का प्रमाण सहित स्वयं में व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी का निर्वाह करता है। जीने की कला दूसरे विधि से मानवीयतापूर्ण आचरण विधि मानव सहज परिभाषा क्रम से ही मानवीयता का व्याख्या सहज ही सार्थक हो

जाता है। सार्थक होने का तात्पर्य अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था क्रम में भागीदारी है। अखण्ड समाज सूत्र परिवार विधि से सार्थक होना पाया जाता है। परिवारों का स्वरूप और विशालता को दश सोपानों में स्पष्ट किया गया है। इसी के साथ-साथ दश सोपानों में सभा-स्वरूप व्यवस्था कार्य, कर्तव्य, दायित्व को स्पष्ट किया है। परिवार क्रम में मूल्य, चरित्र, नैतिकता अविभाज्यता को सहज ही स्पष्ट किया जा चुका है। दश सोपानीय समाज रचना और व्यवस्था गति अपने-आप में एक दूसरे को संतुलित करने के अर्थ से हम अभिहित होते हैं। जैसे:- परिवार- जिसका सूत्र सम्बन्ध मूल्य, मूल्यांकन, उभय-तृप्ति और परिवारगत उत्पादन-कार्य में पूरकता फलस्वरूप परिवार सहज आवश्यकता से अधिक उत्पादन है। परस्पर परिवार व्यवस्था में विनियम एक अनिवार्य कार्य है। इसी के साथ सीखा हुआ को सिखाने, किया हुआ को कराने, समझा हुआ को समझाने का कार्य प्रणाली सदा-सदा जागृत मानव परंपरा में वर्तमान रहता ही है। इसी क्रम में सर्वमानव सुख, सर्वमानव शुभ और सर्वमानव समाधान सर्वसुलभ होता ही रहता है। इस स्थिति को पाना सर्वमानव का अभीप्सा है। अतएव सुलभ होने का मार्ग सुस्पष्ट है। - स.श. 199

(E) वस्तु मूल्य

वस्तु मूल्यों का नियंत्रण व्यवस्था पर है। उत्पादन सिद्ध वस्तुएं आवश्यकता के आधार पर दृष्टव्य हैं, इसलिए उनका मूल्य निर्धारण उन पर स्थापित की गई उपयोगिता एवं सुन्दरता के आधार पर श्रम मूल्य ही है।

आवश्यकताएं सामयिक हैं। प्रत्येक समय में प्रत्येक मानव को प्रत्येक वस्तु की आवश्यकता समान रूप से सिद्ध नहीं होती, जबकि स्थापित संबंधों की अनिवार्यता निरंतर है, जो प्रसिद्ध है। इसलिए आवश्यकताएं सामान्य एवं महत्वाकांक्षा की सीमा में ही हैं। इन सब का उपयोग सामयिक समाज गति के अर्थ में है। इसलिए संबंधों के निर्वाह में ही वस्तुओं के उपयोग, सदुपयोग व वितरण प्रयोजन की सीमाएं समाहित हैं। - अ.द. 31-33

मानवीयतापूर्ण जीवन ही संयत जीवन का प्रत्यक्ष रूप है। इसी की सीमा में किया गया आहार, विहार एवं व्यवहार का सम्मिलित रूप ही व्यक्तित्व है। यही अभ्यास एवं जागृति में पाया जाने वाला सर्वतोमुखी विकास है। यही अभ्युदयशील होने का प्रत्यक्ष लक्षण है। इसलिए “सुख, शांति, संतोष एवं आनंद स्थापित मूल्यों के अनुभव में ही है। पूर्ण मूल्य में अनुभव ही परमानंद है।”

सुन्दरता एवं उपयोगिता मूल्य की स्थिरता नहीं है क्योंकि उपयोगिता एवं सुन्दरता स्वयं में एक सी नहीं है, यह सामयिक है, जिसके साक्ष्य में :-

1. शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्धेन्द्रियों में आवश्यकताएं सामयिक हैं।
2. क्षुधा, पिपासा सामयिक हैं।
3. संपूर्ण उपयोग सामयिक है।
4. महत्वाकांक्षा, सामान्याकांक्षा से संबंधित उपयोग सामयिक हैं।
5. विनियम सामयिक है।
6. वस्तु व सेवा का नियोजन सामयिक है।

इसलिए उपयोगिता व सुंदरता मूल्य सामयिक सिद्ध है।

उपयोगिता मूल्यों के आधार पर समाज की स्थायी संरचना संभव नहीं है क्योंकि वह स्वयं में स्थायी नहीं है। स्थापित मूल्य ही नित्य एवं अपरिवर्तनीय है। (इसीलिए) स्थापित मूल्यों पर ही समाज संरचना की दृढ़ता स्पष्ट है। यही सत्यता मानव को अमानवीयता से मुक्त होकर मानवीयता से संपन्न होने के लिए प्रेरित करती है। अर्थ ही मूल्य, मूल्य ही अर्थ है। उपयोगिता-मूल्य, शिष्ट-मूल्य में एवं शिष्ट-मूल्य स्थापित मूल्य में समर्पित पाया जाता है। यही संयमता का प्रत्यक्ष रूप है।

मूल्य-दर्शन एवं अनुभव-क्षमता ही संस्कार का प्रत्यक्ष रूप है। संस्कार विहीन मानव नहीं है। मानव का संपूर्ण संस्कार मानवीयता तथा अतिमानवीयता में ही प्रत्यक्ष है।

संस्कार परिवर्तन केवल शिक्षा एवं व्यवस्था से ही है क्योंकि त्रुटिपूर्ण शिक्षा व व्यवस्था के द्वारा ज्ञानी-अज्ञानी, विवेकी-अविवेकी, सबल-दुर्बल एवं अन्य किसी को भी संतुष्टि, समाधान व अभय प्रदान करना संभव नहीं हुआ है, जो स्पष्ट है। – अ.द. 48-49

4.4 नैतिकता

(A) नैतिकता – परिचय

“मानव के लिए सदुपयोग एवं सुरक्षात्मक पोषणवादी नीति”

आवश्यकता

जागृत मानव ही स्वायत्त मानव के रूप में मूल्यांकित होना पाया जाता है। ऐसे स्वायत्त मानव स्वयं के प्रति विश्वास, श्रेष्ठता के प्रति सम्मान, प्रतिभा और व्यक्तित्व में संतुलन, व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलंबी होने का सामर्थ्य, प्रक्रिया, ज्ञान, दर्शन विधाओं में पारंगत होता है। ऐसे मानव ही परिवार मानव के रूप में मानवीयता पूर्ण आचरण को प्रमाणित करता है। मानवीयता पूर्ण आचरण में एक (पहला) आयाम परिवार में परस्पर संबंधों को पहचानने, मूल्यों को निर्वाह करने, मूल्यांकन करने, उभयतृप्ति पाने के रूप में देखा गया है।

मानवीयतापूर्ण आचरण में दूसरा आयाम है नैतिकता, यह चरित्र के पूरकता में होना देखा गया है, वह है, तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग-सुरक्षा के रूप में सार्थक होना। अर्थात् मानवीयता पूर्ण चरित्र में, से, के लिये यह नैतिकता पूरक होना पाया जाता है। अर्थात् अर्थ का सदुपयोग विधि, सुरक्षा विधि ही नैतिकता है। इसी प्रमाण के आधार पर अर्थ का सुरक्षा विधि से सदुपयोग, सदुपयोग विधि से सुरक्षा प्रयोजन स्पष्ट होता है। इसलिये अर्थ का सदुपयोगिता सिद्धान्त सुरक्षा के लिये और सुरक्षा सिद्धान्त सदुपयोग के लिये पूरक होता है। अस्तु, इससे आचरण में नैतिकता रूपी दूसरा आयाम सहज प्रयोजन स्पष्ट है। यह सर्वमानव मानस का अपेक्षा है ही अथवा सर्वाधिक मानव का अपेक्षा है। यथा-हर मानव अपने तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग-सुरक्षा चाहता ही है। – आ.व. 158-164

नैतिकता – परिभाषा

व्यवहार ही नैतिकता व अनैतिकता के रूप में समीकृत होता है। नैतिकता व्यवहार का आधार, नैतिकता का आधार धर्म है। नीतियां धर्म के आधार पर ध्रुवीकृत होती हैं। धर्म मूलक अथवा धर्म गामी नीतियां हैं। जीवन मूल्य ही धर्म है। समाधान ही मानव धर्म है। धर्म में प्रयोजित होना ही धर्म नीति है। नैतिकता का तात्पर्य धर्म, राज्य नीतिपूर्ण आचरण है। यही क्रम से सदुपयोग और सुरक्षा है। अर्थ का सदुपयोग सुरक्षा, मानव मूल्य में, से, के लिए होता है – डायरी 1983 [D] FC / ६१-६२

स्वरूप

कोई भी मानव स्वयं का शोषण नहीं चाहता है। विकास की दिशा में जो समस्त अवरोध है, वह 'शोषक' तथा सहायक समस्त तत्व 'पोषक' हैं। अतएव, यह सिद्ध हुआ कि जागृति को अवरुद्ध करने वाली समस्त क्रियाएँ 'शोषण' हैं तथा जागृति को गतिशील करने वाली समस्त क्रियाएँ 'पोषण' हैं।

प्रत्येक इकाई परस्परता से प्रभावित है, चाहे वह प्रभाव स्थूल हो अथवा सूक्ष्म हो। चूंकि यहाँ मानव इकाई के पोषण एवं शोषण का विश्लेषण है, अतः हमें व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा अंतर्राष्ट्रीय भेद से विश्लेषण करना होगा। अंतर्राष्ट्रीय मानव समुदाय एक है तथा सब की साम्य कामना 'सुख' ही है। निरंतर सुख की उपलब्धि ही मानव का चरम विकास है तथा सुख की स्थिति में ही मानव अपने को वातावरण के दबाव से मुक्त अनुभव करता है। सुखी मानव अन्य का पोषण करने में भी समर्थ होता है। भय से निवारण हेतु समुदाय रूपी सामाजिकता की कामना मानव ने किया।

सामाजिकता का अर्थ ही है संबंध एवं संपर्क का निर्वाह। संबंध एवं संपर्क के निर्वाह के लिए आधारभूत प्रेरणा श्रोत चार हैं :-

(1) सभ्यता, (2) संस्कृति, (3) व्यवस्था (4) विधि।

सभ्यता, संस्कृति, व्यवस्था और विधि पूर्वक मानव ने प्राप्त अर्थ का नियोजन करते हुए सुख की अनुभूति की कामना की है। छोटी से लेकर बड़ी इकाई तक ने अर्थ का उपयोग और उपभोग करते हुए सुखी होने का प्रयास किया है, पर जब एकाकी प्रयोग से उसे सुख की उपलब्धि नहीं हुई तो समाज का गठन हुआ तथा ऐसे गठित समाज में संपर्क एवं संबंधों के निर्वाह के लिए नियम स्वीकृत हुए। इन नियमों का सभ्यता एवं संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करने का प्रयास किया गया तथा इन्हें आवश्यकीय तथा अनावश्यकीय नियमों के रूप में माना गया। साथ ही इन्हें ऐसा ही मानने और प्रयोग करने हेतु प्रेरणा देने के लिए व्यवस्था और विधि का जन्म हुआ। – व्य.द. अध्याय १६

अंतर्राष्ट्रीय नीति में विस्तार नीति, राष्ट्रीय नीति में पद व वर्ग नीति, सामाजिक नीति में परधन परनारी/पुरुष, एवं परपीड़ात्मक नीति और व्यक्तिगत नीति में संग्रह ही पीड़ा का कारण है, जिससे क्षोभ उत्पन्न होता है। (विस्तार की कामना मात्र पांच ऐश्वर्यों के लिए ही है – बल, बुद्धि, रूप, पद व धन)। शोषण से ही क्षोभ उत्पन्न होता है। इसके

विपरीत अंतरराष्ट्रीय नीति में विकास नीति, राष्ट्रीय नीति में विधि (न्याय) की अक्षुण्णता बनाये रखने के लिए व्यवस्था, सामाजिक नीति में स्वधन, स्वनारी /स्वपुरुष तथा दया की नीति और व्यक्तिगत जीवन में असंग्रहवादी नीति से ही पोषण संभव है।

उपरोक्त वर्णित उद्देश्य अर्थात् तन, मन और धन के सदुपयोग और तन, मन और धन की सुरक्षा की पूर्ति के लिए तथा तदनुकूल आचरण को व्यवहार में लाने हेतु और तदनुसार विभिन्न स्तरों के गठन की संपर्कात्मक तथा संबंधात्मक परस्परता को विश्वासपूर्वक सुदृढ़ करने के लिये एक समन्वित धर्मनीति तथा राज्य नीति आवश्यक है, जिससे एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को स्थापित तथा विकसित किया जा सके, जो मानव के जागृति की संपूर्ण संभावनाओं से युक्त हो। ऐसी व्यवस्था मात्र पोषण-प्रधान गुणों व नीतियों से ही संपन्न होगी, जो जागृति का मार्ग प्रशस्त करेगी, जिससे मानव सुखी रहेगा।

उपरोक्तानुसार धर्मनीति तथा राज्यनीति के व्यवहारान्वयन में सहायक सभी विचार तथा व्यवहार पोषक, अन्यथा में शोषक ही सिद्ध होंगे। यह धर्म नीति और राज्य नीति मात्र पोषक होने के कारण सार्वभौमिक निर्विवाद स्थिति को प्राप्त करेगी, और इस विश्व धर्म का पालन सभी मनुष्य, परिवार तथा राष्ट्र निर्विरोध रूप में कर सकेंगे। सम्पूर्ण मानव जाती परस्परता में सह-अस्तित्व की भावना से प्रतिष्ठित होकर एक दुसरे के विकास में हर स्तर पर अर्थात् व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सहायक एवं सहयोगी होगी और फलतः मानव समाज शोषण से मुक्त होगा - व्य.द , १९७८, 152

धर्म-नीति का तात्पर्य

संस्कृति सभ्यता को सुनिश्चित करने के लिए प्राप्त अर्थ 'तन, मन और धन' की सदुपयोगात्मक नीतियों का निर्धारण हुआ तथा इन्हें 'धर्म-नीति' की संज्ञा दी गई। धर्म-नीति मानव का वैभव है।

धार्मिक नीति चैतन्य पक्ष तथा उससे सम्बद्ध व्यवहार से सम्बंधित है।

धर्मनीति में वैयक्तिक स्तर से सम्पूर्ण मानव समाज में प्राप्त संपर्कों एवं संबंधों पर मनन से मानवीयता, अतिमानवीयता पूर्ण व्यवहार का दर्शन हुआ है जिससे एक से एक से अनेक तक के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। साथ ही इसके विपरीत अमानवीयता का भी दर्शन हुआ जिससे एक से अनेक तक के विकास को अवरुद्ध करने वाले मार्ग का भी दर्शन हुआ।-व्य.द. १९७८, १४५

राज्यनीति का तात्पर्य

सामाजिकता एकसूत्रता को बनाए रखने के लिए तथा अमानवीयता से मुक्ति के लिए, जिससे मानव को प्राप्त अर्थ-तन, मन और धन की सुरक्षा भी होती हो ऐसी राज्यनीति अध्ययन गम्य हुई। सामाजिक इकाई होने के कारण एक

मानव के तन तथा धन की सुरक्षा के साथ परिवार, समाज तथा राष्ट्र की सुरक्षा स्वयमेव सिद्ध है। यह उसी स्थिति में संभव तथा व्यवहार्य है जब मानव से लेकर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय जीवन में एकसूत्रता हो।

राज्यनीति से साकार होने वाली उपलब्धि के मूल तत्व हैं :-

स्व-धन, स्वनारी/स्व-पुरुष और दया में निष्ठा एवं विश्वास का स्थापना तथा पर-धन, पर-नारी/पर-पुरुष और पर-पीड़ात्मक व्यवहार से मुक्ति।

वैचारिक पक्ष के परिमार्जन से तथा विकास से ही परधन, परनारी/परपुरुष एवं परपीड़ा युक्त व्यवहार का उन्मूलन संभव है। विचार का परिमार्जन केवल इसके इससे श्रेष्ठ शक्ति के प्रभाव में आने पर ही संभव है क्योंकि यह नियम है कि अविकसित, विकसित के सान्निध्य में ही विकास की प्रेरणा पाता है और विकास को प्राप्त करता है। विचार पक्ष का परिमार्जन मात्र चित के प्रत्यावर्तन से ही संभव है जिससे वैचारिक पक्ष में मानवीयता के प्रति आदर का भाव उत्पन्न होकर तदनुरूप व्यवहार संभव है।

राज्यनीति का क्षेत्र अर्थ की सुरक्षा से अधिक संबद्ध होने के कारण इसका संबंध भौतिक वस्तुओं से अधिक है।

अतः इसका धर्मनीति के आश्रय में होना अनिवार्य व अपरिहार्य है।

- संस्कृति, सभ्यता = धर्म नीति
- विधि, व्यवस्था = राज्य नीति - (व्य.द. 1978, अध्याय 16)

अंतर्राष्ट्रीय नीति से राष्ट्रीय नीति को प्रेरणा एवं दिशा, राष्ट्रीय नीति से सामाजिक नीति को प्रेरणा और दिशा, सामाजिक नीति से पारिवारिक नीति को प्रेरणा और दिशा, और पारिवारिक नीति से व्यक्तित्व निर्माण के लिए प्रेरणा और दिशा प्राप्त होती है। इसकी विलोम पद्धति से भी नीति निर्धारण होता है, जिससे कि मानव समाज के लिए व्यक्ति की महत्ता, व्यक्ति के महत्ता के लिए मानव समाज की महत्ता प्रतिपादित होती है। इसके साथ ही व्यक्ति से लेकर सम्पूर्ण मानव समाज की एक सूत्रता का महत्व भी हृदयंगम होता है।

'धर्म नीति और राज्य नीति सहज विवेचना अस्तित्व दर्शन और जीवन ज्ञान का ही फलन है। इससे मानवीयतापूर्ण आचरण, स्वाभाविक विज्ञान का रास्ता बन गया' - संवाद, २०१०

(B) मानव धर्म-नीति स्वरूप

धर्म नीति: परिभाषा

- ❖ अर्थ की सदुपयोगात्मक नीति ही धर्मनीति है।
- ❖ मानव की सार्वभौमिक साम्य कामना 'सुख' की अनुभूति हेतु मानव के समस्त सम्पर्क एवं संबंध के निर्वाह के लिए जो निश्चित कार्यक्रम है, उसे 'मानव धर्म नीति' की संज्ञा है।

धर्म नीति: आवश्यकता

मानव धर्मनीति सहज समझ तथा परिपालन इसलिए आवश्यक है कि मानव प्रयोग एवं उत्पादन द्वारा प्राप्त अर्थ तथा प्राप्त प्राकृतिक संपदा के सदुपयोग की कामना करता है।

सदुपयोगिता अथवा दुरुपयोगिता का निर्णय चैतन्य पक्ष का है। संस्कृति एवं सभ्यता से प्राप्ति मात्र सुखानुभूति ही है, अर्थात् धर्मनीति का अध्ययन मनुष्य की परस्परता में पाये जाने सम्बन्ध एवं संपर्क का अध्ययन है, क्योंकि मनुष्य संपर्क एवं सम्बन्ध से सुखी और दुःखी हो रहा है न की वस्तु वाहन आदी से – व्य.द., 1978, 154

धर्म नीति- लक्ष्य अथवा साध्य

अमानवीयता से मानवीयता की ओर गुणात्मक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करने हेतु समाधान, साधन, अवसर तथा व्यवस्था उपलब्ध कराना, जो अतिमानवीयता के लिये प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन देने में समर्थ हो।

प्रत्येक मानव में साध्य को पाने हेतु तीन बातों का होना अनिवार्य :-

1. साधक,
2. साधना,
3. साधन।

1. साधक : प्रत्येक मानव को 'साधक' की संज्ञा है, वह क्रम से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा अंतर्राष्ट्रीय भेद से है।
2. साधना : तन, मन तथा धन सहित मानवीय दृष्टि, विषय एवं स्वभाव सहित साध्य (मानवीयता एवं अतिमानवीयता) को पाने हेतु प्रयुक्त क्रिया प्रणाली को 'साधना' की संज्ञा है।
3. साधन : तन, मन व धन ही साधन है। सर्वमानव के लिए जागृति ही साध्य है।

साधन की प्रयुक्ति कायिक, वाचिक, मानसिक, कृत, कारित एवं अनुमोदित भेद से कुल नौ प्रकार की होती है। इन समस्त साधनों को तीन क्षेत्रों में ही प्रयुक्त किया जा रहा है :-

(1) प्राकृतिक क्षेत्र (2) सांस्कृतिक क्षेत्र (3) बौद्धिक क्षेत्र।

सहअस्तित्व व सामाजिकता का अध्ययन व्यक्ति के जागृति एवं व्यवहार के संदर्भ में ही है। मानव धर्मनीति का अध्ययन सहअस्तित्व, सामाजिकता, समृद्धि, समाधान, संतुलन, सच्चरित्रता एवं सुख के उद्देश्य से किया जाता है और यही मानव की आद्यन्त आकांक्षा है।

सहअस्तित्व व सामाजिकता का अध्ययन व्यक्ति के विकास एवं व्यवहार के सन्दर्भ में ही है

समाज का गठन व्यक्तियों सहित उद्देश्यपूर्ण आचरण संहिता समेत व्यवस्था प्रणाली ही है। समाज से व्यक्ति संपर्क एवं संबंध द्वारा जुड़ा हुआ है। मानव समाज में परस्पर निम्न संबंध दृष्टिगोचर होता है:

1. पिता-माता एवं पुत्र-पुत्री संबंध,
2. पति-पत्नी संबंध,
3. गुरु और शिष्य संबंध,
4. भाई और बहिन संबंध,
5. मित्र संबंध
6. साथी-सहयोगी संबंध
7. व्यवस्था संबंध

(*संबंधों पर जानकारी '4.3 सम्बन्ध एवं मूल्य' में दिया गया है)

मानव के लिए सुख ही धर्म है। सुख की आशा से ओतप्रोत मानव को एक क्षण के लिए भी इस कामना से विमुख नहीं किया जा सकता। धर्म की परिभाषा ही इस प्रकार की गई है कि “जिससे जिसका वियोग न किया जा सके, अथवा जिसका वियोग सम्भव न हो, वह उसका धर्म है।” धर्म की इसी परिभाषा के आधार पर पदार्थ का धर्म ‘अस्तित्व’, अन्न व वनस्पति का धर्म ‘पुष्टि’, जीवों का धर्म ‘जीने की आशा’ और मानव का धर्म ‘सुख’ प्रतिपादित किया गया। यह भी प्रतिपादित किया गया कि हर विकसित अवस्था की इकाई में अविकसित इकाई का धर्म विलय रहता ही है।

धर्मनीति के परिपालन से समस्त सम्पर्कात्मक तथा सम्बन्धात्मक व्यवहार में क्या अपेक्षा की जाती है, जिससे कि जीवन सफल होता है नीचे दर्शाया गया है। ऐसी धर्मनैतिक व्यवस्था तथा इसके लिए किया गया समस्त व्यवहार, प्रयोग तथा प्रयास पोषक अन्यथा में शोषक है।

- पुरुष का जीवन यतित्व से सफल है।
- स्त्री का जीवन सतीत्व से सफल है।
- माता-पिता का जीवन व्यक्तित्व से।
- पुत्र का जीवन नैतिकता के प्रति निष्ठा से।
- राज्य व्यवस्था, न्यायपूर्ण नियम के समर्थन व पालन से।
- प्रजा का जीवन समग्र व्यवस्था में भागीदारी से तथा अनुशासन एवं नियम को स्वीकारने से।
- गुरु का जीवन अनुभव को प्रामाणिकता पूर्वक अध्ययन कराने से।
- शिष्य का जीवन गुरु द्वारा कराये गये अध्ययन के श्रवण, मनन तथा अर्थबोध सम्पन्नता से।
- सहयोगी का जीवन कर्त्तव्य को निर्वाह करने से।
- साथी का जीवन दायित्वों को निर्वाह करने से।
- भाई या बहन का जीवन एक दूसरे के अनन्य विकास की आशा एवं प्रयास से तथा स्नेह सहित दायित्व वहन करने से।
- मित्र का जीवन परस्पर दिखावा रहित, उदारता पूर्ण, संग्रह रहित विकास के ओर गति सहित अनन्यता से सफल या असफल है

(*धर्म नीति पर अधिक जानकारी '6.5 मानवीय परम्परा' अध्याय में 'संस्कृति-सभ्यता' के अंतर्गत दिया गया है)

(C) मानव राज्य-नीति

राज्य नीति: परिभाषा

- राज्य नीति का अर्थ: - तन एवं धन की सुरक्षा के लिए विधि-व्यवस्था प्रदान करने हेतु जो निश्चित कार्यक्रम है, उसे 'राज्य नीति' संज्ञा है।
- राज्य: - जिस भू क्षेत्र में मानव का आवास है और साथ ही जो एक ही संविधान तंत्र के अधीन हो उसे 'राज्य' संज्ञा है। (व्य.द. 1978, 169)

राज्य नीति: आवश्यकता

- मानव प्रयोग व व्यवसाय द्वारा प्राप्त अर्थ तथा प्राकृतिक सम्पदा की सुरक्षा की कामना करता है, क्योंकि उसमें उसका श्रम नियोजित एवं प्रयोजित है। ऐसा सुरक्षा के लिए राज्य-नीति का अध्ययन व समझ का परिपालन आवश्यक है।

राज्य नीति: लक्ष्य एवं साध्य

राज्य नीति का लक्ष्य अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था की अक्षुण्णता है। अमानवीयता से मानवीयता की ओर प्रगति हेतु मार्ग प्रशस्त करने के लिए साधन, अवसर तथा व्यवस्था की स्थापना एवं सुरक्षा जो अतिमानवीयता को प्रोत्साहन देने में समर्थ हो।

राज्यनीति सहज लक्ष्य को सार्थक और सर्वजन सुलभ बनाने की कामना से समझदारी की आवश्यकता है। यदि समस्या है तो समाधान है ही। समाधान के आधार पर निश्चितता को पाना अनिवार्य है।

इसके पूर्व में न्यायवादी और अवसरवादी व्यवहार का विश्लेषण किया जा चुका है। अवसरवादी नीति से अनिश्चित दिशा, गति एवं घटना ही संभव है, जिससे व्यवस्था में स्थिरता तथा विश्वास नहीं उत्पन्न कराया जा सकता। साथ ही यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि न्यायवादी नीति के विकास तथा व्यवहारन्वयन के लिए मानवीयता ही आधार है।

समस्त मानव समाज द्वारा बौद्धिक, सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक क्षेत्र में ही विभिन्न कार्य संपादित किये जा रहे हैं। इन तीनों क्षेत्रों में किया गया कार्य ही मानव के लिए सम्पूर्ण व्यवहार कार्य है।

राज्य-नीति का लक्ष्य तन, मन, एवं धन की सुरक्षा है तथा इसके लिए विधि तथा व्यवस्था प्रदान करना है। इस क्रम में यह जान लेना आवश्यक है कि बौद्धिक नियम की अवधारणाएं ही क्रम से व्यवहार काल में प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक नियमों का अनुसरण करती हैं, जिससे विकास या हास सिद्ध होता है। यहाँ हम बौद्धिक, सांस्कृतिक, तथा प्राकृतिक क्षेत्र में किये जा रहे व्यवहार की विधि व निषेध पक्ष का अध्ययन करेंगे।

सदुपयोगी राज्य-नीति

- सदुपयोगी राज्य-नीति के निर्धारण के लिए विधि व निषेध निम्नानुसार परिलक्षित होता है।

बौद्धिक क्षेत्र

विधि (जागृत मानव प्रवृत्ति)

- १. कर्तव्य-पूर्ण असंग्रह (व्यय के लिए आय)
- २. स्नेह (आवश्यकिय नियम से निर्विरोधिता)
- ३. विद्या (संशय एवम् विपर्यय से मुक्त जानकारी)
- ४. सरलता (दिखावा रहित जीवन, अन्यो में गुरु-मूल्यन)
- ५. अभय (विवेक)

निषेध (भ्रमित मानव प्रवृत्ति)

- १. संग्रह (आय को व्यय से मुक्त करने का प्रयास)
- २. द्वेष (आवश्यकिय नियम का विरोध)
- ३. अविद्या (संशयात्मक एवम् विपर्ययपूर्ण जानकारी)
- ४. अभिमान (दिखावा पूर्ण जीवन, अपने में गुरु-मूल्यन)
- ५. भय (अविवेक)

सांस्कृतिक (सामाजिक) क्षेत्र

- १. स्वधन – (प्रतिफल, पारितोष, पुरस्कार से प्राप्त धन)
- २. स्व-नारी या स्व-पुरुष (सामाजिक निर्णय अनुसार)
- ३. दया (जीने देना)

- १. परधन (शोषण एवं पाखण्ड पूर्वक प्राप्त धन)
- २. पर-नारी या पर-पुरुष (सामाजिक निर्णय के प्रतिकूल)
- ३. पर-पीड़ा (दूसरों के जीवन में हस्तक्षेप)

प्राकृतिक क्षेत्र

- १. प्राकृतिक सम्पत्ति (खनिज वनस्पति तथा पशु) का उनके उत्पादन के अनुपात में व्यय।
- २. प्राकृतिक संपत्ति के उत्पादन में विघ्न न उत्पन्न करना।
- ३. उत्पादन में सहायक बनना।
- १. प्राकृतिक सम्पत्ति का उत्पादन से अधिक व्यय (अतिरिक्त व्यय)
- २. उत्पादन से कम व्यय करना। (अनाव्याप्ति व्यय)
- ३. उत्पादन में विघ्न डालना।

उपरोक्तानुसार विधि एवम् निषेध को मूल आधार मानकर समस्त अर्थ – तन एवम् धन – की सुरक्षा की नीति निर्धारित होनी चाहिए – व्य.द. 1978, 172-73

(*व्यवहार के नियमों को 'विवेक' के अंतर्गत भी दिया है)

(*राज्य नीति पर शेष चर्चा व्यवस्था के सन्दर्भ में '6.6 विधि एवं व्यवस्था', अध्याय – ६ में दिया है)

(D) नैतिकता – सारांश

मानवीयता के लिये आवश्यकीय नियमपूर्वक किये गये समस्त राज्यनीति एवम् धर्मनीति सम्मत व्यवहार को नैतिक तथा अमानवीयता पूर्वक किये गये व्यवहार को अनैतिक संज्ञा है। – व्य.द. 71

- ✓ नैतिकता पूर्वक ही मानव व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह कर पाता है।
- ✓ मानवीयतापूर्ण चरित्र पूर्वक व्यवहार करता है।
- ✓ मूल्य और मूल्यांकन पूर्वक जी पाता है अथवा सम्बन्ध, मूल्य, मूल्यांकन, उभय तृप्ति पूर्वक जी पाता है। यही सुख, सुन्दर, समाधान पूर्वक जीने की कला का स्वरूप है। – आ.व. 175

अभी तक मानव ने समुदाय चेतना तक ही अपने को जागृति क्रम में भ्रमित रूप में पाया है। समुदाय चेतना में, अपने पराए की दीवाल बनी ही रहेगी। ऐसी दीवाल जब तक रहेगी, तब तक युद्ध-शोषण, द्रोह-विद्रोह की प्रक्रियाएं बनी ही रहेंगी। ऐसी प्रक्रियाएं अपने आप में अमानवीयता का द्योतक हैं। अमानवीय मानसिकता पूर्वक, अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी संभव नहीं है। इसलिए अमानवीयता से मानवीयता में संक्रमित होना ही आज की आवश्यकता है। अमानवीय चार प्रवृत्तियां विषय, संग्रह, सुविधा और भोग में ग्रसित रहना पाया जाता है।

मानवीय दृष्टियाँ न्याय, धर्म (सर्वतोमुखी समाधान) तथा सत्य हैं। इसी के आधार पर अर्थात् जीवन प्रकाश प्रभावशील होने की स्थिति में ही समाज न्याय, सार्वभौम व्यवस्था और प्रामाणिकता सहज सुलभ हो जाती है। यही अमानवीयता से मानवीयता की ओर गति भी है। यही मानव की वांछा, आशा व आकाँक्षा है।

सम्बन्धों को पहचानने व मूल्यों का निर्वाह करने के क्रम में, समाज न्याय का उभय तृप्ति के रूप में लोकव्यापीकरण होता है। तभी मानव, परिवार व्यवस्था के रूप में, जीने की कला को, अभिव्यक्त कर पाता है। ऐसी स्थिति में सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी कर पाता है। सार्वभौम व्यवस्था का सूत्र, परिवार-मूलक विधि से सूत्रित होकर, ग्राम-स्वराज्य में सार्वभौम स्वराज्य व्यवस्था का छोटा रूप प्रमाणित होता है। यही “परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था” होने का सूत्र और संभावना है। - म.वि. १२०

तन मन धन का सदुपयोग = समाज नीति = धर्म नीति

उसकी सुरक्षा = स्वराज्य नीति = राज्य नीति और नैतिकता

- 1990 I [A] FC/33

4.5 चरित्र

मानवीयतापूर्ण आचरण का तीसरा आयाम चरित्र है। चरित्र का स्वरूप स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष, दयापूर्ण कार्य-व्यवहार के रूप में पहचाना गया है। चरित्र का क्रियाकलाप ‘सामाजिक नियम’ के रूप में सम्पन्न होना पाया जाता है। समाज शब्द से अखण्डता इंगित तथ्य और उसका कार्य स्वरूप जीवन सहज पूर्णता (जागृति) को शरीर रूपी माध्यम से मानव परंपरा में प्रमाणित करना ही है। मानवीयतापूर्ण आचरण से हर व्यक्ति सम्पन्न होना, सार्थक होना मानव के लिये स्वत्व रूप में समीचीन है ही। इसी के साथ-साथ हर मानव में इसकी आवश्यकता का भास-आभास बना ही है।

(i) स्वधन का परिभाषा है - अर्थात् कार्य रूप है। प्रतिफल, पारितोष और पुरस्कार से प्राप्त धन। मूलतः धन का स्वरूप उपयोगिता और सुन्दरता मूल्य सम्पन्न वस्तुओं के रूप में होना पाया जाता है। जैसे आहार, आवास, अलंकार, दूरदर्शन, दूरश्रवण और दूरगमन रूपी वस्तुएँ हैं। इन सबमें उपयोगिता मूल्य, कला मूल्य को मानव ही मूल्यांकित करता है। ऐसी सभी वस्तुएँ (धन) मानव सहज श्रम नियोजन पूर्वक सम्पन्न हुआ होना पाया जाता है। ऐसा धन किसी का भी स्वत्व रूप में होता है, प्राकृतिक ऐश्वर्य पर नियोजन किया गया श्रम के फलन में ही स्पष्ट होता है। ऐसे फलन को ही श्रम का प्रतिफल है। पारितोष भी किसी का स्वधन होना स्वाभाविक है। अपने स्वधन को स्वयं स्फूर्त प्रसन्नता में, से, के लिये हस्तांतरित करना, अर्पित करने की क्रिया को पारितोष है। पुरस्कार से प्राप्त धन किसी सार्थक घटना, कार्य, प्रमाण, प्रकाशन, अभिव्यक्ति, संप्रेषणा प्रकाशन के फलस्वरूप उत्सव का अनुभव करता हुआ एक से अधिक लोग एकत्रित होकर ऐसे धन को अर्पित करने की क्रिया है। इन तीनों प्रकार से प्राप्त धन स्वधन की संज्ञा में आता है। तन, मन के साथ ऐसे स्वधन को सदुपयोग, सुरक्षा करने का अधिकार हर मानव में होता है।

(ii) स्वनारी/स्वपुरुष का प्रयोजन इस विधि और आधार से देखा गया है कि समाज रचना क्रम में एक नारी-पुरुष का शरीर संयोग मानव शरीर रचना अथवा संतान परंपरा के लिए आवश्यकता विधि से सहज कार्यकलाप विधि से भी आवश्यक घटना है। शरीर रचना विधि से यौवन ही इसका आधार है। कार्य विधि से मानव परंपरा बना रहना एक आवश्यकता है। प्रयोजन विधि से व्यवस्था में जीना एक अनिवार्यता है। व्यवस्था का तात्पर्य न्याय सुलभता, उत्पादन सुलभता, विनिमय सुलभता ही है जिसका स्रोत मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार और स्वास्थ्य-संयम कार्यकलाप ही है। इसी से परिवार परंपरा होना भी सहज है।

(iii) दयापूर्ण कार्य-व्यवहार का स्वरूप आवश्यकतानुसार (अपने-पराये के दीवाल विहीन विधि से) अर्थ का सदुपयोग कार्य ही है। यह विशेष कर कर्तव्य और दया सूत्र सम्पन्न परिवार संबंधों में जुड़े होते हैं। जागृति सम्पन्न सर्व परिवार, सर्व मानव के साथ दया का प्रभाव क्षेत्र बना रहता है। हर परिवार समृद्ध होने और समाधानित रहने के आधार पर दयापूर्ण कार्य-व्यवहार सार्थक होना देखा गया है। दयापूर्ण कार्य-व्यवहार की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति समग्र व्यवस्था में भागीदारी का ही स्वरूप है। इतना ही नहीं व्यवस्था स्रोत सहित व्यवस्था में भागीदारी का स्वरूप है। इस प्रकार दयापूर्ण कार्य-व्यवहार का कार्य सार्थकता और उसकी अनिवार्यता स्पष्ट होती है। मूलतः यह सब अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के लक्ष्य में प्रतिपादित और प्रवर्तित है। इसका दृष्टफल मानवापेक्षा रूपी समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व है। यह अनुभव मूलक प्रणाली से ही हर मानव में सार्थक होना पाया जाता है। अस्तु, मानवीयतापूर्ण आचरण सह-अस्तित्व में अनुभव मूलक विधि से और जीवन ज्ञान सहित ही अखण्ड समाज-सार्वभौम व्यवस्था सम्पन्न होना देखा गया है जो स्वयं में स्रोत के रूप में होना पाया जाता है। - अ.द. 48-49

4.6 पञ्च कोटि के मानवः दृष्टि, विषय, स्वभाव; मानव मूल्य

स्वभाव गति सदा-सदा 'त्व' सहित व्यवस्था के रूप में दृष्टव्य है। स्वभाव गति का तात्पर्य इस बात को भी इंगित करता है कि स्वभाव-धर्म के अनुरूप गति। यही हरेक इकाई में अन्तर सामरस्यता का भी द्योतक है। फलस्वरूप परस्परता में व्यवस्था प्रमाणित होना सहज है। मानव का स्वभाव मानवीयता और उसमें परम श्रेष्ठता के आधार पर धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा पूर्ण कार्य-व्यवहार, विचार व अनुभव ही है। यही प्रतिष्ठा मुख्य रूप से दृष्ट पद का द्योतक है। दृष्ट पद परिपूर्ण समझदारी का ही अभिव्यक्ति संप्रेषणा व प्रकाशन है। ऐसी समझदारी का स्वरूप जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान है। यही दृष्ट पद जागृति का सम्पूर्ण अधिकार स्वरूप भी है। इस प्रकार सम्पूर्ण समझदारी का अधिकार सम्पन्न दृष्ट होना देखा गया है। इसी समझदारी में से जीवन ज्ञान के साथ निष्ठा, अस्तित्व दर्शन के साथ निश्चयता और मानवीयतापूर्ण आचरण की अभिव्यक्ति में दृढ़ता पूर्वक व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी प्रमाणित होना सहज है। इस विधि से हर मानव दृष्टा, कर्ता और भोक्ता होना पाया जाता है। - आ.व. 195-196

ज्ञानावस्था के पाँच मानव				
मानव	स्वभाव	विषय	दृष्टि	प्रमाण
राक्षस मानव	क्रूरता, प्रधान, हीनता, दीनता	आहार, निद्रा भय, मैथुन	प्रिय, हित लाभ	अव्यवस्थाओं का प्रकाशन = भ्रान्त मानव
पशु मानव	दीनता प्रधान हीनता और क्रूरता	"	"	"
मानव	धीरता, वीरता, उदारता	वित्तषणा, पुत्रेषणा लोकेषणा	न्याय	व्यवस्था, शिक्षा, आचरण में सामरस्यता=स्वराज्य में प्रवृत्ति
देव मानव	दया, धीरता, वीरता उदारता	लोकेषणा	न्याय व धर्म	स्वराज्य में निष्ठा स्वतंत्रता में प्रवृत्ति
दिव्य मानव	दया, कृपा, करुणा	पूर्ण (नित्य समाधान) सर्वतोमुखी समाधान	सत्य	मुक्त जीवन और स्वराज्य व स्वतंत्रता = निर्भ्रान्त मानव

-अ.श. 2001 संस, 164

मानव जाति पाँच श्रेणियों में परिलक्षित है, जो निम्नानुसार हैं:-

अमानवीय मानव के दो वर्ग हैं :-

- पशु मानव और
- राक्षस मानव।

मानवीयतापूर्ण मानव एक वर्ग में है।

अतिमानवीयतापूर्ण मानव पुनः दो वर्ग में है :-

- देव मानव और
- दिव्य मानव। - व्य.द., 36
- सामाजिकता का अध्ययन मानव के सामाजिक स्वभाव, विषय एवं दृष्टि के आधार पर ही है, जिसके संरक्षण हेतु सामाजिक व्यवस्था है।
- उपरिवर्णित आधार पर अध्ययन करने पर मानव प्रवृत्तियों की कुल तीन प्रकार से गणना होती है :-
(1) अमानवीयता, (2) मानवीयता, (3) अतिमानवीयता

(A) अमानवीयता

अमानवीय स्वभाव, विषय एवं दृष्टि का संरक्षण, संवर्धन एवं प्रोत्साहन देने हेतु की गई व्यवस्था अमानवीय अथवा पाशविक व्यवस्था है। (अमानवीय प्रवृत्तियों का वर्णन पूर्व में 3.3, 'जीवन में जागृतिक्रम' के अंतर्गत किया गया है)

अमानवीय दृष्टि:

प्रियाप्रिय, हिताहित एवं लाभालाभ ही अमानवीय दृष्टि है।

- ❖ प्रिय: – इंद्रिय सुख अपेक्षा क्रिया की प्रिय संज्ञा है।
- ❖ हित: – शरीर स्वास्थ्य वर्धन एवं पोषण क्रिया की हित संज्ञा है।
- ❖ लाभ: – श्रम से अधिक द्रव्य पाने की क्रिया को लाभ अथवा लघु मूल्य के बदले गुरु-मूल्य आदाय ही लाभ है।
- ❖ प्रियाप्रिय विषय सापेक्ष, हिताहित शरीर सापेक्ष, लाभालाभ वस्तु व सेवा सापेक्ष पद्धति से स्पष्ट होता है।

अमानवीय विषय:

➤ आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन ही अमानवीय विषय है।

- आहार: शरीर पुष्टि हेतु अन्न का सेवन
- निद्रा: शरीर का संचालक (चैतन्य क्रिया) संचालन क्रिया को रोकता है या कम करता है तब शरीर निद्रा में रत होता है। निद्रा जड़ का स्वभाविक गुण है।
- भय:
 - प्राकृतिक भय, पाशवीय भय, मानव में निहित अमानवीयता का भय
 - अमानवीय मूल प्रवृत्तियों का स्व पर प्रभाव। संदिग्धता, सशंकता एवं विरोध ही भय है।
 - प्राण भय, मान भय, धन भय, पद भय
- मैथुन: यौवन क्रिया।

अमानवीय स्वभाव:

हीनता, दीनता, एवं क्रूरता ही अमानवीय स्वभाव है।

➤ दीनता: – अपने दुःख को दूसरों से दूर कराने हेतु जो आश्रय प्रवृत्ति है, उसकी दीनता संज्ञा है।

★ दीनता अभावजन्य या अक्षमताजन्य दो प्रकार की होती है।

- ❖ **अभावः** – उत्पादन से अधिक उपभोग एवं उपयोग की इच्छा ही अभाव है। आलस्य, प्रमाद, अज्ञान, अप्राप्ति, प्राकृतिक प्रकोप, तथा सामाजिक असहयोग अभाव के कारण है।
- ❖ **अक्षमताः** – इच्छानुसार बौद्धिक एवं कार्य-व्यवहार क्रिया का संपादन न कर पाना ही अक्षमता है। अक्षमता का कारण अजागृति और रोग है।
- **हीनताः** – विश्वासघात ही हीनता है। विश्वासघातः – जिससे जिस क्रिया की अपेक्षा है, उसके विपरीत आचरण किया जाना ही विश्वासघात है।
 - ❖ **छलः** – विश्वासघात के अनंतर भी उसका आभास न हो ऐसे विश्वासघात की छल संज्ञा है।
 - ❖ **कपटः** – विश्वासघात के अनंतर उसके प्रकट या स्पष्ट हो जाने की स्थिति में विश्वासघात की कपट संज्ञा है।
 - ❖ **दंभः** – आश्वासन देने के पश्चात भी किये गए विश्वासघात की दंभ संज्ञा है।
 - ❖ **पाखण्डः** – दिखावा पूर्वक किए गए विश्वासघात की पाखण्ड संज्ञा है।
- **क्रूरताः** – स्व-अस्तित्व को बनाए रखने के लिए बलपूर्वक दूसरे के अस्तित्व को मिटाने में जो वैचारिक प्रयुक्ति है, उसे क्रूरता कहते हैं।
 - ❖ अपराध एवं प्रतिकार क्रूरता के दो भेद हैं।
 - ❖ अपराधात्मक क्रूरता हिंसा के रूप में व्यक्त तथा प्रतिकारात्मक क्रूरता प्रतिहिंसा के रूप में व्यक्त है।

(B) मानवीयता

मानवीय स्वभाव, विषय एवं दृष्टि को संरक्षण, संवर्धन एवं प्रोत्साहन देने वाली व्यवस्था मानवीय व्यवस्था है।

मानवीय दृष्टिः

न्यायान्याय, धर्माधर्म, एवं सत्यासत्य मानवीय दृष्टि है।

- ★ **न्यायः** – मानवीयता के संरक्षणात्मक नीतिपूर्वक किये जाने वाले व्यवहार व्यवस्था ही न्याय है।
- ★ **न्यायान्याय व्यवहार सापेक्ष, धर्माधर्म समाधान सापेक्ष तथा सत्यासत्य अस्तित्व सापेक्ष पद्धति से स्पष्ट होता है I**

मानवीय विषय:

पुत्रेषणा, वित्तेषणा एवं लोकेषणा मानवीय विषय है।

- ❖ वित्तेषणा:- सदुपयोग के अर्थ में न्याय दृष्टि पूर्वक धन बल कामना ही वित्तेषणा है। धन: आहार, आवास, अलंकार, दूरश्रवण, दूरगमन, दूरदर्शन संबंधी वस्तुएँ।
- ❖ पुत्रेषणा: - परिवार एवं समाज व्यवस्था के अर्थ में जन-बल कामना एवं वंश वृद्धि में विश्वास (वंश संरक्षण विचार) की पुत्रेषणा संज्ञा है।
- ❖ लोकेषणा:- अखण्ड समाज व्यवस्था के अर्थ में न्याय, धर्म दृष्टि पूर्वक यश-बल कामना ही लोकेषणा है।

मानवीय स्वभाव:

धीरता, वीरता, और उदारता ही मानवीय स्वभाव है।

- ❖ धीरता: - न्याय के प्रति निष्ठा एवं दृढता ही धीरता है।
- ❖ वीरता: - दूसरों को न्याय उपलब्ध कराने में अपने बौद्धिक एवं भौतिक शक्तियों को नियोजित करने की प्रवृत्ति ही वीरता है।
- ❖ उदारता: - अपनी सुख सुविधाओं को अर्थात् तन, मन, धन को प्रसन्नता पूर्वक दूसरों के लिए उपयोगिता, सदुपयोगिता विधि से नियोजित करने की प्रवृत्ति ही उदारता है।

(C) अतिमानवीयता

अतिमानवीय स्वभाव, विषय, एवं दृष्टि की जागृति के लिए समुचित अवसर एवं साधन को नियोजित करने वाली व्यवस्था एवं वैयक्तिक प्रयास को अतिमानवीय सामाजिक व्यवस्था कहते हैं। अखंड समाज, परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था व हर मानव सहज प्रमाण परंपरा ही अतिमानवीय सामाजिक व्यवस्था है।

अतिमानवीय दृष्टि:

- मात्र सत्य

अतिमानवीय विषय:

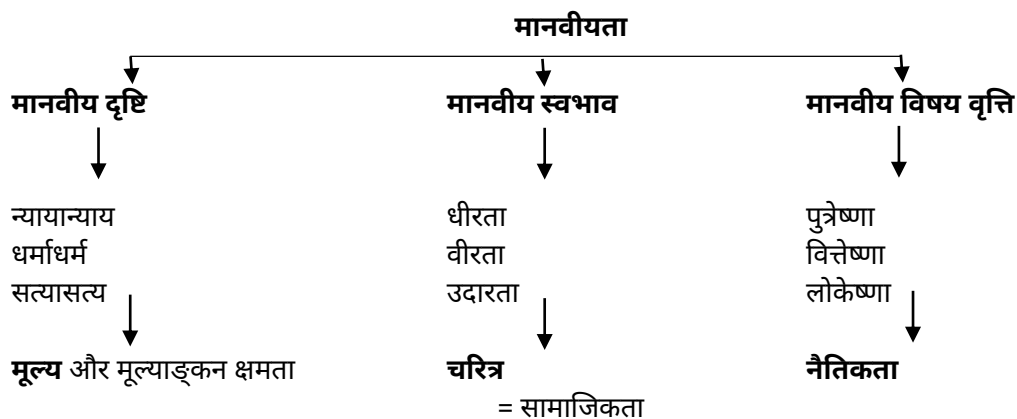
- सत्य (सह-अस्तित्व रूपी परम सत्य)

अतिमानवीय स्वभावः

- दया, कृपा, और करुणा ही अतिमानवीय स्वभाव है।
- ❖ दया: – जिनमे पात्रता हो, परन्तु उसके अनुरूप वस्तु उपलब्ध न हो, ऐसी स्थिति में उसे वस्तु उपलब्ध कराने हेतु की गयी प्रयुक्ति ही दया है।
- ❖ कृपा: – वस्तु समीचीन है पर उसके अनुरूप पात्रता अर्थात् मानवीयता पूर्ण नजरिया नहीं है, उनको पात्रता उपलब्ध कराने वाली प्रयुक्ति कृपा है।
- ❖ करुणा: – जिनमे पात्रता न हो और वस्तु भी समीचीन न हों, उनको उसे उपलब्ध कराने की प्रयुक्ति ही करुणा है।
- देव मानवीयता
 - दृष्टि: धर्माधर्म और सत्यासत्य
 - विषय: लोकेषणा
 - स्वभाव: वीरता, उदारता एवं दया
- दिव्य मानवीयता
 - दृष्टि: सत्य
 - विषय: मात्र सत्य (सहअस्तित्व)
 - स्वभाव: दया, कृपा, करुणा –व्य.द. १९७८; २२-२४

भ्रांति ज्ञानावस्था के पशु मानव से भ्रांत राक्षस मानव विकसित, भ्रांत राक्षस मानव से भ्रांताभ्रांत मानव विकसित तथा भ्रांताभ्रांत मानव से निभ्रांत देव मानव विकसित है। निभ्रांत देवमानव से दिव्यमानव विकास एवं जागृति पूर्ण है। – व्य.द. 'प्रतिपादन'

मानव का धर्मीयता =



-डायरी 1984 [B] FC/२५

(D) छः मानव मूल्य, स्वभाव

मानव मूल्य धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा रूप में होना समझ में आता है।

धीरता

सम्बन्धों का पहचान; मूल्यों का निर्वाह विधि से धीरता प्रमाणित होता है अथवा धीरता को हम प्रमाणित करते हैं। यह परस्पर संबंध संतुलन का द्योतक है। संपूर्ण संबंधों में साम्य रूप में वर्तमान विद्यमान वस्तु का नाम ही विश्वास है। वस्तु के रूप में विश्वास सम्बन्ध संतुलन के रूप में ही समझ में आता है। पहले भी यह उल्लेख किया गया था धरती, जल, वायु, वन, खनिज, वनस्पति, जीवों के साथ उन-उनके स्वभाव-धर्म के आधार पर संबंध संतुलन बनाए रखने में मानव समर्थ हो चुका है। मानव-मानव के साथ संबंध संतुलन बनाए रखने में आवश्यकता प्रतीक्षा बनी ही है। अतएव आवर्तनशील अर्थ व्यवस्था क्रिया प्रणाली मानव संबंधों में संतुलन के उपरान्त ही सार्थक हो पाता है। उदाहरण के रूप में यह देख सकते हैं कि जितना दूर तक अर्थात् एक व्यक्ति के साथ-साथ कई व्यक्ति के साथ जो अपने संबंध को संतुलित बनाए रखता है उसका सम्पूर्ण वस्तु लाभ हानि मुक्त विधि से उपयोग हो जाता है तथा जहाँ-जहाँ तक सम्बन्ध संतुलन नहीं है वहाँ-वहाँ तक भ्रमवश लाभोन्माद छाया ही रहता है। इसे प्रत्येक मानव अपने परिवेशगत मानवों के साथ निरीक्षण कर सकता है और प्रमाणित हो सकता है।

वीरता

वीरता को हम न्याय को सर्वसुलभ करने योग्य प्रवृत्तियों, कार्यकलापों और आचरणों के रूप में समझते हैं। एक उदाहरण ऐसा भी देखा जा सकता है कहीं भी दो व्यक्ति वाद ग्रस्त है, किसी मुद्दे में भ्रमित होकर ही ऐसा विवाद होना देखा गया है। ऐसे विवाद के मूल में दोनों गलत हों अथवा दोनों में से एक अवश्य गलत हो तभी वाद-विवाद होना विश्लेषित होता है। ऐसी स्थिति में वे दोनों परस्पर अपने सम्बन्धों को पहचाने नहीं रहते हैं इसलिए वाद-विवाद करने में कटिबद्ध हो जाते हैं। सम्बन्ध को समझने के उपरान्त एक दूसरे के बीच उत्पन्न मतभेदों का निराकरण करने का सामर्थ्य उदय होता ही है। इसी सिद्धांत के आधार पर तीसरा उन दोनों के परस्परता में सम्बन्ध संतुलन को स्थापित करने के लिए प्रयत्न करें वाद-विवाद दूर हो जाता है। परस्पर मानव के साथ संबंध स्थापित रहता ही है इसे जानना-मानना-पहचानना निर्वाह करना ही जागृति का तात्पर्य है। जागृतिपूर्वक ही मानव धीरता-वीरता-उदारता को और जागृतिपूर्णता के प्रमाण स्वरूप दया, कृपा, करुणा को प्रमाणित करता है।

उदारता

उदारता को हम अपने ही कार्यकलापों में, व्यवहारों में इस प्रकार देख सकते हैं कि संबंध संतुलन के उपरान्त तन-मन-धन रूपी अर्थ का उपयोग; सदुपयोग और सुरक्षा करते हैं। सदुपयोग का तात्पर्य शरीर पुष्टि (आहार पूर्वक) शरीर सुरक्षा (आवास-अलंकार पूर्वक) और जीवन जागृति की सार्थकता या चरितार्थता के लिए नियोजन कार्य का नाम है उदारता। संपूर्ण प्रकार का आवर्तनशीलता उदारता का ही द्योतक है।

ऊपर कहे गये मानव मूल्यों में से धीरता, वीरता, उदारता को स्वयं निरीक्षण करना एक सहज कार्य और उपलब्धि के रूप में देखा गया है। इसके लिए जीवन तंत्रणा के संबंध में एक संक्षिप्त और स्पष्ट ज्ञांकी मानव के सम्मुख प्रस्तुत हो चुकी है जिसमें जीवन के दसों कार्यकलापों को स्पष्ट किया है। यहाँ जीवन का मूल स्वरूप और रचना संबंधी तत्व को सूक्ष्म रूप में इंगित कराया है इसका विशद अध्ययन 'अस्तित्व में परमाणु का विकास' में किया गया है। – अ.श. 42-48

पहले धीरता, वीरता, उदारता का स्वरूप स्पष्ट किया जा चुका है। मानव मूल्य के रूप में दया, कृपा, करुणा, जीवन जागृति पूर्णता का प्रमाण रूप में अथवा साक्ष्य रूप में व्यवहृत होना पाया जाता है।

दया

➤ पात्रता के अनुरूप वस्तु, योग्यता प्रदायी क्षमता (म.वि. 120)

प्रत्येक मनुष्य शांति व उत्सवपूर्वक, दयापूर्ण कार्य-व्यवहार को सम्पन्न करने में समर्थ होता है। दया का मुख्य कार्य विकास क्रम और जागृति सहज यथा स्थिति को बनाए रखना है। यही जीने देना ही दया है। जीने देने का तात्पर्य भी, जो जैसा है, उसको उसी विकास के बिंदु में सुरक्षित करना है। दया की दूसरी स्थिति और कार्य-अविकसित के विकास में सहायक होना है। इस प्रकार से दोनों कार्य शांति पूर्वक ही सम्पन्न होना मनुष्य में प्रमाणित है। जो लोग अभी तक इस प्रकार के कार्यों को करने में सफल हुए हैं, वे सब शांति सहज जीवन को जिए हैं। – म.वि. 123

(इस ढंग से) दया को मानव के आचरण में जीने देकर स्वयं जीने के रूप में देखा गया है। जीने देने के क्रम में पात्रता के अनुरूप शिक्षा-संस्कार को सुलभ कर देना, प्रमाणित होता है। दूसरे विधि से पात्रता के अनुरूप वस्तुओं को सहज सुलभ करा देने के रूप में स्पष्ट होता है। – अ.श. 49-50

कृपा

➤ वस्तु के अनुरूप योग्यता, पात्रता उपलब्ध कराने वालो क्षमता

कृपा का व्यवहार रूप प्राप्त वस्तु के अनुरूप योग्यता को स्थापित करने के रूप में है। उदाहरण के रूप में मानव है, मानव एक वस्तु है, मानव में मानवत्व सहित व्यवस्था के रूप में जीने की योग्यता को स्थापित कर देना ही कृपा सहज तात्पर्य है।

करुणा

➤ विकास के लिए उत्प्रेरित करना। पात्रता, योग्यता और वस्तु उपलब्ध कराने में सहायक होना ।

करुणा का तात्पर्य पात्रता के अनुरूप वस्तु; वस्तु के अनुरूप योग्यता को स्थापित करने के रूप में देखा जाता है। यह मूलतः मानव में उदारता और दया, देवमानव में दया और कृपा; दिव्यमानव में दया, कृपा, करुणा प्रधान रूप में, व्यवहृत होने की अर्हता प्रमाणित हो पाती है। ऐसे परिवार मानव, देव मानव, दिव्य मानव के रूप में समृद्ध होने योग्य

परंपरा को पा लेना ही जागृति परंपरा का लक्षण और रूप है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि जागृत परंपरा पूर्वक ही सर्वमानव, मानवत्व रूपी सम्पदा से सम्पन्न होता है। ऐसे सम्पन्नता क्रम में आवर्तनशील अर्थशास्त्र, व्यवहारवादी समाजशास्त्र और मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान सहज शिक्षा-संस्कार विधा में चरितार्थ करना एक आवश्यकता है।

- अ.श. (२००१), ३७, ३८

(E) जागृति एवं आचरण

भ्रम मुक्ति के संबंध में ध्यान में ला चुके हैं कि न्याय, धर्म, सत्य में जागृत होना है। जागृत होने वाला वस्तु जीवन ही है। जीवन का रचना, स्वरूप, शक्ति, बल और लक्ष्य हर मानव जीवन में समान है। जीवन लक्ष्य केवल जागृति है। हर मानव में यह परीक्षण निरीक्षण पूर्वक प्रमाणित होता है। हर मानव अज्ञात को ज्ञात करने; अप्राप्त को प्राप्त करने के क्रम में ही है। इस क्रम में हर मानव जानने-मानने-पहचानने-निर्वाह करने की प्रक्रिया में पारंगत होने के लिये प्रयत्नशील है। जागृति ही भ्रम मुक्ति का आधार है। जागृति के बिन्दु न्याय, धर्म, सत्य सहज प्रमाण परंपरा ही है। इसके कार्यरूप (जागृति सहज) को पहले स्पष्ट किया जा चुका है। जीवन में होने वाले अनुभव, अवधारणा और चिन्तन ही मानव परंपरा में जागृति प्रमाणित होने का आधार है क्योंकि जीवन ही जागृत होना, शरीर जीवन्त रहना ही संज्ञानशील और संवेदनशील कार्यों का आधार है। जीवन्तता का स्रोत जीवन है। शरीर को जीवन जीवन्त बनाए रखने के आधार पर ही जीवन अपने जागृति और आशयों को मानव परंपरा में प्रमाणित कर पाता है। इन्हीं प्रयोजनार्थ शरीर और जीवन के साकार रूप में मानव का होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इस पृष्ठभूमि से यह पता लगता है हर मानव जागृति का प्यासा है।

प्रिय, हित, लाभ, भय, प्रलोभन, आस्था, संघर्ष, विषय चतुष्टयों में प्रवृत्तियाँ, संग्रह और सुविधा लिप्सा ये सब जागृति क्रम को स्पष्ट करता है। जागृति जीवन के सर्वोपरि अभीष्ट है। जागृति के बिना जीवन अपेक्षा पूरा होता नहीं साथ ही मानवापेक्षा भी सफल नहीं होता। अतएव अभय अपेक्षा सहज सफलता सार्वभौम लक्ष्य के रूप में पहचाना जा सकता है। यह सर्वसुलभ होने के लिए अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था ही एक मात्र दिशा है। इसे संतुलित नियंत्रित बनाए रखने के लिये मानव में मानवत्व ही एकमात्र स्रोत है। मानवत्व ही सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज का सूत्र और व्याख्या है। इस क्रम में मानवत्व को पहचानने की विधि केवल जागृति विधि होना ही पाया जाता है। जागृति सर्वमानव के लिये वरेण्य है। इसीलिये जागृति की ओर ही एकमात्र मार्ग मानव मात्र के लिये सुस्पष्ट है। - आ.व. 166-167

जीवन में ही क्रियारत न्याय, धर्म और सत्यात्मक दृष्टियाँ जागृति बन्धन मुक्ति का सूत्र है। न्याय स्वभाविक रूप में परस्पर मानव के सम्बन्धों में प्रमाणित होने वाले तथ्य हैं। यह प्रत्येक मानव के अविभाज्य वर्तमान रूपी मूल्य, चरित्र, नैतिकता से प्रमाणित हो जाता है। मानवीयतापूर्ण आचरण में उक्त तीनों आयाम सम्पन्न आचरण देखने को मिलता है। यह आचरण मानवीयता से परिपूर्ण होते तक यह तीनों आयाम एक दूसरे में पूरक होना संभव नहीं है। यह इस तथ्य का द्योतक है कि मानव जागृतिपूर्वक ही मानवीयतापूर्ण आचरण करने में समर्थ होता है। इसको भले प्रकार से परीक्षण, निरीक्षण कर देखा गया है। जागृति का तात्पर्य जीवन ज्ञान और अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान में

पारंगत होने से है। मानवीयतापूर्ण आचरण हर विद्यार्थी में, से, के लिये सुलभ होने से है। सह-अस्तित्व ही परम सत्य होने के कारण अस्तित्व में अनुभव होने के क्रियाकलाप को “अनुभवात्मक अध्यात्मवाद” नाम दिया है। इस तरीके से हम सहज ही इस निष्कर्ष में आ सकते हैं कि हर व्यक्ति के जागृत होने की संभावना समीचीन है।। - आ.व. 158-164

परिवार मानव पद में ही मानवीयतापूर्ण आचरण सार्थक हो पाता है। परिवार में न्याय सार्थकता प्रमाणित रहता ही है। इसी आधार पर अर्थात् परिवार मानव ही व्यवस्था मानव होने के आधार पर बंधनमुक्ति के प्रमाण स्पष्ट हो जाते हैं। न्याय सुलभता से स्वाभाविक रूप में आशा बन्धन से मुक्ति स्वाभाविक है। इससे पता चलता है न्याय प्रदायी योग्यता का विकसित होना ही आशा बन्धन से मुक्ति का गवाही है। शरीर या मोह से ही मानव संपूर्ण प्रकार के अन्याय और कुकर्म करता है। इसे हर मानव, हर स्थिति में आंकलित कर सकता है। परिवार मानव विधि से हर काल, हर परिस्थिति में (मानवीयता पूर्ण परिस्थिति में) न्याय प्रदायी योग्यता और क्षमता को प्रमाणित करना सहज है। यही प्रधान रूप में मुक्ति का प्रमाण है। ऐसी परिवार मानव के रूप में जीने की सम्पूर्ण चित्रण स्वयं में समाज रचना का चित्रण है।

जागृतिपूर्वक ही हर व्यक्ति प्रमाणित होना पाया जाता है। जागृति को अभिव्यक्ति क्रम में जागृति और जागृतिपूर्णता नाम दिया है। मानव व्यवस्था में जागृत होने से व्यवस्था के रूप में जीना प्रमाणित हो पाता है। इसी पद को अर्थात् जागृत पद क्रिया-पूर्णता है। क्रियापूर्णता का तात्पर्य भी मानवीयतापूर्ण विधि से करने योग्य सभी कार्य सम्पन्न होने की विधि से है। यह कायिक, वाचिक, मानसिक, कृत कारित अनुमोदित विधि से होना पाया गया है। यही मानव सहज जागृति का विस्तार का भी द्योतक है। इन्हीं आधारों के महिमा को क्रियापूर्णता से इंगित किया है। न्याय और व्यवस्था में जीना ही इसका सार्थकता है। फलस्वरूप व्यवस्था की सार्वभौमता मानव सहज समाज में अखण्डता सूत्रित, व्याख्यायित, वैभवित हो पाती है। ऐसे अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के स्रोत रूप में कार्य करने वाला मानव को देव मानव, दिव्य मानव कहा है। यह विचार बंधन से मुक्ति का स्वरूप है। इनमें से दिव्य मानव आचरणपूर्णता को प्रमाणित करना देखा गया है। इसी पद को जागृतिपूर्णता नाम दिया है। इनके कार्यरूप को अखण्ड समाज और सार्वभौम व्यवस्था का स्रोत सहित जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन, मानवीयतापूर्ण आचरण में प्रमाण के रूप में होना पाया जाता है जागृतिपूर्णता ही प्रमाण का आधार है। हर व्यक्ति प्रमाण होना चाहता है। इसीलिये मानव परंपरा में दिव्य मानवीयता वांछित व आवश्यक है। इस अवस्था में इच्छा बन्धन मुक्ति प्रमाण होना पाया जाता है। यही बन्धन मुक्ति का सार संक्षेप स्वरूप है। मुक्ति को आचरण में ही प्रमाणित होना पाया जाता है। व्यवहार कार्य में ही साक्षित होना पड़ता है। सम्पूर्ण अस्तित्व ही प्रकाशमान होने के कारण मानवीयता, देवमानवीयता, दिव्यमानवीयता भी प्रकाशित होना स्वाभाविक है। - आ.व. २०००, ११८-११९

मानव का सार्थक स्वरूप समाधान, समृद्धि, अभय और सह-अस्तित्व एवं उसकी निरंतर गति ही है। मानव परंपरा का नित्य गरिमा और महिमा स्वरूप अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था ही है। इन्हीं में भागीदारी प्रत्येक व्यक्ति में, से, के लिए दायित्व और कर्तव्य रूप में प्रमाणित होना पाया जाता है। यही प्रत्येक मानव वर्तमान में विश्वासपूर्वक जीने की कला है। - म.वि. 193-194

4.7 जीवन मूल्य

जीवन अपेक्षा को सुख, शान्ति, संतोष, आनन्द के रूप में पहचाना गया है। सुख को समाधान की अनुभूति एवं स्वीकृति के रूप में पहचाना गया है। समाधान, समृद्धि की संयुक्त अनुभूति एवं स्वीकृति शान्ति का साते और स्वरूप होना पाया जाता है। समाधान, समृद्धि, अभय (वर्तमान में विश्वास) के योगफल की अनुभूति एवं स्वीकृति को संतोष के रूप में पाया जाता है।

समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व की संयुक्त अनुभूति आनन्द के रूप में सुस्पष्ट है। जीवन आकांक्षा और मानव आकांक्षा यह परस्परता में पूरक होना पाया जाता है।

सहअस्तित्ववादी नजरिया से यह स्पष्ट होता है सुखी होने के लिए समाधान अपरिहार्य है। सुख को मानव के धर्म के रूप में पहचाना गया है। मानव ज्ञानावस्था की इकाई होने के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है। ज्ञान ही विज्ञान और विवेक के रूप में प्रमाणित होना पाया गया है। विवेक की सार्थकता लक्ष्य को पहचानने के रूप में, विज्ञान की सार्थकता को जीवन लक्ष्य मानव लक्ष्य के लिए दिशा और प्रक्रिया को स्पष्ट करने के रूप में और स्पष्ट हाने के रूप में, साथ ही प्रमाणित होने के रूप में पहचाना गया है। इसे हर व्यक्ति पहचान सकता है प्रमाणित हो सकता है। इसके लिए चेतना विकास मूल्य शिक्षा प्रस्तुत है।

सदा से मानव सुखी होने के लिए इच्छुक प्रयत्नशील रहा ही है। यत्न प्रयत्नों में सोचने समझने की आकांक्षा समाहित रही ही है। साथ में इनके फल परिणामों को आंकलित करते आया है।

यह सभी प्रक्रियाएँ मानव के सुखधर्मी होने के प्रमाण में गण्य हैं। मानव का सुख धर्मी होना सर्वमानव में दृष्टव्य है। मानव सुखधर्मी होना मानव परम्परा में, से, के लिए सौभाग्य है। क्योंकि सुखी होने के लिए व्यवहार व प्रयोग करना स्वाभाविक है। इसी क्रम में सही गलती होती रही। सही को मानव स्वीकारता आया। सहीपन को संवदेनशीलता में अनुकूलता प्रतिकूलता के रूप में पहचानते आया, यह प्रक्रिया और शोध हर मानव में होता आया।

अनुकूलता में सुख भासना दूसरा सौभाग्य रहा। क्यों कि सुख भासने के आधार पर ही सुख की निरन्तरता की अपेक्षा, कल्पना और प्रयोग होना स्वभाविक रहा।

जिसके आधार पर प्रमाणों का लोक-व्यापीकरण उदय होता आया। इस प्रकार मानव के अपने सौभाग्य को पहचानने, प्रयोजनशील होने, प्रमाणित होने और प्रमाण परम्परा बनाने की सीढ़ियाँ अपने आप से लगी है। यह सब मानव प्रवृत्ति की सहज सीढ़ी है। इस क्रम में मानव, (हर नर-नारी) अपने प्रयासों को बनाए रखना देखा जा रहा है। इसी क्रम में संवदेनशीलता के अनुकूलता के मुद्दे में पराकाष्ठा यानि व्यसन में मनमानी पर पहुँचने के उपरान्त भी सुख की निरन्तरता का रास्ता अभी तक तय हो नहीं पाया। व्यवहारात्मक जनवाद दिशा निर्धारित करने के पक्ष में प्रस्तुत है। सुख अर्थात् समाधान का अनुभव होना पहले जिक्र किया गया है।

मानव ही अनुभव योग्य इकाई है। जीवों में संवदेनाओं की स्वीकृति होना और संवदेनाओं के विरोध को नकारते हुआ देखा जाता है। मानव भी ऐसा ही करता है। संवदेनाओं से जो सुख भासने का मुद्दा है वह मानव में ही होता है। क्योंकि

जीवो में प्रतिकूलता होते हुए भी समाधान के लिए शोध-अनुसन्धान करता हुआ देखने को नहीं मिलते। इस प्रमाण से पता लगता है जीव संसार सभी प्रतिकूलता और अनुकूलता को स्वास्थ्य के अर्थ में ही पहचानता है। इसी आधार पर जीव संसार को जीने की आशा के आधार पर जीवनी क्रम में जीता हुआ पहचाना गया है। हर जीवो में जीने की आशा का होना हर मानव को बोध होता ही है।

यद्यपि जीवो में जीवन, जीने की आशा को ही प्रमाणित कर पाया है। इसके मूल में यह भी पहचान में आया है कि शरीर को जीवन मानते हुए जीते हैं। इसलिए स्वस्थता के आधार पर अनुकूलता प्रतिकूलता को पहचाना करता है। यही जीव संसार का शरीर को जीवन मानने का प्रमाण है। मानव भी या तो जीवो के सदृश्य शरीर को जीवन मानते हुए अथवा नहीं मानते हुए जीता है। इससे पर्याप्त ज्ञान न होना स्पष्ट हो गया। हर मानव सुखी होना चाहता है सुखी होने का नित्य श्रोत समाधान है। समाधान ही सुख के रूप में अनुभूत होता है। इसका मतलब यह हुआ समाधान ही सुख है।

ऐसे समाधान के मूल में समझदारी का होना अनिवार्य है। समझदारी का फलन समाधान है, समाधान का फलन सुख है।

इस क्रम में हर नर-नारी के सुखी होने का स्रोत नित्य वर्तमान है समीचीन भी है।

समीचीनता का तात्पर्य है, हमारे प्रवृत्ति के आधार पर समाधान नित्य सुलभ है क्योंकि समझदारी को प्रमाणित करने का अरमान हर नर-नारी में समाहित है।

समझदारी के फल के अनुसार समझदारी का प्रमाण हो पाता है। समझदारी का स्वरूप अपने आप में सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व दर्शन और जीवन ज्ञान का संयुक्त रूप है।

इस आधार पर मानव को जागृतिक्रम और जागृति रूप में आज की स्थिति में पहचानना बन गया है। जागृति मानव को स्वीकृत होना देखा जाता है। - ज.व. 78-82

मूलतः जीवन धर्म, सुख-शांति, संतोष-आनंद सहज प्रमाणों को जीवन क्रम से, नियम, न्याय, समाधान, सत्य ही हैं।

सम्पूर्ण अवधारणाएं मौलिकता के रूप में होना पाई जाती है। मौलिकताएं, धर्म और स्वभाव के ही सूत्र हैं। सम्पूर्ण अस्तित्व में, प्रत्येक एक, अपने “त्व” सहित व्यवस्था है, समग्र व्यवस्था में भागीदार है क्योंकि अस्तित्व में सम्पूर्ण इकाइयां (अथवा समस्त इकाइयां) सह-अस्तित्व सूत्र में सूत्रित हैं। - म.वि. 89

न्यायपूर्ण व्यवहार = सुख	मन तथा वृत्ति का निर्विरोध = सुख	नियमपूर्ण व्यवहार = सुख
सुख की निरंतरता = शान्ति	वृत्ति व चित्त का निर्विरोध = शान्ति	न्यायपूर्ण विचार = शान्ति
शान्ति की निरंतरता = संतोष	चित्त व बुद्धि का निर्विरोध = संतोष	समाधानपूर्ण (धर्मपूर्ण) इच्छा = संतोष
संतोष की निरंतरता = आनन्द	बुद्धि व आत्मा का निर्विरोध = आनन्द	सत्यपूर्ण संकल्प = आनन्द
आनन्द की निरंतरता = परमानन्द	परम सत्य रूपी सह-अस्तित्व में अनुभूति = परमानन्द। ऐसी अनुभूति ही चैतन्य प्रकृति का चरमोत्कर्ष विकास है। यही परमानन्द है।	

नियम पूर्ण व्यवसाय, न्यायपूर्ण व्यवहार एवं धर्मपूर्ण विचार = मानवीयतापूर्ण जीवन व अतिमानवीयता की ओर स्पष्ट संभावना एवं अध्ययन

मानवीयतापूर्ण जीवन व अतिमानवीयता की स्पष्ट संभावना एवं अध्ययन = निर्भम ज्ञान

निर्भम ज्ञान = विवेक सम्मत विज्ञान

विवेक व विज्ञान = बौद्धिक समाधान व भौतिक समृद्धि

भौतिक समृद्धि एवं बौद्धिक समाधान = सह-अस्तित्व - अ.द. 44-45, व्य.द. अध्याय १७

सह-अस्तित्व में जीवन मूल्य, मानव मूल्य आवर्तित होता है। प्रामाणिकता सहज विधि से जीवन मूल्य सफल होता हुआ देखा गया है। सार्वभाम व्यवस्था क्रम में मानव मूल्य सहज सार्थक होना स्पष्ट है और अखण्ड समाज में भागीदारी स्वयं समाज मूल्य यथा स्थापित मूल्य, शिष्ट मूल्य, उपयोगिता मूल्य, कला मूल्य आवर्तनशील होना पाया जाता है।
- अ.श. 136

सम्पूर्ण अर्पण-समर्पण क्रम से शिष्ट मूल्यों में वस्तु मूल्यों को, स्थापित मूल्य में शिष्ट मूल्यों को, मानव मूल्यों में स्थापित मूल्यों को, जीवन मूल्यों में मानव मूल्यों को अर्पित-समर्पित होता हुआ क्रम में देखा गया है। इसे हर व्यक्ति देख सकता है। जीवन मूल्य का स्वरूप सुख, शान्ति, संतोष और आनन्द है। यह मन और वृत्ति के सामरस्यता में सुख,

वृत्ति और चित्त में सामरस्यता का स्वरूप शांति, चित्त और बुद्धि में सामरस्यता का स्वरूप संतोष तथा बुद्धि और आत्मा में सामरस्यता का स्वरूप ही आनंद सहज नामों से जाना जाता है। अनुभवमूलक बोध को आनंद के रूप में पहचाना गया है। इसी क्रम में अनुभवमूलक क्रम में किया गया चिंतन, तुलन, सहज रूप में ही जीवन के अंतर्संबंधों में सामरस्यता फलस्वरूप आनंद, संतोष, शांति और सुख जीवन मूल्यों के रूप में वैभवित होना पाया जाता है। यही जीवन मूल्य व्यवहार में मानव लक्ष्य के रूप में समाधान, समृद्धि, अभय और सह-अस्तित्व में अनुभव सहज प्रमाण के रूप में प्रमाणित होना पाया गया है। यही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का सूत्र है। - अ.श. 192-193

उल्लेखनीय तथ्य यही है कि सार्वभौम उद्देश्य समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व है। प्रत्येक मानव का जीवन सहज उद्देश्य भी समान है यह है जीवन जागृति। हर मानव जागृतिपूर्वक ही अपने को ज्ञान, दर्शन, विज्ञान, विवेक सम्पन्नता सहित मानवीयतापूर्ण आचरण सहित जीने की कला को वरता है। इस प्रकार जागृति ही अनुभव, विचार, व्यवहार (परिवार और समाज) और व्यवस्था में जीने के स्वरूप में प्रमाणित होना पाया जाता है। - अ.श. 233

4.8 विज्ञान

(A) प्रचलित: विज्ञान एवं शिक्षा

शिक्षा में जैसे ही यांत्रिक, तकनीकी विज्ञान, आकलनात्मक शिक्षा आरंभ होती है, वैसे ही मानव संतान में प्रचलित शिक्षा को प्रबोधन पूर्वक स्मृति के आधार पर परीक्षण विधि को अपनाते हुए विद्यार्थियों को विद्वान घोषित किया जाता है। आदि काल से पुस्तक और स्मृति को दुहराना विद्वता मानी जाती रही है। अभी इस दशक में, बहुतायत लोगों में यह स्मृति विकसित हो चुकी है, नकारने के रूप में - (१) स्मृति विद्वता नहीं है। (२) पुस्तकें विद्वता नहीं है (३) विज्ञान विद्वता नहीं है। कुछ विज्ञानी इस पक्ष में है कि सम्पूर्ण विज्ञान और तकनीकी में, पारंगत होने के बाद भी, बेहतर समाज का प्रणेता न हो पाने, परिवार सहज संगीत और समाधान रूपी लय से वंचित रहने के आधार पर, विज्ञान को मानव संतुष्टि का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है - ऐसा मूल्यांकन है। इसके मूल में यह भी विश्लेषण आता है कि भौतिकी विधि से किए गए सूक्ष्म अनुसंधान के उपरान्त भी, मानव और जीवन, व्याख्या और सूत्र से रिक्त है। इसका खेद भी वैज्ञानिक, व्यक्त करते हैं और कुछ विज्ञानी यह भी कहते हैं कि जो कुछ भी विकास होना है, वह इसी विधि से होना है और सूक्ष्मतम अनुसंधानों से, जितनी भी काली दीवालें सम्मुख हैं वे दूर हो जावेंगी। सर्वेक्षण से यह पता लगता है कि विज्ञान परस्त सभी आदमी, विज्ञान से ही “प्रकृति रूपी सत्य समझ में आता है” - ऐसा दावा करते हैं।

२०० वर्ष की अवधि में ही ५०% से अधिक विज्ञानी (इतना ही नहीं) श्रेष्ठ प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थियों में से ५०% अधिक लोग, आज की स्थिति में, काली दीवारों को भांप लिए हैं। क्योंकि वैज्ञानिक प्रयोग किये जाते हैं। उससे प्राप्त फल, परिणाम को अंतिम नहीं माना जाता है। अंतिम सत्य को समझा हुआ विज्ञानी मानव के सम्मुख प्रस्तुत नहीं हुआ है। विज्ञान विधि से हटकर, अनुसंधान करने का आधार ही, न रहने की स्थिति में परम्परा सहज गति में घुल जाते हैं अथवा मिल जाते हैं अथवा दब जाते हैं। इन तीनों स्थितियों में अतृप्ति की पीड़ा बनी ही रहती है। इस कुण्ठाग्रस्त बिन्दु के उत्तर में, अस्तित्व मूलक मानव-केन्द्रित चिंतन, पूरकता उदात्तीकरण, रचना, विरचना और विकास,

संक्रमण, जागृति, प्रामाणिकता सहज सूत्रों से, पारंपरिक धाराओं से हटकर शोध करने का एक अवसर प्रदान करता है। - म.वि. 30-33

शिक्षा की विडम्बना यही है कि विज्ञान विधा से विशेषज्ञता से प्रभावित है। विशेषज्ञता किसी विधा के किसी अंश में अपने को प्रतिष्ठित करने के प्रयत्नों में कार्यरत होना पाया जाता है। पुनः उसका अंश और उसके अंश के रूप में प्रयासों का उदय देखने को मिल रहा है। फलस्वरूप विशेषज्ञता प्रयोजन विहीन काला-दीवाल के सम्मुख सभी विधाओं में आ चुके हैं। जैसे - मात्रा विज्ञान अस्थिरता-अनिश्चयता के काला दीवाल के सम्मुख है। इसके विशेषज्ञ अपना मूल्यांकन कराने में निरीह देखा गया है। दूसरा वंशानुषंगीय विज्ञान यह मानव को अध्ययन कराने में विश्लेषित करने में सर्वथा असमर्थ होकर काला-दीवाल के सम्मुख होना देखा गया। तीसरा सापेक्षवाद अपने कल्पना को अज्ञात घटना के साथ वर्णित करने के रूप में विशेषज्ञों को देखा गया है। इन तीनों विधा के लिये अथवा इन विधाओं को पहचानने के लिये ऊर्जा की आवश्यकता को विज्ञान संसार में स्वीकारा गया है। यह अपने से गति ऊर्जा कहना आरम्भ करते हैं यथा चुम्बकीय धारा को विद्युत गति के रूप में परिणत करना इस गति को और गति विधा में चलकर तरंग का नाम लेते हैं। ऐसी तरंग वस्तु है या अवस्तु है इस तथ्य को उद्धाटित करने के लिये अभी भी प्रयोग करते जा रहे हैं।

- आ.व. 50-51

विवेक की रौशनी में विज्ञान को मूल्यांकन करने की स्थिति में अभी तक जो भी विज्ञान का बरवान है वह मानवता विरोधी होना पाया जाता है क्योंकि विज्ञान सूक्ष्मतम अध्ययन के पश्चात अस्तित्व में जो कुछ है भी है पूर्णतः अनिश्चित, अस्थिर बताया जाता है। जबकि अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित विधि से विवेक पूर्वक परिशीलन करने पर पता चला है अस्तित्व स्थिर है विकास और जागृति निश्चित है। अतएव विज्ञान, विवेक सम्मत होने की आवश्यकता विधि में, व्यवहार प्रमाणों में प्रमाणित होना आवश्यक है।

सम्पूर्ण विज्ञान विधि से सकारात्मक पक्ष में दूर संचार उपलब्धि है। आहार, आवास, अलंकार सामग्रियों में संयोजन क्रियान्वयन कार्यकलाप में भी गति प्रमाणित हुई है। जैसे स्वचालित यंत्रों से उत्पादन। अतएव विज्ञान विवेक सम्मत होने की स्थिति में सम्पूर्ण दूरसंचार मानवीयता के पोषण संरक्षण में होना पाया जाता है। सर्व मानव में मानवीयता स्वीकार है। - म.वि. 206

(B) सहअस्तित्ववादी विज्ञान का दृष्टि

सभी वस्तुयें अपने सूक्ष्म रूप में, परमाणु के रूप में मूल मात्रा है। रचना के रूप में बड़े-छोटे इकाईयों के रूप में हमें उपलब्ध है, खनिज के रूप में उपलब्ध है। इन उपलब्धि के साथ हमारे भविष्य की डोरी बंधी रहती है। आज हमने जो कुछ भी आचरण किया, कार्य-व्यवहार किया, अव्यवस्था में आचरण किया, इसका फल परिणाम आज न हो, वर्षों में भी हो, हमें भोगना ही पड़ेगा। इस प्रयत्न से यह भी समझ में आता है कि वर्तमान में हमें सदा-सदा के लिए समझदार होना ही है। समझदार रहने के लिए आवश्यक है कि समझदारी परंपरा को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील भी रहना है। यही मानव की स्थिति-गति का मतलब है।

जैसा मानव अपने शक्ति को, बल को प्रभावित कर लोहे का परीक्षण करता है, तभी लोहे के प्रति विश्वास हो पाता है। इसमें मानव काफी सफल हो चुका है। बहुत सारी वस्तुओं के साथ परीक्षण-निरीक्षण किया जा चुका है। निश्चय को पाया गया है, इस निश्चयता के आधार पर अनेक प्रौद्योगिकी कार्यशील रहना देखा जा रहा है। इन्हीं में किसी प्रौद्योगिकी में भागीदारी करने की इच्छा से ही तकनीकी शिक्षा को हम आचरण करते हैं। इसमें सार्थकता भी दिखायी पड़ती है। इसका प्रमाण अनेक लोग प्रौद्योगिकी में भागीदारी करते हैं। प्रौद्योगिकी विधा में अनेक लोग सफल होते हुए भी मनः स्वस्थता में प्रमाणित होना अभी तक बना नहीं। मनःस्वस्थता के विधा में प्रमाणित होने के लिए मानव को पहचानना प्रधान हो जाता है। मानव को पहचाने बिना मनः स्वस्थता का प्रमाण होता नहीं है। मानव का पहचानना समाधान, समृद्धि पूर्वक जीता हुआ, न्याय को प्रमाणित करने से ही होता है। न्याय अपने में संबंध मूल्य, मूल्यांकन, उभय तृप्ति के रूप में स्पष्ट होना पाया जाता है।

स्वयं मानवीयता पूर्ण आचरण किये बिना दूसरे मानव में मानवीय आचरण को पहचानना बना ही नहीं। इसका प्रयोग इस प्रकार से किया जा सकता है। एक व्यक्ति जो मानवीय आचरण करता है, और दूसरा भी करता है, इनकी परस्परता में कार्य व्यवहार को आंकलित किया जाय और प्रयोग अनुसंधान को भी आंकलित किया जाय तो मानवीय आचरण का मूल्यांकन परस्परता में हो पाता है, मूल्यांकन परस्परता में ही होगा स्पष्ट हो जाता है। इसी क्रम में आगे एक व्यक्ति मानवीय आचरण करता है, दूसरा करता नहीं, उस स्थिति में करने वाले को स्वयं में विश्वास रहता है, न करने वाले को स्वयं में विश्वास रहता नहीं। तीसरी स्थिति यही है – दोनों मानवीय आचरण करते नहीं हैं, तब व्यसनों के संवाद में, व्यसनों में सहमत होने की बात आती है, अपराधिक कार्य, अपराधिक विचारों में कुछ-कुछ सहमत होने और असहमत होने वाली स्थिति आती है, इस प्रकार जाँचने से कोई निष्कर्ष निकलता नहीं है।

उक्त घटनाओं से हमें यह पता लगता है कि हर जागृत मानव अपने में व्यवस्था रूपी आचरण पूर्वक ही अपनी पहचान बनाये रखता है। यही यथास्थिति का निश्चयन है। यथास्थितियों का निश्चयन विधि से हम यह अध्ययन कर चुके हैं। पदार्थावस्था का निश्चयन, प्राणावस्था, जीवावस्था का निश्चयन विधियाँ विश्वास योग्य हो चुकी हैं। मानव अभी तक इन तीनों अवस्थाओं में विश्वास किया है, उसी के आधार पर अपने ढंग से सफलता भी पाया है। अपने ढंग का मतलब संग्रह सुविधा के अर्थ में सफलता को प्राप्त कर चुका है। भले ही सबको संग्रह सुविधा न मिला हो। इस प्रकार हम मानव अपने आवश्यकता को सुदृढ़ रूप में, परिपक्वता विधि से, प्रमाणित करने के क्रम में ही अखण्ड समाज तक पहुँचने की संभावना है। अखण्ड समाज सूत्र सार्थक होने के उपरान्त ही सार्वभौम व्यवस्था व्याख्यायित होता है। यही विज्ञान और विवेक का सार्थक कारगर स्वरूप होगी। इस क्रम में हमारे ध्यान देने का मुद्दा मानव, मानवत्व, मानवीयता पूर्ण आचरण, अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था सूत्र, व्याख्या का अध्ययन है। इन अध्ययन कार्यों में एक प्रधान मुद्दा यह है हर मानव का क्या प्रयोजन है। हर मानव का प्रयोजन यही है आचरण में सुदृढ़ता। इसके अनंतर प्रयोजन है, व्यवस्था में प्रमाण आचरण का। इसके बाद प्रयोजन की अंतिम ऊँचाई है सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी।

अभी मानव सबको पहचानते हुए मानव को पहचानने की विधा में सर्वाधिक पिछड़ा हुआ है। इसकी भरपायी ज्ञान विज्ञान विवेक पूर्ण कार्य व्यवहार से कर सकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि तीनों अवस्था की इकाईयों में अपने त्व सहित व्यवस्था एवं समग्र व्यवस्था में भागीदारी प्रमाणित हो चुकी है। इसी के फलन में मानव मनाकार को साकार करने में सफल हुआ। लोहा अपने व्यवस्था में अचूक रहना, मिट्टी, पत्थर, मणि, धातु सब अपने-अपने आचरण में

अचूक रहते ही हैं। इसी आधार पर मानव इनके साथ अपने सामाजिक महत्वाकांक्षाओं संबंधी प्रौद्योगिकी व्यवस्था को अथवा उत्पादन को समृद्ध बना पाया। यदि ये सब मानव जैसा परस्पर झगड़ालू, मतभेद, विरोध, विद्रोह करने लगते तब क्या होता ? यदि इसी प्रकार अन्य प्रकृति भी अपने आचरण में स्थिरता निश्चयता नहीं रखती तो क्या होता ? किसी भी मानव का मनाकार को साकार करने की संभावना नहीं रहती। क्रमागत विधि से तीनों अवस्थायें अपनी-अपनी यथास्थिति के अनुसार निश्चित आचरण के रूप में प्रकट रहना मानव के लिए सार्थक रूप बनी। परन्तु, मानव अन्य प्रकृति के साथ जीकर सार्थक होने के लिए, मनःस्वस्थता को प्रमाणित कर ही नहीं पाया। प्रमाणित किये बिना मानव का मनुष्येतर सभी प्रकृति के साथ पूरक होना संभव है ही नहीं। इतना ही नहीं, मानव मानव के साथ पूरक हुए बिना अन्य प्रकृति के साथ पूरक होना बनता ही नहीं।

सहअस्तित्ववादी नजरिये से विज्ञान की क्रिया, प्रक्रिया, सार्थकता सुनिश्चित होती है क्योंकि सहअस्तित्ववादी विधि से विज्ञान का प्रयोजन मानव लक्ष्य सार्थक होने के लिए दिशा निर्धारित करना है। मानव का लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व होने के कारण यह सर्व मानव में सार्थक होने की दिशा और शिक्षण के तौर तरीकों को निर्धारित करना ही विज्ञान और विवेक का प्रयोजन है।

ऐसे लक्ष्य निर्धारित करने की विधि से विज्ञान का महत्व है। इस विधि से विवेक और विज्ञान का नजरिया और कार्य दोनों स्पष्ट हुआ। यह इस आशय को भी स्पष्ट करता है कि मानव का आचरण निश्चित होने के पक्ष में –

- विज्ञान, विवेक के अर्थ में सार्थक हो जाये।
- विवेक और विज्ञान, ज्ञान के अर्थ में सार्थक हो जाये।
- ज्ञान, विज्ञान और विवेक, सहअस्तित्व के अर्थ में सार्थक हो जाये।
- ज्ञान सहअस्तित्व के अर्थ में हो जाये।

यही अनुभवमूलक सहअस्तित्ववादी ज्ञान, विज्ञान, विवेक का अर्थ है। – क.द. 122–126

विज्ञान – परिभाषा

- लक्ष्य के लिए दिशा निर्धारित करना; कालवादी, क्रियावादी, निर्णयवादी सूत्रों से दिशा निर्धारित करना; जागृति सहज प्रमाण परंपरा सर्वतोमुखी समाधान संपन्नता।
- कालवादी, क्रियावादी, निर्णयवादी क्रिया समुच्चय, विश्लेषण क्रिया। कालवादी ज्ञान, क्रियावादी ज्ञान एवं निर्णयवादी ज्ञान। प.स. १७६

‘विज्ञान’ शब्द उपयोग सन्दर्भ

1. “रहस्यों का निवारण अध्यात्म विज्ञान, बौद्धिक विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान के एक-सूत्रात्मक अध्ययन से ही सम्भव है।

- प्रधानतः कारणानुक्रम से अध्यात्म विज्ञान का, गुणानुक्रम न्याय (*विधि) से बौद्धिक विज्ञान का और गणितानुक्रम न्याय से भौतिक विज्ञान का अनुसंधान, अविष्कार और उपलब्धियाँ है। “-व्य.द. १९७८, अध्याय १२”
- 2. “भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, व्यवस्था विज्ञान और व्यवहार विज्ञान के मूल रूप में समाधान ही अक्षय स्रोत अक्षय त्राण और अक्षय प्राण है।” भ.व. ८६
 - अध्यात्म विज्ञान – नित्य, सत्य, शुद्ध, बुद्ध सत्ता में अनुभूति योग्य क्षमता हेतु प्रयुक्त प्रक्रिया प्रणाली। -प.स. 8
- 3. ‘विवेक का तात्पर्य प्रयोजनों से है। विज्ञान का तात्पर्य विश्लेषणों से है। सामान्य रूप में मनुष्य प्रयोजन परिवार, समाज, व्यवस्था, शिक्षा, संस्कार, संविधान, संस्कृति, सभ्यता, जीव-वनस्पति, पदार्थ, ग्रह गोल, सह-अस्तित्व इन सबका प्रयोजन सम्मत विश्लेषण, विश्लेषण सम्मत प्रयोजनों को जानना-मानना विद्वता की अभिव्यक्ति है’। म.वि. 115

विज्ञान का तात्पर्य – कालवादी, क्रियावादी, निर्णयवादी ज्ञान से है।

“काल” का तात्पर्य क्रिया की अवधि से है। जिस क्रिया की अवधि से सारे काल को पहचाना जाता है, ऐसी क्रियाओं को भुलावा देकर, जब हम काल और काल विखंडन को पहचानने जाते हैं, तब भ्रमित होना, अवश्यंभावी है। काल के साथ क्रिया का, क्रिया के साथ काल का संतुलन ही विभक्त काल ज्ञान की सार्थकता है।

क्रियावादी ज्ञान, मूलतः इकाई में ऊर्जा संपन्नता बनाम (या) बल सम्पन्नता का साक्षात्कार करना है। प्रत्येक क्रिया के मूल में बल और शक्ति की अविभाज्यता दिखाई पड़ती है। शक्तियों का प्रकाशन, बल से संपन्न होने पर पाया जाता है। इस प्रकार बलों और शक्तियों की अविभाज्यता स्पष्ट है। बल और शक्ति की संपूर्णता के साथ ही प्रत्येक एक, वैभक्त है। इसका मूल कारण अथवा मूल तथ्य सत्तामयता में सम्पूर्ण इकाईयों का संपृक्त रहना ही है। इस प्रकार क्रिया के मूल में विभक्त वस्तु और अविभक्त वस्तु (सत्ता) में सह-अस्तित्व ही, ऊर्जा सम्पन्नता की सहज, स्थिति, गति स्रोत है। अविभक्त वस्तु (सत्ता) ही, मूलतः ऊर्जा है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। ऐसी नित्य सहज, पूर्ण और व्यापक ऊर्जा में, विभक्त रूप में संपृक्त अनंत प्रकृति, परमाणु अंशों से चलकर, महत् पिण्ड धरती, अनेक धरती ऊर्जा सम्पन्न रहती है। उन उन की क्रियाशीलता निरंतर, वर्तमान में प्रमाणित है ही। इसी के साथ साथ सम्पूर्ण प्रकृति, सत्ता में संतुलित – नियंत्रित रहती है, यह भी स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। अस्तित्व में परमाणु अंशों के नियंत्रित रहने का साक्ष्य, परमाणु के रूप में गठित रहने के रूप में है। परमाणु संतुलित रहने का साक्ष्य, उसके निश्चित आचरण और अणु रचना के रूप में द्रष्टव्य है। अणुएं संतुलित रहने का साक्ष्य, भौतिक रचनाओं के रूप में द्रष्टव्य है। भौतिक रचनाएं संतुलित रहने का साक्ष्य रासायनिक क्रियाकलापों और रचनाओं के रूप में, द्रष्टव्य हैं।

रासायनिक द्रव्यों के संतुलन का साक्ष्य, जीवन जागृति तथा वंश परंपराओं में व्यक्त और साक्षित होने योग्य शरीर रचनाओं में स्पष्ट है। जीवन का संतुलन वंशानुषंगीय और जागृति विधि में प्रवर्तित और प्रमाणित होने के रूप में द्रष्टव्य है। इसी क्रम में मानव का संतुलन अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था सहज समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व पूर्ण पद्धति, नीति और प्रणालियों के रूप में समीचीन है।

क्रिया का सम्पूर्ण स्वरूप, विभक्त प्रकृति के कार्य-कलापों के रूप में देखा जाता है। निर्णयों का स्वरूप प्रत्येक एक में प्रमाणित होने वाले नियंत्रण, संतुलन, पूरकता, विकास, परमाणु में, रचनाओं में उदात्तीकरण और रचना अर्थात् रासायनिक रचना; विकास और संक्रमण; संक्रमण और जीवनी-क्रम; जीवनी क्रम, जीवन जागृति क्रम, जागृति और जीने का कार्यक्रम; जीने का कार्यक्रम और व्यवस्था; व्यवस्था और समाज; व्यवस्था और जागृति; जागृति और संचेतना (जानना, मानना, पहचानना और निर्वाह करने का क्रिया कलाप) सहित; समाधान, समृद्धि, अभय एवं सह-अस्तित्व को प्रमाणित करने की शिक्षा परम्परा हो। इसके लिए आवश्यकीय सभी यंत्रों सहित प्रयोग परम्परा को पहचानने, निर्वाह करने के रूप में प्रमाणित करना है। इस प्रकार विज्ञान पद्धति, प्रयोजनों की पुष्टि है। - म.वि. 22-28

ज्ञान का तात्पर्य जानने-मानने-पहचानने-निर्वाह करने से है। विज्ञान का तात्पर्य तर्कसंगत विधि से ज्ञान को प्रवाहित करने का विचार है। तात्त्विक विधि से-कालवादी, क्रियावादी, निर्णयवादी (प्रमाणित और परिमाणित करने वाला) विचार विधि ही विज्ञान है। - अ.श. 163

विवेक सम्मत विज्ञान, विज्ञान सम्मत विवेक

यह पहले से विदित हो चुकी है कि विवेक का प्रयोजन लक्ष्य को पहचानने और निर्धारित करने में और विज्ञान का तात्पर्य दिशा निर्धारित करने पहचानने में होना पाया गया है। फलस्वरूप व्यवहार और कार्य इन दोनों में सहअस्तित्व प्रमाणित हो जाता है। सहअस्तित्व को प्रमाणित होने के क्रम में समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व प्रमाणित होता है। फलस्वरूप परिवारमूलक स्वराज्य विधि से हर नर-नारी अपने सौभाग्य को प्रमाणित कर देना सहज है।

विज्ञान विधि से काल के साथ क्रिया का, क्रिया के साथ काल को निर्धारित करने की एक सहज प्रणाली बन जाती है। क्योंकि विश्लेषण विधि से सम्पूर्ण प्रकार का वस्तु ज्ञान हुआ ही रहता है। वस्तु ज्ञान के साथ संयोजन ज्ञान हुआ रहता है। संयोजन ज्ञान के साथ परिणाम एवं प्रयोजन ज्ञान हुआ रहता है। इन सभी आधारों के साथ निर्णय होना सहज रहता है। इसकी औचित्यता को लक्ष्य के आधार पर परिशीलन करना विवेक विधि से सम्पन्न हो जाता है। विवेक विधि का उदय सहअस्तित्व ज्ञान से सम्पन्न हुआ रहता है। विवेक विधि से सहअस्तित्व का नजरिया सुस्पष्ट रहता है। सहअस्तित्व के नजरिया में समाधान, समृद्धि अभयता का स्वरूप समायो रहता है। अतएव इन लक्ष्यों के अर्थ में संश्लेषण होना एक स्वाभाविक क्रिया है। इसी के चलते लक्ष्य सम्मत दिशा निर्धारित हो जाती है। ऐसे निर्णयों के आधार पर योजना, कार्य योजना स्वीकार होती है। ऐसे स्वीकारने के आधार पर प्रतिबद्धता में निष्ठा होना पाया जाता है। इस विधि से हम जीकर प्रमाणित होने की स्थिति में पहुँचते हैं। इसकी आवश्यकता, जनसंवाद, परामर्श एक आवश्यकीय कार्यकलाप है। - ज.व. 100-101

4.9 मानवीयता सहज प्रमाण

“मानवीयता” व्यवहार में प्रमाणित होने का तात्पर्य यही है कि –

1. हम जीवन ज्ञान में पारंगत रहेंगे। स्वयं के प्रति विश्वास करेंगे श्रेष्ठता के प्रति सम्मान करेंगे।
2. अस्तित्व दर्शन में निर्भ्रम रहेंगे।
3. स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष, दयापूर्ण कार्य-व्यवहार करेंगे।
4. तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग एवं सुरक्षा करेंगे।
5. संबंधों को पहचानेंगे, मूल्यों का निर्वाह करेंगे, मूल्यांकन करेंगे। – भ.व. 121

(इस ढंग से) मानवीयता पूर्ण आचरण परम आचरण है अथवा सम्यक आचरण है। यह आचरण मानवत्व का सूत्र और व्याख्या है क्योंकि अस्तित्व में प्रत्येक एक, अपने “त्व” सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है। इस क्रमानुगत विधि से मानव, “मानवत्व” सहित व्यवस्था है, यह प्रमाणित होता है।

मानवीयता का स्वरूप – मानवीय आचरण है जो मूल्य, चरित्र, नैतिकता के रूप में प्रमाणित होता है। कार्य रूप में स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष, दया पूर्ण कार्य व्यवहार के रूप में देखा जाता है। यह मानवीयता पूर्ण चरित्र के रूप में प्रमाणित होता है। मानवीयता पूर्ण आचरण में मूल्यों का स्वरूप जीवन मूल्य, मानव मूल्य, स्थापित मूल्यों की अनुभूति एवं शिष्ट मूल्यों की अभिव्यक्ति ही है।

मानवीयता पूर्ण आचरण में नीति का स्वरूप तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग और सुरक्षा के रूप में नैतिकता प्रमाणित होता है। प्रत्येक मानव में, तन, मन, धन रूपी अर्थ, एक दूसरे के पूरक रूप में दिखाई पड़ते हैं। – म.वि. 28

मानव जागृति पूर्वक (अर्थात् जानने, मानने-पहचानने, निर्वाह करने के संगीत क्रम में) अस्तित्व में चार अवस्थाओं में से “त्व” सहित व्यवस्था को पहचानने के क्रम में है। जैसे पदार्थावस्था में-

- लोहत्व से लोहा, स्वर्णत्व से स्वर्ण, मणित्व से मणियां, मृदात्व से मिट्टी, पाषाणत्व से पाषाण (पत्थर) आदि को पहचाना जाता है। मानव मूल्यांकन करता है।
- दूबत्व से दूब, आमत्व से आम, नीमत्व से नीम, सालित्व से धान, बिल्वत्व से बेल, गोधोमत्व से गेहूँ, आदि को प्राणावस्था में, उन उनके “त्व” सहित व्यवस्था से पहचाना जाता है। मौलिकताएं मूलतः मूल्य ही है।
- जीवावस्था में गौत्व से गाय, व्याध्रत्व से व्याध्र (शेर), मार्जारत्व से मार्जार (बिल्ली); श्वानत्व से श्वान, सर्पत्व से सर्प, मेषत्व से बकरी आदि जीवों को, उन उन के “त्व” सहित व्यवस्था कार्य में पहचाना जाता है।
- ज्ञानावस्था में मानव अपने ‘त्व’ सहित व्यवस्था है। व्यवस्था में भागीदारी सहित “मानवत्व” का प्रमाण प्रस्तुत करना, अभी भी परम्परा रूप में साक्षित होने की प्रतीक्षा बनी हुई है। सम्पूर्ण मानवत्व का सूत्र नियम, न्याय, समाधान (धर्म) और सत्य ही है। नियम, प्राकृतिक, सामाजिक और बौद्धिक नियमों के रूप में अध्ययन गम्य है। न्याय के रूप में ही मानव – परम्परा में सम्बन्ध, मूल्य, मूल्यांकन की सामरस्यता के आधार पर, मानव प्रमाणित होता है।

इसे प्रत्येक मानव-व्यवहार में प्रमाणित करना संभव है। - म.वि. 89-90

प्रत्येक मानव में जीवन शक्तियाँ अक्षय हैं, क्योंकि आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा और प्रमाण को कितना भी परावर्तित करें और परावर्तन के लिए यथावत् शक्तियाँ उर्मित रहता हुआ देखने को मिलता है। उर्मित रहने का तात्पर्य उदयशील रहने से है। उदयशीलता का तात्पर्य निरंतर उदितोदित रहने से है। उदितोदित का तात्पर्य नित्य वर्तमानता से है। इस प्रकार प्रत्येक मानव में जीवनशक्तियाँ और बल नित्य वर्तमान होना स्वाभाविक है। शरीर यात्रा के पहले भी जीवन यथावत् रहता ही है। शरीर यात्रा के अनन्तर जीवन रहता ही है। जीवन सहज रचना कार्य के सम्बन्ध में अध्ययन सहज विधि से स्पष्ट की जा चुकी है। यह सूत्र अस्तित्व न तो घटती न तो बढ़ती- न ही पुरानी होती है। यह अस्तित्व सहज अनन्त वस्तुओं में व्यापकता, सहज सह-अस्तित्व के आधार पर स्पष्ट है। अस्तित्व में चारों अवस्थाएं नियति सहज अभिव्यक्ति हैं। नियति सहज कृति का तात्पर्य उपयोगिता एवं पूरकता और विकास जागृति सहज अभिव्यक्ति से है। सह-अस्तित्व स्वयं क्रमबद्ध प्रणाली होने के कारण सम्पूर्ण घटना और प्रयोजन पूर्व घटना-प्रयोजन से जुड़ी हुई होते हैं। फलस्वरूप मूल रूप से गुंथी हुई, जुड़ी हुई, स्पष्ट हो जाते हैं। मूल रूप सह-अस्तित्व ही है। जो नित्य वर्तमान ही है। वर्तमान त्रिकालाबाध सत्य है। परम सत्य रूपी वर्तमान में प्रमाणित होना ही सत्य का तात्पर्य है। वर्तमान स्वयं सह-अस्तित्व और उसकी निरंतरता होना देखने को मिलता है।

मानव भी अस्तित्व में अविभाज्य वस्तु होते हुए दृष्टापद प्रतिष्ठावश जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने की संपदा सम्पन्न है। इसलिए सत्य में राहत पाना मानव का अभीप्सा बनी हुई है। अभीप्सा का तात्पर्य अभ्युदय पूर्ण इच्छा से है। अभ्युदय का तात्पर्य सर्वतोमुखी समाधान व उसकी निरंतरता से है। सर्वतोमुखी समाधान सह-अस्तित्व सहज वर्तमान में मानव का दृष्टा, कर्ता व भोक्ता पद को प्रमाणित करने से हैं। इस प्रकार मानव अपने दृष्टा पद प्रतिष्ठा सहज रूप से ही मूल्यांकन कार्य को संपादित कर तृप्ति को पाता है। - अ.द. 147

अध्याय 5.0: परिवार व्यवस्था में जीना

5.1 विगत का विकल्प

पूर्वावर्ती आदर्शवादी और भौतिकवादी विचारों के आधार पर सभी शक्ति-केंद्रित शासन अवधारणाएँ परिवार के साथ सूत्रित होना संभव नहीं हो पाई। हर परिवार में कुछ संख्यात्मक व्यक्तियों को और उनके परस्परता में सेवा, आज्ञा पालन, वचनबद्धता को पालन करता हुआ, निर्वाह किया हुआ भी उल्लेखित है, दृष्टव्य है। इनमें श्रेष्ठता की ऊँचाइयाँ भी उल्लेखों में दिखाई पड़ती हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से किसी आदर्श का गति अनेक नहीं हो पायी। यही बिन्दु में हम और एक तथ्य पर नजर डाल सकते हैं। बहुतायत रूप में अच्छे आदमी हुए हैं और अच्छी परम्परा नहीं हो पायी। क्योंकि जबसे मानव समुदायों में राज्य और धर्म की दावा समायी है तब से अभी तक शक्ति केंद्रित शासन ही रहा है। इसकी गवाहियाँ धर्म-संविधान और राज्य संविधान ही हैं। ऐसे धर्म और राज्य संविधान की मंशा के बारे में हम पहले से स्पष्ट हो चुके हैं।

इन दोनों प्रकार संविधानों के प्रभावित रहते भय और प्रलोभन का ही प्रचार होना समीचीन प्रवर्तन रहा है। कला, साहित्य, शास्त्र, विचार, दर्शन सभी भय और प्रलोभन से भरे पड़े हैं अथवा इसी के परस्त होकर बैठ गए हैं। इन स्मरणों के साथ साथ उल्लेखनीय तथ्य इतना ही है कि इस धरती पर स्थित मानव परंपरा में भय और प्रलोभन के रहते, इस धरती का संतुलन-ज्ञान सम्पन्न होना, मानव द्वेष विहीन अथवा राग द्वेष विहीन परिवार का होना, अखण्ड समाज होना, सार्वभौम व्यवस्था होना सर्वथा संभव नहीं है। इसके स्थान पर इसी के पीछे विद्वता का परिकल्पना ज्ञान-रसायन, कर्मों का दुहाई, पाप-पुण्य का नारा ही हाथ लगा रहेगा अथवा सभी मानव मन में घर किया रहेगा। फलस्वरूप शुभ के स्थान पर अशुभ घटनाएँ दुहराते ही रहेगा। इस ढंग से परम्परा भ्रमित रहने के आधार पर मानव अपने में से जागृत होने का रास्ता समाप्त प्राय होता है। यह सब स्थितियाँ रहते हुए भी कोई न कोई मानव चिंतन को आगे बढ़ाने, विकल्प को प्रस्तुत करने का यत्न-प्रयत्न करता है। इसका प्रमाण यही है आदर्शवाद का विकल्प भौतिकवाद के रूप में आयी। आदर्शवाद और भौतिकवाद का मूल तत्व व्यवस्था के रूप में शक्ति केंद्रित शासन ही रहा है।

अतएव इन दोनों के विकल्प के रूप में अस्तित्वमूलक मानव केंद्रित चिंतन ही सह-अस्तित्ववादी, सर्वतोमुखी समाधानपूर्ण व्यवस्था को अध्ययनगम्य होने के लिए प्रस्तुत है और मानवीयतापूर्ण आचार संहिता रूपी संविधान को समाधान केंद्रित व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

5.2 मानवीय परिवार – परिचय

‘परिवार मानव’ स्वायत्त मानवों का सीमित संख्या है जो परस्पर सम्बन्धों को पहचानते हैं, मूल्यों का निर्वाह करते हैं, मूल्यांकन करते हैं उभयतृप्ति पाते हैं और परिवार सहज आवश्यकता के अनुसार उत्पादन कार्य को अपनाए रहते हैं, ऐसे उत्पादन कार्य को सफल, सार्थक बनाने के लिए आवश्यकता से अधिक पाने के लिए सभी पूरक रहते हैं। यही

परिवार व्यवहार और परिवार कार्य को स्पष्टतया प्रमाणित करते हैं। परिवार में दस समझदार का होना आवश्यक है। यही वैभव अखंड समाज अथवा विश्व परिवार के स्वरूप में भी इतना ही व्यवहार और इतने ही कार्य रूप में होना पाया जाता है। इसीलिए परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था का नाम दिया है। - अ.श. 244-245

स्वायत्त मानव ही अर्थात् स्वायत्त नर-नारी ही परिवार मानव के रूप में प्रमाणित होते हैं। परिवार का परिभाषा में वर्तमान होना ही स्वायत्त मानव का प्रमाण है। मानवीय शिक्षा-संस्कारपूर्वक ही हर विद्यार्थी स्वायत्तता सम्पन्न होता है। मानवीय शिक्षा का परिभाषा भी यही है। जब यह परिवार परिभाषा में प्रमाणित होते हैं तब सहज ही एक-दूसरे के साथ सम्बन्धों को पहचानते हैं, मूल्यों का निर्वाह करते हैं, परिवार सहज आवश्यकता से अधिक उत्पादन करते हैं और श्रम मूल्य का भी मूल्यांकन करते हैं। सम्बन्ध निर्वाह, मूल्य निर्वाह का मूल्यांकन करते हैं, उभयतृप्ति पाते हैं। यही परिवार मानव का प्रमाण है। यही परिवार मानव के रूप में अनेक परिवार सभा यथा परिवार समूह सभा, ग्राम परिवार सभा के रूप में संतुलन निर्वाचन विधि से कार्यरत होना पाया जाता है। परिवार मानव, परिवार समूह, ग्राम परिवार और विश्व परिवारों तक सभी परिवार सभा क्रम से, (क्रम से का तात्पर्य विशालता और समग्रता की ओर) परिवार समृद्धि सम्पन्नता का व सभा विधि व्यवस्था का धारक-वाहक रूप में समाज और व्यवस्था को अभिव्यक्त करते हैं। हर परिवार, परिवार समूह, ग्राम परिवार, ग्राम परिवार समूह विधि से विश्व परिवार तक संतुलन का स्वरूप मानवीय शिक्षा-संस्कार न्याय, उत्पादन, विनिमय, स्वास्थ्य संयम, मानवीय शिक्षा सुलभता पूर्वक संबंध में सहज स्वायत्त रहना पाया जाता है। - स.श. 91-92

जागृतिगामी अध्ययन प्रणाली से हर व्यक्ति स्वायत्त होता है। स्वायत्तता का स्वरूप स्वयं के प्रति विश्वास, श्रेष्ठता का सम्मान, प्रतिभा और व्यक्तित्व में संतुलन, व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय (उत्पादन) में स्वावलंबी होना देखा गया है। ऐसे स्वायत्त मानव ही परिवार मानव के रूप में जीने देकर जीने में समर्थ होता है। यही अद्भुत सामर्थ्यवश सर्वतोमुखी समाधान और समृद्धि वैभवित होता है। यही हर स्वायत्त परिवार मानव सफलता का प्रमाण है और सर्वशुभ का भी प्रमाण है। अस्तु, मानव सत्य दृष्टि पूर्वक, धर्म दृष्टि पूर्वक, न्याय दृष्टि सहज स्वायत्त होता है और स्वायत्तता का मूल्यांकन कर पाता है। इसीलिये परिवार मानव का सार्वभौमता (परिवार मानवता में, से, के लिये सर्वमानव में स्वीकृति) प्रवाहित होना सहज है। - आ.व. 23

5.3 परिवार में 'व्यवहार'

एक से अधिक मानव की परस्परता में लक्ष्य सम्पन्न होने के अर्थ में किया गया सभी क्रिया, प्रक्रिया, वाद, संवाद ये सब व्यवहार नाम है। व्यवहार सदा-सदा से होता ही आया है। भले लक्ष्य ओझिल क्यों न हो। अभी तक मानव को अपनी परम्परा में लक्ष्य की अपेक्षा तो रही है। संज्ञाननीयता सहित प्रक्रिया, प्रणाली, पद्धतियाँ सार्थक नहीं हो पाई। क्योंकि अभी तक जितनी भी मानव परम्परा हुई है ये सब संवेदनशीलता की सीमा में दिखती है। जबकि मानव की आकाँक्षाये संज्ञानशीलता से ही निबद्ध हैं। निबद्ध रहने का तात्पर्य सहज विधि से सहअस्तित्व विधि से अनुबंधित है। जैसे सुख हर मानव चाहता है ऐसे सुख को संवेदनाओं में खोजता है यह कैसे पूरा हो जबकि यह संज्ञानशीलता का वैभव है। समाधान के अनुभव में सुख होना स्पष्ट हो चुका है। समाधान अपने स्वरूप में समझदारी की अभिव्यक्ति

होना भी प्रतिपादित हो चुकी है। समझदारी का मूल वस्तु सहअस्तित्व दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान ही है। इस ढंग से संज्ञानशीलता के आधार पर समझना हम पहचान चुके हैं। इसलिए संज्ञानशीलता अपने में संवेदनाओं को पुष्ट करते हुए नियंत्रित रखना बन जाता है। इस विधि से यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि संज्ञानशीलता पूर्वक ही संवेदनाएँ नियंत्रित होती हैं। संज्ञानशीलता पूर्वक संवेदनाएँ नियंत्रित रहती हैं इस तथ्य की पुष्टि सम्बंधों को पहचानने, निर्वाह करने के रूप में पहचानते हैं। परस्पर मूल्यांकन पूर्वक उभयतृप्ति के रूप में पहचानते हैं। सम्बंध, मूल्य, मूल्यांकन, उभय तृप्ति पूर्वक संवेदनाओं में नियंत्रण पाते हैं। फलस्वरूप स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष, दया पूर्ण कार्य व्यवहार पूर्वक नियंत्रण को पहचानते हैं।

- तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग, सुरक्षा पूर्वक संवेदनशीलता के नियंत्रण को पहचानते हैं।
- समाधान, समृद्धिपूर्वक जीने के क्रम में नियंत्रण समझ में आता है।
- वर्तमान में विश्वास, सहअस्तित्व प्रमाण विधि से संवेदनाएँ नियंत्रित होना पायी जाती है।
- अखंड समाज विधि से संवेदनाएँ नियंत्रित होना पायी जाती है।
- सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी करने के रूप में संवेदनाओं का नियंत्रित होना पाया जाता है।
- परिवार व्यवस्था में भागीदारी करते हुए संवेदनाओं का नियमित होना पाते हैं।

इस विधि से जागृत परम्परा को प्रमाणित करना बन जाता है।

व्यवहार मानव की स्वयं स्फूर्त प्रवृत्ति है। जीव संसार की प्रवृत्ति कार्य है। सभी जीव वंशानुषंगी विधि से कार्य प्रवृत्ति में है। इसे हर व्यक्ति परीक्षण कर सकता है। क्योंकि गाय की संतान गाय जैसे कार्यों में प्रवृत्त रहती है। इसकी संवेदनशीलता सीमा है। संवेदनशीलता पूर्वक ही जीव संसार का वैभव निश्चित होता है। वैभव निश्चित होने का तात्पर्य आचरण निश्चित होने से है।

हर जीवों की संवेदनशील प्रक्रियाएँ निश्चित रहना ही आचरण का निश्चय है। सुनिश्चित आचरण के आधार पर ही हर मानव समस्त प्रकार के जीवों को पहचानता है। वनस्पति संसार बीज गुणानुषंगी पहचान है। इसका आचरण गुणों को प्रमाणित करने के अर्थ में निश्चित होना पाया जाता है।

मानव संस्करानुषंगी है। संस्कार ही अवधारणा, समझ के रूप में पाया जाता है। जागृत मानव सहज रूप में समझदारी के आधार पर ही सम्पूर्ण प्रकार के विचार करता हुआ, विचारों के आधार पर अथवा विचार शैली के आधार पर ही जीने की कला अथवा जीवन शैली ही सम्पूर्ण कार्यकलाप होना पाया जाता है। मूल समझ का स्वरूप अस्तित्व रूपी सह-अस्तित्व ही होना स्पष्ट हो चुका है। – स.श. 260

परिभाषा

- व्यवहार
 - मनुष्य की परस्परता में निहित मूल्यों का निर्वाह।

- एक से अधिक एकत्रित होने पर या होने के लिए किया गया आदान- प्रदान। स्थापित सम्बन्धों में निहित स्थापित मूल्यों के अनुभव सहित शिष्टतापूर्ण पद्धति से व्यवसाय मूल्य का उत्पादन, उपयोग, उपभोग एवं वितरण।
- सम्बन्ध
 - जिस परस्परता में, प्रत्याशाएँ दायित्व एवं कर्तव्य पूर्व निर्धारित हों ऐसे मिलन की संबंध संज्ञा है।
 - पूर्णता के अर्थ में सहअस्तित्व सहज अनुबंध।
 - दायित्व सहज स्वीकृति, वहन, कर्तव्य निर्वाह।
- संपर्क
 - जिस परस्परता में प्रत्याशाएँ ऐच्छिक रूप में निहित है, ऐसे मिलन की संपर्क संज्ञा है।
- सामाजिकता
 - सम्पूर्ण संपर्कों एवं संबंधों का निर्वाह
- व्यावहारिकता
 - अर्थ (*तन मन धन) का सदुपयोग सुरक्षा
- सार्वभौम/समाज व्यवस्था में भागीदारी
 - संस्कृति, सभ्यता में भागीदारी
 - परिवार सहज उत्पादन, न्याय, विनिमय में भागीदारी, शिक्षा, स्वास्थ्य में भागीदारी -(प.स.; व्य.द.)

5.4 परिवार में दाम्पत्य सम्बन्ध

मानव ही जागृत व जागृति पूर्ण होता है, हो सकता है, होने के लिये इच्छुक है। इस कारण पहचानना निर्वाह करना और जानना-मानना सहज है। इसी क्रम में पति-पत्नी सम्बन्ध भी सहज है। इस सम्बन्ध में शरीर, (अथवा तन) सम्बन्ध, अन्य सम्बन्धों से भिन्नता का आधार है। शरीर सम्बन्ध मानव संतानार्थ सार्थक है। यही व्यसन के रूप में अथवा कामोन्माद के रूप में परिवार के असंतुलन तथा अव्यवस्था के रूप में परिणित होता है।

परिवार मूलक विधि से ही, स्वराज्य व्यवस्था नैसर्गिक है। व्यवस्था प्रत्येक मनुष्य का अभीष्ट है। इस प्रकार मानव परिवार के ध्रुव के रूप में पति-पत्नी का सम्बन्ध, पहचान व निर्वाह सहज है।

पति-पत्नी का मानस, परिवार के आकार में, सुदृढ़ होना ही एक मन, दो शरीर का तात्पर्य है। साथ ही जीवन जागृति का संकल्प होना, एक मन दो शरीर का तात्पर्य है। जीवन जागृति प्रत्येक मनुष्य की अभीप्सा है। जीवन जागृति, जीवन-विद्या बोध होने के उपरान्त है। यह जीवन क्रिया कलाओं के अंतर्सम्बन्ध को, परस्पर जीवन प्रभाव क्षेत्र अनुबन्ध क्रम से स्पष्ट करता है। निरीक्षण, परीक्षण विधिपूर्वक अभ्यास से, द्रष्टा पद प्रतिष्ठा सहज ही प्रमाणित होता

है। द्रष्टा पद प्रतिष्ठा को प्रमाणित करना ही यतीत्व व सतीत्व का तात्पर्य है। एक पत्नी व्रत, एक पतिव्रत भी, यतीत्व और सतीत्व का प्रमाण है। इस प्रकार स्वानुशासन के रूप में द्रष्टा पद का, जीवन-जागृति का प्रमाण, मानव सहज है।

इस धरती में ही चारों अवस्थाओं का वैभव वर्तमान है। इस धरती पर मानव संतान संख्या का नियंत्रण होना, पति-पत्नी का एकत्र निश्चय मानसिकता होना, मानव अखंड समाज के रूप में स्पष्ट होना, परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था सार्थक होना आवश्यक है। ये सब एक दूसरे के पूरक हैं। इस प्रकार दाम्पत्य में, उभय मानसिकता-निर्णयों में, एक रूप होने से सहज ही, सर्वशुभ समीचीन होता है। इसका आधार मानवीयता है। जिसका प्रमाण स्वयं के प्रति विश्वास और श्रेष्ठता के प्रति सम्मान करने योग्य होना है। - म.वि. 102-103

मानवीयतापूर्ण मानव परंपरा में मानव कुल के रूप में शरीर निर्माण गर्भाशय में होने एवं उसका पोषण-संरक्षण-संवर्धन एक आवश्यकीय भूमिका है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए ही विवाह सम्बन्ध का सर्वोपरि प्रयोजन है। इसी के साथ-साथ यौवन और यौन विचार संयोग की आपूर्ति स्वाभाविक रूप में होना पाया जाता है। इसमें यह भी देखा गया है मानवीयतापूर्ण मानसिकता, विचार, चिन्तन (मानवीयता के प्रति दायित्व-कर्तव्य मानसिकता की सुदृढ़ता) समुन्नत और परिष्कृत होते-होते यौन-यौवन संबंधी आकर्षण अथवा सम्मोहन क्षय होता है। यह भी मानवीयता के प्रति निष्ठान्वित हर नर-नारी में परीक्षण और सत्यापन संगीत का पाया जाना नैसर्गिक है। - स.श. 154

5.5 परिवार में संतुलन

धीरता-वीरता पूर्वक ही परिवार संतुलन, परिवार संतुलन को ही परिवार में भागीदारी करने वाले सभी मानव सम्मिलित रहते हैं। ये सभी समझदार हैं अथवा होना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में परिवार संतुलन सहज रूप में प्रमाणित होता है। हर समझदार मानव सम्बंधों को पहचानता ही है जैसे माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नि। यह तीन सम्बंध स्पष्ट रहता ही है। माता-पिता का भी माता-पिता होना वांछित संभावित रहता ही है। उनका भी भाई-बहन होना स्वाभाविक है इस प्रकार वंशानुक्रम में अर्थात् संतान के अनन्तर पुनः संतान क्रम में ये सब सम्बंध स्पष्ट रहता ही है। इन्हीं को हम दादा-दादी चाचा-चाची आदि नामों से संबोधित किया करते हैं। इनमें प्रयोजनों को समझना ही समझदारी है, फलस्वरूप परिवार संतुलन होना सहज है। परिवार में ही न्याय का अपेक्षा बनी रहती है। यह अपेक्षाएं पूरा होने के मूल में सम्बंधों को प्रयोजन के मूल में पहचान लेना उन सम्बंधों में निहित मूल्यों को निर्वाह करना है।

माता-पिता के साथ सम्बंध निर्वाह परिवार का उद्देश्य समाधान समृद्धि के रूप में पहचान लिए रहते हैं। परस्पर व्यवहार में हर पुत्र-पुत्री सम्मान कृतज्ञता पूर्वक विश्वास निर्वाह करना बन पाता है। जबकि परस्पर परिवार के उद्देश्य के लिए कार्यकलाप बना रहता है और व्यवहार बना रहता है। व्यवहार की अभिव्यक्ति हर जागृत मानव में तन-मन-धन का अर्पण-समर्पण सहित उत्पादन के लिए नियोजन कार्य सहित निर्वाह होना पाया जाता है। फलस्वरूप परिवार सहज समाधान समृद्धि निरंतर प्रमाणित होना स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार भाई-बहन के परस्परता में भी परिवार सहज उद्देश्य ही प्रधान रहता है इसमें भागीदारी करना ही परिवार संतुलन का प्रमाण है। परिवार में भागीदारी करने वाले हर

व्यक्ति में परस्पर और आगंतुक रूप में आये हुए लोगों के साथ जो समाधान समृद्धि का भरोसा सदा-सदा प्रमाणित होना ही परिवार संतुलन है।

ऐसे परिवार संतुलन के साथ ही नैसर्गिक संतुलन की योजना कार्य समाहित रहता है और समझदार सभी मानव परिवार के साथ सम्बंध निर्वाह लक्ष्य के संदर्भ में हो पाता है। इस धरती के सभी परिवार समझदार होने की स्थिति में विश्व मानव परिवार होने की संज्ञा पाते हैं। परस्पर हर परिवार एक दूसरे के पूरक होना सार्थकता के अर्थ में मूल्यांकित होता है। मानव सहज सार्थकता अथवा सार्वभौम लक्ष्य, समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व ही अतएव सम्पूर्ण कार्य योजना, विचार विधि, उसके मूल में समझदारी, ये सब एक दूसरे के पूरक और संतुलनकारी होना पाया जाता है। -

म.वि. 163

5.6 जागृति पूर्वक ही परिवार संतुलित है

मन, मान्यताओं के आधार पर कार्यशील रहता है। मान्यताएं, शरीर व्यापार के साथ होना, ही भ्रम का कारण है। यह शरीर का अधिमूल्यन है, जीवन का अवमूल्यन है। भ्रमित मानसिकता में की जाने वाली सभी क्रियाएं, सर्वथा अव्यवहारिक होती हैं। मनुष्य सभी आयामों, दिशा, कोण, परिप्रेक्ष्य में व्यक्त होता है। निर्भ्रम अवस्था, जागृत अवस्था में मनुष्य, जितनी भी विद्याओं में, कार्य-कलापों को सम्पन्न करेगा, वह सब न्यायिक, समाधानित, प्रामाणिकता सम्पन्न रहता ही है। निर्भ्रम आधार पर मानव, समाधान, न्याय, समृद्धि, तथा सह-अस्तित्व सम्पन्न होता है। उत्थान की ओर गतिशीलता के अर्थ में, उल्लास उत्सव के रूप में बना रहता है। उसके आधार पर मनुष्य का सम्पूर्ण लक्ष्य, सफल होता है। मानवीयता पूर्ण मनुष्य का लक्षण, न्यूनतम रूप में, परिवार में प्रमाणित होता है सम्पूर्ण समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में प्रमाणित होता है क्योंकि परिवार ही मानव समाज और व्यवस्था का न्यूनतम ध्रुव है तथा समग्र व्यवस्था ही अधिकतम ध्रुव है। परिवार, समाज अखंड है और व्यवस्था सार्वभौम है। परिवार अखंड होने के आधार पर ही, विश्व परिवार के रूप में समाज और उसकी अखंडता प्रमाणित होती है।

परिवार की अखंडता ही, विश्व परिवार की अखंडता का आधार है। परिवार में अन्तर्विरोध ही परिवार विघटन है। यह भ्रमवश व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के कारण होना पाया जाता है। परिणामतः अखण्ड समाज का कल्पना ही नहीं हो पाती है। सभी छोटा परिवार, सयुक्त परिवार दोनों ही व्यक्तिवादवश के वाद-विवाद में रह गये हैं। भोग लिप्सा, व्यसन के लिये छोटे परिवार को अनुकूल माना गया है। परिवार खंडित होने के उपरान्त, परिवार नहीं रह पाता है। अकेले एक मनुष्य के आधार पर, परिवार का प्रमाण नहीं हो पाता। इसी प्रकार विघटित मानव, समाज के रूप में नहीं होता। परिवार व समाज का विघटन, मानव कुल का अभिशाप है। इससे मुक्त होने के लिए, मानव की मानवता ही एक मात्र विधि है। म.वि. (१९९८) १५९-१६०

मानव व्यवहार, कर्म, अभ्यास एवं अनुभव परम्परा में ही, मनुष्य के उत्साहित रहने से, हँसी खुशी के साथ, नित्य सफलता समीचीन रहती है। भ्रमवश ही विघटित परिवार और समाज, आवेशों अवमूल्यन को उत्साह मानता और साथ ही अवमूल्यन कार्यों को मानता है। यह भय व प्रलोभन का रूप है। भय-प्रलोभन मनुष्य का भ्रमवश लिया गया निर्णय है। यह मानव कुल के लिए अव्यवहारिकता का कारण हुआ। अन्य अव्यवहारिकताएं, द्रोह-विद्रोह, शोषण,

युद्ध में देखने को मिलती हैं। यह मानव कुल में आवेश का साक्ष्य है। जबकि समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व सर्वमानव का स्वत्व एवं स्वभाव गति है। इसकी संभावनाएं, यथार्थता के आधार पर स्पष्ट होती हैं। - म.वि. 70-71

सम्बन्ध व मूल्यों में, जीवन जागृति का लक्ष्य समाया रहता है। सदुपयोगिता का आधार मापदण्ड यही है कि परिवार मानव (अथवा मानव परिवार) तन, मन, धन रूपी अर्थ को सम्बंधों में अर्पित-समर्पित कर, प्रसन्नता और समाधान का अनुभव करता है। प्रसन्नता और समाधान का प्रमाण प्रस्तुत करता है। प्रयोजनीयता का प्रमाण, जीवन जागृति सहज, स्वानुशासन है। समझदारी का प्रमाण, मानवीय कर्तव्यों व दायित्वों का निर्वाह करना ही है। यही उपयोगिता एवं सदुपयोगिता का प्रमाण है। मानवीयता का मार्गदर्शक, अतिमानव रूपी देव मानव व दिव्य मानव ही है। यही प्रयोजन है। - म.वि. 132

मानवीयता पूर्ण जीवन का कार्यक्रम ही जीवन में स्थिरता, न्याय प्रदायी क्षमता और अधिक उत्पादन कम उपभोग योग्य योग्यता का उपार्जन है। अमानवीयता पूर्ण जीवन में न्याय प्रदायी क्षमता का निर्माण होना संभव नहीं है। न्याय प्रदायी क्षमता के बिना समाज संरचना एवं सामाजिकता का निर्वाह सिद्ध नहीं होता। सामाजिकता के बिना मानव सफल नहीं है। - अ.द. 111

लाभालाभ, हिताहित एवं प्रियाप्रिय दृष्टि से तथा लाभ, हित एवं प्रिय सीमावर्ती प्रवृत्ति पूर्वक सामाजिकता का होना प्रमाण सिद्ध नहीं है। मानव चेतना सहज सामाजिकता ही समाज को गठित करती है। सामाजिकता ही न्यायान्याय, धर्माधर्म एवं सत्यासत्य पूर्ण दृष्टि से न्याय, धर्म, सत्य पूर्ण व्यवहार, विचार एवं अनुभूति है। प्रिय, हित, लाभ प्रवृत्तियों का न्याय सम्मत होना ही संयमता है। प्रिय, हित एवं लाभ की सीमा में वैविध्यता का अभाव नहीं है। यही तथ्य जीवन में अंतर्विरोध एवं परस्पर विरोध का मूल कारण है। - अ.द. 142

प्रिय-हित-लाभ सीमान्तवर्ती दृष्टि से किया गया निर्णय एवं क्रियाकलाप अंतर्विरोध से मुक्त नहीं है। इन सबका न्याय सम्मत होना ही अंतर्विरोध से मुक्ति है। न्याय सम्मति तब तक संभव नहीं है जब तक स्थापित मूल्यानुभूति एवं उसका निर्वहन न हो जाय। न्याय ही व्यवहार में मध्यस्थता है। मध्यस्थता ही सम और विषम अर्थात् समातिरेक और विषमातिरेक को संतुलित एवं आत्मसात् करता है। सम-विषम दोनों मध्यस्थता में आश्रित एवं संरक्षित हैं। यही सत्यता मध्यस्थता एवं मध्यस्थ जीवन की प्रतिष्ठा, महत्ता एवं अपरिहार्यता को स्पष्ट करती है। आचरण एवं व्यवहार में मध्यस्थता ही बहिर्विरोध अर्थात् पाँचों स्थितियों में विरोध का शमन करता है। विचार में मध्यस्थता चारों आयामों के अंतर्विरोध का उन्मूलन करती है। - अ.द. 115

5.7 सम्पूर्ण मानव परिवार ही समाज का स्वरूप है

सभी सम्बन्ध परिवार के ध्रुव है। परिवार में एक से अधिक व्यक्तियों का विश्वास पूर्ण सम्मिलित उत्पादन कार्य करना तथा सम्बन्धों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह रूपी व्यवहार करना सुलभ होता है। प्रत्येक सम्बन्ध निश्चित ध्रुव है।

जैसे माता-पिता, पुत्र-पुत्री, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य, भाई-बहिन, मित्र, पति-पत्नी। सम्पूर्ण सम्बन्ध नियति सहज रूप में वर्तमान रहते हैं।

मानव, परम्परा सहज रूप में बहु-आयामी पहचान प्रवृत्ति वर्तमान है। अस्तित्व ही, सह-अस्तित्व होने के फलस्वरूप पदार्थावस्था ने परिणामानुषंगीय विधि से, विविध तत्वों के रूप में, संतुलन को व्यक्त किया है। प्राणावस्था ने, बीजानुषंगीय विधि से, विविध वनस्पतियों के रूप में संतुलन को व्यक्त किया है। जीवावस्था में वंशानुषंगीय विधि से, अनेक प्रकार की जीव परम्परा ने, संतुलन को व्यक्त किया है। मानव के लिए संस्कारानुषंगीय विधि से, समाधान, समृद्धि, अभय और सह-अस्तित्व को प्रमाणित करना सार्थकता है। इसे स्वराज्य व स्वतंत्रता पूर्वक, मानवीय संस्कृति (सम्बन्धों की पहचान, स्थापित शिष्ट मूल्य का निर्वाह), मानवीय सभ्यता (मानव मूल्य व जीवन मूल्यों का वर्तमान में प्रमाणीकरण), विधि (मानवीयता पूर्ण आचारण संहिता) की रक्षा, व्यवसाय आवश्यकता से अधिक उत्पादन सहित (स्वयं व्यवस्था होने में विश्वास और परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था जो - (१) शिक्षा संस्कार (१) न्याय-सुरक्षा (१) उत्पादन कार्य (१) विनियम कोष (१) स्वास्थ्य-संयम व्यवस्था में भागीदारी को प्रमाणित करना, मानव परम्परा की सार्थकता है। मानव, परम्परा के रूप में अखंड है। मानवीयता पूर्ण संस्कार परम्परा में, मानवीय शिक्षा संस्कार सार्वभौम है। मानव परम्परा में स्व-राज्य, स्वतंत्रता सार्वभौम है। मानव परम्परा में न्याय सुरक्षा, श्रम नियोजन व श्रम विनियम रूपी विनियम कार्य, सार्वभौम प्रमाणित होता है। साथ ही मानव जाति में अखंडता मानव धर्म, इसके अनुसंधान का उद्देश्य, प्रामाणिकता और सर्वतोमुखी समाधान, सार्वभौम है। इसलिए मानव, अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था के रूप में सहज है।

परिवार ही व्यवस्था के रूप अखंड है। परिवार में समाधान, समृद्धि, अभय और सह-अस्तित्व प्रमाणित होता है। इसलिए सम्पूर्ण मानव परिवार ही, समाज का स्वरूप है।

प्रत्येक सम्बन्ध का ध्रुव, परिवार रचना का आधार है। परिवार रचना, सम्बन्धों को पहचानना, मूल्यों का निर्वाह करने के रूप में है। सम्बन्ध मानव तथा नैसर्गिक भेद से पाया जाता है। एक से अधिक मनुष्यों का होना ही सम्बन्धों का होना, वर्तमान ही होता है। इस प्रकार, वर्तमान में जो कुछ भी है, जितना भी है, वह सब परस्परता में सम्बन्धित है। इनमें जागृत होना ही मानव का अधिकार है। - म.वि. 100-102

5.8 'परिवार' एवं 'व्यवस्था' अविभाज्य हैं

स्थिति - गति अविभाज्य हैं

अस्तित्व में प्रत्येक 'एक' अपने सम्पूर्णता सहित 'क्रिया और व्याख्या' है। क्योंकि प्रत्येक एक स्थिति-गति में होना पाया जाता है। स्थिति में क्रिया एवं गति में व्याख्या। स्थिति-गति सहित ही 'त्व' सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी (पूरकता या पूरक) होना पाया जाता है। प्रत्येक एक अपने स्थिति में क्रिया होना दिखाई पड़ता है। हर क्रिया अपने गति सहित स्थिति एवं स्थिति सहित गति के रूप में होना पाया जाता है। जैसे-एक जागृत मानव किसी भी स्थिति में कहीं भी हो, स्थिति-गति के संयुक्त रूप में होता है। मानव अपने में आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और

प्रामाणिकता सहज गति और आस्वादन, तुलन, चिन्तन, बोध एवं अनुभव सहज स्थिति के संयुक्त रूप में रहता ही है। इन्हीं का किसी न किसी स्थिति या गति सहज प्रकाशन शरीर के द्वारा सम्पन्न होता ही रहता है। इसी प्रकार यह धरती अपने स्थिति सहज रूप में अपने धुरी में गतित रहते हुए सूर्य के सभी ओर अपने गतिपथ में आरूढ़ रहता हुआ दिखाई पड़ता है। यह सौर व्यूह अपने में एक व्यवस्था के रूप में दृष्टव्य रहते हुए, अनेक सौर व्यूह के साथ सह-अस्तित्व सहज स्थिति-गति को और पूरकता को प्रमाणित करता ही है। इसका प्रमाण यही है एक अनेक पर और अनेक एक पर प्रतिबिम्बित प्रमाणित है ही।

अस्तित्व में स्वभाव-गति और उसकी निरंतरता के लिये सम्पूर्ण पूरकता स्पष्ट है। पूरकता विधि से ही मानव भी स्वभाव-गति में, धरती भी स्वभाव-गति में होना सहज है। जैसा मानव परम्परा हर मानव के पूरक होने के प्रमाण में ही हर मानव जागृत होता है, हो सकता है। इसी प्रकार यह धरती अन्य ग्रह-गोलों के पूरकता के प्रमाण स्वरूप विकसित हुआ होना पाया जाता है। धरती के विकास का तात्पर्य यही है अथवा हर धरती के विकास का तात्पर्य इतना ही है चारों अवस्था में प्रकृति प्रमाणित है। जैसे-इस धरती पर पदार्थ, प्राण, जीव एवं ज्ञान अवस्थाएँ प्रमाणित हैं ही। इन चारों अवस्था में पूरकता और उसकी निरन्तरता के लिये मानव में मानवीयतापूर्ण आचरण अनिवार्य स्थिति है। मानव अपने पूरकता को अन्य प्रकृति के साथ और मानव प्रकृति के साथ प्रमाणित करने के क्रम में ही व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी प्रमाणित हो पाता है। इसी विधि से मानव से आशित, प्रतीक्षित, अभिप्सित व्यवस्था परंपरा इस धरती पर स्थापित और फलित होना सहज है।

‘सम्पूर्ण मानव समुच्चय’ एक क्रिया है। इसी का नामकरण है ‘मानवीयतापूर्ण क्रिया’। मानवीयतापूर्ण क्रिया सहज प्रमाण है। मानव परंपरा सहज चारों आयामों में यथा शिक्षा, संस्कार, संविधान और व्यवस्था में मानवीयता निरंतर रूप में अथवा परंपरा के रूप में प्रमाणित रहना। इस प्रकार मानवीयता उक्त चारों आयामों में क्रियाशील रहना ही परंपरा रूपी गति सार्थक होना पाया जाता है। दूसरे विधि से प्रत्येक जागृत मानव अपने विचार और अनुभव समुच्चय विधि से स्थिति है और व्यवहार तथा प्रयोग विधि से गति है। तीसरा-जागृत जीवन सहज रूप में आस्वादन, तुलन, चिन्तन, बोध, अनुभव स्थिति है और आशा, विचार, इच्छा, संकल्प, प्रामाणिकता के रूप में निरंतर गति है। सम्पूर्ण मानव समाज के रूप में स्थिति है और व्यवस्था के रूप में गति है। चौथे विधि से-सत्ता में संपृक्त रूप में अस्तित्व नित्य स्थिति है और सह-अस्तित्व नित्य गति है।

प्रत्येक अणु, प्रत्येक परमाणु के अणु-बंधन सहज स्थिति और भार बन्धन सहज गति है। सम्पूर्ण अणुएँ रचना के रूप में स्थिति और परिणाम परिवर्तन की ओर गति दिखाई पड़ती है। प्रत्येक वनस्पतियाँ अपने रूप और गुण के अनुसार गति एवं स्वभाव-धर्म के अनुसार स्थिति में होना पाया जाता है। सम्पूर्ण जीव भी रूप और गुण के आधार पर गति और स्वभाव एवं धर्म के आधार पर स्थिति में होना पाया जाता है।

मानव अपने मूल्यों के रूप में स्थिति, सम्बन्ध और व्यवहार के रूप में गति का होना पाया जाता है। समाधान के रूप में स्थिति एवं व्यवस्था के रूप में गति है।

मूल्यों के धारकता के रूप में स्थिति और वाहकता सहित मूल्यांकन के रूप में गति, जागृत दृष्टि के रूप में स्थिति, दर्शन के रूप में गति, जीवन के रूप में स्थिति, प्रामाणिकता के रूप में गति। उद्देश्यों के रूप में स्थिति, कार्य-व्यवहारों

के रूप में गति, मानव के रूप में स्थिति, प्रयोजनों के रूप में गति। समझदारी (जानना, मानना, पहचानने) के रूप में स्थिति, निर्वाह करने के रूप में गति, मानव के रूप में स्थिति, मानव जाति के रूप में गति। पुनः मानव के रूप में स्थिति, मानव धर्म (व्यवस्था) के रूप में गति होना पाया जाता है। - ज.व. 132-150

व्यवस्था व व्यवस्था में भागीदारी, मानव परम्परा की सार्वभौमता है और उसकी निरंतरता का नित्य स्रोत है। यह जागृत जीवन सहज अभिव्यक्ति है। प्रत्येक मनुष्य में जीवन, अक्षय बल व शक्ति सम्पन्नता के रूप में विद्यमान है। इसका अभिव्यक्ति क्रम, संप्रेषणा क्रम क्रमशः अनुभव बल, विचार शैली व जीने की कला के रूप में प्रमाणित होना ही मानव परम्परा की सफलता व उसकी निरंतरता है। यही जागृति का प्रमाण है। - म.वि. 223

मानव के “स्वत्व”, स्वतंत्रता एवं अधिकार के लिए मानव ही प्रमाणों का आधार है। प्रत्येक मनुष्य स्वयं को प्रमाणित करना भी चाहता है। मानव को प्राप्त शिक्षा-संस्कारों में प्रत्येक मनुष्य को प्रमाणित करने की अथवा प्रमाणित होने की, स्व-प्रमाणों पर विश्वास होने की अथवा कराने का स्पष्ट बिंदु, स्पष्ट विश्लेषण, स्पष्ट प्रक्रिया पूर्वक, स्पष्ट प्रयोजनों के साथ मनुष्य के अधिकारों को जोड़ा नहीं गया (अथवा जोड़ना संभव नहीं हुआ था)। जबकि प्रत्येक मनुष्य में जीवन समान है। जीवन शक्तियां समान है, जीवन बल समान है, जीवन लक्ष्य समान हैं, समाज-लक्ष्य समान हैं, व्यवस्था लक्ष्य समान है, (जीवन सहज समानता के आधार पर) जीवन सहज शक्ति, बल, लक्ष्य संभावनाओं की समानता के आधार पर ही, संबद्ध रहना पाया जाता है। जीवन लक्ष्य जागृति है।

इस कारण जागृति सहज मनुष्य में जानने मानने, पहचानने-निर्वाह करने की पूर्णता है और समाज तथा व्यवस्था लक्ष्य में, समानता सहज आवश्यकताएं, स्वयं स्फूर्त होना पाई जाती हैं। इस क्रम में मानव को अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का साक्षात्कार करना और इसे साकार करना सहज है। - म.वि. 74

परिवार और व्यवस्था अविभाज्य है।

परिवार और व्यवस्था अविभाज्य है। परिवार हो, व्यवस्था नहीं हो और व्यवस्था हो परिवार नहीं हो, ये दोनों स्थितियाँ भ्रम का द्योतक है। - अ.श. 183-185

प्रत्येक मनुष्य को परिवार और परिवार कार्यों की निश्चयता की अपेक्षा व आवश्यकता है। परिवार स्वयं में अखंड समाज एवं सार्वभौम व्यवस्था का बीज और स्रोत रूप है। - म.वि. 22

(*परिवार में ही संबंध, मूल्यों के रूप में न्याय व्यवस्था, उत्पादन एवं परस्पर परिवारों के बीच में विनिमय व्यवस्था प्रमाणित होता है। परिवार ही समाज में भागीदार होता है। इस ढंग से धर्म एवं राज्य नीति का संयुक्त अभिव्यक्ति परिवार से ही प्रारंभ होता है। अर्थात्, संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था को प्रमाणित करने का प्रथम स्थली परिवार ही है। - संवाद, २०११)

जागृत मानव ही व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण होना पाया जाता है।

- व्यवस्था स्वयं में न्याय, उत्पादन और विनिमय सुलभता ही है। इन्हीं की निरन्तरता के लिये स्वास्थ्य-संयम और मानवीय शिक्षा-संस्कार एक अनिवार्य स्थिति है। इस प्रकार व्यवस्था का पाँच आयाम होता है।
- इन्हीं आयामों में भागीदारी, 'व्यवस्था में भागीदारी' का तात्पर्य है।
- इस प्रकार हर जागृत मानव (परिवार मानव) सहज रूप में व्यवस्था को प्रमाणित करता है। यही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का आधार और अभिव्यक्ति है। - स.श. 193

परिवार की परिभाषा भी है परस्पर सम्बन्धों को पहचानते हैं, मूल्यों का निर्वाह करते हैं, मूल्यांकन करते हैं और उभयतृप्ति पाते हैं। यही परिवार का आधार बिन्दु है। अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था का सूत्रपात "परिवार मानव" पद ही है। परिवार व्यवस्था सार्वभौम व्यवस्था के लिये सूत्र है। परिवार रचना स्वयं अखण्ड समाज रचना का सूत्र है। जागृत परिवार मानव परिवार सहज आवश्यकता के लिये समझदारी से अपनाया उत्पादन-कार्य के लिये एक-दूसरे के पूरक होना पाया जाता है। इस विधि से हर परिवार में समाधान, समृद्धि प्रमाणित होती है, अभय सह-अस्तित्व का सूत्र समाया रहता है। इसे प्रमाणित करने की आवश्यकता क्रम में अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था का ताना-बाना, इसलिये बना है कि समाज ही व्यवस्था और व्यवस्था ही समाज को संतुलित बनाये रखता है। - स.श. 172-173

परिवार एवं सभा = समाज एवं व्यवस्था

परिवार क्रम विधि से समाज रचना, सभा क्रम में व्यवस्था गति स्पष्ट हो जाता है। जैसे परिवार ही स्वायत्त मानवों का संयुक्त अभिव्यक्ति होना स्पष्ट किया जा चुका है। हर नर-नारी स्वायत्त पद में ही परिवार मानव अर्हता, स्वत्व, स्वतंत्रता, अधिकार को प्रमाणित करते हैं। - स.श. 172-173

स्वायत्त मानव परंपरा में सभा क्रम, परिवार क्रम, १०-१० की संख्या में सहज ही पहचाना जाता है। सर्वमानव स्वायत्त मानव रूप में अपने प्रतिष्ठा को जानने-मानने, पहचानने-निर्वाह करने का सौभाग्य मानवीयतापूर्ण शिक्षा परंपरा में, से नित्य गति के रूप में समीचीन रहता है। सह-अस्तित्व विधि से व्यवस्था को, जागृति विधि से परिवार को पहचानना, निर्वाह करना मानव सहज आवश्यकता व वैभव है। अस्तित्व सहज रूप में ही सह-अस्तित्व वर्तमान है। यथा पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था, ज्ञानावस्था, इसी धरती पर नियति क्रम विधि से प्रमाणित है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जागृति का धारक-वाहकता प्रत्येक मानव का जागृति सहज स्वत्व है; और सह-अस्तित्व सहज वैभव है। इस प्रकार अस्तित्व सहज व्यवस्था को जानना-मानना-पहचानना, निर्वाह करना ज्ञानावस्था सहज जागृत मानव से ही प्रमाणित होती है। जागृति सहज विधि से ही समाज रचना स्वाभाविक होता है अथवा होने वाला स्वरूप है। होना वर्तमान ही है। वर्तमान की निरंतरता है। इसलिये व्यवस्था एवं समाज की निरंतरता है। - स.श. 175

प्रत्येक परमाणु अपने भार बंधनवश अणुबंधनपूर्वक रचनाओं को प्रमाणित किया उसमें से एक रचना यह धरती है। इसी धरती में प्राणावस्था के वनस्पति संसार, जीवावस्था के जीव संसार, ज्ञानावस्था के मानव परंपरा का शरीर रचना और पदार्थावस्था में रासायनिक-भौतिक रचनाएं हमें दिखती हैं। रासायनिक-भौतिक रचना रूपी जीव शरीरों द्वारा वंशानुषंगीय विधि से व्यवस्था को जीवन ही प्रमाणित करता है और मानव संस्कारानुषंगीय (समझदारीपूर्ण) विधि से

अपने व्यवस्था के रूप में प्रमाणित करने का प्रयास जारी है। इन्हीं प्रयास क्रम में मानव परिवार मूलक स्वराज्य विधि से व्यवस्था में भागीदार होने का स्वरूप स्पष्ट हो गया है। अतएव प्रत्येक रचना और प्रत्येक जीवन अपने में व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदार होने का तथ्य स्पष्ट होता है। यह सह-अस्तित्व विधि से ही सार्थक होता हुआ प्रमाणित है। मानव भी सह-अस्तित्व विधि से व्यवस्था एवं समग्र व्यवस्था में भागीदारी को प्रमाणित कर सकता है। मानव ही जीवन जागृति के प्रमाणों को दृष्टा, कर्ता, भोक्ता विधियों से प्रमाणित करता है। - अ.श. 246-247

इस प्रकार समग्रता के साथ ही यह धरती, धरती की समग्रता के साथ ही मानव, मानव के समग्रता के साथ ही व्यवस्था और समाज परिकल्पना अध्ययन, योजना और क्रियान्वयन क्रम में मानवीयतापूर्ण मानव के वैभव की पहचान होती है। इसी विधि से मानव समाज और व्यवस्था का अविभाज्य स्वरूप को परिवार और परिवारमूलक व्यवस्था के रूप में देखा गया है। - अ.श. 239

5.9 परिवार में जीना, परिवार व्यवस्था में भागीदारी

मानव परम्परा में व्यवस्था सहज विधि से जीना ही जीने की कला को प्रमाणित कर पाता है। इस तथ्य को अच्छी तरह से देखा गया है। इसके साथ यह भी समीक्षित हुआ है कि व्यवस्था के पहले हम किसी भी प्रकार से जीने के जैसा नहीं दिखते हैं ये सब जीने के लिये प्रयत्नशील है। - आ.व. 257-258

व्यवस्था में जीना, समग्र व्यवस्था में भागीदारी करना एक आवश्यकीय कार्यकलाप रहते हुए व्यवस्था में जीने से सभी लोग संतुष्ट रहते हैं। इनमें से कुछ लोग परिवार प्रेरणा के आधार पर ही समग्र व्यवस्था में भागीदारी के लिए तत्पर हो जाते हैं। इस विधि से सम्पूर्ण परिवार ही कृत, कारित, अनुमोदित विधि से समग्र व्यवस्था में भागीदार होना प्रमाणित होता है। - स.श. 313

संतुलन का सहज रूप व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी ही है। इसके मूल में परस्पर पहचान और निर्वाह स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व की ही महिमा है। यही परस्परता, पहचान और निर्वाह का सूत्र है। इसकी व्याख्या हर अवस्था में हर इकाई करती ही रहती है। इसका नित्य प्रमाण सत्ता में संपृक्त प्रकृति सहज पहचान-निर्वाह, परमाणु अंशों के परस्परता में पहचान-निर्वाह, परस्पर परमाणुओं में पहचान-निर्वाह, परस्पर अणुओं में पहचान और निर्वाह, परस्पर रचनाओं में पहचान-निर्वाह, प्राणावस्था में बीजानुषंगीय विधि से पहचान-निर्वाह, जीव संसार में वंशानुषंगीय पहचान-निर्वाह करना स्पष्ट है। ज्ञानावस्था में मानव संस्कारानुषंगीय (जानने, मानने के आधार पर) सह-अस्तित्व रूप में परिवार व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में पहचान-निर्वाह दृष्टव्य है। - म.वि. 206-207

स्वराज्य व्यवस्था के प्रधान आयाम पांच हैं :-

- (1) न्याय सुलभता (2) उत्पादन सुलभता (3) विनिमय सुलभता
- (4) स्वास्थ्य संयम सुलभता (5) शिक्षा संस्कार सुलभता।

प्रथम तीनों के स्रोत के रूप में मानवीयतापूर्ण शिक्षा संस्कार सुलभता और स्वास्थ्य संयम सुलभताएं, समाविष्ट रहती ही हैं। यही मानव परम्परा की विवेक व विज्ञान पूर्ण गति व संगति है। प्रत्येक मनुष्य व्यवस्था को ही वरता है। व्यवस्था में, से, के लिए समृद्धि सहज है। अस्तु स्वयं व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी के वैभव क्रम में ही उपयोगिता, सदुपयोगिता और प्रयोजनीयता प्रमाणित होती है। साथ ही आवश्यकता से अधिक उत्पादन से, शोषण विहीन विनियम से तथा न्याय सुलभता से वर्तमान में विश्वास होता है। - म.वि. 63,65

जीना कम से कम तीन आयामों में स्वयं स्फूर्त विधि से सम्पन्न होता है। तभी व्यवस्था में जीने का रस और सुख अपने आप मिलने लगता है। ऐसे तीन आयाम को न्याय सुलभता (न्याय प्रदायिता एवं पाने में सुलभता), उत्पादन सुलभता और विनियम सुलभता पूर्वक ही हर परिवार व्यवस्था में जीता हुआ अनुभव करता है। ज्यादा से ज्यादा मानव, मानवीयतापूर्ण व्यवस्था में पाँचों आयामों में अपने भागीदारी को प्रमाणित करता है। यह उक्त तीनों के साथ शिक्षा-संस्कार सुलभता और स्वास्थ्य-संयम सुलभता है। इन्हीं व्यवहारिक आधारों के कारण मानव को जागृत और जागृतपूर्ण स्थितियों में देखा गया है। यह सबके लिये समीचीन है। इन्हीं दो स्थिति को क्रम से क्रियापूर्णता और आचरणपूर्णता का नाम दिया है। आचरण की विशालता में ही विशाल, विशालतर और विशालतम व्यवस्था में भागीदारी सम्पन्न होना सहज है। सम्पूर्ण प्रक्रिया का सफल स्वरूप समाधान और समृद्धि के रूप में मूल्यांकित होता है। अभय, सह-अस्तित्व मानवीयता पूर्ण आचरण का फलन है। इन तथ्यों को भली प्रकार से देखा गया है। इस प्रकार हर परिवार मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार पूर्वक स्वायत्त मानव और परिवार मानव के रूप में जीते हुए व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण प्रस्तुत करना सहज है। सहजता का तात्पर्य जागृति पूर्वक प्रमाण सहज गति ही सहज होना। जागृति नित्य समीचीन रहता ही है। यह परम्परा जागृत होने के उपरान्त ही सर्वसुलभ होता है। मानव परम्परा की जागृति का पहला स्वरूप शिक्षा संस्कार ही है। (म.वि, १३४) मानवापेक्षा, जीवनापेक्षा ही सार्वभौम अपेक्षा है। यही जागृति और कैवल्य का प्रमाण है। - आ.व. 257-259

(i) स्वास्थ्य संयम व्यवस्था में भागीदारी

शरीर स्वस्थता ही स्वास्थ्य का प्रमाण है। शरीर स्वस्थता का तात्पर्य जीवन अपने जागृति को शरीर के द्वारा प्रमाणित कर सके-यही स्वस्थ शरीर का मापदण्ड है जिसकी आवश्यकता एक स्वाभाविक अपेक्षा है। संयमता यही है अनुभव मूलक विधि से सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार का मानव परंपरा में प्रमाणित करना ही है। संयमता की महिमा व्यवस्था के रूप में प्रमाणित होने और समग्र व्यवस्था में भागीदारी को प्रमाणित करना ही है। यही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में वैभवित होने का सूत्र है। इसी का व्याख्या सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज है।

स्वास्थ्य अर्थात् शरीर स्वस्थता को बनाये रखने के लिये आहार, विहारों में संतुलन आवश्यक रहता ही है। सप्त धातु संतुलन धर्मी अथवा सप्त धातु संतुलन कार्यकारी वस्तुओं को पहचानना, निर्वाह करना, उसके पहले जानना, मानना, अति आवश्यक रहता ही है। जीवन्त शरीर में शरीर जिसको हवा, पानी, अन्न, औषधि के रूप में ग्रहण करता है उसे पाचनपूर्वक अर्थात् योग, संयोग, संयोजन और शरीर कार्य विधि से रसों और धातुओं में विभाजित कर शरीर-सहज आवश्यकता के अनुसार परिवर्तीकरण अर्थात् रसमूलक विधि से धातुओं में परिवर्तीकरण सम्पन्न होता है। यही शरीर

में होने वाला क्रियाकलाप है। जिसके आधार पर ही शरीर संतुलन बना रहना स्वाभाविक क्रिया है। इसमें वंशानुषंगीय रचना की परिपूर्णता प्रधान रूप में आवश्यक रहता ही है। यह सह-अस्तित्व में निहित विधि क्रम में वंशानुषंगीयता स्थापित रहता ही है। यही प्राण और रचना सूत्रों के रूप में होना देखा गया है। इस विधि से हमें स्पष्टतया समझ में आता है कि स्वास्थ्य संतुलन की आवश्यकता लक्ष्य के आधार पर ही आहार-विहार योजनाओं का होना देखा गया है। संतुलित आहार-विहार पद्धति इसी तथ्य पर आधारित रहता है।

शरीर को स्वस्थ रखने की कल्पना, विचार, चित्रण और मूल्यांकन लक्ष्य बोध सहज विधि से ही सुयोजित होना पाया गया है। चिन्हित रूप में शरीर की स्वस्थता जीवन जागृति की अभिव्यक्ति, संप्रेषणा, प्रकाशन योग्य विधि से उपयोगी होना ही एकमात्र लक्ष्य होना देखा गया है। यही सार्वभौम व्यवस्था अखण्ड समाज, परिवार मानव और स्वायत्त मानव तथा मानवीयता को परंपरा के रूप में स्पष्ट करना, प्रमाणित करना होता है। यही मानव परंपरा के धारकता का भी तात्पर्य है। मानव परंपरा मानवीयता के प्रति जागृत रहना एक स्वाभाविक क्रिया है। यह मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार पूर्वक सर्व सुलभ हो चुकी है। अतएव परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था के पाँचों आयामों में भागीदारी को निर्वाह करना ही व्यवस्था-सहज प्रमाण पूर्वक समग्र व्यवस्था में भागीदारी का स्वरूप और गति यही मानव परंपरा का स्वस्थ गति और स्थिति होने के आधार पर स्वास्थ्य-संयमता का योजना-कार्य और मूल्यांकन सुस्पष्ट हो जाता है।

उक्त विधि से परिवार मानव अर्थात् समझदार व स्वायत्त मानव, व्यवस्था मानव और समाज मानव के रूप में प्रमाणित होना ही स्वास्थ्य-संयम का लक्ष्य है। इसे विधिवत् स्थिति गति में प्रमाणित करना ही स्वास्थ्य-संयम का प्रमाण है। इसके योग्य आहार-विहार स्वाभाविक रूप में संतुलित रूप में निर्वाह कर लेना ही यथा-आवश्यक व व्यायाम, खेल, नृत्य, गीत, संवाद, वाद्य, कलाओं का उपयोग विहार का मतलब है। इसे स्वास्थ्य-संयम अभ्यास भी कहा जा सकता है। - म.वि. 374

(ii) परिवार में न्याय व्यवस्था में भागीदारी

परिवार सहज संबंधों में जीने के क्रम में ही न्याय समझ में आता है - संवाद. २०१२

न्याय सम्मत आचरण (जो स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष, दया पूर्ण कार्य व्यवहार के रूप में है) तन-मन-धन रूपी अर्थ का सदुपयोग एवं सुरक्षा, सभी सम्बन्धों की पहचान एवं मूल्यों का निर्वाह ही मूल्य, चरित्र, नैतिकता रूपी आचरण वैभव है। यही सार्वभौम मानव है तथा स्वयं में व्यवस्था रूपी जागृत मनुष्य है। ऐसे जागृत मनुष्य ही समग्र व्यवस्था में भागीदार होते हैं।

तन, मन, धन का सदुपयोग विधि से वस्तु का उपयोग विधि से वस्तु का मूल्यांकन विनिमय के लिए सुलभ होते हुए परिवार में उपयोग समाज में सदुपयोग, व्यवस्था में प्रयोजनशील होने की दिशा स्पष्ट हो गयी है। - म.वि. 185।

परिवार सभा

परिवार ही मूलतः सभा के रूप में, सभा ही परिवार के रूप में वैभवित होता है।

निर्णय लेने के रूप में सभा कहलाता है। क्रियान्वयन करने के रूप में परिवार कहलाता है।

इस प्रकार परिवार और सभा अविभाज्य होना पाया जाता है। सभा में संवाद अवश्यभावी है। जिसमें एक दूसरे की मानसिकता, प्रयोजन, फल, परिणाम का बोध होना पाया जाता है। फलस्वरूप हर निर्णय सर्वसम्मति के रूप में सार्थक होना पाया जाता है। सर्वसम्मतियाँ परिवार में ही हो पाती हैं। सभी मुद्दे समझदारी से शुरूआत होते हुए प्रमाणीकरण तक लम्बाई चौड़ाई होना पाया जाता है। मानवत्व सहज समझदारी का मूल रूप सहअस्तित्व है, प्रमाणीकरण का स्वरूप सहअस्तित्व है।

मानव कुल अपना सम्पूर्ण वैभव को प्रमाणित करने के रूप में प्रथम सोपान परिवार ही है। परिवार में जो कमी रह जाती है वह कहीं भी आपूर्ति नहीं हो पाती। परिवार में ही हर मानव शुद्ध रूप में अथवा संपूर्ण रूप में पहचान के योग्य है। परिवारजन परस्परता में जितने अच्छे तरीके से पहचान पाते हैं, परिवार के बाहर अथवा किसी दूसरे परिवार के व्यक्ति को उसके सम्पूर्ण आयाम कोण, दिशा, परिपेक्ष्यो, के संदर्भ में ध्यान देना स्पष्ट होना जटिल हो ही जाता है। इसलिए हर मानव को अपने परिवार में जागृति का प्रमाण प्रस्तुत करना अभ्युदय का प्रमाण है। अभ्युदय का तात्पर्य भी सर्वतोमुखी समाधान से ही है। इस विधि से मानव इस बात पर अपने को विश्वास स्थली के रूप में पहचान सकता है कि परिवार में समझदारी से मानसिकता, मानसिकता से कार्य व्यवहार, कार्य व्यवहार से फल परिणाम, फल परिणाम से समाधान समृद्धि प्रमाणित होने के अर्थ में परस्पर निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण करना प्रत्येक परिवार सदस्यों से बन पाता है। इस क्रम में मानव अपने वैभव के सम्पूर्ण स्वरूप को स्पष्ट किया ही रहता है। यही रहस्य मुक्त परिवार है। सकारात्मक पक्ष में समाधान समृद्धि पूर्ण परिवार है और अभय, सहअस्तित्व को प्रमाणित करने योग्य परिवार है। इसे जागृत मानव परिवार के सौभाग्य के रूप में पहचानना हर व्यक्ति द्वारा जो अन्य जागृत परिवार के सदस्य हैं सुगम हो जाता है इसे भली प्रकार से समझ चुके हैं। इसलिए विश्वास करते हैं कि हर मानव इसे समझते हुए अपने कार्य व्यवहारों को जागृति की कडी से जोड़ने का प्रयास एवं प्रमाण अवश्य ही करेंगे। - ज.व. 191-193

(iii) परिवार में उत्पादन व्यवस्था में भागीदारी

प्रत्येक मनुष्य में, तन, मन, धन रूपी अर्थ, एक दूसरे के पूरक रूप में दिखाई पड़ते हैं। मूलतः मन से ही शरीर का संचालन होना देखा जाता है। तन और मन के वियोग की स्थिति में कोई, कार्य शरीर से सम्पन्न नहीं हो पाता है और मानव की संज्ञा, सार्थक नहीं हो पाती है। जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में वर्तमान रहना, मानव व्यवहार का आधार है। ऐसे व्यवहार कार्य के क्रम में, उत्पादन कार्य भी एक आवश्यकीय कृत्य है। उत्पादन का तात्पर्य, तन-मन सहित प्राकृतिक ऐश्वर्य अर्थात् पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था पर श्रम नियोजन पूर्वक उपयोगिता मूल्य, कला मूल्य स्थापित करना है। इसी क्रम में सम्पूर्ण महत्वाकांक्षा और सामान्य आकांक्षा सम्बन्धी वस्तुओं का उत्पादन हुआ है। इसमें निपुणता, कुशलता प्राप्त करने के क्रियाकलापों को प्रशिक्षण नाम दिया जाता है। यह पूर्णतया चित्रण सहज,

तकनीकी सम्पन्न मानसिकता है। इसमें शरीर के अंग अवयव के संयोजन पूर्वक, हस्त लाघव सहित, श्रम नियोजन संपन्न होता है। इस विधि से मनुष्य को हमने उत्पादन कार्य में सफल होते हुए देखा है। अभी तक के उत्पादन, क्रिया कलापों में विकृति का स्वरूप, लाभोन्मादिता ही है। यह भय और प्रलोभन पर आधारित है। इसके विकल्प के रूप में “मूल्य और मूल्यांकन” रूपी प्रौद्योगिकी एवं “समाज व्यवस्था सूत्र” को व्याख्यायित और स्थापित करना इस मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान की अभीप्सा है। उक्त प्रकार से उत्पादन कार्य और उसकी मानसिकता स्पष्ट हो चुकी है।

उत्पादन ही धन है – इस प्रकार, तन, मन, धन का स्वरूप स्पष्ट हुआ है। इनकी उपयोगिता, सदुपयोगिता और प्रयोजनशीलता विधि से मूल्यांकन संभव हो जाता है। वस्तु का मूल्यांकन उपयोगिता और सुन्दरता के आधार पर मन का मूल्यांकन अनुभव मूलक विधि से कार्य-व्यवहार के रूप में मूल्यांकित हो जाता है। यह प्रत्येक व्यक्ति के साथ मूल्यांकित हो जाता है। मूल्यांकन का आधार, मानव सम्बन्ध और नैसर्गिक सम्बन्ध है। मानव परम्परा में दोनों प्रकार के सम्बन्ध वर्तमान है और इनका निरंतर होना पाया जाता है। मानव परम्परा मानसिकता विवेक विज्ञान विचार सम्मत होने के कारण, मनोविज्ञान की समझ जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के रूप में (अथवा मनोविज्ञान सहज सम्बन्ध) एक आवश्यकता है। स.श., 81-85

हर स्तरीय परिवार में आवश्यकता से अधिक उत्पादन एक अनिवार्य स्थिति है, सहज स्थिति है, आवश्यकीय स्थिति है। क्योंकि आवश्यकता से अधिक उत्पादन विधि से ही शरीर पोषण, संरक्षण समाज गति सम्पन्न हो पाता है। और इसके मूल में जीवन जागृति पूर्वक ही समाज गति सार्थक होता है। सार्थकता का स्वरूप सह-अस्तित्व और तृप्ति है। सह-अस्तित्व में सदा-सदा उभयतृप्ति होना देखा गया है। यह भी विश्लेषण पूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है। इस आधार पर शरीर पोषण, संरक्षण और समाज गति में तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग-सुरक्षा विधि से ही सम्भावित होना देखा गया। उत्पादित वस्तु ही धन है। मन का तात्पर्य जीवन शक्तियों से व निपुणता, कुशलता, पांडित्यपूर्ण मानसिकता से है। मन और तन समेत ही मानव हर कार्य-व्यवहार करता है। जागृतिपूर्वक किये जाने वाले हर कार्य का फलन उत्पादित वस्तुओं के रूप में प्रधान रूप में मिलता है। – म.वि. 206-207

सेवा :- उत्पादन-कार्य में भागीदारी ही श्रम नियोजन का प्रधान अवसर, संभावना व आवश्यकता है क्योंकि परिवार सहज आवश्यकता, शरीर पोषण, संरक्षण और समाज गति के अर्थ में उत्पादन का प्रयोजन स्पष्ट होता है। इनमें आहार, आवास, अलंकार और दूरदर्शन, दूरश्रवण और दूरगमन संबंधी वस्तु व उपकरण गण्य हैं।

यह सर्वमानव में स्वीकृत है। इस प्रकार हम मानव प्रतिफल के रूप में कृषि, पशुपालन, ग्राम शिल्प, हस्तकला, कुटीर उद्योग, ग्रामोद्योग और लघु-गुरु उद्योग पूर्वक सामान्याकांक्षा एवं महत्वाकांक्षा सम्बंधी वस्तुओं को श्रम नियोजन और सेवा पूर्वक प्रतिफल के रूप में पा सकते हैं। – स.श. 159

उत्पादन की भागीदारी के लिये श्रम नियोजन आवश्यक है। श्रम नियोजन पूर्वक ही मानव समृद्ध होता है। मानव में श्रम निपुणता, कुशलता एवं पांडित्य के रूप में समझदारी होना ज्ञातव्य है जो चैतन्य क्रिया का अधिकार है। इसी अधिकारवश जड़-प्रकृति की यांत्रिकता में वह परिमार्जन और परिणाम प्रदान करता है फलतः उपयोगिता एवं सुन्दरता प्रत्यक्ष होती है। चैतन्य क्रिया की यही क्षमता परिवारगत आवश्यकता से अधिक उत्पादन एवं समृद्धि को प्रकट करती है। चैतन्य जीवन ही अमर है। शरीर का जन्म और मृत्यु घटना है। इस तथ्य को जानने वाला भी चैतन्य इकाई ही है।

मानव में श्रम का मूल रूप भी चैतन्य-क्रिया ही है। इस चैतन्य-क्रिया में जो संवेदनशील एवं संज्ञानशील क्षमता है, वही स्थापित मूल्यों का वहन, शिष्ट मूल्यों का प्रकटन और उत्पादित वस्तु मूल्यों का मूल्यांकन करता है और प्रमाणित होना पाया जाता है। सामाजिक जीवन में उत्पादन, उपयोग, सदुपयोग एवं विनिमय अविभाज्य अंग है। यही तथ्य जीवन में एकसूत्रता, तारतम्यता, अनन्यता और एकात्मकता को स्थापित करने के लिये प्रेरित करता है। यही स्थापना शुद्धतः व्यवस्था है। अ.द. 65-67

किसी वस्तु के उत्पादन में अकेले से कुछ होता ही नहीं है। एक से अधिक लोगों के बीच में ही किसी वस्तु का उत्पादन संभव है। मूल्यांकन के लिए एक से अधिक व्यक्तियों का होना ही है। विनिमय के लिए और व्यक्ति परिवार की आवश्यकता ही है। व्यक्ति के सीमा में कोई उत्पादन का निर्णय नहीं होता। इस बात को पहले से ही स्पष्ट किया है हर मानव किसी न किसी मानवीयतापूर्ण परिवार में प्रमाणित होगा। हर मानव बहुआयामी अभिव्यक्ति है इसलिए उत्पादन-कार्य एक आयाम है। परिवार में लक्ष्य उत्पाद है न कि श्रम ज्यादा कम। - अ.श. 249-250

(iv) विनिमय व्यवस्था में भागीदारी

हर उत्पादन मानव में निहित, मानव सहज निपुणता, कुशलता, पांडित्य सहित सहज मानसिकता पूर्वक शरीर के द्वारा प्राकृतिक ऐश्वर्य पर श्रम नियोजन करने के फलस्वरूप वस्तुओं में उपयोगिता और कला मूल्य स्थापित होता है। यही उत्पादन का अर्थ-इति है। ऐसे उत्पादित वस्तुओं का विनिमय इसलिये आवश्यक हुई कि हर परिवार में निश्चित कुछ वस्तुओं का उत्पादन करना समीचीन, संभव और क्रियान्वित रहता है। जबकि हर परिवार को जो उत्पादन सहज सम्पन्न रहते हैं उन वस्तुओं से भिन्न अन्य वस्तुओं की आवश्यकता बनी रहती है। इसलिये विनिमय प्रणाली है। - म.वि. 206-207

विनिमय-कोष अपने परिभाषा के स्वरूप में विनिमय कार्य सम्पन्न करता हुआ और विनिमय के लिए आवश्यकीय सभी वस्तुओं को विशेषतः सामान्य-आकांक्षा संबंधी सभी वस्तुओं को श्रम मूल्य के आधार पर आदान-प्रदान करता हुआ एक क्रियाकलाप है। इसमें हर स्तरीय कोषों में उन-उन स्तरीय आवश्यकता के अनुरूप वस्तुएँ उपलब्ध रहता ही है। उन-उन स्तरों में यह समितियाँ लाभ-हानि मुक्त विधि से विनिमय करता है। इसका उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजनशील रूप प्रदान करना हर परिवार का ही कार्यकलाप होना देखा गया है। इस मुद्दे पर अर्थात् उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजनशीलता सहज क्रियाकलापों को पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

विनिमय-कोष लाभ-हानि मुक्त श्रम-मूल्यों का मूल्यांकन विधि से विनिमय कार्य को सम्पादित करता है, इसलिये विनिमय-कोष के स्वत्व में कोई संग्रह, किसी भी प्रकार का संग्रह देखने को नहीं मिलता है क्योंकि अस्तित्व में संग्रह का साक्ष्य नहीं है। अस्तित्व में पूरकता का गवाही है, त्व सहित व्यवस्था का गवाही है। अस्तित्व में जीवन जागृति साक्ष्य है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर विनिमय-कोष में लाभ की आवश्यकता नहीं रह जाती है क्योंकि सार्वभौम व्यवस्था और अखण्ड समाज के सूत्र में, से, के लिये और इसे नित्य सफलीभूत बनाने का प्रणाली-पद्धति-नीति में, से के लिये मानव सहज विज्ञान और विवेक सम्मत विचारों के रूप में कार्यरत रहना देखा गया है। - स.श. 313

हर वस्तु उपयोगिता के आधार पर मूल्यांकित होता है। सभी उपयोगिताएँ महत्वाकांक्षा-सामान्याकांक्षा के रूप में परिगणित होते हैं। इन सभी मूल्यांकन की सफलता समृद्धि के अर्थ में होना ही लक्ष्य है। यह हर परिवार मानव का स्वीकृत लक्ष्य है। समाधानपूर्वक ही समृद्धि का प्रमाण होना पाया जाता है। समाधान सदा-सदा तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग इसके फलन में सुरक्षा ही है। इस प्रकार सदुपयोग सुरक्षा के बिन्दुओं के आधार पर ही तृप्ति बिन्दु और उभय तृप्ति नित्य प्रमाण होना पाया जाता है। इसी आधार पर हर स्तरीय परिवारों में उत्पादन और समृद्धि का मूल्यांकन होना सहज है। सदुपयोग धर्म सूत्र से; सुरक्षा राज्य सूत्र से संबंध रहता है।

उपयोगिता और कला मूल्य का मूल्यांकन होना सहज है। इसी मूल्यांकन क्रिया को श्रम मूल्य का नाम दिया। - अ.श.

137

उत्पादन का सुगमतापूर्वक वांछित वस्तु व सेवा में परिवर्तित होना ही विनिमय की चरितार्थता है। लाभ मूलक वाणिज्य प्रक्रिया उसके विपरीत स्थिति का निर्माण करती है। यही सत्यता मानव को श्रम-विनिमय-पद्धति को सर्वसुलभ बनाने के लिये प्रेरित है। - अ.द. 65-67

इसी क्रम में संपूर्ण मानव परिवार विनिमय कार्य को निर्वाह करने का अवसर, आवश्यकता और उसका प्रयोजन सार्थक होता है। विनिमय कार्य सार्थक होने का तात्पर्य लाभ-हानि मुक्त विधि से प्रत्येक वस्तु श्रम मूल्य सहज विधि से मूल्यांकन सहित आदान-प्रदान होने से है। प्रत्येक मानव अपना शोषण नहीं चाहता है, इस प्रकार सर्वमानव शोषण नहीं चाहता है। जागृति पूर्वक लाभ-हानि मुक्त विनिमय व्यवस्था सार्थक होता है। यह मानव परंपरा में मौलिक अधिकार है। हर परिवार अपने आवश्यकता से अधिक उत्पादन, श्रम-मूल्य, मूल्यांकन और उभय तृप्ति विधि से विनिमय कार्य को संपन्न करना अर्थात् वस्तु का आदान-प्रदान करना मौलिक अधिकार पाया जाता है। विनिमय कार्य में प्रधान सूत्र श्रम मूल्य का मूल्यांकन करना ही है। विनिमय सुलभता का अर्थ में सभी प्रकार के सार्थक आवश्यकीय वस्तुएं कोष के रूप में सतत्-सतत् बनाए रखना कोष कार्य का गति है। कोष विनिमय को संतुलित बनाये रखता है। फलस्वरूप श्रम मूल्य का मूल्यांकन कला मूल्य और उपयोगिता मूल्य के आधार पर संपन्न होना पाया जाता है जिसके आधार पर हर परिवार अपने समृद्धि को व्यक्त करने में समर्थ हो पाता है। - स.श. 242

उत्पादन को दूसरी वस्तु व सेवा में बदलने के लिये अपनाई गई सुगम पद्धति ही विनिमय है, जिसकी सफलता के लिये प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक आवश्यकीय वस्तु का सहज-सुलभ होने के लिये केन्द्रों का होना आवश्यक है। उत्पादन-कार्य जितना महत्वपूर्ण है उतना ही उसके सहायक तत्व संरक्षण भी महत्वपूर्ण हैं। संरक्षण के अभाव में सशंकतावश, साधनों के अभाव में उत्पादन सामग्रियों की असंपूर्णतावश, शिक्षा के अभाव में अक्षमतावश, विनिमय के अभाव में दूसरी वस्तु व सेवा में परिवर्तित करने के विघ्नवश उत्पादन में क्षति होती है। व्यवस्था का प्रत्यक्ष रूप में से उत्पादन एवं उसके सहायक तत्वों को सर्वसुलभ बनाना है। विधि का शुद्ध रूप ही सामाजिक मूल्यों यथा जीवन मूल्य, मानव मूल्य, स्थापित मूल्य व शिष्ट मूल्य का संरक्षण एवं संवर्धन है। ऐसी शुद्ध व्यवस्था के अंगभूत श्रम नियोजन एवं श्रम-विनिमय-पद्धति द्वारा सफल होने की पूर्ण संभावना है क्योंकि प्रत्येक मानव शोषण के विरुद्ध है। प्रत्येक मानव न्याय का याचक है। प्रत्येक मानव सही करना चाहता है। प्रत्येक मानव भौतिक समृद्धि एवं बौद्धिक समाधान से संपन्न होना चाहता है। साथ ही प्रत्येक वस्तु में निश्चित श्रम नियोजन होता है। प्रत्येक वस्तु का किसी एक वस्तु की अपेक्षा में

श्रम मूल्य निर्धारण उपयोगिता मूल्य के आधार पर होता है। प्रत्येक वस्तु को प्रत्येक स्थान पर सर्वसुलभ बना देना सहज है। - अ.द. 65-67

5.10 परिवार सहज उत्पादन का महत्व

(i) परिवार में उत्पादन की अनिवार्यता

शरीर के पोषण, संरक्षण के लिए वस्तुओं का उपयोग पहचान लिया गया है, और समाज गति के लिए उपयोगी वस्तुओं के क्रिया-प्रक्रिया को भी पहचान लिया गया है। समाज गति के लिए प्रयुक्त होने वाले अथवा उपयोगी होने वाले यंत्रों उपकरणों को दूर संचार नाम दिया जाता है, जिसमें दूर गमन, दूरदर्शन, दूर श्रवण समाहित हैं।

जागृत मानव परंपरा में वस्तुओं का उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजनशील विधियाँ निष्पन्न होती हैं और प्रमाणित होती हैं। उपयोगिता अर्थात् वस्तु की उपयोगिता की सीमा परिवारगत आवश्यकता के रूप में स्पष्ट होती है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन मानव परंपरा में इसलिए संभव हो गया है कि जो कुछ भी उत्पादन करते हैं, जितना भी उत्पादन करते हैं, उतने को भोग नहीं पाते हैं। इसलिए आवश्यकता से अधिक उत्पादन सूत्र स्पष्ट हो जाता है। यह आवश्यकता से अधिक उत्पादन, इस विधि से सहज हो गया कि जीवन में अक्षय शक्ति और बल का होना, जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में उत्पादन कार्य संपन्न होना, इसका उपयोग शरीर पोषण, संरक्षण, समाज गति के रूप नियोजित होना जो सीमित रहना अर्थात् जिसकी सीमायें निर्धारित रहना होता है। यह स्वभाविक है, यह अभी मानव परंपरा भ्रमित रहने के स्थिति में भी देखा गया है कि कम से कम लोग उत्पादन कार्य में लगे हैं, ज्यादा से ज्यादा लोग उपयोग करते रहते हैं। जागृति के पहले से ही आवश्यकता से अधिक उत्पादन मानव कुल में संपादित होने का प्रमाण स्पष्ट है।

ऐसे होते हुए भी भटकने का कारण एक ही है, हमें पढ़ाई में यह बताया जाता है- “आवश्यकता अनंत है, साधन सीमित है इसलिए संघर्ष पूर्वक ही हम अपने आवश्यकता को पूरा कर पायेंगे।” इस नजरिये से मानव का संग्रह सुविधा की ओर ज्यादा ध्यान देना, संग्रह-सुविधा का तृप्ति बिन्दु न मिलना, आवश्यकता को अनंत मान लिया। यही भटकाव, और भ्रम का आधार है। इस चक्कर से हम तभी छूट पायेंगे, जब यह स्पष्ट और प्रमाणित हो जाय कि हर परिवार की आवश्यकता सीमित है, आवश्यकता को पूरा करने की संभावना ज्यादा है, जीवन शक्तियाँ अक्षय हैं, जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में ही उत्पादन होता है, शरीर की आवश्यकता सीमित है। इस नजरिये से समृद्धि की ओर हमारा ध्यान जाता है। इसका स्रोत परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन होना ही है।

उक्त विधि से परिवार की आवश्यकता निर्धारण, परिवार में ही एक या एक से अधिक व्यक्ति, परिवार सहज आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने का सामर्थ्य रखता है। समझदार परिवार होने के उपरान्त एक ही परिवार में 2 - 4 व्यक्ति ऐसी उत्पादन क्षमता वाले हो जाते हैं। जब परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन होता है, तब समझदार परिवार में समाधान समृद्धि प्रमाणित होने का सौभाग्य उदय होता है। इससे यह परिवार जनों के लिए प्रसन्नता और विश्वास से संपन्न होना बन जाता है। परिवार के हर सदस्य अपने में विश्वास करने योग्य हो जाते हैं। स्वयं में विश्वास होने से ही श्रेष्ठता का सम्मान होना, समझदारी का प्रमाण होना, समझदारी संपन्नता के प्रमाण में व्यक्ति का

व्यवहार में सामाजिक और व्यवसाय में स्वावलंबी होने का प्रमाण अपने आप में उदय होता है। ऐसी उदयशीलता मानव के ज्ञानावस्था की इकाई होने का फलन है।

इसके साथ यह भी स्पष्ट होता है कि अनुभव मूलक विधि से समझे हुए को समझाने, सीखे हुए को सिखाने, किये हुए को कराने की विधियाँ अनुभवमूलक परावर्तन से सार्थक होती हैं। इसी क्रम में जो कुछ भी मानव का उत्पादन है, वह उसका परिवार की सीमा में उपयोग, समाज के अर्थ में सदुपयोग और सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में प्रयोजनशील होना इंगित हो चुका है। यह भी इंगित हुआ है कि मानव की आवश्यकतायें शरीर पोषण, संरक्षण, समाज गति की सीमा में है। समाज गति अपने में अखण्ड समाज और सार्वभौम व्यवस्था का संयुक्त गति है। अखण्ड समाज अपने में पहले से सुस्पष्ट हो चुका है।

सभी परिवार समाधान, समृद्धि सम्पन्नता के उपरान्त वस्तुओं को कहाँ नियोजित करेंगे, यह प्रश्न समान रूप में उदय होता ही है। इसमें यह इस प्रकार से अनुभव किया गया है कि मानव परिवार में समाधान, समृद्धि सम्पन्न होने के उपरान्त उपकार प्रवृत्ति उदय होती है।

समझदार परिवार का जनप्रतिनिधि ही समग्र व्यवस्था में भागीदारी करेगा।

समाज गति के लिए जो कुछ भी वस्तुएँ नियोजित होती हैं, ये सब समृद्ध परिवार से ही प्रदत्त रहता है। यहाँ तक हर हालत में, अर्थात् कितने भी जागृत होने के उपरान्त भी, नियोजन होता ही है। इस प्रकार समाज गति के साथ ही व्यवस्था को मानव प्रमाणित कर पाते हैं। व्यवस्था में भागीदारी करता हुआ एक जन प्रतिनिधि, किसी परिवार का ही रहेगा। उनके शरीर पोषण, संरक्षण और समाज गति के लिए जितने भी वस्तुयें चाहिए, वह सब समझदार समृद्ध परिवार द्वारा प्रदत्त रहेगा। इस प्रकार हर परिवार से समाज गति में भागीदारी, योगदान और वस्तुओं का उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजन अपने आप में सुनिश्चित रहता है। इसी स्थिति गति में वैभूत, जागृत मानव परंपरा के रूप में होना पाया जाता है। - क.द. 158-161

(ii) परिवार में समृद्धि

समृद्धि :- आवश्यकता से अधिक उत्पादन का अर्थ समृद्धि है।

परिभाषा :- स्वायत्त = समृद्धि का अनुभव ही स्वायत्त है।

मूल्यांकन, आवश्यकता से अधिक होने के बिन्दु में ही तृप्ति का अनुभव होना पाया गया है। इसे हर व्यक्ति अपने में जाँच सकता है। ऐसा जाँचने के क्रम में इस तथ्य का भी मूल्यांकन होता है कि हम आवश्यकता से अधिक उत्पादन किये है या नहीं। आवश्यकता से अधिक उत्पादन परिवार की सीमा में ही मूल्यांकित होता है। परिवार में सभी सम्बन्धों का सम्बोधन जागृत मानव प्रकृति को जाँचने के लिए एक आवश्यकता है। - म.वि. 63

लाभ की परिकल्पना भ्रमवश, प्रलोभनवश लाभ प्रवृत्तियाँ, शोषणपूर्वक संग्रह सुविधा के रूप में होना स्पष्ट हो चुकी है। लाभाकांक्षा भ्रमित मनुष्य को अच्छी लगती है, इसका अच्छा होना, संग्रह सुविधा के आधार पर देखा गया। लाभ के साथ संग्रह की अनिवार्यता, दूसरे क्रम में भोग की पिपासा होना पाया जाता है। इन दोनों विधियों से मानव तो बर्बाद होता ही है। बर्बाद होने का तात्पर्य अतृप्ति की तादात का बढ़ना है, क्योंकि संग्रह का तृप्ति बिंदु नहीं है। इसी के साथ साथ संघर्ष और युद्ध एक अनिवार्य स्थिति बनती है। इसकी गवाहियाँ पूरी हो चुकी हैं। इसी के साथ नैसर्गिकता में तमाम प्रदूषण फैलाना भी साक्षित हो चुका है। इस प्रकार नैसर्गिकता की बर्बादी देखने को मिलती है। इस स्थिति में भी, सुखी व समाधानित होने की अपेक्षा बनी ही रहती है।

उक्त क्रम में समृद्धि के साथ अभय तथा समाधानापेक्षा, प्रत्येक मनुष्य में देखने को मिलती है। प्रत्येक मनुष्य जीवन के रूप में अक्षय बल, अक्षय शक्ति सम्पन्न है। शरीर के रूप में सीमित बल व शक्ति के रूप में है। साथ ही मनुष्य शरीर व जीवन का संयुक्त साकार रूप है। इसी सत्यतावश भौतिक रासायनिक वस्तुएं शरीर की आवश्यकता हैं। उत्पादन क्रम में जीवन शक्तियाँ शरीर द्वारा नियोजित होती हैं, फलतः शरीर द्वारा आवश्यकता से अधिक उत्पादन होना मानव सहज है। यही उत्पादन सुलभता है। यह विनियम सुलभता व न्याय सुलभता पूर्वक उपयोगिता, सदुपयोगिता व प्रयोजनीयता सहित समृद्धि, समाधान, अभय, सह-अस्तित्व सहज स्वराज्य व्यवस्था व व्यवस्था में भागीदारी सम्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति का उत्पादक होना अथवा उत्पादन कार्य में भागीदार होना, मानव सहज आयाम है। निश्चित उत्पादन और लाभ-हानि मुक्त विनिमय प्रणाली ही उसके संतुलन को स्पष्ट करती है। - म.वि. 63-65

सदुपयोगिता क्रम और विधि से ही सम्पूर्ण मानव में आवश्यकताएँ संयत होते हैं, समृद्ध होने की संभावना बढ़ती है। फलतः उत्पादन कार्य करने के साधनों की वृद्धि एवं समय, घटने की संभावना भी जुड़ी रहती है। क्योंकि आवश्यकता से अधिक साधन (समान्याकांक्षा, महत्वाकांक्षा के) एक पीढ़ी दूसरे पीढ़ी के लिए अर्पित करता रहेगा। यह मानव सहज कीर्ति है। इसी क्रम में सदुपयोगिता विधि से साधन अधिक होने के आधार पर ही समृद्धि सर्वसुलभ होना सहज है। समृद्धि के आधार पर ही उत्पादन मात्रा नियंत्रित होना भी सहज है। गुणवत्ता की ओर मानव का स्वाभाविक रूप से ध्यान होना पाया जाता है। क्योंकि हर मानव समृद्धि कल्पना के साथ ही गुणवत्ता की ओर परिकल्पना तो कर रहा है। जबकि अभी परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था इस धरती पर प्रचलित नहीं हुआ। इसके बावजूद मानव परोपकारी नेतृत्वशील व्यक्तियों को अधिकाधिक साधनों के साथ (भले ही राक्षसीयता से क्यों न हो एकत्रित किया हुआ) प्रयुक्त होता आंकलित हुआ।

परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था विधि में हर परिवार समृद्ध होना स्वाभाविक है। यह भी अभी तक स्पष्ट हो चुका है कि जागृत मानवों का समुदाय ही परिवार मानव और विश्व परिवार मानव के रूप में जीने में समर्थ होता है। - अ.श. 247-248

(iii) विधि सम्मत संपत्ति

प्राकृतिक ऐश्वर्य का मूल्य = शून्य, क्योंकि प्राकृतिक ऐश्वर्य के निर्माण में मानव का श्रम नियोजन सिद्ध नहीं हुआ है। प्रत्येक पीढ़ी अग्रिम पीढ़ी को जिन साधनों को प्रदान करती है वह उसकी अक्षुण्णता चाहती है न कि विनाश। यह सार्वभौम रूप में पायी जाने वाली मनोवैज्ञानिक अपेक्षा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मानव प्रत्येक मानव, समाज प्रत्येक समाज, वर्ग प्रत्येक वर्ग, राष्ट्र प्रत्येक राष्ट्र अथक प्रयास से जितने भी साधनों का निर्माण करते हैं उनमें स्वयं के उपयोग से अतिरिक्त अग्रिम पीढ़ी के लिए सुगम सन्निवेश (साधन सम्पन्न भविष्य) निर्माण करने का मंगलमय आशय एवं संकल्प समाया हुआ है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि जो जिन साधनों को बिना किसी श्रम नियोजन करतलगत किये हैं वे उनके उत्पादक नहीं थे। उसी साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि वे सभी साधन जो बिना श्रम नियोजन के उपलब्ध हुए हैं, यह विधि सम्मत सम्पत्ति नहीं है। व्यवस्था ही विधि है। यही विकास एवं जागृति का क्रम है। विकास क्रम में अपव्यय नहीं है। अपव्यय के अभाव में साधनों के सम्पत्तिकरण की उपयोगिता एवं आवश्यकता सिद्ध नहीं होती है। तात्पर्य, साधनों के सम्पत्तिकरण की आवश्यकता तभी दृष्टव्य है जब मानव उत्पादन से अधिक उपभोग करने के लिए तत्पर हो। उत्पादन से अधिक उपभोग अमानवीयता के अतिरिक्त और कहीं किया जाना संभव नहीं है। अस्तु, अपव्ययता के लिये अत्याशा का होना, अत्याशा के लिये हीनता, दीनता, क्रूरता का होना देखा जाता है।

साधन व स्थान के सम्पत्तिकरण के अभाव में उपयोग-सदुपयोग उसकी वितरण व्यवस्था प्राथमिकतः सुलभ हो जाएगी जिससे प्रत्येक व्यक्ति के लिये साधन व स्थान का अभाव नहीं रहेगा। अपव्यय से रहित जीवन में अधिक स्थान, अधिक साधन स्वयं में पीड़ा दायक सिद्ध है। अधिक साधन अधिक स्थान को संग्रह करने के मूल में भय की पीड़ा एवं अपव्यय के आग्रह का अनिवार्य रूप में रहना पाया जाता है।

श्रम नियोजन, श्रम विनियम-पद्धति से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सेवा व वस्तु को दूसरी सेवा व वस्तु में परिवर्तित करने की सुगमता होती है, जिसमें शोषण, वंचना, प्रवंचना एवं स्तेय की संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं जो अपराध परम्परा का वृहद् भाग है। ये संभावनाएं जागृति पूर्वक मानवकृत वातावरण, प्रधानतः व्यवस्था पद्धति एवं शिक्षा से ही निर्मित होती है।

उत्पादक या उत्पादन के लिये सहायक कोटि में ही प्रत्येक मानव गण्य है। उत्पादन क्षमताएं सामान्य, विशेष एवं विशिष्ट प्रभेद से गण्य है। उत्पादन के आधारभूत तथ्य शिक्षा, साधन, विनियम एवं संरक्षण है। यही व्यवस्था का स्पष्ट रूप है। उत्पादन की गति को द्रुतगामी बनाने के लिये तारतम्यतापूर्ण सुदृढ़ व्यवस्था की अनिवार्यता निरंतर है जिससे आवश्यकता से अधिक उत्पादन होना संभव हो जाता है। - अ.द. 58-59

(iv) परिवार मूलक अर्थशास्त्र

आवश्यकता के आधार पर हर जागृत मानव परिवार में उत्पादन कार्य सहज है। ऐसे उत्पादन का हर परिवार मानव सदुपयोग सुरक्षा चाहता ही है। हर परिवार मानव समृद्धिपूर्ण विधि से व्यक्त होना चाहता है अथवा समृद्धि सहित व्यक्त होना चाहता है। यही दो आधार हर जागृत मानव में प्रमाणित होता है और अन्य जागृत होने के क्रम में दोनों आधारों को स्वीकारे रहते हैं। इस प्रकार सर्वमानव अर्थ का सदुपयोग, सुरक्षा स्वीकारे ही है। ऐसी ज्वलंत सत्य सामने रहते हुए भी पूर्ववर्ती अर्थशास्त्र विद इस ओर ध्यान नहीं दे पाए। इसका दो ही कारण स्पष्ट हैं। पहला मानव और मानव परंपरा की मौलिकता, उसकी अखंडता, सार्वभौमता और उसके अक्षुण्णता को पहचानना संभव नहीं हुआ था। उसका मूल कारण जीवन का रचना, स्वरूप, कार्य, लक्ष्य और उसका प्रमाणीकरण की विधियों में अनजान रहे। दूसरा यह भी प्रलोभन व्यापार संग्रह और भोगवाद से जुड़ी हुई मानसिकता से ही पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रों का प्रणयण हुई। यही वर्गवाद, समुदायवाद का भी कारक रहा। इस प्रकार पूर्ववर्ती आर्थिक विचार, शास्त्र और तंत्रणाएँ समीक्षित हैं, जबकि आवर्तनशील अर्थ-विचार, शास्त्र, तंत्र पूर्णतया परिवार मूलक स्वराज्य स्वरूपतः अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था में अंगभूत विधि से होना स्पष्ट है। - अ.श. 153

परिवार में हर सदस्य स्वायत्त होना ही उनके वयस्कता का प्रमाण है। ऐसे प्रमाण सम्पन्न परिवार के रूप में स्थिति परस्परता में ही संबंधों का पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन और उभय तृप्ति जिसका नाम विश्वास है, प्रमाणित होती है एवं निरन्तरता बनी रहती है। और परिवार सहज आवश्यकता के आधार पर अपनाया/स्वीकारा गया उत्पादन कार्य में एक-दूसरे के लिये पूरक होते हैं। यह समृद्धि का स्रोत होना पाया जाता है। यह प्रत्येक परिवार में, से, के लिये संभावी है। समृद्धि का अनुभव सामान्य आकांक्षा संबंधी वस्तुओं से होना पाया जाता है। महत्वाकांक्षा संबंधी वस्तुएं समृद्धि के लिये सहायक हैं। - स.श. 132-150

मानव ही सर्वशुभ की अपेक्षा करता है। अर्थशास्त्र का अध्ययन, समाधान, समृद्धि, अभय और सह-अस्तित्व क्रम में है। समृद्धि का धारक-वाहक परिवार होता है। परंपरा में लाभ के बाद लाभ और भोग के बाद भोग का सम्मोहन बढ़ता आया है। इस सम्मोहन को समीक्षित करने योग्य जागृति को सुलभ करना ही इस आवर्तनशील अर्थचिंतन विचार और शास्त्र की महिमा है। आवर्तनशील अर्थव्यवस्था की क्रियाप्रणाली मनुष्य संबंधों में संतुलन के उपरांत ही सार्थक हो पाता है। जहाँ-जहाँ तक संबंध में संतुलन नहीं है वहाँ-वहाँ तक भ्रमवश लाभोन्माद छाया ही रहता है।

मानव परंपरा में अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति शास्त्र, मनोविज्ञान शास्त्र, विज्ञान और तकनीकी शास्त्र, ज्ञान और विवेक शास्त्र के मूल में मानसिकता, विचार, इच्छाओं को पहचाना जाता है।

मानसिकता और विचार ही इच्छापूर्वक कल्पनाशीलता कहलाता है और इसी के साथ कर्म स्वतंत्रता कार्य करने लग जाती है। यही अध्ययन, शोध और अनुसंधान का मूल संपदा प्रत्येक मानव में होना पाया जाता है। कोई इसे उपयोग कर पाते हैं कोई नहीं कर पाते। इसी कल्पनाशीलता का समानता ही है सर्वशुभ की स्वीकृति का आधार। सर्वशुभ के संदर्भ में जितने भी प्रकार से शोध, अनुसंधान, अवतरण घटनाक्रम में, परिस्थिति क्रम में, पीढ़ी से पीढ़ी के रूप में दिखने वाली मानव परंपरा में पाये जाने वाले आंकलन चाहे वह राज्य, राष्ट्र, नस्ल, रंग, धर्म, संप्रदाय, भाषा के आधार पर क्यों न हो, इसमें कितनी विविधता क्यों न हो, यह सभी किसी घटना अथवा परिवर्तित घटना जन्य के रूप

में आंकलित होना पाया जाता है। इसी तथ्य के आधार पर सर्वशुभ का आशय (1) समाधान (2) समृद्धि (3) अभय (4) सह-अस्तित्व सहज प्रमाण परंपरा में है। - अ.श. 20

5.11 परिवार में संतुलन से समाज में संतुलन

हर मानव परिवार समझदार होना ही है, होंगे ही। इसका आधार है कि हर मानव समझदार होना चाहता है। तभी समाज और व्यवस्था के संतुलन को प्रमाणित करना बनता है। जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन, मानवीयतापूर्ण आचरण सहज हर जागृत मानव अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में संतुलन को पहचान सकते हैं।

अखंड समाज में संतुलन का स्वरूप जागृति पूर्वक, जागृति विधि से समझ में आता है कि सम्पूर्ण परिवार में कार्यरत प्रत्येक मानव, मानवीयता पूर्वक मानव प्रतिष्ठा संपन्न है। मानव प्रतिष्ठा में परस्पर परिवार और परिवार में कार्यरत प्रत्येक इकाई का सम्बंध पहचानने में आता है। यही जागृति है। पुनः इस प्रत्येक मानव मानवीयता पूर्ण प्रतिष्ठा से सहज वैभव है इसे स्वीकारना, पहचानना तदनुसार सम्बंधों को निश्चय करना व्यवस्था और प्रयोजन सूत्र से सूत्रित रहना और इसे प्रयोग करना ही पूरकता विधि है। हर जागृत मानव अपने को पूरकता विधि से ही प्रस्तुत करता है। अतएव अखंड समाज सूत्र मानवत्व के रूप में सार्थक होना हर भ्रमित व्यक्ति को कल्पना में आता है, जागृत व्यक्ति को समझ में आया रहता है।

समझदार व्यक्ति, समझदार व्यक्ति के साथ पूरक होना परिवार में चिन्हित हो जाता है प्रमाणित होता है। फलस्वरूप समाधान समृद्धि हर जागृत परिवार में प्रमाणित होता ही है।

ऐसे परिवार में हर व्यक्ति उपकार अर्थात् उपाय पूर्वक उत्थान (जागृति और विकास के अर्थ में किया गया तन, मन, धन रूपी अर्थ का प्रयोग उपयोग) से है। जागृति पूर्वक अर्थ का सदुपयोग होना प्रयोजनशील होना, प्रमाणित होता है। इसी तथ्यवश समझदार परिवार में भागीदारी करने वाले उपकार कार्य में प्रवृत्त और कार्यरत होते हैं। यह समाधान समृद्धि का वैभव रूपी प्रमाण है। वैभव का तात्पर्य स्वीकारने योग्य प्रयोजन, आचरण, और समझदारी से है। इस प्रकार उपकार करने वाले होने वाले का योग, संगीत अर्थात् सार्थकता के अर्थ में उभय स्वीकृति के रूप में सम्पन्न होना पाया जाता है। इस प्रकार प्रयोजनशील सार्थकवादी उपकार कार्यक्रम शिक्षा संस्कार के रूप में ही सार्थक होना पाया जाता है। हर मानव समझदारी से संपन्न होने के उपरांत ही स्वायत्त सम्पन्न होता गया। ऐसी स्वायत्तता को छः प्रकार से पहचाना गया प्रमाणों के रूप में विदित कराया जा चुका है। ऐसे समझदार मानव की पहचान पहले समझाये गये छः समाधान सहज गति के रूप में होने के आधार पर ही हर आयाम दिशा कोण के परिपेक्ष्य में लिया गया निर्णय समाधानकारी होना स्वाभाविक है। स्वाभाविक का तात्पर्य व्यक्ति जो समझदार हुआ रहता है उनमें समाधानकारी न्यायकारी, प्रयोजनकारी निर्णय बिना दूसरे के सहायता के सम्पन्न होता है।

फलतः उपकारकारी होता है। इस प्रकार समझदार परिवार में भागीदारी करने वाले सभी नर नारी उपकारकारी कार्य में प्रवर्तित होते हैं। उपकार कार्य में तीन स्वरूप को पहचाना गया है वह समझा हुआ को समझाना, किया हुआ को कराना, सीखा हुआ को सिखाना ही है। सीखा-क्रिया के मूल में समझदारी ही सबल, सार्थक प्रवर्तन है। मानव का

प्रवर्तन सह-अस्तित्ववादी विचार शैली के आधार पर सार्थक होना पाया गया। फलस्वरूप समझकर सीखने का सिद्धांत अपने आप सार्वभौम हो जाता है। सार्वभौमता का तात्पर्य सर्वमानव में स्वीकार होने से है। अतएव उल्लेखनीय बिन्दु यही है कि हर नर-नारी समझदारी पूर्वक ही परिवार में भागीदारी करता है। फलतः परिवार सार्थकता रूपी समाधान, समृद्धि रूपी उपकार हर समझदार परिवार में स्वस्फूर्त विधि से प्रमाणित होता है। उपकार विद्या ही मुख्य बिन्दु है। धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा का प्रमाण सर्वविदित होने और सर्वसुलभ होने का तथ्य है। धीरता वीरता पूर्वक मानव सम्पूर्ण उपकार कार्य करता है।

उपकार विधि से ही मानव परम्परा सार्थक होती है। मानव परम्परा की सार्थकता का तात्पर्य समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व लक्षित समझदारी, ईमानदारी और जिम्मेदारी ही है। इसका प्रमाण विधि व्यक्ति सम्पदा के रूप में वैभवित होने और मूल्यांकित होने के रूप में है, ऐसे समझदार मानव परिवार में समाधान, समृद्धि, उपकार वैभवित होने और मूल्यांकित होने, समाज में अर्थात् विश्व परिवार में समाधान, समृद्धि, अभय, सार्थक होने और मूल्यांकित होने, विश्वमानव व्यवस्था सहज फलन समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व प्रमाणित होने और मूल्यांकित होने के रूप में ही हर मानव सम्पूर्ण मानव है। सम्पूर्ण मानव अपनी सार्थकता को अनुभव करते हैं। हर मानव में सार्थकता की अनुभूति जागृति प्रामाणिकता सहित छः ऐश्वर्यों को समाधान समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व के रूप में प्रयोजित नियोजित होने, उसकी निरंतरता के रूप में मूल्यांकित होने से है। इस विधि से हम अपने अवधारणा में धीरता, वीरता, उदारता को परिवार में और परिवार लक्ष्य के रूप में मूल्यांकित कर सकते हैं। विश्व परिवार रूपी समाज में धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा को मूल्यांकित कर सकता है। म.वि. १९९८, १६०-१६३

अध्याय 6: मानवीय परम्परा – अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था

परम्परा के तात्पर्य प्रवाहित होना है। प्रवाहित होने का तात्पर्य पीढ़ी से पीढ़ी में अंतरित होने, परीक्षण, निरीक्षण पूर्वक स्वीकृत होने और निष्ठापूर्वक हर पीढ़ी में प्रमाणित होने से है। यही परंपरा का तात्पर्य है। – अ.श. 244

6.1 प्रचलित समाज परिस्थिति

(i) वर्तमान शिक्षा परम्पराएं: समीक्षा

इस बीसवीं शताब्दी की दसवीं दशक तक व्यक्तिवादी समुदाय परम्परा में अभी तक की शिक्षा, संस्कार विधियों से, समुदायवादी अथवा व्यक्तिवादी प्रयासों की अपेक्षा में होते हुए भी, स्वतंत्रता और स्वराज्य रूपी ध्रुवों के आधार पर सफल होने का आधार, किसी परम्परा में करतलगत नहीं हुआ अर्थात् व्यवहार में प्रमाणित, शिक्षा में प्रबोधित नहीं हुआ। जिसके फलस्वरूप पुनः व्यक्तिवादी मानसिकता और समुदायवादी मानसिकता के लिए मानव विवश होते आया। इस प्रकार व्यक्तिवादी समुदाय परम्परा का स्वरूप स्पष्ट हो गया। सर्वमानव जागृति सहज विधि से इसे स्वतंत्रता और स्वराज्य पूर्वक, अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था, स्वानुशासन रूप चरित्र मूल्य, नैतिकता की मानसिकता का लोकव्यापीकरण सहित, प्रमाणित करने की आवश्यकता निर्मित हुई है। इसी क्रम में, अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन ज्ञान के आधार पर, यह “मानव-संचेतनावादी मनोविज्ञान” प्रणयित हुआ है। इसमें सम्बंधों को जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना प्रधान तत्व है।

यही मानव संचेतना का निश्चित स्वरूप है। जागृत मानव का सम्पूर्ण क्रम उक्त चार स्वरूप में व्याख्यायित है। ऐसी चार क्रियाएं प्रत्येक मनुष्य में, से, के लिए प्रमाणित होने का अध्ययन है। जैसे – माता की कोख में आई संतान, सर्वप्रथम मां को ही पहचानती है क्योंकि उनसे पोषण कार्य सम्पन्न होता हुआ, शैशव काल में ही, जीवन पहचान लेता है। फलस्वरूप मां को पहचानना संभव हो जाता है। उसी के साथ साथ संरक्षण कार्य, सूत्रित होना आरंभ होता है। शिशु के प्रति अपेक्षा माता पिता में यही बनी रहती है कि शिशु स्वस्थ रहे, खुश रहे, उत्सवित रहे। इसी प्रत्याशा को सफल बनाने के लिए, विविध प्रकार के उपायों को अनुसंधान करते और प्रयोग करते माता पिता को देखा गया है। जैसे ही शिशु काल से कौमार्य अवस्था समीचीन होती है वैसे ही जागृत मानव, जागृति व सम्बंधों को पहचानने, मूल्यों को निर्वाह करने के अर्थ में अभिभावक प्रेरक होना पाया जाता है। साथ ही आहार प्रणालियाँ ऐसी शिशु और कौमार्य अवस्था से ही स्वीकार होने लगती हैं।

भ्रमित परम्परा में रुढ़ियाँ व्यक्तिवादी, परिवार समुदाय क्रम में रुढ़ियाँ (सामुदायिक, पारिवारिक, व्यक्तिगत रुढ़ियाँ) क्रम से, कौमार्य अवस्था की मानव संतान को प्रभावित कर लेती हैं। इस कौमार्य अवस्था के पहले से ही, भ्रमित समुदायों, परिवारों में अभ्यस्त विधि से आहार प्रणाली (चाहे वह शाकाहार, दुग्धपान हो, चाहे मांसाहार, मद्यपान हो) के अभ्यस्त हो जाते हैं।

कौमार्य अवस्था में जैसे ही, “करो, न करो” – का चक्र चलना आरंभ होता है (जो माता, पिता करते रहते हैं, उसे नकारने की स्थिति में और जो माता, पिता नकारते रहे, उसे स्वीकार करने से या शंका उत्पन्न करने से) माता, पिता का ममता सूत्र डगमगाना आरंभ होता है। माता, पिता की ममता का सूत्र, उदारतापूर्वक सूत्रित रहता है। ममता डगमगाने का तात्पर्य, उदारता का भी, डगमगाना होता है। इसी क्रम में शिक्षा में की बात आती है, क्योंकि सम्पूर्ण संस्कार “करो, न करो” में सिमट ही जाता है।

कोई समुदाय परम्परा सार्वभौम न हो पाने की स्थिति में ही जातिवाद, नस्लवादी, रंगवादी, भाषावादी, पूजापाठ, अभ्यासवादी, सम्प्रदायवादी मानसिकता के अतिरिक्त, वर्गवादी मानसिकता के आधार पर भी “करो, न करो” वाला कार्यक्रम प्रकारान्तर से सभी संप्रदायों में बना रहता है। जीवन सहज रूप में, प्रत्येक मनुष्य में सार्वभौमता ही अपेक्षित है। इसी के आधार पर समुदाय परंपराओं में, मानव जिसे स्वीकारता है, उन्हीं की संतानें उसे नकार देती हैं। कहीं कहीं परंपराएं जिसे नकार देती हैं, उसे स्वीकार कर भी लेता है। इस प्रकार पीढ़ी से पीढ़ी में, शोधात्मक और विद्रोहात्मक विधियों से प्रकाशन होते आया है। इस प्रकार प्रत्येक सम्बंध कुछ काल के बाद, परस्परता में कुछ सार्वभौमता और उसका भरोसा बनते तक ऐसे शोध और विद्रोह, भावी हो गए हैं। इसीलिए मानव केन्द्रित चिंतन समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी को हर मानव द्वारा निर्वाह करने की आवश्यकता को उजागर किया है। जिसकी आवश्यकता सह-अस्तित्व सहज विधि से भावी मानव ही सार्वभौम आचरण, सार्वभौम ज्ञान और सार्वभौम दर्शन का, धारक, वाहक है। प्रत्येक मनुष्य सार्वभौमता की अपेक्षा में ही है। यह प्रमाणित हो जाता है। इसी के पक्ष में, मानवीयतापूर्ण आचरण, अस्तित्व दर्शन और जीवन-ज्ञान प्रस्तावित है। इस क्रम में मानव का अपने अभीष्ट अर्थात् अभ्युदय को सम्पूर्ण विधि से प्रमाणित करने की आशा, विचार, इच्छा और संकल्प है। ऐसी स्थिति के लिए ही, मानव का अध्ययन जीवन ज्ञान के आधार पर सुलभ हो गया है। -म.वि. 30-33

(ii) समाज में प्रचलित मानसिकता:

हर परंपराएँ शिक्षा विधा में, संस्कार विधा में, संविधान विधा में और व्यवस्था विधा में अपने को निर्भय अथवा श्रेष्ठ मानते हुए चलते हैं जबकि ऐसा हुआ नहीं रहता है। इसका साक्ष्य अंतर्विरोध और बाह्य विरोध है, मतभेद और वाद-विवाद ही है। इससे मुक्त होने की अपेक्षा सब में है।

अर्थात् वाद-विवाद आदि विसंगतियों से किंवा युद्ध से भी, शोषण से भी मुक्ति चाहते हैं। खूबी यही है कि ऐसा शुभ चाहने वाले हर समुदाय अपने को शुभ का आधार मान लेते हैं, उन्हीं-उन्हीं के अनुसार शुभ घटित हो ऐसा सोचते हैं। जैसे युद्ध तंत्र में बुलंदी पर पहुँचा हुआ देश युद्ध न करने का उपदेश देता है। बाकी सब यह सोचते हैं यह हम पर शासन करना चाहता है या हमको धर दबोचना चाहता है। संग्रह में पारंगत और संग्रह में लिप्त, भ्रष्टाचार में लिप्त व्यक्ति क्रम से संग्रह भ्रष्टाचार विरोधी भाषण करते हैं और संग्रह के पक्ष में मन, वचन, कार्यों को बुलंद किए रहते हैं। इसी प्रकार भ्रष्टाचार में सराबोर धर्माध्यक्ष, राज्याध्यक्ष, राष्ट्राध्यक्ष, शिक्षाध्यक्ष, ज्ञानाध्यक्ष जैसे लोग सदा संग्रह में लिप्त रहते ही हैं। और संसार को कड़ी मेहनत, ईमानदारी का पाठ सुनाते हैं और त्याग और वैराग्य का उपदेश देते फिरते हैं। जबकि गहराई से सोचने पर कितनी विडम्बना की बात है कि व्यापार तंत्र में अमोघ सफलता प्राप्त चोटी की संग्रह समर्थ

व्यापारी विद्वान संग्रह की निरर्थकता को बयान करते रहते हैं। कायिक, वाचिक, मानसिक रूप में संग्रह को दिन में दूनी रात में चौगुनी बनाने की सार्थक तिकड़म, तिकड़म का तात्पर्य अपने दूषित मानसिकता को सफल बनाने के तरीकों जिसको वह स्वयं विरोध करता है, में लगे रहते हैं। शिक्षाविद भी संग्रह तंत्र से जकड़ चुके हैं। यह अपने समय को बेचकर आजीविका चलाने के लिए तत्पर हो गए हैं।

इस प्रकार शिक्षा-व्यापार, धर्म-व्यापार, राज्य-व्यापार, वस्तु-व्यापार और व्यापार में अधिकार प्राप्त पारंगत सभी व्यक्ति संग्रह के चंगुल में ही जकड़े हुए दिखाई देते हैं। अपवाद रूप में कोई-कोई संग्रह समर्थ न हो पाए हो। ऐसे लोगों का खास आदर्श कम से कम लोगों में अंकित हुआ हो सकता है। सर्वाधिक लोगों का मन में सर्वाधिक संग्रह समर्थ लोगों का ही कार्य चित्र बसता ही जा रहा है। कलाकारों को कहना ही क्या है ? भिखारी से भिखारी का अभिनय करने को तैयार है और ज्यादा से ज्यादा पैसा-धन चाहिए। इन कलाकारों से मार-कूट, दहाड़-विध्वंस व्यापार-प्यार में पागल होने वाले गाने, जितने भी द्रोह-विद्रोह का अभिनय, त्याग, तपस्या का अभिनय एक ही व्यक्ति से करा ली जाए, उनको सिर्फ पैसा चाहिए। इनके संग्रह जब तक धर्म, राज्य, वस्तु, व्यापारियों, बिचौलियों से संग्रह शिखर उपर नहीं गया तब तक ये चैन से कोई अभिनय नहीं कर पाते हैं और आगे की बेचैनी बनी ही रहती है। अतएव सभी आयामों में कार्यरत व्यक्ति का आदर्श उन्नीसवीं शताब्दी से संग्रह युग सर्वाधिक प्रचुर होता आया और बीसवीं शताब्दी से प्रखर होता हुआ देखा गया।

उसके पहले राजगद्दी और धर्मगद्दी में कोष संग्रह की बात रही। इन दोनों में से सर्वाधिक संग्रह राजकोष में होना पाया जाता रहा। बीसवीं शताब्दी में वस्तु व्यापार, बिचौलियों का संग्रह बुलंद हुआ। बीसवीं शताब्दी के मध्य से ही बिचौलियों और कलाविदों का तेवर ज्यादा संग्रह की ओर तीव्रता से बढ़ा। इसी के साथ-साथ विश्व सुन्दरियों की मानसिकताएँ संग्रह समर्थता की ओर प्रवृत्तशील होना देखा गया। ये सब कहानी कहने के मूल में एक ही बात है जो-जो स्मरणीय तबके ख्यात होने वाले पद में आसीन व्यक्ति कुल मिलाकर संग्रह के चक्कर में ही चक्कर काटता हुआ दिखाई पड़ते हैं। अन्य सामान्य सभी व्यक्ति इन्हीं का लक्ष्यों, रहन-सहन, भोग-बहुभोग आदि क्रियाकलापों से प्रभावित प्रवृत्त होना पाया गया। इसी विधि से सर्वाधिक जन मानस में संग्रह और भोगेच्छाएँ तीव्रता से प्रभावित हुई। इससे यह तथ्य को स्मरण कराना रहा कि प्रकारान्तर से कोई भी संग्रह करे इसी धरती का वस्तु या वस्तु का प्रतीक पत्र मुद्रा को ही होना देखा गया। संग्रह के साथ-साथ द्रोह-विद्रोह-शोषण-युद्ध मानसिकता बना ही रहता है। यह मानसिकता कितने भी ऊँचाई तक पहुँच गई हो पर अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का सूत्र व्याख्या नहीं बन पाई। जबकि सार्वभौम शुभेच्छा और अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था की प्यास बना ही है। इसलिए लाभोन्मादी अर्थशास्त्र के विकल्प को अवगाहन करना आवश्यक होगा। - म.वि. 30-33

6.2 अखंडता सार्वभौमता – आवश्यकता

‘मात्रा का स्थिर बिन्दु’ मानव आज तक पाया नहीं। इसका कारण परमाणु अंश में मूल मात्रा (स्थिर मात्रा) को खोजने गये जबकि अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व में अथवा सह-अस्तित्व रूपी प्रमाण रूप में किसी न किसी परमाणु में और

उस परमाणु सहज व्यवस्था में भागीदारी के रूप में कार्यरत रहता हुआ प्रत्येक अंश देखा गया है। इसलिये मूल मात्रा का स्वरूप परमाणु है न कि परमाणु अंश।

जैविकता का मूल रूप प्राणकोशा होना हम पहचान चुके हैं, परम्परा इसको स्वीकार भी चुका है। इसके मूल रूप में प्राणकोषा, जो स्पंदनशील कार्यकलाप सहित देखने को मिलता है, वह किस विधि से स्पंदन क्रिया में परिवर्तित हो जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर पाना भी मानव सहज अपेक्षा रही है। जबकि प्राणकोषाओं को खोल देने (तोड़ देने) पर अणु और उसके मूल में परमाणु ही होना पाया गया है। सह-अस्तित्व सहज रूप में प्रत्येक परमाणु एक से अधिक अंशों के साथ गतिपथ सहित निश्चित आचरण सम्पन्न रहना पाया जाता है। इसी गवाही से सह-अस्तित्व में ही मात्रा, सह-अस्तित्व में ही व्यवस्था (निश्चित आचरण) और निश्चित रचना स्पष्ट हो जाती है। इन तीनों विधाओं को स्पष्ट करने के क्रम में ही श्रम, गति, परिणाम रूपी क्रिया को स्पष्ट करना देखा गया है। इस प्रकार परमाणु मूल मात्रा, अनेक परमाणुओं से एक अणु, अणु अपने में एक निश्चित मात्रा, एक से अधिक प्रजाति के अणु निश्चित अनुपात (मात्रा) सहित संयोग, वातावरणिक, नैसर्गिक सह-अस्तित्व सुलभता, उष्मा का अनुपात के फलस्वरूप में अणुओं का अपने-अपने आचरण सर्वथा त्यागकर तीसरे आचरण के लिये सर्वथा तत्परता ही रासायनिक उर्मि के रूप में देखने को मिलता है।

ऐसे अनेक रसायन द्रव्य भौतिक रूप में किसी भी धरती में संभावित होना सहज है। ऐसे धरती में से एक धरती यह भी है। ऐसे अनेक प्रकार के रसायन द्रव्यों से समृद्ध होने के उपरान्त रासायनिक द्रव्यों का मिश्रण होना पाया जाता है। जैसे अम्ल और क्षार का मिश्रण। इसी प्रकार रसायन द्रव्य ठोस, तरल, वायु के रूप में वैभूत होना देखा गया है। ऐसा ठोस स्वरूप ही प्राण कोषाओं के रूप में भी (प्राण-कोषा रूपी रचना के रूप में भी) होना पाया जाता है। ऐसी प्राणकोषाओं में प्राण-सूत्र स्थापित होना देखा गया है। ऐसे प्राणसूत्र सहित प्राण कोषा रसायन द्रव्य में आप्लावित रहते हुए निश्चित उष्मा एवं दबाव सहित स्पंदनशील होना स्वाभाविक है। यही प्राणकोषा का सार्थक रूप है। ऐसे प्राण कोषा में निहित प्रत्येक प्राण-सूत्र जब तक अपने जैसे ही एक-एक प्राण सूत्र को बनाते हैं अर्थात् दोनों मिलकर पुनः दो प्राणसूत्र को निर्मित कर लेते हैं तब तक यह एक कोशीय रचना के रूप में पहचाना जाता है। जब यही प्राणसूत्र अपने ही जैसे दो-दो के दो जोड़े बना लेते हैं तब द्विकोषीय रचना कहलाते हैं। प्राणसूत्र का रचना सम्पन्न होते ही उसके लिये आवश्यकीय कोषा समीचीन रहता ही है। यही रासायनिक उर्मि का मर्म और वैभव है। इसके आगे एक-एक प्राणसूत्र अपने जैसे दूसरे सूत्र को बना लेते हैं और पुनः 2-2 बना लेते हैं। इस विधि से बहुकोषीय रचना विधि स्थापित है।

इस क्रम में एक प्रजाति की प्राणावस्था की रचना अपनी पराकाष्ठा तक सम्पन्न होने के उपरान्त, दूसरे प्रजाति की रचना के लिए उन्हीं प्राणसूत्रों में लहरे उठती हैं जिसे रासायनिक उर्मि कहा जाता है। जो परंपरा के रूप में स्थापित हो चुकी है वह बीज वृक्ष विधि से आवर्तनशील और समृद्ध होता ही रहता है और अनुसंधान क्रम में परंपरा से भिन्न एक रचना विधि प्राणसूत्र में उत्सव पूर्वक स्थापित हो जाती है। यह परंपरा विधि सम्पन्नता + रासायनिक उर्मि अथवा तरंग का संयोग से भिन्न रचना विधि सम्पन्न होना पाया जाता है। इसी क्रम में अनेक प्रजाति की रचना और उसका बीज, फलस्वरूप परंपरा आवर्तनशीलता के रूप में स्थापित होना पाया जाता है। ये सब इसी धरती पर प्रमाणित है।

प्राणावस्था के उपरान्त ही प्राणावस्था के अवशेषों, धरती के संयोग और उष्मा, वायु, जल संयोग से बहुत सारे स्वदेज-कीटों, जन्तुओं का प्रकट होना आज भी देखने को मिलता है। इस क्रम में अण्डज प्रकृति रचना विरचना का होना देखा जाता है। यही क्रम से प्राणावस्था के अवशेषों सहित पुनर्प्रक्रिया क्रम में स्वदेज प्रकृति और प्रक्रियाएं विपुलीकृत होना आज भी देखना संभव है। इनमें से कुछ अण्डज विधि से अपनी परंपरा बनाना देखा जाता है। अण्डज परंपरायें शनैः-शनैः प्रयोग विधि से उदात्तीकरण नियमों के अनुसार समृद्ध होते जलचर, भूचर, नभचर के रूप में देखने को मिलता है। इनमें पराकाष्ठा की समृद्धि, अग्रिम अवस्था की समीचीनता, अनुकूल परिस्थितियों के आधार पर अण्डज संसार से पिण्डज संसार प्रकट होने की बात इस धरती पर घटित हो चुकी है। यह भी अपने-अपने परंपरा के रूप में वंशानुषंगीय विधि से आज भी स्पष्ट है।

इन्हीं अण्डज-पिण्डज संसार रचना क्रम में शरीर रचना के लिये आवश्यकीय सभी रासायनिक द्रव्य और भौतिक वस्तुएं सहज सुलभ होने के क्रम में, मेधस रचना क्रम शरीर रचना क्रम के साथ आरम्भ होकर समृद्ध होना विकास क्रम में स्वाभाविक कार्य प्रणाली रही है। यह अण्डज-पिण्डज दोनों प्रकार के जीवावस्था का वैभव वंशानुषंगीयता को प्रमाणित अथवा व्यक्त करता हुआ देखने को मिलता है। इसी क्रम में पिण्डज प्रकटन के रूप में मानव शरीर रचना परंपरा भी सुस्पष्ट है। मानव भी अपनी परंपरा के रूप में स्थापित हो चुका है। इन सभी घटनाक्रम के मूल में प्रत्येक परंपरा स्थापित होने की प्रक्रिया है। परंपरा स्थापित होने के उपरान्त वह मूल-क्रिया जैसे अण्डज से पिण्डज प्रकटन क्रिया का दोहराना अपने-आप शिथिल हो जाता है। परंपरा उन्नत हो जाती है। उन्नत होने का तात्पर्य परंपरा में निखार और उसका नियतिक्रम, आचरण स्पष्ट होने से है। मानव परंपरा अनेक समुदायों के रूप जैसे (अण्डज से पिण्डज प्रकटन क्रिया) में अपने को परंपरा सहज प्रकटन प्रमाणित हो चुकी है।

अस्तित्व में प्रत्येक एक त्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में वैभव और प्रमाण है। प्रमाण का तात्पर्य वर्तमान में हर व्यक्ति इसे समझ सकता है। फलस्वरूप अपना प्रभाव स्वरूप मानव भी स्वयं व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी की कल्पना, अध्ययन, निश्चय एवं प्रमाणित होने का कार्य कर सकता है। इसे हम प्रमाणित कर देख लिये हैं। यह भी इसके साथ हमें पता लग चुका है और लोग भी पता लगा सकते हैं कि समुदाय विधि से कोई सार्वभौम सूत्र नहीं पाये हैं और न ही पा सकते हैं। इसी आधार पर मानवत्व को पहचानने, निर्वाह करने के क्रम में अस्तित्वमूलक मानव केन्द्रित चिन्तन अध्ययन एक आवश्यकता रही है। यह बलवती होने के आधार पर ही इसमें हम पारंगत होने का प्रमाण सहज ही प्रमाणित हुई।

अखण्ड समाज की आवश्यकता, कल्पना केवल मानव प्रकृति अथवा मानव सहज अस्तित्व के साथ ही सूत्रित हुआ है अर्थात् और किन्हीं जीवों का समाज अथवा वनस्पतियों का समाज, मृत पाषाण, मणि, धातुओं का समाज रूप प्रमाणित नहीं होती। हर प्रजाति के जीव, हर प्रजाति की वनस्पति, हर प्रजाति के मृत-पाषाण-मणि-धातुएँ अपने-अपने त्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में प्रमाणित हैं। अतएव समाज का केन्द्र बिन्दु अखण्ड समाज रूप में प्रमाणित होने के लिए केवल मानव ही है।

मानव विविध परम्पराओं को झेलते हुए अर्थात् राज्य, धर्म, अर्थ परम्पराओं को झेलते हुए आज इस दशक में जिस स्थिति में है उसका चित्रण इस प्रकार है :-

1. सर्वतोमुखी न्याय होने-पाने की इच्छा;
2. सर्वतोमुखी समाधान होने-पाने की इच्छा;
3. परमसत्य दृष्टा होने की इच्छा;
4. व्यवस्था में जीने की इच्छा समग्र व्यवस्था में भागीदारी की इच्छा;
5. पूर्ण जागृत होने की इच्छा मानव परंपरा में समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व सुलभ होने की इच्छा;
6. स्वायत्तता की इच्छा;
7. वैरविहीन परिवार की इच्छा;
8. स्वराज्य की इच्छा; एवं
9. स्वतंत्रता की इच्छा, समग्र मानव में सकारात्मक शुभेच्छा।

उक्त चित्रण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हम मानव इस धरती पर जबसे स्थापित-गठित हैं तब से अभी तक किस-किस आशा, विचार, इच्छा सहज बिन्दुओं के सम्बन्ध में प्रमाणित हुए हैं ? अर्थात् करके देखे हैं। जिसका परिणाम अथवा फल की भी समीक्षा हो चुकी है। इसी क्रम में और इच्छाएँ जो मानव परंपरा में व्यवहृत नहीं हो पायी हैं उसका चित्रण भी स्पष्ट है। जिन-जिन इच्छाओं को अभी तक हमने मानव परंपरा में चरितार्थ किया है वह सब अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था के रूप में सूत्रित होना संभव नहीं हो पाया क्योंकि अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था का वैभव रूप अथवा फल स्वरूप समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व सर्वसुलभ होना सहज है। यह तभी संभव है जब जीवन ज्ञान जैसा परम ज्ञान, सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान जैसा परम दर्शन और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान रूपी परम आचरण में पारंगत होने की स्थिति सहज सुलभ हो पाए। यही प्रस्ताव है।

अभी तक नियम, नियंत्रण, संतुलन सहित व्यवहार में प्रमाणित नहीं हो पाये हैं। जीवन मूल्य प्रमाणित होने पर ही मानव मूल्य प्रमाणित होते हैं।

समाधान के साथ न्याय होने से सुख, समाधान समृद्धि होने से शांति, समाधान समृद्धि अभय होने से संतोष प्रमाणित होता है।

समाधान, समृद्धि अभय सह-अस्तित्व में अनुभव होने से आनन्द अर्थात् सार्वभौम व्यवस्था होती है। मानव लक्ष्य प्रमाणित होने से जीवन मूल्य की प्राप्ति होती है।

सर्वाधिक लोगों में ये इच्छाएँ सर्वेक्षण से स्पष्ट हो जाती हैं। इससे पता चलता है कि इन इच्छाओं से आशित सभी तथ्य चरितार्थ होने के लिये व्यवहारवादी समाजशास्त्र का अनुसंधानित प्रस्ताव है। - स.श. 43

अभी तक मानव ने समुदाय चेतना तक ही अपने को जागृति क्रम में भ्रमित रूप में पाया है। समुदाय चेतना में, अपने पराए की दीवाल बनी ही रहेगी। ऐसी दीवाल जब तक रहेगी, तब तक युद्ध-शोषण, द्रोह-विद्रोह की प्रक्रियाएं बनी ही रहेंगी। ऐसी प्रक्रियाएं अपने आप में अमानवीयता का द्योतक हैं। अमानवीय मानसिकता पूर्वक, अखंड समाज,

सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी संभव नहीं है। इसलिए अमानवीयता से मानवीयता में संक्रमित होना ही आज की आवश्यकता है। अमानवीय चार प्रवृत्तियाँ विषय, संग्रह, सुविधा और भोग में ग्रसित रहना पाया जाता है।

मानवीय दृष्टियाँ न्याय, धर्म (सर्वतोमुखी समाधान) तथा सत्य हैं। इसी के आधार पर अर्थात् जीवन प्रकाश प्रभावशील होने की स्थिति में ही समाज न्याय, सार्वभौम व्यवस्था और प्रामाणिकता सहज सुलभ हो जाती है। यही अमानवीयता से मानवीयता की ओर गति भी है। यही मानव की वांछा, आशा व आकांक्षा है।

सम्बन्धों को पहचानने व मूल्यों का निर्वाह करने के क्रम में, समाज न्याय का उभय तृप्ति के रूप में लोकव्यापीकरण होता है। तभी मानव, परिवार व्यवस्था के रूप में, जीने की कला को, अभिव्यक्त कर पाता है। ऐसी स्थिति में सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी कर पाता है। सार्वभौम व्यवस्था का सूत्र, परिवार-मूलक विधि से सूत्रित होकर, ग्राम-स्वराज्य में सार्वभौम स्वराज्य व्यवस्था का छोटा रूप प्रमाणित होता है। यही “परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था” होने का सूत्र और संभावना है।

अभी तक इस पृथ्वी पर जितनी भी राजगदियाँ और धर्म गदियाँ हैं, वे रहस्य से मुक्त नहीं हो पाई हैं। जिस मानसिकता से ये गदियाँ स्थापित हुई हैं, उस मानसिकता के चलते रहस्य से मुक्त नहीं हो सकती और इससे शक्ति केन्द्रित शासनवाद में परिवर्तन नहीं हो पाता। जबकि सह-अस्तित्व में पूरक विधि और सार्वभौम व्यवस्था (अथवा समग्र व्यवस्था) नित्य वर्तमान है। दूसरे शब्दों में, सह-अस्तित्व ही पूरक विधि से समग्र व्यवस्था के रूप में वर्तमान है। मनुष्य ने ही अपनी कर्म-स्वतंत्रता व कल्पनाशीलता वश अस्तित्व सहज व्यवस्था को अनसुनी, अनदेखी करते हुए, सभी प्रकार से प्रताड़ित होने का, ताना बाना बना लिया है। जैसे - शासन करने का हजारों वर्षों का प्रयास सदा पाश्विक रहा।

इसका प्रमाण है कि परस्पर शासन कार्य से बैर बढ़ते ही रहा। परिवर्तन की आवश्यकता, हर परिवर्तन के अनंतर भी बनी रही। युद्ध के अनंतर युद्ध की तैयारियाँ, आश्वासनों के अनंतर आश्वासन की तैयारियाँ, मतभेदों के अनंतर मतभेद, हर समझौते के अनंतर उसी में प्रश्न चिन्ह, इसी के साथ संग्रह के अनंतर पुनः संग्रह, सुविधा के अनंतर पुनः सुविधा तथा भोग के अनंतर पुनः भोग इसके प्रश्न चिन्ह बन जाते हैं। यह अव्यवस्था का द्योतक है। - म.वि. 120-121

भाषा और मानव भाषा में जो महत्ताएँ हैं, उन तत्वों को यहाँ समझ लेना प्रासंगिक होगा। इसके मूल में मानव को एक जाति के रूप में पहचानना एक अनिवार्यता है- क्योंकि संघर्ष युग से समाधान की ओर संक्रमित होने के लिए मानव को एक जाति के रूप में पहचानना बहुत आवश्यक है। इसमें अर्थात् मानव को एक जाति के रूप में पहचानने में जो कठिनाइयाँ गुजरीं, उसे मानव के विभिन्न इतिहासों में स्पष्ट किया गया है। पुनः इस बात को ध्यान में लाना आवश्यक है कि किसी नस्ल, रंग, जाति, सम्प्रदाय, वर्ग अथवा धर्म कहलाने वाले मत-मतान्तर अथवा मतभेदों से भरे हुए धर्म, पंथ, भाषा या देश के आधार पर सम्पूर्ण मानव को एक जाति के रूप में एक इकाई के रूप में पहचाना नहीं जा सका। मानव की एक जाति के रूप में, एक इकाई के रूप में पहचानने के लिए मूल तत्व सार्वभौम व्यवस्था ही है। जिस व्यवस्था का सूत्र मानवत्व ही है। - भ.व. 96-97

मानव में मानवत्व ही व्यवस्था सूत्र है एवं स्वयं में व्यवस्था तथा समग्र व्यवस्था में भागीदारी होने का ध्रुव है। दूसरा ध्रुव स्थिरता और निश्चयता पूर्ण अस्तित्व ही है। इन दोनों ध्रुवों के बीच में समग्र व्यवस्था में भागीदारी को और स्वयं ही प्रत्येक व्यक्ति एक व्यवस्था है, इस सहज सत्य को अध्ययन कर सकता है।

मानव में मानवीयता ही उसकी स्वभाव गति है। वर्ग समुदाय चेतना पर्यन्त, आवेशों की स्मृतियां बनी रहती हैं। यह परस्पर समुदायों के, ऐतिहासिक प्रभावन कार्यों के आधार पर बनी हुई हैं। इससे यह भी ज्ञान हो जाता है कि एक समुदाय में सभी समुदाय, विलय नहीं हो सकते। सभी समुदायों की अस्मिता बनी रहेगी। समुदाय परम्परा में दम (हास की ओर जो आसक्ति है, उसकी समापन क्रिया) और क्षमा (विकास के लिए की जाने वाली सहायता के समय उसके हास पक्ष से, अप्रभावित रहना) का प्रमाण, ऐसी स्थिति में नहीं हो पाएगा। दम और क्षमा प्रत्येक मनुष्य के लिए आशित है। यह अखंड समाज परम्परा में ही प्रमाणित होना समीचीन है। - म.वि. 126-127

मानव चैतन्य प्रकृति के ज्ञानावस्था सहज अस्तित्व और परंपरा है। ज्ञानावस्था स्वयं इसी बात को ध्वनित करता है। जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान सम्पन्नता ही ज्ञानावस्था की ध्वनि का अर्थ है और सार्थकता है। यह भी देखने को मिलता है कि हर मानव निर्भ्रम और जागृत होना चाहता है। एकता-अखण्डता जागृति सहज अभिव्यक्ति है। भ्रमवश ही विखण्डता, अनेकता में विवश होना देखने को मिला है। न्याय, धर्म, सत्यरूपी परम ज्ञान, दर्शन, आचरण, व्यवस्था में एकरूपता को पाते हैं। इसी को अखण्ड समाज-सार्वभौम व्यवस्था का नाम दिया है। एकता सार्वभौम व्यवस्था सहज विधि से होता है। अखण्डता नियम और न्याय विधि से सम्पन्न होता है। समाज और व्यवस्था अविभाज्य होना स्पष्ट हो चुकी हैं। अस्तित्व में सह-अस्तित्व विधि से ही मानव जागृत परंपरा के रूप में वैभवशील हो सकता है। - आ.व. 68-69

अतएव व्यवहार में प्रयोग और अनुभव प्रमाणित होने की मर्यादा ही सार्वभौम व्यवस्था-अखण्ड समाज का स्वरूप है। - आ.व. 72

6.3 अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था: अवधारणा

वर्तमान परंपरागत विधियों से अप्राप्ति की प्राप्ति तथा अज्ञात का ज्ञात होना संभव नहीं हैं। इसलिए अस्तित्व सहज वैभव का चिंतन, साक्षात्कार, विचार, अनुभव, व्यवहार, व्यवस्था, संविधान, अध्ययन बनाम शिक्षा-संस्कार-बनाम दर्शन-ज्ञान सहज रूप में जीना, क्रियारत रहना अनिवार्य हो गया। इस क्रम में अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण, मानवीय व्यवस्था, मानवीय संविधान, मानवीय शिक्षा, मानवीय संस्कार सर्व सुलभ होने का मार्ग प्रशस्त होता है। इन मूलभूत सिद्धांतों को हृदयंगम करना एक आवश्यकता है। अनुभव पूर्वक मानव के दृष्टा पद में होने की साक्षी में ही मूलभूत सिद्धांतों को समझा गया है।

1. मानव जाति एक, कर्म अनेक।
2. मानव धर्म एक, मत अनेक।
3. सत्ता व्यापक रूप में एक, देवता अनेक।
4. यह धरती एक (अखण्ड राष्ट्र) राज्य अनेक।

उक्त चार एकता और अनेकता का सिद्धांत समझ में आता है। अस्तित्व सहज प्राकृतिक रूप में अथवा सह-अस्तित्व के रूप में एकता अपने आप स्पष्ट है। मानव समुदाय की भ्रमित मान्यताओं एवं इन यथार्थताओं में मतभेद ही समस्या के रूप में स्पष्ट है।

प्रत्येक एक अपने वातावरण सहित सम्पूर्ण हैं। यह धरती भी अपने वातावरण सहित सम्पूर्ण हैं। यह भौतिक-रासायनिक समृद्धि योग्य इकाई अपनी स्वभाव गति शून्याकर्षण पूर्वक विकास क्रम में हैं। यह स्वयं में एक व्यवस्था है और सौर व्यूह अथवा अनंत सौर व्यूह रूपी समग्र में भागीदार हैं, यह प्रत्येक मानव के सम्मुख हैं। मानव के दृष्टा पद में होने के फलस्वरूप इसे समझना भी सरल है। धरती की सतह का स्वरूप देखने पर समुद्र और समुद्र से घिरा हुआ भूखंड दिखाई पड़ता है, जिसमें जंगल, पहाड़, नदी-नाला स्पष्ट रूप में विद्यमान है।

इस धरती के भूखण्डों में ही, समुद्र से घिरे हुए भूखण्डों में, एक से अधिक समुदाय अपनी-अपनी परंपरा के रूप में वर्तमान में दिखते हैं। ये सब स्वयं को एक-एक भूखण्डों का अधिकारी भी मानते हैं। जबकि इस धरती की बनावट में उनका कोई श्रम नियोजन, विवेक या ज्ञान जैसी शक्ति समाहित हो, इसके किसी इतिहास की गवाही, वर्तमान में देखने को नहीं मिल रहा है। मानव का प्रश्रय, यह धरती ही हैं। धरती अनंत ब्रम्हाण्डों में से एक अंश के रूप में कार्य कर रही हैं। यह धरती अपने में अखण्ड हैं। पूर्णता इसका वैभव हैं। इसमें किसी भी विधि से मानव द्वारा किया गया कल्पना खंड-विखंड कल्पना और प्रक्रिया इस धरती के वैभव के विपरीत होना पाया गया। इसकी गवाही, भ्रमित मानव का इतिहास ही हैं। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि मानव इतने दिन से भ्रमित रहते हुए भी इस धरती को विखंडित नहीं कर पाया। यह धरती विखंडित नहीं हो पाई, यह वर्तमान में गवाही है। इसी धरती में रहने वाले आदमी काल्पनिक खण्ड-विखण्ड को भी प्रभु-सत्ता की सीमा रेखा में और उसकी अक्षुण्णता में शक्ति केन्द्रित शासन के रूप में स्वीकारते हुए आए। इससे बड़ा भ्रम और क्या होगा? दूसरा ईश्वर ही सत्तामय वस्तु का नामकरण हैं, इस आधार पर ईश्वर में ही प्रकृति ओतप्रोत हैं और ईश्वरमयता में ही क्रियाशील हैं तथा इसके ईश्वर सब अलग-अलग होने की कोई संभावना नहीं हैं। इस तरह ईश्वर व्यापक रूप में हैं, ईश्वर शासक या शासन नहीं हैं। यह अर्थ मानव को समझ में आता है। यह सम्पूर्ण प्रकृति सत्ता में संपृक्त हैं। पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था, ज्ञानावस्था सत्ता में डूबा हुआ, भीगा हुआ, घिरा हुआ देखने को मिलता है। साथ ही, इसके पहले ही, सत्ता दिखाई पड़ता है। प्रत्येक एक भीगा हुआ की महिमा, बल-संपन्नता के रूप में प्रमाणित हो जाता है। इससे और भी एक तथ्य समझ में आता है कि सत्ता पारगामी है। इन तीनों प्रकारों से सत्तामयता को समझने वाला मानव सत्ता की (सहज) व्यापकता को, नाम के अंतर्गत लाने की कल्पना दौड़ा नहीं पाता है। इसलिए भी व्यापक नाम देना बनता है। व्यापकता सर्वत्र सर्वथा वर्तमान होनी ही है।

सत्तामयता को भाग-विभाग किया नहीं जा सकता है। इसलिए सत्ता अखण्ड है। सत्तामयता में मानव के निर्भम न होने के कारण ही ईश्वर के नाम से अनेक अटकलें और सविरोधी कल्पनाओं को मानते हुए मानव दिखा। इन समुदायों की परस्परता में जटिलता अर्थात् एक दूसरे समुदाय में मिलने में जटिलता के फलस्वरूप अनेक कुटिलताएँ देखने को मिली। इससे बड़ा भ्रम और क्या होगा? इसकी गवाही विविध प्रकार से, प्रस्तुत मानव इतिहास है।

1. "मानव जाति एक कर्म अनेक।" मानव जाति का विखंडन संभव नहीं हैं। विखंडन के लिए प्रयत्न करना ही भ्रम है। भ्रम का परिणाम समस्या, दुख, पीड़ा और भय है। मानव को अनेक जाति मानने की गवाही अनेक परंपरा के रूप में देखने को मिली। यही मूलतः मानव से मानव के प्रताडित होने का प्रधान कारण हुआ। इसके

विपरीत मानव जाति एक होने की सहज गवाही प्रत्येक मानव में पाई जाने वाली कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता है। जिसको प्रत्येक व्यक्ति में समझा जा सकता है।

2. दूसरा प्रत्येक मानव मनाकार को साकार करने वाला, मनः स्वस्थता का आशावादी और प्रमाणित करने वाला है। यह प्रत्येक व्यक्ति में सर्वेक्षित होता है। इस महिमा की समानता के आधार पर भी मानव जाति का एक होना समझ में आता है।
3. तीसरा, मानव कर्म करते समय स्वतंत्र, फल भोगते समय में परतंत्र हैं- यह पाया जाता है। प्रत्येक मानव कर्म फलों में, से उसी को वरता है, जो सुख के रूप में परिणित हो जाते हैं। वही कर्म फल सुख के रूप में परिणित होते हैं जो समाधान रूप में होते हैं। क्योंकि प्रत्येक मानव का प्रत्येक कर्म फल समस्या या समाधान के रूप में ही प्रमाणित होता है। इन प्रक्रियाओं में भी मानव को समानता के रूप में देख सकते हैं। यह भी मानव जाति के एक होने का आधार हैं, साक्षी है।

“मानव धर्म एक, मत अनेक” – प्रत्येक मानव सुखी होने के लिए विचार, व्यवहार और अनुभव करने के क्रम में दिखता है। मानव सहज रूप में किये गये सभी कर्मों का फल सुख या दुख में ही परिणित होता है। इसे भली प्रकार से समझा गया है। यह सबको समझ में आता है। इसके साथ यह भी देखा गया है कि न्याय, समाधान (धर्म), सत्य सहज जितने भी कार्य, व्यवहार है, उनका परिणाम तत्काल एवं निरन्तर सुख के रूप में ही दिखाई देता है। इसका मूल तथ्य यह है कि :-

(1)

- न्याय स्वयं मूल्य और मूल्यांकन के रूप में संबंधों में समाधान = सुख है।
- व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी = समाधान = सुख हैं।
- अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान के रूप में सत्य नित्य समाधान = नित्य सुख है।

ऐसा देखा गया है यह प्रत्येक मानव को समझ में आता है। इन तथ्यों में प्रत्येक व्यक्ति सहज रूप में प्रमाणित हो सकता है। अस्तु, मानव जाति को मानव धर्म के आधार पर ही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में मानव के एक होने से सत्य को समझ सकता है। इस प्रकार मानव धर्म सुख हैं। ऐसा सुख जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन, मानवीयता पूर्ण आचरण सहज रूप में है। सर्वतोमुखी समाधान मानव सहज “स्वत्व” हो जाता है। इसके प्रमाण में व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी अपने आप न्याय, उत्पादन, विनिमय संबंधी समाधान हैं, फलस्वरूप मानव सुखी होता है।

(2)

- परिवार मूलक विधि से परिवार मानव होने के प्रमाण के रूप में, संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह करता हैं, फलस्वरूप समाधान होता है।
- मानव, मानवीय शिक्षा-संस्कार पूर्वक, जीवन-ज्ञान और अस्तित्व दर्शन सहज जागृति संपन्न होता है। फलस्वरूप सर्वतोमुखी समाधान जैसे- अस्तित्व में सह-अस्तित्व, विकास, जीवन, जीवन जागृति, रासायनिक-भौतिक

रचना-विरचना संबंधी निर्भम ज्ञान संपन्न होता है। इसके फलस्वरूप, सर्वतोमुखी समाधान सहज अभिव्यक्ति होती है।

- मानवीयतापूर्ण आचरण मूल्य, चरित्र, नैतिकता का अविभाज्य समाधानों को अभिव्यक्त करता है। फलस्वरूप समाधान प्रमाणित होता है।
- स्वास्थ्य, संयमपूर्वक जागृति (सहज) को अभिव्यक्त करता है, फलस्वरूप सर्वतोमुखी समाधान सुलभ होता है।
- मानव के जागृति सहज अभिव्यक्ति क्रम में वह आवर्तनशील अर्थ व्यवस्था को समझ पाता है और निर्वाह कर पाता है, इसलिए समाधान होता है।
- जागृत मानव, अभिव्यक्ति सहज रूप में, मानव सहज व्यवहार में सफल हो जाता है। यह संबंधों, मूल्यों, मूल्यांकनों, दायित्वों, कर्तव्यों को निर्वाह करने के रूप में प्रमाणित होता है। इसलिए समाधानित होता है।
- जागृत मानव की प्राप्त सत्तामयता में ये सहज स्थिति और गति होती है। अर्थात् अभिव्यक्ति, संप्रेषणा और प्रकाशन होता है। फलस्वरूप समाधानित होता है।
- जागृत मानव मानवीयता पूर्ण आचरण करता ही है जीवन ज्ञान और अस्तित्व दर्शन ज्ञान संपन्न रहता है। इसलिए मानवीयतापूर्ण आचरण रूपी संविधान के प्रति जागृत रहता है, अतः समाधानित रहता है।
- जागृत मानव, सहज रूप में, जागृतिपूर्ण संचेतना का प्रमाण संपन्न रहता है। इसलिए मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान अर्थात् मानसिकता सहज रूप में जीने की कला को व्यक्त करता है, फलतः समाधान ही होता है।

इसलिए मानव अपनी ही जागृति पूर्वक अथवा जीवन जागृतिपूर्वक सर्वतोमुखी समाधान सहज अभिव्यक्ति हैं यह समझ में आता है। इस प्रकार मानव धर्म सतत् वर्तमान है, समीचीन है। जागृत होना मानव की दीक्षा है, अभीप्सा है। इसकी संभावना है, इसलिए मानव धर्म के प्रति जागृति एक आवश्यकता है। अस्तु, मानव धर्म को खण्ड-विखण्ड नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अखण्ड समाज के रूप में सार्वभौम व्यवस्था ही मानव धर्म है। समाधान का प्रमाण ही सुख है, सुख मानव धर्म है। इस प्रकार मानव से, मानव धर्म का वियोग होता नहीं, क्योंकि समाधान सार्वभौम है। इसलिए इसका प्रभाव सुख सार्वभौम है।

समाधान अखण्ड है, भाग- विभाग होता नहीं।

ऊपर जो तर्क और विश्लेषण अस्तित्व सहज यथार्थ के आधार पर प्रतिपादित किया गया है, उसका निष्कर्ष यही निकलता है कि यह धरती विखंडित होती नहीं है, अखण्ड रहती ही है। भ्रमवश ही खण्ड- विखण्ड के रूप में मान्यता हो पाती है, जिसका परिणाम द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध है। अखण्ड मानव समाज और राष्ट्र का फलन समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व है। इस स्थिति को मानव कुल के प्राप्त कर लेने के उपरान्त अस्तित्व में अप्राप्त नाम को कोई चीज नहीं रह जाती है। सत्ता सहज व्यापकता के अनुभव, ईश्वर संबंधी वाद-विवादों का समाधान है। मानव ही जागृतिपूर्वक देवी-देवताओं के पद में संक्रमित हो जाता है। यह जीवन जागृति पूर्वक बोधगम्य होता है। फलतः ईश्वर, देवता और आत्मा संबंधी रहस्यों से मुक्त हो जाता है। इसी के साथ अज्ञात नाम की कोई वस्तु अस्तित्व में नहीं रह जाती है।

मानव धर्म सहज अखण्डता ही अखण्ड समाज और सार्वभौम व्यवस्था है। सार्वभौम व्यवस्था मानव परंपरा में स्थापित होना और उसकी निरंतरता होना नियति सहज है, इसलिए परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था क्रम में विश्व परिवार और

विश्व व्यवस्था सहज रूप में ही मानव कुल को सुलभ होता है। इसे प्राप्त कर लेना ही मानव परंपरा की अक्षुण्णता, सम्प्रभुता, प्रभुसत्ता, मानवीयता सहज प्रबुद्धता है। इसे हम मानव जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान सहज मौलिकता के आधार पर प्राप्त कर सकते हैं। इससे मानव कुल को ग्रसित द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध संबंधी सभी विकार दूर हो जावेंगे। समुदाय चेतना से अखण्ड मानव समाज चेतना में प्रत्येक मानव को संक्रमित होना मानव परंपरा सहज प्रणाली से सहज सुलभ हो जाता है। यही मानव परंपरा में निरंतर समाधान, सुख, सौंदर्य सहज उत्सव हैं। इस विधि से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समुदाय परंपरा में मतों के आधार पर (अर्थात् भीड़) मान्य हुआ है। जबकि अस्तित्व सहज रूप में मानव समाज होना सहज ही समझ में आता है।

मानव जाति एक है यह मूलतः मानव धर्म के आधार पर आधारित है। कर्म के आधार पर आधारित जातियाँ क्लेशों का पुलिंदा हो गई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव धर्म के वैभव में ही मानव जाति की एकता, अखण्डता समझ में आती है। मानव जाति की समानता के आधारों को ऊपर विविध प्रकार से समझाया गया है। – भ.व. 250-265

6.4 धर्म, समाज और राज्य अविभाज्य हैं

“नैतिकता का तात्पर्य धर्म, राज्य नीतिपूर्ण आचरण है। यही क्रम से सदुपयोग और सुरक्षा है”। – डायरी, 1983 [D] FC /61

- अखण्ड समाज का स्वरूप “परिवार विधि” से
- सार्वभौम व्यवस्था का स्वरूप “सभा विधि” से चरितार्थ होना देखा गया है। – ज.व. 281

राज्य के साथ समाज और धर्म अविभाज्य वर्तमान है। धर्म के साथ समाज और राज्य अविभाज्य वर्तमान है। समाज के साथ राज्य और धर्म अविभाज्य वर्तमान है। मानव धर्म का मूल रूप में सर्वतोमुखी समाधान है, इसके लिए मानव परंपरा में परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था प्रस्तावित है। जिसका फलन समाधान, समृद्धि, अभय और सह-अस्तित्व सहज प्रमाण है। राज्य, समाज और धर्म अलग अलग नहीं हो पाते। भाषा के रूप में कई तरीके से बात कर सकते हैं पर होता है वही जो अस्तित्व में है। अस्तित्व में मानव का होना, पहले स्पष्ट हो चुका है। मानव का स्वरूप स्वायत्त रूप में, परिवार के रूप में, ग्राम व विश्व परिवार के रूप में पहचान सकते हैं। मूलतः मानव की पहचान अर्थात् व्यक्ति की पहचान पहले कर लें अथवा विश्व मानव को पहले पहचान लें। इनकी पहचान से यह पता चलता है कि सर्वप्रथम एक समझदार मानव को पहचानना अति अनिवार्य है। यह भी समझ में आता है कि प्रत्येक मानव आकार के रूप में विविध है। मानव को पहचानने का आधार क्या होगा? यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में विचारशील व्यक्तियों में उपजता ही है।

इसका उत्तर खोजने पर पता चलता है कि हर वस्तु की पहचान उस-उस के आचरण पर ही निर्भर है। आचरणों को योग, संयोग, वियोग के आधारों पर पहचाना जाता है। एक दूसरे का मिलन, योग हैं। पूर्णता के अर्थ में सार्थक योग, संयोग हैं। वियोग वह है कि योग और संयोग पहले से थी उससे छूट गए। इस प्रकार वियोगात्मक आचरण के आधार

पर कोई समाज रचना नहीं होती है। अब संयोग और योग की बात आता है। अभी तक जो कुछ भी आदमी, परिवार और समुदाय के रूप में दिख रहा है, ये सब योग के रूप में ही दिख रहा है, संयोग के रूप में नहीं। योग से कम स्थिति में अर्थात् वियोग की स्थिति में मानव स्पष्ट नहीं हो पाता है। कम से कम योग के आधार पर ही आचरणों को पहचानना संभव हो पाता है। इन्हीं आधारभूत तथ्यों के आधार पर परीक्षण संभव हो पाता है। मूलतः मानवीयतापूर्ण आचरण में सार्वभौम रूप स्पष्ट है।

सामाजिकता औपचारिक तथ्य नहीं है अपितु जागृति पूर्वक जीने की शैली है। वह केवल वास्तविकता पर आधारित क्रियाकलाप है। वास्तविकताएं ही नियति-क्रम, नियति क्रम ही विकास, विकास ही अभ्युदय, अभ्युदय ही व्यवहारिकता एवं व्यवहारिकता ही सामाजिकता है। व्यवहार संस्कृति, सभ्यता और विधि-व्यवस्था का योगफल है। मानव जीवन का आद्यान्त कार्यक्रम इसी चतुर्दिशा में वैभव है।

- विधि अनुभव को,
- संस्कृति विचार को,
- सभ्यता व्यवहार को,
- व्यवस्था उत्पादन विनिमय को स्पष्ट करती है।

यह प्रमाण सिद्ध है। यही “मूल्य-त्रय” को प्रकट करता है। - अ.द. 68

जीने की कला का:

- संस्कृति -> बौद्धिक रूप,
 - सभ्यता -> पार्थिव रूप ,
 - विधि -> नियामन रूप,
 - व्यवस्था -> आशवस्थता व विश्वस्थता देता है
- डायरी 1982 a fc/24

धर्म और राज्य का मूल रूप

(1) अस्तित्व = सह-अस्तित्व

अस्तित्व का सह-अस्तित्व के रूप में होना ही सूत्र और चार अवस्थाओं में होना ही नियति सहज व्याख्या स्वरूप हैं। इस प्रकार अस्तित्व ही सम्पूर्ण वस्तु हैं, जागृत जीवन ही दृष्टा है तथा मनुष्य ही दृष्टा पद को प्रमाणित करने योग्य होता है।

मानव सह-अस्तित्व में अनुभवपूर्वक दृष्टा पद प्रतिष्ठा के आधार पर ही व्यवस्था का प्रमाण हैं। मानव ही समझदारी पूर्वक हर कार्य, व्यवहार, विन्यास को, विचारों को, व्यवस्था के रूप में अभिव्यक्त कर पाता है। समझदारी के बिना कल्पनाशीलता, कर्म-स्वतंत्रता का प्रयोग अपने आप में सर्वाधिक समस्याओं को पैदा कर लेता है।

यही मानव में भ्रमवश होने वाली समस्याओं का कारण हैं कल्पनाशीलता को विचारों में भी प्रयोग करता हैं। तब वाङ्मय, साहित्य को भी प्रस्तुत करता है। इसी के आधार पर कला, साहित्य के नाम से भी कल्पनाएँ दौड़ पड़ती है।

(2) राज्य, धर्म का मूल रूप:-

मानव में कल्पनाशीलता, कर्म-स्वतंत्रता का संपूर्ण कर्माभ्यास, व्यवहार अभ्यास की परिणित समाधान चाहना है। इसी विधि से शोध प्रक्रिया सहज संभव हो जाती है। इस प्रकार मानव का समाधान की ओर अपेक्षित रहना सहज है। इसी आधार पर प्रत्येक मानव समाधान को वरता (शोध या अनुसंधान करता) है। इस ढंग से राज्य और धर्म का मूल रूप समझदारी व्यवस्था है। व्यवस्था की अभिव्यक्ति सहज रूप में सर्वतोमुखी समाधान है। समाज रूप में संबंधों, मूल्यों को पहचानना तथा मूल्यांकन करने की विधि से समाधानित होना पाया जाता हैं। यही मानव धर्म हैं। यह जागृति का प्रमाण हैं। जागृति स्वयं समाधान और उसकी निरंतरता हैं। जागृति का प्रयोजन अस्तित्व में प्रत्येक एक के प्रति जागृत होने से हैं। जागृति का तात्पर्य जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने से है। यह जीवन ज्ञान सहित सह-अस्तित्व में अनुभव है। पदार्थावस्था के रूप, गुण, स्वभाव, धर्म को जानना, मानना, पहचानना,, निर्वाह करना यह पदार्थावस्था के प्रति जागृति हैं। इसी प्रकार प्राणावस्था, जीवावस्था, ज्ञानावस्था में उन-उन के रूप, गुण, स्वभाव, धर्म के प्रति जागृत होना ही मानव के जागृत होने का प्रमाण हैं। इन प्रमाणों के साथ ही प्रत्येक मानव को वर्तमान में विश्वास होना प्रमाणित होता है।

(3) सभी अपने 'त्व' सहित व्यवस्था है, जो सह-अस्तित्व है;

क्योंकि अस्तित्व न घटता हैं न बढ़ता हैं:- जागृति पूर्वक ही मानव व्यवस्था है और वह व्यवस्था में भागीदार होता हैं, यह मानव धर्म है। क्योंकि लोहा अपने लोहत्व सहित; गाय गायत्व के साथ; दूब दूबत्व के साथ व्यवस्था हैं और समग्र व्यवस्था में भागीदार हैं। इसी प्रकार मानव मानवत्व के साथ व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी संपन्न होनी ही मानव के सह-अस्तित्व का प्रमाण है। सह-अस्तित्व सहज रूप में ही व्यवस्था है। इस प्रकार मानव धर्म, व्यवस्था और सह-अस्तित्व स्वाभाविक रूप में, अस्तित्व सहज धर्म का ही प्रकाशन हैं। सह-अस्तित्व नाम हैं इसीलिए नाम से नामी का निर्देश हो जाना, संप्रेषणा की सफलता हैं। नामी का स्वरूप है - सभी व्यवस्था सहित वर्तमान है, जिसमें मानव का भी अविभाज्य होना समझ में आता हैं। इस प्रकार - 'व्यवस्था एक समग्रता सहित अभिव्यक्ति है' जिसमें जागृत मानव दृष्टा सहज प्रमाण है।

(4) अस्तित्व सहज राज्य, धर्म, समाज व्यवस्था

और उसकी निरंतरता की व्याख्या:- मूलतः अस्तित्व ही वैभव है, वैभव ही राज्य हैं। अस्तित्व में मानव का अविभाज्य होना भी स्पष्ट हो गया हैं। सह-अस्तित्व के रूप में ही संपूर्ण वैभव हैं, क्योंकि सत्ता में सभी अवस्थाएँ अविभाज्य हैं। इनका अलग-अलग विभाजित कर देखना संभव नहीं है। सत्ता में सभी अवस्थाएँ समाहित होना दिखाई पड़ता हैं। सत्ता व्यापक हैं। सत्ता न हो, ऐसी किसी स्थली की कल्पना भी नहीं हो सकती है। सत्ता में ही संपूर्ण वस्तुओं का होना पाया जाता हैं अर्थात् अस्तित्व ही संपूर्ण वस्तु है। सह-अस्तित्व ही मूलतः सम्पूर्ण अस्तित्व हैं। इस प्रकार समग्रता सहज अविभाज्यता का मूल सूत्र अथवा परम सूत्र सत्तामयता में संपृक्त प्रकृति ही है। इसलिए सत्ता में ही सम्पूर्ण अवस्थाएँ नियमित, नियंत्रित, संतुलित और समाधानित रहना देखने को मिलता हैं। इन सभी तथ्यों में सह-अस्तित्व ही परम सौंदर्य, परम सुख एवं परम समाधान और परम सत्य हैं। अस्तित्व स्वयं सह-अस्तित्व हैं। ऊपर वर्णित विश्लेषणों, निष्कर्षों के आधार पर धर्म और राज्य का मूल रूप सह-अस्तित्व नित्य व्यवस्था होना ही इंगित होता हैं। क्योंकि सह-अस्तित्व सहज कार्यकलाप और वैभव ही हैं सम्पूर्ण 'त्व' सहित व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी का ताना-बाना। कोई भी अवस्था और ऐसी कोई इकाई दिखाई नहीं पड़ती है, जो इस ताना-बाना से अलग रहे। खूबी यही है कि सत्ता स्वयं अस्तित्व में अविभाज्य हैं। इस प्रकार अस्तित्व अपने में सम्पूर्ण स्वरूप और वैभव है। यही व्यवस्था है।

इसलिए मानव का स्वयं में व्यवस्था होना और व्यवस्था में भागीदारी सहज कार्य में अपने को वैभवित कर पाना ही कर्म-स्वतंत्रता कल्पनाशीलता का तृप्ति बिंदु हैं।

कल्पनाशीलता का तृप्ति स्वराज्य व्यवस्था में हो जाता हैं।

इसकी निरंतरता का सहज वैभव होता है। यही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का वैभव हैं। इसी में प्रत्येक मानव मानवत्व सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण प्रस्तुत कर पाता है। यही परिवार मानव होने के आधार पर परिवार मूलक विधि से सर्वसुलभ हैं, यह समझ में आता हैं। अस्तु, परिवार मूलक विधि से गुंथा हुआ विश्व परिवार ही, समाज रचना का क्रियाकलाप है और निरंतर गति है। ऐसे परिवार का भी व्यवस्था का स्वरूप होना स्वाभाविक है। व्यवस्था, अपने आप में न्याय, उत्पादन, विनिमय में भागीदारी हैं। यह परिवार से विश्व परिवार पर्यन्त सूत्रित व्याख्यायित तथ्य हैं। इन आधारों पर 'व्यवस्था समाज का वैभव हैं और धर्म समाज का स्वरूप हैं।' मानव का मानवत्व सहित व्यवस्था होना समाज हैं और समग्र व्यवस्था हैं - न्याय, उत्पादन, विनिमय में भागीदारी। यही समग्र व्यवस्था का तात्पर्य है। इनकी निरंतरता के लिए दूसरी भाषा में, मानव परंपरा में व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी निरंतर वैभवित होने के लिए, मानवीय शिक्षा-संस्कार और स्वास्थ्य-संयम रूपी स्रोत के साथ ही मानव परंपरा का जागृत वैभव स्पष्ट हो जाती है। - ज.व. 195-198

परिवार में स्वायत्त मानव का ही भागीदारी होना जागृत परम्परा सहज गतिविधि है। इसका संपूर्ण गति व्यवस्था सहज पाँचों आयामों में होना पाया जाता है। परिवार मानव ही व्यवस्था और समाज का बीज रूप होना देखा गया। स्वायत्त मानव जागृति पूर्ण परंपरा सहज शिक्षा-संस्कार का फलन के रूप में होना देखा गया। स्वायत्त मानव परिवार मानव के रूप में प्रमाण है। परिवार मानव ही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का बीजरूप है यही मुख्य बिन्दु है।

राज्य और धर्म एक दूसरे के पूरक होते हैं; समाज ही धर्म का स्वरूप है; व्यवस्था ही राज्य है; धर्म का संतुलन राज्य से, राज्य का संतुलन धर्म से होना स्पष्ट किया जा चुका है। धर्म का स्वरूप ही अखण्ड समाज है। अखण्ड समाज सूत्र से सूत्रित परिवार है। इस विधि से जागृत परिवार सूत्र से सूत्रित अखण्ड समाज है। इसी प्रकार परिवार अपने में एक व्यवस्था, प्रसन्नता और उत्साह का मुखरण है। - ज.व. 238-241

6.5 धर्मनैतिक व्यवस्था

(A) अवधारणा

धर्म नीतिक व्यवस्था = संस्कृति + सभ्यता (संवाद, २००८)

- ◆ संस्कार क्रम = संबंधों का पहचान क्रम
- ◆ सम्बन्ध निर्वाह क्रम = संस्कृति, सभ्यता
- ◆ संस्कृति = संस्कारों का कला-साहित्य रूप, अधिकतम मानस रूप में, मानव मूल्यों का प्रतिरोपण प्रक्रिया, मानव के सच्चरित्र का स्मरण में लाना अथवा अवतरित करना
- ◆ सभ्यता = संस्कृति का अभिव्यक्ति क्रम, संस्कृति का व्यवस्था स्वरूप में वर्तमान होना, अधिकतम कार्य रूप में व्यक्त होता है
- ◆ संस्कृति + सभ्यता = समाज सहज चरित्र
 - - डायरी 1986 AB FC/279, 1983 [D] FC /57

मानव समाज या व्यवस्था द्वारा, प्रत्येक सम्बन्ध एवम् सम्पर्क का निर्वाह करते हुए, मानवीयता के संरक्षण के लिये किए गए समस्त:

- अध्ययनात्मक प्रयास को 'संस्कृति' संज्ञा है
- तथा इसके आचरण, प्रचार और प्रदर्शन-पक्ष की 'सभ्यता' संज्ञा है।

संस्कृति का पोषण सभ्यता से, सभ्यता का पोषण *विधि (कानून) से विधि का पोषण व्यवस्था से तथा व्यवस्था का पोषण संस्कृति से है, जो अन्योन्याश्रित है। - व्य.द. (१९७८) ६२

पूर्ववर्णित सम्बन्ध एवम् सम्पर्क में तारतम्यात्मक व्यवहार पक्ष के आनुषंगिक मानव का, विभिन्न विभूतिपरक एवम् स्थितिपरक अध्ययन आवश्यक तथा वांछनीय है। अस्तु, सभी मानव आबाल-वृद्ध निम्न बारह स्थिति में गण्य है। ये सभी सुखी होना चाहते हैं। सुख भी नियम से, दुःख भी नियम से होना सिद्ध हुआ है।

अतः निम्न बारह स्तर में पाये जाने वाले मानव किन नियम-सिद्ध प्रक्रिया द्वारा सुखी होना पाए जाते हैं, उसका स्पष्टीकरण निम्नानुसार है - यह सब व्यवहार सम्पर्कात्मक है -

1. बलवान दयापूर्वक सुखी होता है,
2. बुद्धिमान विवेक तथा विज्ञान पूर्वक,
3. रूपवान सत् चरित्रता पूर्वक,
4. पदवान न्याय पूर्वक,
5. धनवान उदारता पूर्वक,
6. विद्यार्थी निष्ठा पूर्वक,
7. सहयोगी कर्तव्य पूर्वक
8. साथी दायित्व पूर्वक
9. तपस्वी संतोष पूर्वक,
10. लोक सेवक स्नेह पूर्वक,
11. सहअस्तित्व में प्रेम पूर्वक मानव सुखी होता है।
12. रोगी तथा बालक के साथ आज्ञा पालन के रूप में सुखानुभूतियाँ सिद्ध हुई हैं।

उपरोक्तानुसार व्यवहार करने में समस्त मानव पाँचों स्थितियों में सफल हो जाय, यही धर्म-नैतिक व्यवस्था का कार्यक्रम व उद्देश्य है तथा शोषण के लिए प्राप्त समस्त प्रवृत्तियों का समूल निराकरण, मात्र उपरोक्तानुसार प्रतिष्ठित आचरण से ही संभव है। – व्य.द. 127-129

(B) संस्कृति

मानव समाज का स्वरूप अपने अखण्डता में प्रमाणित होना स्पष्ट किया जा चुका है क्योंकि समुदाय समाज होता नहीं, समाज समुदाय होता नहीं। समाज और उसका वैभव अनुभवमूलक प्रणाली से किया गया अभिव्यक्ति विन्यास, विचार विन्यास, व्यवहार विन्यास और कार्य विन्यास ही है। विन्यास का तात्पर्य विवेक सहित न्यायपूर्वक किया गया संप्रेषणा है।

जागृति पूर्वक ही सम्पूर्ण उत्सव समारोह सार्थक होना पाया जाता है। यहाँ सार्थकता का तात्पर्य अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था क्रम में उसकी निरंतरता का आशा-आकांक्षा सहित होने वाली उत्साह-आकांक्षा का अभिव्यक्ति-संप्रेषणा और प्रकाशन ही उत्सव के रूप में देखने को मिलता है। उत्सवों को प्रधानतः अखण्ड समाज के अर्थ में और सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में समारोह सम्पन्न होना एक आवश्यकता है।

अखण्ड समाज विधि में होने वाले उत्सवों को संस्कारोत्सवों के रूप में पहचाना जाता है। इन सभी संस्कारों में जीवन जागृति ही परम लक्ष्य होना पाया जाता है। संस्कारों का अभिव्यक्ति, संप्रेषण, प्रकाशन क्रम में ही उत्सवानुभूति होना, उसकी सार्थकता का होना देखा गया है। इस क्रम में जन्म संस्कारोत्सव, जन्मदिनोत्सव, नामकरणोत्सव, शिक्षा-संस्कारोत्सव (धर्म-कर्म, दीक्षा-व्यवहार, उत्पादन संस्कार) विवाहोत्सव मुख्य हैं। नैसर्गिक उत्सव ऋतुकाल के अनुसार मनाने की व्यवस्था है। क्योंकि सम्पूर्ण वनस्पति संसार भी ऋतुकाल के अनुसार उत्सवित होने के स्वरूप में देखा जाता है। यह सर्वविदित तथ्य है। इस विधि से समाज अपने अखण्डता के स्वरूप में ख्यात होना स्वाभाविक है। अखण्ड समाज अपने परिभाषा में पूर्णता के अर्थ में किया गया तन, मन, धन रूपी कार्यकलापों का निरन्तर गति अथवा अक्षुण्ण गति से है।

इस प्रकार परिभाषा के रूप में भी पूर्णता अपने-आप में इंगित होना पाया जाता है। पूर्णता का स्वरूप परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था और स्वानुशासन के रूप में प्रमाणित होना पाया जाता है। परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था क्रम में व्यवस्था स्वयं क्रिया पूर्णता और उसकी निरन्तरता का द्योतक और प्रमाण है। स्वानुशासन जागृति पूर्णता का प्रमाण है। यही आचरण पूर्णता का स्वरूप है। पूर्णता के अनन्तर उसकी निरन्तरता का होना देखा गया है। क्रिया पूर्णता, आचरण पूर्णता और उसकी निरन्तरता सदा-सदा के लिये गतिशील रहना ही समाज गति का तात्पर्य है। ऐसी स्थिति मानव परंपरा में अस्तित्व सहज अनुभूति, अस्तित्व ही सह-अस्तित्व सहज होने के आधार पर विचार शैली, अस्तित्व में ही विकास और जागृति प्रमाणित होने के क्रम में मानव ही जागृति को प्रमाणित करना सम्पूर्ण अखण्डता का सूत्र है। ऐसे जागृति पूर्णता को परम्परा के रूप में प्रमाणित करने की विधि से व्यवस्था एक सहज क्रियाकलाप है। व्यवस्था सर्वमानव में स्वीकृत तथ्य है। फलस्वरूप सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज के आधार पर क्रियान्वित होना स्वाभाविक है। इस प्रकार मानव में क्रिया पूर्णता आचरण पूर्णता ही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में प्रमाणित होता है। यह सर्वमानव में स्वीकृत अथवा स्वीकृत होने योग्य तथ्य है। इसका कारण जीवन महिमा ही है। जीवन सदा-सदा जागृति और जागृति पूर्णता के लिये उन्मुख रहता ही है। इसीलिये शैशव अवस्था से ही जागृति स्वीकृत होना रहता है और अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था भी स्वीकृत रहता है। इसकी आपूर्ति करना ही जागृत मानव परम्परा का प्रमाण है या तात्पर्य है। – स.श. 272-277

अलंकार, सत्कार, सम्मान, प्रतिज्ञा विधियों से सब अपने-अपने समुदायों की पहचान कर आधार बना चुकी हैं। ये सभी विधियां अपने को सार्वभौमता में प्रतिष्ठित करना भी चाहती हैं। सार्वभौमता का सूत्र मानवता ही है। इस कारण प्रत्येक समुदाय द्वारा मानवीय संस्कृति, सभ्यता, विधि व्यवस्था को पहचानना आवश्यक है। – ज.व. 272-274

व्यवस्था में न्याय सुरक्षा सुलभता, विनिमय कोष सुलभता, उत्पादन कार्य सुलभता, स्वास्थ्य संयम सुलभता और मानवीय शिक्षा संस्कार सुलभता का संयुक्त रूप है। इसी व्यवस्था में जीने की कला, सम्बन्धों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह, व्यवस्था में भागीदारी का, संयुक्त रूप में प्रकाशित होना पाया जाता है। यह मानव संस्कृति का मध्य बिंदु है। मानव अपनी संस्कृति को व्यक्त करता है। उस समय आवास, अलंकार, उत्सव, सम्मिलित उत्सव, मानवीयता का प्रकाशन, प्रदर्शन और प्रचार, ये सब प्रधान रूप में रहना स्वाभाविक है।

मानव में मानवीयता ही नित्य उत्सव का आधार है। उत्सव, उत्साह, हर्ष, उल्लास, विश्वास के आधार पर सहज ही जीवन शक्तियों का प्रवाह है अथवा अभिव्यक्ति है। अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी, स्वयं उत्साह का साक्ष्य है। विश्वास (वर्तमान में स्वयं में व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी) सहज सौजन्यता के संयोग में, नित्य उत्सव होना पाया जाता है। - म.वि. 138-140

जागृति सहज वैभव के अर्थ में सभी प्रकार से प्राप्त उत्साह सार्थक होना पाया जाता है। उत्सव सम्पन्नता ही संस्कृति का जागरण है। एक पीढ़ी से दुसरे पीढ़ी के लिए प्रेरक प्रयोजनकारी होना ही सांस्कृतिक कार्यक्रमों का वैभव और सार्थकता है। - डायरी 2008 fc/25

(C) सभ्यता

“सम्बन्ध के रूप में परिवार, निर्णय लेने के रूप में सभा है” - संवाद २०११

मानव परंपरा संस्कृति, सभ्यता, विधि, व्यवस्था के रूप में समीचीन है। संस्कृति क्रम में शिक्षा- संस्कार ही प्रधान मुद्दा है और सभ्यता में इसी शिक्षा-संस्कार का प्रमाणपूर्वक पोषण विधि प्रमाणित होती है; यह एक आचरण का ही स्वरूप है। - स.श. 239

संस्कृति के साथ सभ्यता का पहचान हर समुदाय स्वीकारा है। सभ्यता विशेषकर आगन्तुक व्यक्ति के साथ किया गया संबोधन परस्पर परिचय क्रम, परस्परता में घटित घटना, हाट (बाजार), सभा, सम्मेलनों में राजधर्म, संबंधों में आशय, मार्गदर्शन, निर्देशन का अनुसरण सभ्यता के मूल में स्पष्ट है। -स.श. 14

शिष्टता और सुशीलता ये अपेक्षाएँ सर्वमानव में विद्यमान है। शिष्टता का परिभाषा मानव अपने मानवत्व सहित व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह करने में विश्वास और उसकी अभिव्यक्ति है। सुशीलता का तात्पर्य मूल्य, चरित्र, नेतिकता का अविभाज्य रूप में सभी स्थिति - गतियों में व्यक्त होना ही है। ऐसी शिष्टता हर मनुष्य में, हर मनुष्य से, हर मनुष्य के लिये अपेक्षित रहना पाया जाता है। ऐसी शिष्टता ही सभ्यता का सूत्र है और संस्कृति सहज गति है। इस प्रकार सभ्यता हर स्थितियों में मूल्यांकित होता है और संस्कृति हर गतियों में चिह्नित और मूल्यांकित होता है। इसी महिमावश अथवा फलवश हर मानव, मानव का परिभाषा सहज विधि से सोचने, सोचवाने, बोलने, बोलवाने और करने-कराने योग्य स्वरूप में प्रमाणित हो जाता है। यह शिष्टता, सुशीलता और परिभाषा एक दूसरे के पूरक होना पाया जाता है। यही समाज गति है। समाज गति का ही दूसरा नाम सार्वभौम व्यवस्था है। इस प्रकार परिवार क्रम में शिष्टता, सुशीलता और परिवार व्यवस्था क्रम में मानव का परिभाषा प्रमाणित होता ही रहता है। इससे यह पूर्णतया स्पष्ट होती है। व्यवस्था क्रम और परिवार क्रम यह अविभाज्य वर्तमान है। -स.श. 225

शिक्षा-संस्कार से प्राप्त स्वीकृतियों, अवधारणाओं, अनुभवों, विचार शैली सहित सर्वतोमुखी समाधान मानसिकता से सम्पन्न होना ही मानवीय संस्कार सफलता का प्रमाण है। यही सभ्यता का आधार है। मानवीयतापूर्ण सभ्यता स्वाभाविक रूप में न्यूनतम परिवार सभा से विश्व परिवार सभा सहज भागीदारियों को निर्वाह कर लेना ही है। अर्थात्

व्यवस्था के रूप में जीना ही, समग्र व्यवस्था में भागीदारी का निर्वाह करना ही सभ्यता का तात्पर्य है। सभ्यता में ही शिष्टता समाया रहता है। प्रमाण भी समाया रहता है। अनुभव, व्यवहार और प्रयोग के रूप में ही प्रमाणों का प्रयोजन दिखाई पड़ता है। - स.श. 121

परिवार ही मूलतः सभा, समाज और व्यवस्था का स्वरूप है। परिवार में संस्कृति सभ्यता, सभा में विधि व्यवस्था प्रमाणित होना जागृति है। परिवार की पहचान, उसकी विशालतमता ही समाज का स्वरूप है। व्यवस्था अपने में न्याय, उत्पादन, विनिमय, स्वास्थ्य संयम और शिक्षा-संस्कार सुलभता ही है और समाज अपने आप में सम्बन्ध, मूल्य, मूल्यांकन, उभय तृप्ति विधि ही जागृति का साक्ष्य है। -स.श. 138

सम्बन्ध, मूल्य, मूल्यांकन विधियों से सम्पन्न अनुभव ही सभ्यता की प्रतिष्ठा है। परिवार ही अपने परिपक्वता विधि से सभा के स्वरूप में प्रमाणित होता है। इस प्रकार सभा ही सभ्यता की अभिव्यक्ति, संप्रेषणा, प्रकाशन स्रोत है। सभा स्वरूप क्रम से दस सीढ़ियों में स्पष्ट है। मूलतः परिवार सभा ही अन्य स्तरीय सभाओं की रचना-कार्य और प्रवृत्तियों को प्रवर्तित करता है। परिवार में समाधान, समृद्धि और परस्परता में विश्वास, प्रतिष्ठा के रूप में अनुभव होना ही, उसकी विशालता की आवश्यकता स्फूर्त होती है। इसी क्रम में परिवार के अन्य कार्य सूत्र भी आशय के रूप में सूत्रित रहता ही है। धरती में अकेले व्यक्ति या परिवार नाम की स्वरूप की व्यवस्था नहीं है। अनेक व्यक्ति, अनेक परिवार के रूप में मानव प्रकाशित है। इसलिये परस्पर परिवार में विश्वास का सूत्र फैलना एक आवश्यकता रहता ही है। इसी क्रम में परिवार समूह, ग्राम मुहल्ला परिवार होना एक साधारण विधि है। इसमें परिवार का आशित विनिमय, न्याय, स्वास्थ्य-संयम, शिक्षा-संस्कार अपेक्षा के रूप में ही रहता है। क्योंकि परिवार आवश्यकीय सभी सामान्य आकांक्षा एवं महत्वाकांक्षा सम्बन्धी वस्तुओं को निर्मित नहीं करता। आवश्यकता से अधिक एक-दो वस्तुओं को अवश्य ही उत्पादित करता है एवं विनिमय पूर्वक अन्य वस्तुओं में बदलने की आवश्यकता बनी रहती है। यह एक आवश्यकीय प्रक्रिया है। इसे दूर-दूर तक सूत्रित करना एक आवश्यकता है। मानव जागृतिपूर्वक ही सामाजिक होना पाया जाता है। यह शिक्षा-संस्कारपूर्वक ही होता है। इसका परीक्षण, सर्वमानव के साथ होना सहज है। इस विधि से संबंधों को विशाल और विशालतम रूप देना आवश्यकता है। इसी विधि से ग्राम परिवार सभा से विश्व परिवार सभा तक सम्बन्ध रचना मानव का चिर कामना नैसर्गिकता सहज विधि से स्पष्ट हुआ है। इस विधि से धरती के मानव न्याय, जो अखण्ड समाज के अर्थ को ध्वनित करता है, के साथ समाधान जो सार्वभौम व्यवस्था को ध्वनित करता है, के साथ जागृति जो इन दोनों को संतुलित रूप में प्रमाणित है, के साथ निरन्तर जीने की कला को, अनुभव बल को, विचार शैली को सर्वथा परिपूर्ण रूप में जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना संभव है। जागृत परंपरा ही शिक्षा-संस्कार, न्याय-सुरक्षा, विनिमय-कोष, उत्पादन-कार्य और स्वास्थ्य-संयम के रूपों में हर सभा के परस्परता में, हर सभा में प्रमाणित होता है और उसका मूल्यांकन होना एवं उसकी तृप्ति सर्वसुलभ होना ही मानवीयतापूर्ण आचार संहिता का परम लक्ष्य है। -भ.व. 58

6.6 राज्यनैतिक व्यवस्था

राज्यनीतिक व्यवस्था = विधि + व्यवस्था

(A) अवधारणा

- राज्य के दो पक्ष सिद्ध है – विधि और व्यवस्था।
 - विधि: एक या अनेक व्यक्तियों द्वारा सामाजिकता को अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से व्यवस्था प्रदान करने हेतु निर्णित नियमपूर्ण पद्धतियों की विधि संज्ञा है (* = मानवीयतापूर्ण आचार संहिता)
 - व्यवस्था – विधि के आशय को कार्यरूप प्रदान करने हेतु प्रस्तुत परम्परा की व्यवस्था संज्ञा है

व्यवस्था का प्रत्यक्ष रूप में से उत्पादन एवं उसके सहायक तत्वों को सर्वसुलभ बनाना है।

विधि का शुद्ध रूप ही सामाजिक मूल्यों यथा जीवन मूल्य, मानव मूल्य, स्थापित मूल्य व शिष्ट मूल्य का संरक्षण एवं संवर्धन है। – अ.द. 65-67

(B) विधि

- विधि का अर्थ है मानव में निहित अमानवीयता का शमन तथा व्यवस्था का तात्पर्य है मानवीयता की स्थापना के लिये प्रोत्साहन योग्य अवसर व साधन को उपलब्ध कराने की सामर्थ्य अर्जित करना:-
- राज्य के लिए आवश्यकीय व्यवहार, व्यवस्था, व्यवसाय, शिक्षा, प्रचार, व प्रदर्शन ही विधि है तथा विपरीत में निषेध है। विधि व निषेध का निर्णय उनके आर्थिक और सामाजिक अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पर आधारित होने के कारण ही आज जिसे आर्थिक व सामाजिक परिस्थितिवश विधि मान लिया गया है अथवा हठ या बलपूर्वक मनवा लिया गया है, उसके कालान्तर में परिवर्तित होने पर जो होता है, वह निषेध हो जाता है। इस प्रकार विधि व निषेध के सम्बन्ध में अनिश्चितता के कारण अनिश्चित अवधि के लिये समस्या बनी ही रहती है। – व्य.द. 1978, 170
- कोई भी मनुष्य अनिश्चित विधि व व्यवस्था नहीं चाहता। विधि एवम् व्यवस्था के प्रति विश्वास एवम् निष्ठा के निरन्तरता के लिये भी उसकी स्थिरता आवश्यक है।
- इसके पूर्व में न्यायवादी व अवसरवादी व्यवहार का विश्लेषण किया जा चुका है। अवसरवादी-नीति से अनिश्चित दिशा, गति एवम् उपलब्धि ही सम्भव है, जिससे व्यवस्था में स्थिरता तथा विश्वास नहीं उत्पन्न कराया जा सकता। साथ ही यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि न्यायवादी नीति के विकास तथा व्यवहारान्वयन के लिए मानवीयता ही आधार है। – व्य.द. 1978, अध्याय 16

विधि का लक्ष्य है, निषेध पर विजय (समाधान) और व्यवस्था का लक्ष्य है विधि का संरक्षण एवं संवर्धन। उपरोक्तानुसार निर्णीत विधि से अमानवीयता का शमन होता है तथा ऐसी विधि के लिए दी गई व्यवस्था का लक्ष्य मानवीयता का संरक्षण एवं संवर्धन ही है। इस प्रकार विकसित विधि व व्यवस्था की उपलब्धि विश्वास है। व्य.द. 1978, अध्याय 16

- विधि एवम् व्यवस्था न्याय के पक्षपाती बन कर विश्वास पैदा करते हैं। निषेध भय उत्पन्न करता है। विधि के अनुरूप व्यवस्था पक्ष, मानवीयतापूर्ण व्यवसाय, शिक्षा, उत्पादन, उपभोग व वितरण के कार्यकलाप से मार्गदर्शन करता है, सुगमता प्रदान करता है, फलस्वरूप व्यवसाय में विश्वास उत्पन्न करता है।
- ऐसे राज्य व विधि और व्यवस्था की अक्षुण्णता बनाए रखने के लिए शिक्षा, व्यवसाय, व्यवसाय, राजस्व, वित्त, तथा सुरक्षा, इन छः प्रधान पक्षों का अध्ययन आवश्यक है। इन सबमें शिक्षा अति महत्वपूर्ण है। शिक्षा नीति की अपूर्णता बाकी सभी पक्षों को प्रभावित करती है।
- विधि का मूल सूत्र मानवीयता पूर्ण आचरण ही है
- मानव परंपरा में समझदार मानव ही शिक्षा प्रदान करने में समर्थ है। शिक्षा का प्रयोजन है, अखंड-सामाजिकता का सूत्र एवं व्याख्या समाधान, समृद्धि, अभय व सह-अस्तित्व। इस विधि से समाज अखंडता और सार्वभौमता के रूप में वैभवित होता है।

विधि सहज नीति

- राष्ट्रिय स्तर पर राज्य-नीति निम्न छः दृष्टिकोण से निर्धारित की जानी चाहिए तथा उसका लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए। इन बिन्दुओं के आधार पर मानव के सह-अस्तित्व, विकास तथा समृद्धि की दृष्टि से राज्य-व्यवस्था तथा अनुशासन का सामान्यीकरण महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।
 - १. राष्ट्रिय सुरक्षा,
 - २. आर्थिक सुरक्षा,
 - ३. व्यावसायिक सुरक्षा,
 - ४. विनिमय सुरक्षा,
 - ५. विद्याध्ययन सुरक्षा, और
 - ६. नैतिक सुरक्षा

१. राष्ट्रिय सुरक्षा

- ◆ राष्ट्रिय जान-जाति में राष्ट्रिय स्वत्व की धारणा एवम् निष्ठा को सुरक्षित रखने की दृष्टि से सीमावर्ती सुरक्षा अति आवश्यक है, जिससे दूसरा राष्ट्र आतंक न उत्पन्न कर सके।
- ◆ इसके लिये राष्ट्रिय सुरक्षात्मक नीति का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को ध्यान में रख कर करना चाहिये, जिससे संबंधित राष्ट्रान्तर्गत व्यक्ति, परिवार तथा समाज को सुरक्षा का अनुभव हो सके और प्रत्येक व्यक्ति

भय से रहित होकर व्यवसाय में रत हो सके, जिससे समृद्धि-पूर्णजीवन का अनुभव कर सकने का अवसर उपलब्ध हो।

- ◆ स्पष्ट है कि ऐसी नीति मात्र मानवीय दृष्टी को लक्ष्य में रखकर ही निर्धारित की जा सकती है, साथ ही ऐसी नीति में अन्य राष्ट्रों के शोषण की कोई संभावना न होने से परस्पर सह-अस्तित्व के लिये विश्वास के आधार का निर्माण होगा।

२. आर्थिक-सुरक्षा

राष्ट्रीय अर्थ सुरक्षा का नीति निर्धारण निम्न बिन्दुओं के आधार पर किया जाना चाहिये –

1. राज्य-व्यवस्था द्वारा सभी व्यक्तियों को उनकी क्षमता, पात्रता, एवम् योग्यता के आधार पर कार्य में रत करने वाली नीति का विकास।
2. अधिकाधिक उत्पादन के लिये प्रोत्साहन देना तथा तदनुरूप साधन एकत्र करना।
3. अधिकतम या न्यूनतम आय को निकटतम करने की नीति का विकास करना।
4. क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता के आधार पर गौरव प्रदान करना।
5. उत्पादन हेतु अधिकतम धन व्यय करने हेतु प्रोत्साहन देने वाली नीति का विकास करना।
6. अनेक जाती, वर्ग, मत एवम् पक्षात्मक विचारों से मुक्त नीति का विकास करना।
7. परधन, परनारी/परपुरुष व पर-पीड़ात्मक वृत्तियों का उन्मूलन करने वाली नीति का विकास करना – स्वधन, स्वनारी/स्व पुरुष, दया पूर्ण कार्य-व्यवहार को स्थापित करने वाली नीति का विकास करना।
8. शोषणात्मक प्रवृत्तियों का दमन करने वाली नीति का विकास करना।
9. शासन (*व्यवस्था) के अंतर्गत सभी व्यक्तियों अथवा नागरिकों को एक सा न्याय दिलाने वाली पद्धति का विकास करना।

समस्त अर्थ नीति द्वारा मानवीयता-पूर्ण दृष्टी, स्वभाव व विषय को लक्ष्य में रखते हुए समस्त संपर्क तथा संबंधों का निर्वाह करने में व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक को समृद्ध होने की पूर्ण संभावना होनी चाहिये, जिसका मूर्त रूप स्वधन, स्व-नारी/स्व-पुरुष एवम् दया पूर्ण क्रियाओं में निष्ठा एवम् परधन, परनारी/परपुरुष एवं पर-पीड़ात्मक क्रियाओं का दमन ही है, क्योंकि अंततोगत्वा समस्त संपर्क एवम् संबंध और संपत्ति का साकार व्यवहार रूप स्वधन, स्व-नारी/स्व-पुरुष और दया युक्त व्यवहार की उपलब्धि ही है।

३. व्यावसायिक सुरक्षा

प्रत्येक व्यक्ति के श्रम और तकनीक का पूर्ण सदुपयोग करते हुये अर्थ के उत्पादन की दिशा में किये गये प्रयास की 'व्यवसाय' संज्ञा है।

प्राप्त श्रम एवम् तकनीक का सदुपयोग ही अर्थ-सुरक्षा है।

- ◆ मानव के लिये आवश्यकीय व्यवसाय मुख्यतः दो ही हैं – १. कृषि और २. उद्योग। अन्य जितने भी व्यवसाय हैं, वह इनके आश्रय में तथा इनके पूरक सिद्ध होते हैं।
- ◆ व्यवसाय की सुरक्षा के लिये *राष्ट्र व्यवस्था (शासन) की निम्न तथ्यों के आधार पर नीति निर्धारण करना चाहिये।
 - १. निपुणता एवम् कुशलता को वरीयता प्रदान करना,
 - २. निपुण एवम् कुशल व्यक्ति को साधन उपलब्ध कराना,
 - ३. मनुष्योपयोगी वस्तुओं, यथा, आहार, आवास, अलंकार, दुर्गमन, दूर-श्रवण तथा दूर-दर्शन के लिये वस्तुओं तथा उपकरणों पर प्रयोग तथा प्रयास को सहायता देने वाली नीति का विकास करना;
 - ४. अधिकाधिक उत्पादन करने वाली, निपुणता तथा कुशलता का सामान्यीकरण करने वाली नीति का विकास करना,
 - ५. श्रम के फल का शोषण न हो, ऐसी नीति का विकास करना,
 - ६. व्यवसाय में जो बाधा उत्पन्न करते हों, उनको *सुधार करने वाली नीति का विकास करना,
 - व्यवसाय की सुरक्षा के लिये नित निर्धारण करते समय न्याय के आश्रय से या न्यायोचित व्यावसायिक नीति का विकास करने से ही संपर्क एवम् संबंधों के निर्वाह हेतु उपयुक्त उपयोग, उपभोग, वितरण, प्रयोग व व्यवसाय के लिये समुचित अवसर उपलब्ध हो सकेगा।

४. विनिमय सुरक्षा

उत्पादित वस्तुओं को (*श्रम विनिमय) सहित दूसरों को प्राप्त कराने वाले प्रयास की 'विनिमय' संज्ञा है।

*विनिमय (वाणिज्य)-सुरक्षा के लिये निम्न आधार पर नीति निर्धारण होना चाहिए।

- ◆ १- व्यावसायिक लाभ के वितरण हेतु सहअस्तित्ववादी दृष्टि व व्यावसायिक पद्धति को प्रोत्साहित करने वाली नीति का निर्धारण करना।
- ◆ २- श्रम के फल पर ही निर्भर रहने वाली व्यावसायिक पद्धति का विकास अर्थात् व्यापार में ब्याज द्वारा आय पद्धति का उन्मूलन करने की नीति का विकास करना।
- ◆ वाणिज्य अन्तर्राष्ट्रीय एवम् राष्ट्रीय एन दो भेदों से संपन्न होता है।
 - × अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य शोषण अथवा आदान प्रदान (लाभ हानी रहित) के लक्ष्य भेद से सम्पन्न होता है, जो वस्तु व मुद्रा के माध्यम से होता है।
 - × अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य, आदान प्रदान की नीति अपनाने से सफल होता है, क्योंकि यह प्रणाली शोषण मुक्त होने के कारण सह-अस्तित्व की भावना स्थापित करती है और आपसी सदभाव

व विश्वास की स्थापना करती है। यह प्रणाली एक दुसरे को समृद्ध बनाने तथा विकास की ओर उन्मुख करने में सहायक होती है।

- × राष्ट्रिय वाणिज्य, लाभ-संग्रह व लाभ-वितरण के आशय-भेद से सम्पन्न होता है। उत्पादन एवम् उपभोक्ता के बीच में स्थित इकाई संग्रहवादी विचार से शोषण करती है, जिससे आर्थिक विषमता तथा असंतुलन उत्पन्न होकर सामाजिक विषमता का प्रादुर्भाव होता है। यह विषमता असंतोष को जन्म देती है, जो अंततोगत्वा 'क्रान्ति' में परिणित होता है। राज्य-व्यवस्था का यह दायित्व है कि ऐसी नीति का विकास करे कि शोषण की संभावना ही समाप्त हो जाय। अतः अन्तर्राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रिय वाणिज्य भी न्यायाश्रित होना चाहिए। न्यायाश्रित वाणिज्य (विनिमय) ही परस्पर पोषक होगा अन्यथा शोषण है ही।

५ विद्याध्ययन सुरक्षा

विधिवत वस्तुस्थिति का परिचय कराने वाली जानकारी की 'विद्या' संज्ञा है। चेतनायुक्त स्मरण सहित विधिवत जानकारी के लिये किए गए प्रयास की 'अध्ययन' संज्ञा है।

- ◆ ऐसी जानकारी की आवश्यकता मनुष्य को इसलिए है कि वह भौतिक समृद्धि तथा बौद्धिक समाधान से सुखानुभव करना चाहता है।
- ◆ अध्ययन को सफल बनाने का दायित्व अध्यापक, अध्यापन तथा शिक्षा प्रणाली पर है, क्योंकि यह चारों परस्पर पूरक है। फिर भी शिक्षा प्रणाली का इसमें बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।
- ◆ अध्ययन का दायित्व विद्यार्थी की क्षमता पर है। शिक्षा प्रणाली, अध्यापक, माता, पिता तथा अध्ययन यह सब एकसूत्रात्मक होने से ही सफल विद्याध्ययन पद्धति का विकास संभव है, जिससे कृतज्ञता तथा सह-अस्तित्व का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा तथा शासन व प्रजा दोनों शोषण से मुक्त हो सकेंगे।
- ◆ उपरोक्तानुसार शिक्षा प्रणाली के लिये शिक्षा नीति के निर्धारण के लिये धर्म-नीति और राज्य-नीति का निर्भ्रम ज्ञान आवश्यक है।
- ◆ शिक्षा नीति का आधार मानवीयता तथा सामाजिकता होनी चाहिये। मानवीयता तथा सामाजिकता एकदेशीय तथ्य न होकर सार्वभौमिक तथ्य है। इसलिये उनको आधार मानकर विकसित शिक्षा प्रणाली से ऐसे व्यक्तित्व-संपन्न नागरिकों का निर्माण होगा, जिनकी सहअस्तित्व तथा पोषण में द्रढ़ निष्ठा होगी।

शिक्षा नीति का लक्ष्य है -

- ◆ 'मानवीय दृष्टी, गुण व विषय सम्पन्न नागरिकों का निर्माण, जिनमें अतिमानवीयता के लिये जिज्ञासा हो।'।

- ◆ वर्तमान शिक्षा नीति के समक्ष ऐसी कोई स्पष्ट रूप-रेखा नहीं है अथवा स्पष्ट लक्ष्य नहीं है, जिसके परिप्रेक्ष्य में इसकी उपादेयता का निर्णय किया जा सके। उपरोक्तानुसार लक्ष्य निर्धारण से ही पूरी शिक्षा-प्रणाली की एक दिशा निर्धारित हो जाती है।
- ◆ वर्तमान शिक्षा पद्धति के अवलोकन से, वर्तमान शिक्षा-पद्धति में यह पाया जाता है कि किसी भी विषय का ज्ञान पूर्णतः विद्यार्थियों को नहीं होता। जिन विषयों का शिक्षण न होने से यह अध्ययन अपूर्ण रह जाता है उसे निचे दर्शाया गया है : -
 - × १. विज्ञान के साथ चैतन्य पक्ष का अध्ययन।
 - × २. मनोविज्ञान के साथ संस्कार पक्ष का अध्ययन।
 - × ३. अर्थशास्त्र के साथ प्राकृतिक एवम् वैकृतिक ऐश्वर्य के सदुपयोगात्मक तथा सुरक्षात्मक नीति-पक्ष का अध्ययन।
 - × ४. समाज-शास्त्र के साथ मानवीय संस्कृति तथा सभ्यता का अध्ययन।
 - × ५. राजनीति शास्त्र के साथ मानवीयता के संरक्षण एवम् संवर्धन के नीति-पक्ष का अध्ययन।
 - × ६. दर्शन शास्त्र के साथ क्रिया पक्ष का अध्ययन।
 - × ७. इतिहास एवम् भूगोल के साथ मानव तथा मानवीयता का अध्ययन।
 - × ८. साहित्य-शास्त्र के साथ तात्त्विकता का अध्ययन।

उपरिवर्णित बिन्दुओं के साथ जितने भी पूरक तथ्यों को निर्देशित किया गया है, उन सबको एक समुच्चयात्मक पाठ्यक्रमनीति के रूप में विकसित करना चाहिये तथा सुलभ बनाना चाहिये। तभी सब विषयों के अध्ययन के अनन्तर, 'जो व्यवहार में चरितार्थ होना है' अर्थात् विद्वानों द्वारा चिराकांक्षित मानवीयता की अभिव्यक्तियाँ सुलभ सबल होकर निरंतरता को प्राप्त कर सकेंगी। फलस्वरूप समाज में सामाजिकता से प्राप्त होने वाली स्वर्गियता का अनुभव सर्वसुलभ एवम् सामान्य हो सकेगा। -व्य.द. 1978, 173-180

(C) दश सोपनीय व्यवस्था

(1) मानवीय व्यवस्था स्वरूप

मानवीय व्यवस्था के सार्वभौम स्वरूप को पांच आयाम एवं दश सोपान में पहचाना गया है।

यथा:

1. शिक्षा-संस्कार व्यवस्था
2. स्वास्थ्य-संयम व्यवस्था
3. उत्पादन कार्य व्यवस्था
4. विनिमय-कोष व्यवस्था
5. न्याय-सुरक्षा व्यवस्था

यह 'परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था' विधि से एक-स्तरीय परिवार-व्यवस्था अन्त्यों के साथ 'प्रतिनिधि विधि' से भागीदारी करते हुए, १० सीढ़ियों में 'विश्व परिवार व्यवस्था' तक समझा गया है। यही सार्वभौम व्यवस्था का स्वरूप है।

(*इस ढंग से) राज्य का स्वरूप अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था सूत्र अध्ययन से और आचरण से व्याख्या होने के आधार पर विधि को पहचानने के मुख्य रूप से पाँच मुद्दे पाए गए हैं।

पाँच आयामी कार्यक्रम

राज्य प्रक्रिया में उक्त पाँचों व्यवस्थाएं सार्वभौमिकता के अर्थ में ही सार्थक होना पाया जाता है।

- ◆ मानवीय शिक्षा-संस्कार की सफलता अर्थ-बोध होने के रूप में है।
- ◆ न्याय-सुरक्षा की सफलता संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन पूर्वक उभय-तृप्ति के रूप में सार्थक होना पाया जाता है।
- ◆ उत्पादन-कार्य हर परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन के रूप में, समृद्धि के अर्थ में सार्थक होना पाया जाता है
- ◆ विनिमय-कोष श्रम-मूल्य के पहचान सहित, श्रम विनिमय पद्धति से सार्थक होता है।
- ◆ और स्वास्थ्य-संयम मानव-परंपरा में जीवन जागृति को प्रमाणित करने योग्य शरीर की स्थिति-गति के रूप में सार्थक होता है।

यह सब मानव सहज जागृति के अक्षुण्णता का द्योतक है अथवा सार्वभौम व्यवस्था, अखंड समाज और उसकी अक्षुण्णता का द्योतक है। यही राज्य वैभव का स्वरूप है। इस विधि से हर परिवार समाधान-समृद्धि पूर्वक जीना होता है।

दश सोपनीय व्यवस्था

कोई भी मानव अनिश्चित विधि व व्यवस्था नहीं चाहता। विधि एवं व्यवस्था के प्रति विश्वास एवं निष्ठा की निरंतरता के लिए सार्वभौम विधि-व्यवस्था आवश्यक है।

समूचे व्यवस्था का अर्थात् एक परिवार से विश्व परिवार, मानव व्यवस्था को पहचानने-निर्वाह करने के क्रम में दस सीढ़ियों में पहचानना सहज है। यथा

(1) परिवार सभा व्यवस्था

(2) परिवार समूह सभा व्यवस्था

- (3) ग्राम परिवार सभा व्यवस्था
- (4) ग्राम समूह परिवार सभा व्यवस्था
- (5) ग्राम क्षेत्र परिवार सभा व्यवस्था
- (6) मंडल परिवार सभा व्यवस्था
- (7) मंडल समूह परिवार सभा व्यवस्था
- (8) मुख्य राज्य परिवार सभा व्यवस्था
- (9) प्रधान राज्य परिवार सभा व्यवस्था और
- (10) विश्व राज्य परिवार सभा व्यवस्था।

इन दसों सीढ़ियों का अन्तर संबंध हर एक व्यक्ति 10 व्यक्ति को अथवा हर 10 व्यक्ति एक-दूसरे को मानव सहज संबंधों के रूप में पहचानने, उसमें निहित मूल्यों को निर्वाह करने के रूप में समझा गया है। इस क्रम में एक परिवार सभा से कम से कम 10 व्यक्ति होना मानते हुए इसे चित्रित किया गया है। 10 व्यक्ति में से एक व्यक्ति को किसी निश्चित काल तक परिवार समूह सभा व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह करने के लिए निर्वाचित करेंगे। ऐसे 10 परिवारों में से निर्वाचित एक-एक व्यक्ति मिलकर एक परिवार समूह सभा के रूप में कार्य करना होगा। ऐसे 10 परिवार समूह सभाएं अपने में से एक-एक व्यक्ति निर्वाचित करेंगे। ऐसे 10 व्यक्ति मिलकर एक ग्राम मोहल्ला स्वराज्य परिवार सभा व्यवस्था गठित करेंगे। यही निर्वाचित 10 व्यक्ति मिलकर, ग्राम के कम से कम 1000 व्यक्ति में से ही 5 समितियों को मनोनीत करेंगे। ये 5 समितियाँ क्रम से न्याय-सुरक्षा, उत्पादन-कार्य, विनिमय-कोष, शिक्षा-संस्कार और स्वास्थ्य-संयम समितियाँ रहेंगी।

इसमें मूलतः महत्वपूर्ण मुद्दा यही है परिवार के सभी सदस्यों को स्वयं पर विश्वास, श्रेष्ठता के प्रति सम्मान, प्रतिभा और व्यक्तित्व में संतुलन, व्यवसाय में स्वावलंबी, व्यवहार में सामाजिक योग्य क्षमता-योग्यता-पात्रता को स्थापित करने के उपरांत ही परिवारमूलक स्वराज्य व्यवस्था सभा का गठन करना सहज है। ऐसे 10-10 व्यक्तियों का 10 ग्राम स्वराज्य परिवार सभाओं में से 1-1 व्यक्ति को निर्वाचित करेंगे। ऐसे 10 व्यक्ति मिलकर एकग्राम समूह परिवार सभा का गठन करेंगे। और इसमें भी पांच आयाम रूपी समितियों को मनोनीत व्यक्तियों से गठित करेंगे। इसी प्रकार क्रम से प्रधान राज्य परिवार सभा का गठन, पाँचों आयाम रूपी समितियों का मनोनयन सम्पन्न होगा। इस धरती पर जितने भी प्रधान राज्य परिवार सभाएं होंगी वे सब अपने-अपने निर्वाचित सदस्यों को पहचानने, इस प्रकार विश्व परिवार सभा व्यवस्था भी मनोनयन पूर्वक 5 व्यवस्था समितियों को गठित करेगा। ये सभी समितियाँ ग्राम से विश्व तक अंतर सम्बन्धित रहना होगा। सभी स्तरीय सभाएं इन पाँचों समितियों का मूल्यांकन करते हुए श्रेष्ठता की ओर कार्य और प्रयोजन पर बल देते रहना बनता है। इस विधि से भविष्य का हर क्षण उत्सव मय होना समझ में आता है।

सम्बन्धों की पहचान परम्परा सहज है। भले ही मानव अभी तक अन्तर्द्वन्द्वों सहित समुदाय चेतना में ग्रसित है फिर भी सम्बन्धों को पहचानने का प्रयास नैसर्गिक रूप में उभरते आया है, इच्छुक है ही। अन्तर्द्वन्द्वों और समुदायों की परस्परता में, घृणा उपेक्षा की ध्वनि व मुद्राएं समावेशित होने के फलस्वरूप सम्बन्धों के प्रति निष्ठा स्थिर नहीं हो पाई। फलतः मूल्यों का आकाल नासमझी के रूप में त्रस्त करते ही आया। इस समीक्षा से यह पता चलता है कि मानव सम्बन्धों में निष्ठान्वित होने के लिए, समाज को ही पहचानना आवश्यक है। इसी विधि से विश्व परिवार सम्बन्ध भी है। एक परिवार को पाँचों आयाम सम्बंधी क्रिया-कलाप में भागीदारी करना अनिवार्य है। पाँचों आयाम को ऊपर वर्णित कर चुके हैं तालिका निम्न है।

यह कहे गये सभी स्तरीय 10 संख्यात्मक परिवार से, विश्व परिवार तक आवश्यकता है ही। यह तथ्य भली प्रकार से समझ में आता है। - अ.श. 58-60

व्यवहार	परिवार	सम्बन्ध मूल्य
व्यवहार	परिवार समूह	सम्बन्ध मूल्य
व्यवहार	ग्राम/मोहल्ला परिवार	सम्बन्ध मूल्य
व्यवहार	ग्राम/मोहल्ला समूह परिवार	सम्बन्ध मूल्य
व्यवहार	ग्राम क्षेत्र परिवार	सम्बन्ध मूल्य
व्यवहार	मंडल परिवार	सम्बन्ध मूल्य
व्यवहार	मंडल परिवार समूह	सम्बन्ध मूल्य
व्यवहार	मुख्य राज्य परिवार	सम्बन्ध मूल्य
व्यवहार	प्रधान राज्य परिवार	सम्बन्ध मूल्य
व्यवहार	विश्व राज्य परिवार	सम्बन्ध मूल्य
सार्वभौम व्यवस्था	विश्व राज्य सभा	भागीदारी
व्यवस्था	प्रधान राज्य सभा	भागीदारी
व्यवस्था	मुख्य राज्य सभा	भागीदारी
व्यवस्था	मंडल समूह सभा	भागीदारी
व्यवस्था	मंडल सभा	भागीदारी
व्यवस्था	ग्राम क्षेत्र सभा	भागीदारी
व्यवस्था	ग्राम/मोहल्ला समूह सभा	भागीदारी
व्यवस्था	ग्राम/मोहल्ला सभा	भागीदारी
व्यवस्था	परिवार समूह सभा	भागीदारी
व्यवस्था	परिवार सभा	भागीदारी

समझदार परिवार विधि से व्यवस्था सफल

सर्वशुभ का स्वरूप हर मानव परिवार में प्रत्येक नर-नारी समझदारी से सम्पन्न होना एवं समाधान समृद्धि को प्रमाणित करना है। इस विधि से समृद्धि व्यवस्था का परिणाम है। व्यवस्था पूर्वक श्रम नियोजन, श्रम नियोजन पूर्वक उत्पादन, उत्पादन के आधार पर समृद्ध होना देखा गया है। इसी प्रकार से हर परिवार को प्रमाणित होना आवश्यक है। पहले मंजिल के रूप में हर परिवार ही अपने वैभव का प्रमाण है। इसका स्वरूप समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, भागीदारी, समाधान समृद्धि है।

इस क्रम से जीने, समझने, प्रमाणित होने के संयुक्त स्वरूप को परिवारमूलक स्वराज्य व्यवस्था नाम दिया है।

व्यवस्था का द्वितीय सोपान परिवार समूह सभा है। इसमें 10 परिवार से निर्वाचित एक एक सदस्य एकत्रित होंगे। एक दूसरे की पहचान जागृत परिवार विधि से सम्पन्न रहती ही है। इनमें नर नारी एक परिवार होते हैं। इनमें प्रतिबद्धता का स्वरूप यही रहेगा 10 परिवारों में सन्तुलन को बनाए रखना। 10 परिवार में सन्तुलन का मतलब 10 परिवारों की परस्परता में न्याय पूर्वक जीने की कला को उज्ज्वल बनाना। 10 परिवारों की परस्परता में पूरकता को बनाए रखना। ये दो प्रधान कार्य हैं। इसी क्रम में 10 परिवार में हस्त शिल्प, ग्राम शिल्प, कविता साहित्य, चित्रकला कृषि एवम कुटीर उद्योग में प्रोत्साहन बनाए रखना है। इनमें ऐसी कलाओं के निखरने के लिए उपायों को सोचना, संयोजित करना यह कार्यक्रम रहेगा। इस प्रकार 10 परिवारों का सौभाग्य का निखार हर दिन, महीना, वर्ष, श्रेष्ठता की ओर शोध होना स्वाभाविक रहेगा। यह दूसरे सोपान का वैभव हुआ। इस प्रकार के कार्य के फलन में दसो परिवारों का संयुक्त देन बनी रहेगी। इसमें दसो व्यक्ति कार्यरत रहेंगे सोचेंगे। हर आयुवर्ग के लिए परिवार सूत्रों से सूत्रित रहने का कार्यक्रम बनाए रखेंगे। अपने अपने परिवार में समृद्धि के प्रमाण रूप में समाजगति के दूसरे सोपान सौभाग्य में भागीदारी करेंगे। - ज.व. 195-198

सभी परिवार व्यवस्था में पारंगत

दसो परिवार संस्कृति सभ्यता में एक रूपता को बनाए रखेंगे। कला और उत्पादन क्रियाओं के प्रोत्साहन से अपनी अपनी पहचान बनाए रखने में सतत स्वयं स्फूर्त विधि से सम्पन्न होते जायेंगे। इस स्वायत्ता को पहचानने के उपरान्त सम्मिलित व्यवस्था दस परिवार में समाधान, समृद्धि का अनुभव होना, प्रमाणित होना, गवाहित होना बन जाता है। यही परिवार समूह सभा का वैभव होना पाया जाता है। इस वैभव के साथ यह भी स्वयं स्फूर्त होता है इसकी विशालता की आवश्यकता है। जैसे परिवार में परिवार समूह व्यवस्था की प्रवृत्ति स्वयं स्फूर्त होती है। इसी प्रकार परिवार समूह सभा ग्राम परिवार की विशालता दस के गुणन में होते हुए ग्राम सौभाग्य को प्रमाणित करने का उद्देश्य बन जाता है। क्योंकि समूचे ग्राम में कम से कम 10 परिवार समूह सभा से निर्वाचित सदस्य होगी। दस परिवार सभा अपना सौभाग्य प्रमाणित किये रहना स्वाभाविक रहता है। इन आधारों पर हर परिवार समूह सभा से एक एक व्यक्ति का निर्वाचन होना सहज हो जाता है।

इस स्वयं स्फूर्त निर्वाचन से जन प्रतिनिधि अपने दायित्व, कर्तव्य से सम्पन्न, सजग प्रमाणित रहता ही है क्योंकि समझदार परिवार से ही जन प्रतिनिधि की उपलब्धि होना पाया जाता है। इसके हर परिवार के समझदार होने की व्यवस्था, लोक शिक्षा और शिक्षा विधि से, मानवीय शिक्षा का बोध कराने की व्यवस्था सुचालित रहेगी ही। इस प्रकार से तीसरे सोपान के लिए दस जनप्रतिनिधि परिवार समूह सभा से निर्वाचित होकर ग्राम सभा के लिए उपलब्ध रहेंगे। इसके निर्वाचन की कालावधि को हर ग्राम सभा अपनी अनुकूलता के आधार पर अथवा सबकी अनुकूलता के आधार पर निर्णय लेगी। उस कालावधि तक मूलतः परिवार से निर्वाचित होकर परिवार समूह से निर्वाचित होकर ग्राम परिवार सभा कार्यक्रम में भागीदारी करने के लिए पहुँचे रहते हैं। इनके लिए कोई मानदेय या वेतन स्वीकार नहीं होता है। क्योंकि हर परिवार समृद्ध रहता ही है। समाधान समृद्धि के आधार पर ही जनप्रतिनिधि निर्वाचन होना पाया जाता है। जब दसो जनप्रतिनिधि एकत्रित होते हैं ये सभी प्रतिनिधि हर कार्य करने योग्य रहते हैं।

व्यवस्था कार्य में ऐसा कोई भाग नहीं रहेगा जिसे यह कर नहीं पायेगे। दूसरा हर कार्य के लिए समय और प्रक्रिया को निर्धारित करने में समर्थ रहेंगे। इस शोध के आधार पर मानवीय शिक्षा- संस्कार में पारंगत जैसे एक गाँव में प्राथमिक शिक्षा का आवश्यकता तो रहता ही है उसमें पारंगत रहेंगे। न्याय-सुरक्षा कार्य में पारंगत रहेंगे। उत्पादन-कार्य में पारंगत रहेंगे। विनिमय कार्य में पारंगत रहेंगे। स्वास्थ्य संयम कार्य में भी पारंगत रहेंगे। प्राथमिक स्वास्थ्य विधा में सभी पारंगत रहेंगे। -अ.श. २२८

सभा प्रधान

सभा का परिपूर्ण रूप अर्थात् व्यवस्था का परिपूर्ण रूप कम से कम सौ से डेढ़ सौ परिवार के बीच साकार होना समीचीन है, निर्वाचन क्रियाकलाप हर दस व्यक्ति के बीच में होना सहज है। एक परिवार (छोटे से छोटा) दस व्यक्ति का होना भी आवश्यक है, संभव है और उचित है। ऐसे दस व्यक्तियों में से एक व्यक्ति को सभा प्रधान के रूप में स्वीकारा जाता है, पहचाना जाता है, यही परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था का तात्पर्य है। पुनश्च दस परिवार में से निर्वाचित एक-एक व्यक्ति दस व्यक्ति के रूप में होते हैं ये एक परिवार समूह सभा को गठित करते हैं। ऐसे दस परिवार समूह सभा एक व्यक्ति को सभा प्रधान के रूप में निर्वाचित कर ग्राम अथवा मोहल्ला परिवार सभा के लिये निर्वाचित किया जाता है। इस क्रम में निर्वाचित दस सदस्य एक ग्राम सभा अथवा मोहल्ला सभा के रूप में कार्य करना सहज है। ऐसे निर्वाचन पूर्वक से प्राप्त दस सदस्यीय सभा में से एक व्यक्ति को प्रधान के रूप में पहचाना जाता है और संबोधन के लिये परस्परता में सभी मित्र अथवा भाई-बहन संबोधन से आप्लावित रहने का कार्यक्रम बनाया जाता है। यही ग्राम स्वायत्त अथवा मोहल्ला सभा का तात्पर्य है। ये पाँचों आयामों के प्रति जागृत रहते हैं। सभी आयामों में अखण्ड समाज - सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में सूत्रित रहते हैं। - स.श. 250

न्याय-धर्म-सत्य दृष्टि का प्रयोग आवश्यक

मानवीय आचरण, उसकी सार्वभौमिकता के कार्य रूप को, सार्वभौम व्यवस्था के आधार पर ही देख पाना संभव हो पाता है, यही मुख्य मुद्दे की बात है। अभी तक यह मुद्दा अनुसंधान के गर्त में रहा है, अब इसके मानव सुलभ होने की संभावना बन चुकी है। ऐसी सार्वभौम व्यवस्था को अनुसंधान के उपरान्त ही सार्वभौम आचरण के परीक्षण के लिए, आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। सार्वभौम व्यवस्था को ऐसा समझा गया है कि मानव को परिवार मानव, ग्राम परिवार मानव, विश्व परिवार मानव के रूप में पहचाना जा सकता है। प्रधान बात यही है कि, परिवार में ही मानव की पहचान व प्रमाण होता है। परिवार कम से कम दो, या दो से अधिक व्यक्तियों के होते हैं। मूलतः विश्व परिवार ही अखण्ड समाज के रूप में ख्यात होता है। विश्व परिवार व्यवस्था ही परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था के रूप में प्रमाणित हो पाता है। अतएव मानव को परिवार में पहचानने के पहले मानव की परिभाषा आवश्यक हो जाती है, जिसके आधार पर ही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था व्याख्यायित होती हैं। मानव की परिभाषा, मानव के यथास्थिति अध्ययन से ही प्रमाणित होती हैं जैसे- "मनाकार को साकार करने वाला, मनः स्वस्थता (सुख) का आशावादी एवं प्रमाणित करने वाला मानव है।" हर मानव परिभाषा सहज व्याख्या के रूप में प्रमाणित होने के लिए स्वायत्त और मानवीयतापूर्ण आचरण संपन्न होना है। इस प्रकार से मनाकार को साकार करने को, प्रमाणों को सामान्य आकांक्षा अर्थात् आवास, आहार एवं अलंकार संबंधी वस्तुओं और उपकरणों, तथा महत्वाकांक्षा अर्थात् दूरदर्शन, दूरश्रवण, दूरगमन संबंधी वस्तुओं और उपकरणों को साकार करने के रूप में देखा गया है। मनः स्वस्थता अर्थात् समाधानापेक्षा एवं प्रमाणित करने वाला का आशावादी होना, सहज होते हुए भी, परम्परा में प्रमाण के रूप में स्पष्ट नहीं हो पाया है। यद्यपि हर व्यक्ति सुख, शांति, संतोष और आनंद की अपेक्षा रखता ही है। यही मनः स्वस्थता का आशावादी होने का गवाही है।

मनः स्वस्थता मानव सहज जागृति का तृप्ति बिंदु है। मानव जब तक न्याय, धर्म, सत्य सहज दृष्टियों को प्रयोग करता नहीं है तब तक जागृति का प्रमाण सत्यापित कर नहीं पाता। जागृति से वंचित होने का मूल कारण अभी तक भ्रमित परंपराएँ और उस पर बनी हुई आस्थाएँ हैं। - भ.व. 177

"न्याय, धर्म, सत्य दृष्टियों का प्रयोग हर व्यक्ति कर सकता है।" यही जागृत परंपरा है। भ्रमित समुदाय परंपरा हर व्यक्ति को किसी न किसी सीमा में फँसा देती है। परिणामतः संकीर्णता में ग्रसित होना पाया जाता है। न्याय, धर्म, सत्य दृष्टियों का सहज ही विशाल, विशालतम होना पाया जाता है। - ज.व. 195-198

जागृतिपूर्ण मानसिकता अपने में मानवीयता, देव मानवीयता, दिव्य मानवीयता को प्रमाणित करने के क्रम में उद्धत रहती ही है। मानवीयता, देव मानवीयता, में परिवार और समाज व्यवस्था मानवीयता पूर्ण आचरण सहित प्रमाणित होना बनता है। इसी क्रम में दिव्य मानवीयता समग्र व्यवस्था में भागीदारी पूर्वक स्वतंत्रता, स्वराज्य को प्रमाणित करने में सार्थक हो जाती है। स्वतंत्रता, स्वराज्य सहअस्तित्व विधि से वैभूत होते हैं। स्वराज्य व्यवस्था में स्वाभाविक विधि से मानवीय शिक्षा-संस्कार, न्याय-सुरक्षा, उत्पादन-कार्य, विनिमय-कोष, स्वास्थ्य-संयम कार्य और व्यवस्था अपने आप में निर्वाह होते हैं। ऐसे स्वराज्य व्यवस्था परिवार मूलक विधि से विश्व परिवार व्यवस्था तक दश सोपानीय विधि से सार्थक हो जाते हैं। - ज.व. 144,145

मानवीयतापूर्ण परंपरा का प्रमाण मानवीय शिक्षा-संस्कार सुलभता, न्याय-सुरक्षा सुलभता, विनिमय-कोष सुलभता, उत्पादन-कार्य सुलभता और स्वास्थ्य-संयम सुलभता ही है। इन्हीं पाँच आयामों के योगफल में संस्कृति, सभ्यता, विधि, व्यवस्था अपने-आप प्रमाणित होता है और अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का स्वरूप और उसकी निरंतरता बना ही रहता है। - स.श. 266

(2) शिक्षा व्यवस्था

विकसित ही अविकसित को शिक्षा प्रदान करने में समर्थ है। शिक्षा का प्रयोजन है, सामाजिकता का विकास एवम् समृद्धि। ऐसी सामाजिकता मानवीयतापूर्ण तथा ऐसी समृद्धि समाधान के साथ होनी चाहिए। पूर्ववर्णित धर्मनीतिक तथा राज्य-नैतिक व्यवस्था के लिए – जो मानवीयतापूर्ण दृष्टी, स्वभाव तथा विषयों के प्रति मनुष्य में रुचि उत्पन्न कर सके तथा इस रुचि को व्यवहार में आचरित करने योग्य अवसर तथा साधन उपलब्ध करा सके, शिक्षा नीति है। - व्य.द. 1978, ch 16

“संस्कारारोपण प्रक्रिया की शिक्षा संज्ञा है”

(a) मानवीय शिक्षा का आधार:

मानवीय शिक्षा की पहचान

मानवीय शिक्षा प्रारूप के अनुसार मानव को मानवीयता के संयुक्त रूप में पहचानने की आवश्यकता है। जनाकांक्षा मानवीय शिक्षा का स्वागत करता है। जनचर्चा में इसे हृदयंगम करने और इसकी परिपूर्णता को साक्षात्कार करने की आवश्यकता है। परिपूर्णता का तात्पर्य समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, भागीदारी सहित परिवार और विश्व परिवार व्यवस्था में भागीदारी को प्रमाणित करने के अर्थ में है।

शिक्षा की पहचान हर मानव के लिए आवश्यक है। हर देश काल में आवश्यक है। हर स्थिति परिस्थिति में आवश्यक है। इस आधार पर शिक्षा प्रारूप को जाँचने की आवश्यकता है। जाँचने के उपरान्त स्वीकारने में सटीकता बन पाती है। इसे हर व्यक्ति परीक्षण, निरीक्षण कर सकता है। हर मानव में संज्ञानशीलता और संवेदनशीलता का प्रमाण प्रस्तुत होना आवश्यकता है क्योंकि संज्ञानशीलता पूर्वक ही व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी हो पाती है। ऐसी स्थिति में मानव का आचरण निश्चित, नियंत्रित हो पाता है। निश्चित होने के आधार पर सम्पूर्ण आचरण समाधान सम्पन्न रहना पाया जाता है। समाधान पूर्ण विधि से आचरण करने के क्रम में संवेदनाएँ नियंत्रित रहना देखा गया है। संवेदनाएँ नियंत्रित होना परस्परता में विश्वास का महत्वपूर्ण आधार है। - ज.व. 140-141

मानवीय शिक्षा सहज वस्तु

हम सर्वमानव बंधन मुक्ति रूपी जागृतिपूर्वक ही सर्वतोमुखी समाधान सम्पन्न होते हैं। ऐसे जागृति सम्पन्नता में, से, के लिए मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार विधि ही एक मात्र उपाय है। मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार का मूल वस्तु जीवन ज्ञान, अस्तित्व-दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान है। यह मानव जागृति परंपरा के लिए सार्थक सिद्ध होता है।

- आ.व. 187

सह-अस्तित्व ही परम सत्य है। अस्तित्व स्वयं में सत्ता में संपृक्त प्रकृति है। अस्तित्व ही सह-अस्तित्व के रूप में नित्य वैभव है। सह-अस्तित्व में ही नित्य समाधान है। यह सम्पूर्ण ज्ञान और दर्शन इन बिन्दुओं पर देखा गया है सह-अस्तित्व में जीवन ज्ञान, और सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान। इसी के फलस्वरूप मानवीयतापूर्ण आचरण सर्वसुलभ होना होना, दूसरे भाषा में चेतना विकास मूल्य शिक्षा संस्कारपूर्वक लोकव्यापीकरण होना सहज है। जीवन-ज्ञान के पश्चात् प्रत्येक मानव जीवन का अमरता को, नित्यता को पहचान पाता है। फलस्वरूप जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में मानव परंपरा को होना प्रमाणित हो जाता है। इसी क्रम में शरीर रचना भौतिक-रासायनिक द्रव्यों से सम्पन्न होना देखा जाता है। इसी आधार पर शरीर की भंगुरता अथवा विरचना स्वीकृत हो जाता है। और जीवन ही दृष्टा, कर्ता, भोक्ता होने का तथ्य हर मानव में सुदृढ़ होता है। फलस्वरूप सर्वतोमुखी समाधान स्रोत और कारण जागृत जीवन ही होना स्पष्ट होता है अथवा सर्वतोमुखी समाधान का धारक वाहक जीवन ही होना स्पष्ट हो जाता है। यह सर्वसुलभ होना ही जागृत परंपरा का द्योतक है। इस प्रकार जीवन की नित्यता समझ में आने के फलस्वरूप शरीर को छोड़कर जीवन ही अपने स्वरूप में देवी-देवता, भूत-प्रेत आदि नामों से जाने जायेंगे। यह देवी-देवता सम्बन्धी रहस्य उन्मूलन होने का सहज विधि फलस्वरूप तत्सम्बन्धी भ्रम से मुक्त होने का सुख स्वाभाविक रूप में समीचीन है। मानव सहज रूप में रहस्य से मुक्त होने की अभिलाषाएँ होना पाया जाता है।

सत्तामयता में ही सम्पृक्त प्रकृति डूबा, भीगा और घिरा हुआ है। यह अविभाज्य रूप में नित्य वर्तमान है। यही परम सत्य सहज स्वरूप है। सत्तामयता व्यापक, पारगामी, पारदर्शी के रूप में नित्य विद्यमान है। यही ब्रह्म, ईश्वर, शून्य, असीम अवकाश, विस्तार आदि नामों से भी इंगित होता है। यह वस्तु सर्वत्र समान रूप में विद्यमान होना दिखाई पड़ती है। यह हर परस्परता में, एक-एक के परस्परता के मध्य में, और प्रत्येक एक के सभी ओर दिखाई पड़ती है। यह नित्य सत्ता सम्बन्धी रहस्य और भ्रम समाप्त होना पाया जाता है। अतएव अस्तित्व स्वयं में नित्य वर्तमान, विद्यमान, विकास, जागृति, रचना, विरचना के रूपों में दृष्टव्य है। अस्तित्व में दृष्टा पद में जागृत जीवन ही है। सत्ता व्यापक पद में, प्रकृति चार पद में दृष्टव्य है। इन सबका दृष्टा जागृत जीवन पूर्वक जीने वाला मानव ही है। अस्तु हर मानव जागृत परंपरा में अर्पित होकर स्वयं जागृत होना स्वाभाविक है। परंपरा जब तक भ्रमित रहेगी तब तक परंपरा में अर्पित हर मानव संतान भ्रमित रहेगा ही।

मानवीय शिक्षा-संस्कार से स्वायत्त मानव, स्वायत्त मानवों से स्वायत्त परिवार, स्वायत्त परिवार व्यवस्था से स्वायत्त ग्राम परिवार व्यवस्था, ग्राम समूह परिवार व्यवस्था क्रम में विश्व परिवार व्यवस्था को पाना सहज है। मानवीयतापूर्ण शिक्षा की संपूर्णता अपने आप में जीवन ज्ञान, सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान ही है। अपने आप का तात्पर्य मानव अपना ही निरीक्षण-परीक्षणपूर्वक ज्ञान सम्पन्न, दर्शन सम्पन्न, आचरण सम्पन्न होने से

है। दूसरी विधि से अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व में परमाणु में विकास, गठनपूर्णता, जीवनी क्रम, जीवन का कार्यकलाप, जीवन जागृति क्रम, जीवन जागृति, क्रियापूर्णता उसकी निरंतरता और प्रामाणिकता (जागृति पूर्णता) उसकी निरंतरता दृष्टांत से है। इस प्रकार मानवीय शिक्षा का तथ्य अथ से इति तक समझ में आता है। इसी समझदारी के आधार पर हर मानव अपने में परीक्षण, निरीक्षण करने में समर्थ होता है। फलस्वरूप स्वायत्त परिवार व्यवस्था से विश्व परिवार व्यवस्था तक हम अच्छी तरह से सार्वभौमता, अक्षुण्णता को अनुभव कर सकते हैं। इस विधि से सेवा, व्यवस्था के अंगभूत कर्तव्य के रूप में, व्यवस्था दायित्व के रूप में, उत्पादन आवश्यकता, उपयोगिता, सदुपयोगिता के रूप में, परिवार व्यवहार सम्बन्ध, मूल्य, मूल्यांकन अर्पण, समर्पण और उभयतृप्ति के रूप में वर्तमान होना पाया जाता है। यह अधिकांश मानव में अपेक्षा भी है। - अ.श. 186-191

(*अर्थात्) मानवीयतापूर्ण शिक्षा अपने में सत्ता में संपृक्त प्रकृति नित्य वर्तमान और विकास क्रम विकास एवं जागृति क्रम जागृति सहज विधि से पदार्थ, प्राण, जीव और ज्ञानावस्थाओं का पूरकता, उपयोगिता, उदात्तीकरण का अध्ययन है। जिसके फलस्वरूप प्रत्येक मानव में स्वायत्तता, परिवार व्यवस्था में जीने की कला और समग्र व्यवस्था में भागीदारी स्वयं स्फूर्त होना स्पष्ट हुआ है। ये सभी तथ्य अस्तित्व में अनुभव होने का ही फलन है। - आ.व. 171

(b) शिक्षा-संस्कार परम्परा के मानवीयकरण से परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था सर्व-सुलभ होता है

सम्पूर्ण व्यवस्था परस्परता में ही वर्तमान और वैभव है। जैसे पदार्थावस्था अपने में सम्पूर्ण और व्यवस्था है, इनमें अनेक अंतर-प्रजातियाँ भी हैं। वह भी अपने-अपने स्वरूप में सम्पूर्ण और व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करते हैं। ऐसे भौतिक पदार्थ ही अपने में समृद्ध होने के साक्ष्य में रासायनिक प्रवृत्तियों में दिखाई पड़ते हैं अर्थात् रासायनिक द्रव्यों के रूप में उदात्तीकृत होते हैं। फलस्वरूप प्राणावस्था की सम्पूर्ण रचनाएँ बीजानुषंगीय विधि से परंपरा के रूप में स्थापित हो जाते हैं। यह हर मानव को विदित है। पदार्थावस्था अपने विविधता को परिणाम के आधार पर तात्त्विक द्रव्यों के रूप में दिखाई पड़ते हैं। तीसरे स्थिति में जीवावस्था का शरीर रचना भी प्राण-कोषाओं में ही रचित-विरचित होते हैं। ऐसे रचनाक्रम वंशानुषंगीय विधि से वैभवित रहना दिखाई पड़ता है। जीवावस्था में समृद्ध मेधस युक्त शरीरों को जीवन संचालित करता है। समृद्ध मेधस पर्यन्त जितने भी रचनाएँ हैं वे सब स्वदेजों में गण्य हो जाते हैं। ये सब विरचित होकर हर सप्राणकोषा, निष्प्राण कोषा में परिवर्तित होकर बीज रूप में स्थित रहते हैं और यही निष्प्राण कोषा बीज; ऋतु-संयोग प्रणाली से सप्राणित हो जाते हैं। इस प्रकार स्वदेज संसार रचनाओं में हर प्राण कोषा ही निष्प्राण कोषा के रूप में बीज रूप में रह जाते हैं। यही रचनाएँ अण्डज में परिवर्तित होकर पिण्डज रचना तक रचना क्रम को विकसित करते हैं। इसी में सम्पूर्ण सप्त धातुओं का नियोजन संयोजन अनुपाती विधि से समाहित रहना पाया जाता है। सम्पूर्ण रसायन द्रव्य जो सप्त धातुओं के रूप में पहचाना जाता है ये सब मूलतः भौतिक वस्तु और परमाणु ही हैं क्योंकि परमाणु ही मूलतः व्यवस्था का आधार है।

सप्त धातुओं से रचित रचनाओं में समृद्ध मेधस और समृद्धिपूर्ण मेधस पर्यन्त रचना सम्बन्ध शरीर जो कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय उसके लिए आवश्यकीय अंग अवयव, आशय रसादितंत्र विधि सम्पन्न रचनाएँ गर्भाशय में सम्पन्न होता है।

ये सर्वविदित तथ्य है। शुक्र सूत्र पुरुष शरीर में, डिम्बसूत्र स्त्री शरीर में रचित होता है। इन दोनों का मूल तत्व पुष्टि तत्व रचना तत्व है। पुष्टि तत्व मूलतः रासायनिक द्रव्य ही है। इस विधि से मानव शरीर भी रचित होता है।

जीव शरीरों को जीवन, शरीरों के वंशानुगत विधि स्वीकार सहित संचालित करता है। जीव शरीरों को संचालित करता हुआ जीवन का लक्ष्य इन्द्रिय सन्निकर्ष ही है। जबकि मानव का लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व है। यही व्यवस्था सूत्र और समाज सूत्र का उद्गमता धारक-वाहक होने का प्रमाण है। इसकी समीचीनता सर्वमानव के लिये समान रूप में वर्तमान है। इस लक्ष्य की ओर प्रवेश विधि कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता के रूप में प्रत्येक मानव संतान में होना पाया जाता है। इसी मौलिक प्रकाशन के आधार पर मानव चिन्तनपूर्वक (न्याय, समाधान, प्रामाणिकता पूर्वक) प्रमाणित होने का क्रम है।

कल्पनाशीलता कर्म स्वतंत्रता का प्रयोग हर मानव संतान जन्म समय से ही करता है। मौलिक अधिकार सम्पन्न जागृत मानव परंपरा में अर्पित होता है। इसका साक्ष्य जन्म से ही हर मानव संतान में न्याय की अपेक्षा, सही कार्य-व्यवहार करने की इच्छा और सत्यवक्ता होना। कम से कम तीन वर्ष के शिशुओं के अध्ययन से एवं अधिक से अधिक पाँच वर्ष के शिशुओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। इसे हर मानव निरीक्षण, परीक्षण पूर्वक अध्ययन कर सकता है। यही मुख्य बिन्दु है। इस आशयों को अर्थात् शिशुकाल में से मुखरित इन आशयों का आपूर्तिकरण ही जागृत मानव परंपरा का वैभव है।

जीवन ज्ञान, सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान केन्द्रित मानवीयतापूर्ण शिक्षा प्रणाली, पद्धति, नीतिपूर्वक किये गये अध्ययन-अध्यापन कार्य विधि से शिशुकालीन तीनों अपेक्षाओं का भरपाई होता है। जीवन ज्ञान सम्पन्नता से हर मानव में दृष्टा पद प्रतिष्ठा में, से, के लिये वर्तमान में विश्वास होता है। फलतः न्यायप्रदायी क्षमता प्रमाणित हो जाती है। अस्तित्व दर्शन की महिमावश सह-अस्तित्व, सह-अस्तित्व में व्यवस्था, व्यवस्था में भागीदारी उसकी आवश्यकता और प्रयोजन बोध होता है जिससे सही कार्य-व्यवहार करने का अर्हता स्थापित होता है।

अस्तित्व ही परमसत्य होने का बोध जीवन सहित अस्तित्व दर्शन के फलस्वरूप परम सत्य बोध होना स्वाभाविक है। इसलिये सत्य बोध सहित सत्य वक्ता का तृप्ति पाना सहज समीचीन है। यही मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार की सारभूत उपलब्धि, जागृति और समीचीनता सहज है। अतएव मानव परंपरा स्वयं जागृत होने की आवश्यकता अनिवार्यता स्पष्ट है।

परम्परा जागृति का तात्पर्य शिक्षा-संस्कार परंपरा का मानवीयकरण फलतः परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था सर्वसुलभ होने का कार्यक्रम ही अखण्ड समाज का कार्यक्रम है। यही जागृत परंपरा का स्वरूप है। यह हर नर-नारियों में जीवन सहज रूप में स्वीकृत है। इसलिये इसका आचरण, समझ और विचार समीचीन है।

मानव परंपरा में ही हर परिवार मानव अपने संतानों को परम ज्ञान, परम दर्शन, परम आचरण सम्पन्न बनाने में स्वाभाविक रूप में सार्थक होगा। क्योंकि जागृत मानव हर आयाम, कोण, दिशा, परिप्रेक्षों में जागृति सहज कार्यकलापों, आचरणों, विचारों और प्रमाणों को वहन किया करता है। दूसरे भाषा में अभिव्यक्त संप्रेषित और प्रकाशित करता है।

ऐसे मौलिक क्षमता का अर्थात् जागृति पूर्ण क्षमता के लिये हर अभिभावक जिम्मेदार, भागीदार रहना पाया ही जाता है।

जागृत परंपरा में हर अभिभावक जागृत मानव पद में प्रमाणित रहने के आधार पर ही अपने संतानों में न्याय प्रदायी क्षमता, समाधानपूर्ण कार्य-व्यवहार (सही कार्य-व्यवहार) करने की योग्यता, और सत्यबोध सम्पन्न सत्यवक्ता होने की अर्हता को स्थापित करना सहज है।

जागृत मानव परंपरा में पीढ़ी से पीढ़ी किताब के बोझ से छुटकारा अथवा कम होने की प्रणाली बनेगी क्योंकि जागृतिपूर्ण परंपरा में समझ के करो विधि पूर्णतया प्रभावशील रहता है। इसी के साथ समझ में “जीने दो जीयो” वाला सूत्र भी सहज ही चरितार्थ होता है। समझने का मूल स्रोत, पहला स्रोत जिस परिवार में जो शिशु अर्पित रहता है वही परिवार सर्वाधिक जिम्मेदार होता है। इस तथ्य पर हम सुस्पष्ट हो चुके हैं कि हर स्वायत्त मानव परिवार मानव के रूप में प्रमाणित होता है। यही जागृत मानव प्रतिष्ठा है। यह मौलिक अधिकार में गण्य है। ऐसे जागृत परिवार में अर्पित हर संतान के लिये जागृति सहज शिक्षा-संस्कार के लिये हर अभिभावक पर्याप्त होना पाया जाता है। शिशुकाल में आज्ञापालन-अनुसरण विधि हर शिशुओं में प्रभावशील रहता है। यही अपने को अर्पित करने का साक्ष्य है। अर्पित स्थिति में हर सम्बोधन, हर प्रदर्शन, हर प्रकाशन अनुकरण योग्य रहता ही है। इसी अवस्था में जागृति क्रम में संयोजित करना ही संस्कार-शिक्षा का तात्पर्य है।

हर परिवार मानव में जागृति का प्रभाव, जागृति का वैभव मुखरित रहता ही है। इसी आधार पर हर अभिभावक शिशुकाल से ही जागृतिकारी संस्कारों को स्थापित करने में सफल होते ही हैं। यह हर जागृत नर-नारी का कर्तव्य भी है, दायित्व भी है।

इससे यह स्पष्ट है हर मानव अभिभावक पद को पाने से पहले स्वायत्तपूर्ण रहना एक आवश्यकता है और परिवार मानव के रूप में प्रमाणित रहना सर्वोपरि अनिवार्यता है ही। - स.श. 181

शिक्षा-संस्कार का आधार रूप अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन, मध्यस्थ दर्शन (सह-अस्तित्ववादी विधि) से सम्पन्न होना देखा गया है। यही परम जागृति का द्योतक है। यही जागृत मानव परंपरा की आवश्यकता है। मध्यस्थ दर्शन का तात्पर्य मध्यस्थ जीवन, मध्यस्थ बल, मध्यस्थ शक्ति, मध्यस्थ सत्ता सहज विधि से अध्ययन कार्य को सह-अस्तित्व सूत्र में पूर्णतया सजा लिया गया। यही शिक्षा का महत्वपूर्ण उपलब्धि है। मध्यस्थ जीवन का स्वरूप नियम, न्याय, धर्म, सत्य पूर्ण विधियों से जीने की कला ही है। यही परिवार मूलक स्वराज्य के रूप में स्वतंत्रता और स्वानुशासन के रूप में प्रमाणित होना देखा गया है। यही मध्यस्थ जीवन का वैभव है। ऐसा स्वराज्य और स्वतंत्रता हर मानव में, से, के लिये एक चाहत होता ही है। जैसे :- हर मानव संतान को जन्म से ही न्याय का याचक, सही कार्य-व्यवहार का इच्छुक, सत्य वक्ता होने के रूप में देखा गया है।

इन्हीं आशयों की पूर्ति के लिये नियम, न्याय, सर्वतोमुखी समाधान, जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान सहज तथ्यों को अवधारणा में स्थापित कर लेना ही मानवीयतापूर्ण शिक्षा का स्वरूप और कार्य है। इस कार्य विधि के अनुसार मानव परंपरा अपने जागृति को प्रमाणित करता है। यही जागृत मानव परंपरा का तात्पर्य है।

सर्वशुभ और उसकी प्रतिष्ठा सर्वसुलभ रूप में तभी संभव होना देखा गया है कि हर बच्चे-बड़े जागृति को प्रमाणित कर दे। ऐसी लोकव्यापीकृत जागृति, लोक व्यापीकृत सर्वशुभ प्रमाण योग्य जागृति, जागृत परंपरा में, से, के लिये होना भी सुस्पष्ट हो चुकी है। जागृत जीवन में मध्यस्थ क्रिया, मध्यस्थ शक्ति, मध्यस्थ बल के स्वरूप को समझने की विधि सहित उसका कार्य, कार्य-स्वरूप और प्रयोजनों को ज्ञात कर लेना आवश्यक है। यही शिक्षा-संस्कार का प्रयोजन है। इससे लोकव्यापीकरण कार्यक्रम में सहज गति सुलभ होगा ही। – आ.व. 92-94

(3) विनिमय व्यवस्था – श्रम मूल्य, श्रम विनिमय सिद्धांत

हर मानव में श्रम शक्तियाँ जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में नियोजित होना देखा जाता है। संपूर्ण उत्पादन का उद्देश्य महत्वाकांक्षा सामान्य आकांक्षा की वस्तुओं के स्वरूप में देखा जाता है। उत्पादित हर वस्तु आदिकाल से अभी तक समान रूप में उपयोगी होना पाया जाता है। जैसा आहार वस्तुएं आदिकाल से अभी तक क्षुधानिवृत्ति के उपयोग में प्रयोजित होना प्रमाणित है। आवासीय वस्तुएं आदिकाल से शरीर संरक्षण के अर्थ में उपयोगी रहा है। अभी भी उतना वैसा ही उपयोगी होना देखने को मिलता है। अलंकार वस्तुएं आदिकाल से जैसा शरीर संरक्षण और प्रसाधनों के प्रयोजन में प्रयोजित होता रहा है वैसा आज भी उपयोगी होना देखा जाता है। – स.श. 243

- यह सर्वमानव अपेक्षा होने के तथ्य को इस प्रकार सर्वेक्षण कर सकते हैं कि किसी भी वस्तु को उसके उपयोगिता के आधार पर श्रम मूल्य का मूल्यांकन करना चाहिए या पत्र मुद्रा के आधार पर करना चाहिए?
- उपयोगिता को अर्थात् सामान्यकांक्षा, महत्वाकांक्षा संबंधी उपयोगिता को वस्तुओं में पहचाना जा सकता है। कागज को छापकर ढेर करने से क्या पहचाना जा सकता है ?
- संपूर्ण आवश्यकताएँ वस्तु व उसकी उपयोगिता के आधार पर उपयोगी होता है या ढेर सारे प्रतीक मुद्रा, पत्र मुद्रा से ? इसका उत्तर क्या होगा अपने में, से हर व्यक्ति उत्तर देकर देखे वही सबका उत्तर है। इसीलिये मानव उपयोगिता और सुन्दरता को स्थापित करने में, से, के लिये हर व्यक्ति स्वतंत्र होना मौलिक अधिकार है। इसी आधार पर हर परिवार में समृद्धि की संभावना समीचीन रहता ही है। – स.श. 244-245

(*अर्थात्),

1. श्रम मूल्य के आधार पर विनिमय-कोष कार्यक्रम परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था का अंगभूत होना; जीवन जागृति पूर्ण विधि का ही अभिव्यक्ति है।
2. जीवन जागृति पूर्वक ही श्रम मूल्य का मूल्यांकन हर उत्पादित वस्तुओं का उपयोगिता, कला मूल्य के आधार पर निर्धारित होता है।
3. श्रम नियोजन श्रम विनिमय प्रणाली में प्रतीक वस्तुओं या मूल्यों का दखलांदाजी बनाम हस्तक्षेप नहीं होती। दूसरे विधि से इसकी आवश्यकता ही शून्य हो जाती है।
4. प्रतीक मुद्रा में भ्रमित मानव का कल्पना भ्रमपूर्वक किया गया सभी निर्णय स्थिर नहीं हो पाते इसीलिये प्रतीक मुद्रा और वस्तु का मूल्य ही अस्थिर हो जाता है।

5. प्रतीक मुद्रा के साथ ही अमानवीयता वश द्रोह-विद्रोह, शोषण, तस्करी की घटनाएं हो पाती हैं। प्रतीक वस्तु कोई धातु होना देखा गया प्रतीक मुद्रा, धातु मुद्रा और पत्र मुद्रा के रूप में देखा गया। यह दोनों प्रकार की मुद्रा प्रणाली में स्थिरता निश्चयता सिद्ध नहीं हो पाती इन सब कारणों से मानव कल्पित होना स्पष्ट हो जाता है। - ज.व. 262

विनिमय कार्य विधि की यह सही बेला है। मानव ने पहले भी एक बार विनिमय का प्रयास किया। उस प्रयास में उत्पादन कार्य के मूल्यांकन का आधार श्रम मूल्य नहीं रहा। उसके विपरीत लाभ मानसिकता उस समय में भी व्यापारी में बना रहा। लाभ मानसिकताएँ शोषण मूलक होते ही हैं। इसमें संग्रह-सुविधा का पुट रहता ही है। यह आज भी स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। इस आधार पर मानव अपने व्यवस्था का अंगभूत अथवा समग्र व्यवस्था के अंगभूत रूप में अर्थ और आर्थिक गति को पहचानने की स्थिति में यह पता लगता है कि अस्तित्व में सम्पूर्ण विकास सहज सीढ़ियाँ आवर्तनशीलता और पूरकता विधि सम्पन्न है। - अ.श. 250

6.7 मानवीय संविधान का धारक-वाहकता

मानवीयतापूर्ण आचरण रूपी संविधान को पहचानना ही राष्ट्रीय मूल्य, चरित्र और नेतिकता का अथवा परिवार मूलक अखण्ड स्वराज्य व्यवस्था का आचार संहिता स्वाभाविक रूप में सर्वमानव के लिये बोधगम्य और व्यवहार गम्य होता है। - स.श. 122

मौलिक अधिकार का आधार भी मानवत्व ही है। यही स्वत्व, स्वतंत्रता, अधिकार रूपी मूल ऐश्वर्य है अथवा सम्पूर्ण ऐश्वर्य है। इसी ऐश्वर्य को वर्तमान में प्रमाणित करने के क्रम में ही स्वराज्य और स्वतंत्रता को परंपरा के रूप में प्रमाणित कर सकते हैं जिससे ही समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व सर्वसुलभ होना नित्य समीचीन है। सर्ववांछा अथवा अपेक्षा अथवा आवश्यकता सर्वमानव में निहित है। - स.श. 150

मानवीय आचार संहिता रूपी मानसिकता यही है कि सर्वशुभ सर्वसुलभ हो। इसी क्रम में संविधान का प्रवेश रूप यह है कि सर्वमानव सहज सार्वभौम स्वतंत्रता, स्वराज्य व्यवस्था सहज आचरण को अभिव्यक्ति, संप्रेषणा व प्रकाशन सहित प्रत्येक मानव मूल्य व मूल्यांकन पूर्वक सम्पूर्ण आयाम, कोण, परिप्रेक्ष्य व दिशा में सभी देश काल में सुरक्षित, नियंत्रित, संतुष्ट, समृद्ध, समाधानित होने, रहने, करने, कराने, करने के लिये, मत देने के लिये यह न्याय संहिता मानव में, से, के लिये अर्पित है।

संविधान का लक्ष्य - 1. परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था (मानव धर्म) स्वानुशासन रूपी स्वतंत्रता है। 2. मानव धर्म समाधान सहज तृप्ति (सुख, शांति, संतोष, आनन्द और समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व) और उसकी निरंतरता ही “स्वत्व” है। - स.श. 125

(A) मानवीय संविधान की आवश्यकता

मानव कुल समझदारी के आधार पर ही संयुक्त वैभव को प्रमाणित कर पाता है न कि युद्ध, शोषण, द्रोह, विद्रोह से। संग्रह सुविधा के सर्वाधिकता के जगह में भी हजारों लाखों लोग इस धरती पर हो चुके हैं। इसके बावजूद पद, पैसा, प्रतिष्ठा सम्पन्न होते हुए उनके स्वयं में तृप्ति का न होना पाया जा रहा है। इस स्थिति में पद, पैसा, प्रतिष्ठा के आधार पर राज्य गद्दी क्या सफल हो पायेगी ? क्या स्वराज्य मिलेगा ? क्या मानव स्वतंत्र हो पायेगा ? ऐसा हम सोचने विचारने जाते हैं तब इससे नहीं होगा, यही आवाज निकलती है। इसी मुद्दे पर विचार की आवश्यकता इस व्यवहारात्मक जनवाद के माध्यम से प्रस्तुत करने में प्रयत्नशील है।

एक ज्वलंत प्रश्न है किताब प्रमाण होगा, यंत्र प्रमाण होगा या मानव प्रमाण होगा ? यदि मानव ही प्रमाण होगा तब हम आगे समझ बूझ तैयार करेंगे यह मानव स्वीकृति के आधार पर निर्भर है। यंत्र और किताब के प्रमाण के आधार पर मानव कुल अभी तक स्वराज्य और स्वतंत्रता का इन्तजार करता ही आया है। अपनी अपनी संस्कृति, सभ्यता, धर्म, पूजा पाठ में स्वतंत्रता संविधानों में उल्लेखित है। इस प्रकार की स्वतंत्रता में न तो सार्वभौमता हुई न सार्वभौमता का रास्ता मिल पाया। यंत्रों के आधार पर जो स्वतंत्रता है वह स्वतंत्रता के लिए मूल वस्तु धन होना पाया गया इसलिए मानव धन संग्रह में ज्यादा से ज्यादा अपनी मानसिकता और श्रम को नियोजित किया। हर समुदायों की अपनी अपनी पूजा स्थली होती है जो निर्माण शिल्प विधाओं से बनी रहती है। इसमें पूजा करने वाले या ऐसे स्मारकों में पूजा प्रार्थना करने वाले सब समुदाय अपने को अलग अलग मान लेते हैं। जबकि ये सब मानव ही रहते हैं। यही मूलतः स्वयं में अविश्वास का आधार रहा है। क्योंकि स्वयं का स्वरूप मानव ही होता है और कुछ भी नहीं होता है। हर समुदाय में प्रतिबद्ध मानव अन्य समुदायों से भिन्न मानना एक आदत बनी रहती है। आदतन अपने को जब मानव गिरफ्त कर लेता है अन्धकूप में हो जाता है। गिरफ्त होने का मतलब जो सर्व स्वीकृति की वस्तु न हो, ऐसी वस्तु (स्वयं स्वीकृति) में प्रतिबद्धता आ जाये, कट्टरता आ जाये, बर्बरता आ जाये, यही गिरफ्त होने का प्रमाण है। हर समुदाय या कोई भी समुदाय इस प्रकार की गिरफ्त में न तो स्वराज्य पाता है न स्वतंत्रता को पाता है, न व्यवस्था को पाता है। परिणाम स्वरूप व्यवहार मानव हो ही नहीं सकता।

हम मानव अपने में देख रहे हैं हर समुदाय में अन्तर्विरोध और परस्पर समुदायों में विरोध है। विरोध समाज का सूत्र नहीं है व्याख्या नहीं है। इसी लिए समुदाय संविधान सार्वभौम होना संभव नहीं हुआ इसलिए मानवीय संविधान को पहचानने की आवश्यकता आ चुकी है। इस पर परामर्श आवश्यक है। मानवीय आचार संहिता रूपी संविधान मानव के पहचान के आधार पर ही आधारित रहेगा। मानव की पहचान अपने में परिभाषा, आचरण व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी का संयुक्त वृत्त में स्वीकार होती है। मानव की परिभाषा मनाकार को साकार करने वाला मनः स्वस्थता को प्रमाणित करने वाला है। मनाकार को मानव आहार, आवास, अलंकार, दूरश्रवण, दूरगमन, दूरदर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है। जहां तक मनः स्वस्थता को प्रमाणित करने की बात आती है इस मुद्दे पर सोच विचार तैयार नहीं हुए, चाहत सभी में है। इसके लिए सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व को समझने समझाने का, जीवन ज्ञान को समझने समझाने का, मानवीयता पूर्ण आचरण को समझने समझाने का अधिकार अर्हता सहित पारंगत होने के आधार पर इस परिभाषा को मानव के सम्मुख रखा गया है। समझदारी में पारंगत होने के उपरान्त ही मानव की परिभाषा स्वाभाविक रूप में स्पष्ट हो गई।

इसी आधार पर हम विश्वास करते हैं कि समझदारी का लोकव्यापीकरण होना स्वाभाविक है। समझदारी ही मानव परिभाषा के अनुसार प्रमाण हो पाता है अन्यथा हम परिभाषा के अनुरूप प्रस्तुत नहीं हो पाते।

मानवीयता पूर्ण आचरण को सहअस्तित्व रूपी दर्शन के आधार पर जीवन ज्ञान के आधार पर पहचाना गया है। मानवीयतापूर्ण आचरण का पहला आयाम संबंधों को पहचानना, मूल्यों का निर्वाह करना, मूल्यांकन करना, परस्परता में तृप्ति को पाना। दूसरा आयाम में स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष, दयापूर्ण कार्य करना। तीसरे आयाम में तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग सुरक्षा करना। तन, मन, धन रूपी अर्थ के सदुपयोग का तात्पर्य परिवारगत आवश्यकता के अनुसार शरीर पोषण संरक्षण और समाजगति में नियोजित करना। मानव समाज अखंड समाज ही होता है। -ज.व. 93,94

(B) मानवीय संविधान का स्वरूप

अनुभव प्रमाण परंपरा में मानव ही मानव के लिये प्रेरक, कारक होने की विधि से लोकव्यापीकरण करता है।

जागृति के अनन्तर मानव परंपरा में, से, के लिए प्रयोजन सर्वशुभ चाहने वाले मानव सहज और जागृत जीवन सहज विधि से प्रमाण रूप में सार्थक होना देखा गया। मानव सहज विधि से समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व, स्वायत्त मानव, परिवार मानव, व्यवस्था मानव और समाज मानव प्रमाणित करता है। इसमें सर्व मानव का स्वत्व, स्वतंत्रता, अधिकार होना देखा गया है इसीलिये इसका लोक व्यापीकरण समीचीन हो गया है। जीवन सहज प्रयोजन, जागृति और जागृतिपूर्णता ही है। जागृतिपूर्णता, उसकी निरन्तरता क्रम में सुख, शांति, संतोष, आनन्द अक्षुण्ण होना पाया जाता है। यह जागृतिपूर्ण मानव (दिव्यमानव) में, से, के लिए प्रमाण और प्रामाणिकता पूर्वक वैभूत होना स्वाभाविक है। यही स्वानुशासन और परम स्वतंत्रता है। यही गति का गंतव्य स्वरूप है। यह प्रमाणित होना नियति सहज विधि है। ऐसे प्रमाण मानव परंपरा में सार्थक होना देखा गया है इसलिये और प्रकार की शरीर रचना को प्रतीक्षित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मानव परंपरा में इस दशक में जितने भी नस्ल हैं उन सभी नस्लों में रचना का प्रधान भाग मेधस होना और वह पूर्णतया समृद्ध होना देखा गया है। अब केवल जागृतिपूर्ण परंपरा की ही आवश्यकता है। यह अनुभवमूलक प्रमाणों को लोकव्यापीकरण विधि से सार्थक होना स्वाभाविक है। यही भ्रम और बंधन मुक्ति का प्रयोजन मानव परंपरा में सुलभ होती है।

जागृतिपूर्ण परंपरा में ही सर्वमानव व्यवस्था में जीना, समग्र व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह करना स्वाभाविक है, अनिवार्य है और आवश्यक है। व्यवस्था में जीने देकर जीना परिवार में ही प्रमाणित होता है। इसके मूल में मानव में स्वायत्तता अति अनिवार्य स्थिति है। व्यवस्था में जीने का फलन ही समाधान, समृद्धि का प्रमाण और अभय, सह-अस्तित्व का सूत्र होना देखा गया है। स्वायत्त मानव का स्वरूप पहले स्पष्ट किया जा चुका है। ऐसे स्वायत्त मानव से जागृतिपूर्ण शिक्षा प्रणाली, पद्धति, नीतिपूर्वक सर्वसुलभ हो जाती है। यही भ्रम (बन्धन) मुक्त मानव परंपरा का सूत्र है। इसके क्रियान्वयन क्रम में परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था, ग्राम परिवार और विश्व परिवार के रूप में गठित होने, साकार होने और क्रियारत होने की पूर्ण संभावना, आवश्यकता का संयोग होता है।

मानव और नैसर्गिकता में पूरकता ही आगे और उसके आगे आने वाली पीढ़ी में व्यवस्था में जीने की आवश्यकता, सम्भावना और प्रयोजनों को हृदयंगम करने की परम आवश्यकता है। नियति सहज संतुलन को बनाए रखना ही वर्तमान में विश्वास, दूसरी भाषा में सह-अस्तित्व, अभय, समृद्धि और समाधान है। यह सर्वमानव की वांछा भी है।

सर्वेक्षण से पता लगता है यह सर्वमानव का सर्वकालिक वांछा है। इसके आधार पर मानव अपने नियति सहज कार्यक्रमों को पहचान पाता है जब जागृत परंपरा इस धरती पर सर्वसुलभ हो जाए।

जागृत मानव ही उभय प्रकार के संतुलन के लिए दायी होता है और सटीकता से निर्वाह भी होता है। ऐसी ऐश्वर्यमयी अभ्युदय रूपी नित्य वर्तमान में, से, के लिये मानवीय पूर्ण संविधान अध्ययन और आचरण का वस्तु है।

नित्य शुभ और नित्य शुभ संभावना सर्वमानव में, से, के लिये नित्य समीचीन एवं समान है।

यह मानवीय आचरण रूपी संविधान जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन सम्मत विधि से पाये गये हैं। मानव अस्तित्व में अविभाज्य है। प्रत्येक मानव जीवन और शरीर का संयुक्त रूप है। तृप्तियाँ जीवन से संबंधित और मानव तृप्ति वर्तमान में विश्वास होने के आधार पर प्रमाणित होता है। यह प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता और अपेक्षा है। वर्तमान में विश्वास सम्पन्न होने के लिए सह-अस्तित्व, समृद्धि और समाधान साक्षित होना पाया जाता है। यह धरती स्वस्थ रहने की स्थिति में और मानव परंपरा जागृत रहने की स्थिति में ऐसा सर्वशुभ हर व्यक्ति में, से, के लिये सफल होना सहज है।

1. सर्वमानव सार्वभौम शुभ को चाहते हैं।
2. चाहने-होने के मध्य में मानव मानवीयतापूर्ण विधि से आचरण करना ही एकमात्र विधि है। यही संविधान है।
3. अन्य सभी अवस्थाओं में भी उन-उनके आचरणों से ही उन-उन अवस्थाओं की मौलिकता प्रमाणित होती है। इस विधि से भी आचरण ही मौलिकता का प्रमाण है।
4. सह-अस्तित्व में ही मौलिक आचरण, सह-अस्तित्व में ही मानव में जागृति प्रमाणित होना पाया जाता है।
5. सह-अस्तित्व में ही मानव स्वयंस्फूर्त विधि से सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार को विचार सम्मत, सम्पूर्ण विचारों को अनुभव सम्मत और सम्पूर्ण अनुभवों को सह-अस्तित्व सम्मत विधियों से प्रमाणित करना ही मौलिक अधिकारों सहज प्रतिष्ठा, वर्चस्व, आवश्यकता एवं समाधान है। - आ.व. 140 -142

(C) स्वत्व-स्वतंत्रता-स्वराज्य

समाधानित मानव में, से, के लिए कृत कारित , अनुमोदित विधि से किया गया सम्पूर्ण क्रियाकलाप स्वतंत्रता है। उसके परिणामों की पहचान ही स्वराज्य है। स्वयं का वैभव अर्थात् मानवकुल का वैभव स्वयं में स्वराज्य है। - ज.व. 93-94

जागृतिपूर्ण सभी मानव संविधान के धारक वाहक हैं। प्रत्येक मानव जागृति में, से, के लिये मानव परंपरा के रूप में प्रस्तुत हैं। इसीलिये जागृत हैं या जागृत होने योग्य हैं। प्रत्येक जागृत मानव मानवीय शिक्षा-संस्कार पूर्वक स्वतंत्रता और स्वराज्य का धारक-वाहक और प्रेरक है। इसलिये प्रत्येक मानव शिक्षा-संस्कारपूर्वक जागृत होता है।

‘मानवत्व’:-

- ही मानव परम्परा में स्वत्व, स्वतंत्रता और अधिकार के रूप में नित्य प्रमाणित है। ‘मानवत्व’ प्रत्येक स्त्री, पुरुष में समान होता है।

स्वत्व: = समझदारी, ज्ञान -डायरी, २०००/ 265

- जागृति ही मानव का ‘स्वत्व’ है। सम्पूर्ण अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण में परिपूर्णता ही जागृति है। जागृति सहज स्थिति सुख, शांति, संतोष और आनंद की सहज निरंतरता है। जागृति सहज गति समाधान, समृद्धि, अभय और सह-अस्तित्व ही है। स्थिति और गति अविभाज्य है। - स.श.

131

स्वतंत्रता: = लक्ष्य व दिशा निर्धारण -डायरी, २०००/ 265

- सृष्टि, जड़ एवं चैतन्य दो अवस्थाओं में है। जड़ अपने ‘त्व’ सहित व्यवस्था के रूप में है। जिसका दृष्टा मानव है किन्तु चैतन्य सृष्टि में मानव इकाई के स्वतंत्र (स्वायत्त) होने की व्यवस्था है। यहाँ स्वतंत्रता का अर्थ सबसे अलग होने से नहीं है, फिर स्वतंत्रता का क्या अर्थ है? स्वतंत्रता का अर्थ है, अपने को सह-अस्तित्व सहज व्यवस्था में संगीतमय रूप में प्रमाणित करना। मानव इकाई में इसकी पूर्ण संभावनाएँ हैं तथा जागृत मानव ने स्वतंत्रता की अनुभूति भी की है।

जड़ प्रकृति के साथ नियम पूर्वक उत्पादन, समाज में न्याय पूर्वक व्यवहार, स्वयं में समाधानपूर्ण विचार एवम् सत्ता में अनुभवपूर्ण क्षमता से सम्पन्न होना ही स्वतंत्रता का आद्यान्त लक्षण है। - अ.श. 217

मानव का वैभव अथवा परम वैभव सह-अस्तित्व में अनुभवमूलक विधि से प्रमाणित करना ही कर्म स्वतंत्रता का तृप्ति है। यही जीवन जागृति का भी प्रमाण है। इसी का वैभव स्वाभाविक रूप में ही परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था और उसकी निरंतरता परम्परा के रूप में चरितार्थ होना पाया जाता है। ऐसी परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था में भागीदारी केवल परिवार मानव सहज अधिकार स्वत्व, स्वतंत्रता के आधार पर वैभव (व्यवस्था) प्रमाणित होता है। तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग-सुरक्षा परिवार मानव विधि से चरितार्थ हो पाता है। चरितार्थता का तात्पर्य मानवीयतापूर्ण चरित्र में ही नैतिकता अर्थात् तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग-सुरक्षात्मक नीति का व्यवहारीकरण पूर्वक प्रमाणित होता है। व्यवहारीकरण स्वरूप को इस प्रकार समझा गया है कि हर व्यक्ति में तन, मन, धन रूपी अर्थ होता ही है। तन और मन के संयोग मानव में नित्य वर्तमान और प्रमाण है। आशा, विचार, इच्छा सहित ही हर प्रकार के कार्य-व्यवहार करता हुआ देखने को मिलता है। ऐसे कार्य-व्यवहार क्रम में ही चरित्र अपने-आप में स्पष्ट होता है।

मानवीयता पूर्ण चरित्र स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष दयापूर्ण कार्य-व्यवहार होना स्पष्ट किया जा चुका है। दयापूर्ण कार्य-व्यवहार में ही तन, मन, धन का सदुपयोग होना मूल्यांकित होता है। दया की मूल प्रक्रिया ही है जीने देकर जीना। जागृत मानव जीने देकर जीने में प्रमाणित रहता ही है। इसका सहज चरितार्थता परिवार मानव के रूप में ही सम्पन्न हो पाता है। ऐसे परिवार मानव रूपी अधिकार, स्वत्व और स्वतंत्रता का स्रोत अस्तित्व मूलक मानव केंद्रित चिंतन ही है। स्वायत्त मानव ही परिवार में व्यवस्था के रूप में जीकर प्रमाणित हो पाता है। यह परिवार व्यवस्था के रूप में ही गण्य होता है। ऐसे परिवार मानव समग्र व्यवस्था में अर्थात् विश्व परिवार व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करने योग्य हो पाते हैं। अतएव स्वायत्त मानव से परिवार मानव, परिवार मानव से ही व्यवस्था मानव, व्यवस्था मानव से ही समग्र व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करने का स्वत्व, स्वतंत्रता और अधिकार को स्पष्ट करता है। -अ.श. 218-219

‘चैतन्य इकाई का वातावरण के दबाव से मुक्त होना ही स्वतंत्रता है’

अधिकार: = मानवत्व सहित व्यवस्था व समग्र व्यवस्था में भागीदार -डायरी, २०००/ 265

- मानवीयतापूर्ण आचरण करना, कराना एवं करने के लिये मत देना प्रत्येक मानव का मौलिक अधिकार है। मानवीयतापूर्ण आचरण मूल्य, चरित्र और नैतिकता का अविभाज्य स्वरूप है। ‘मानव’ शब्द से प्रत्येक/सम्पूर्ण नर-नारी सम्बोधित हैं। - स.श. 127,128
- अधिकार का तात्पर्य अनुभव बल के रूप में दृष्टव्य है। यही मानव अधिकार है। अनुभव बल को प्रमाणित करने का कार्य ही स्वत्व के रूप में देखने को मिलता है। ऐसे अधिकार और स्वत्व के सूत्रों पर व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी प्रमाणित होना ही स्वतंत्रता है। -अ.श. 218-219

स्वराज्य:

स्वराज्य का परिभाषा ही है स्वयं का वैभव को प्रमाणित करने का सम्पूर्ण दिशा-कोण-आयाम-काल-परिप्रेक्ष। वैभव का स्वरूप न्याय-सुलभता, उत्पादन सुलभता-विनिमय सुलभता ही है। ऐसे वैभव का नित्य स्रोत मानव कुल में शिक्षा-संस्कार, स्वास्थ्य-संयम कार्यप्रणाली है। - अ.श. 131

प्रत्येक मानव अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था (मानव धर्म) में भागीदारी निर्वाह करने, कराने एवं करने के लिये मत देने में स्वतंत्र है। अखण्ड समाज और सार्वभौम व्यवस्था की अक्षुण्णता मानवीय शिक्षा-संस्कार, स्वास्थ्य-संयम, न्याय-सुरक्षा, उत्पादन-कार्य, विनिमय-कोष, सुलभता सहित है जिसका क्रियान्वयन दस सीढ़ी में होता है। 1. ‘परिवार’ सभा, 2. ‘परिवार समूह’ सभा, 3. ‘ग्राम परिवार’ सभा, 4. ‘ग्राम समूह’ परिवार सभा, 5. ‘ग्राम क्षेत्र’ परिवार सभा, 6. ‘मंडल’ परिवार सभा, 7. ‘मंडल समूह’ परिवार सभा, 8. ‘मुख्य राज्य’ परिवार सभा, 9. ‘प्रधान राज्य’ परिवार सभा और 10. ‘विश्व राज्य’।

परिवार सभा अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था की दस सीढ़ी हैं। सभी सीढ़ियाँ एक दूसरे के पूरक हैं और अविभाज्य □ हैं। अविभाज्यता का तात्पर्य इन दस सीढ़ियों में से किसी को अलग करना, अलग रखना, अलग सोचना ही संभव

नहीं है। सकारात्मक विधि से अविभाज्यता का तात्पर्य प्रत्येक सीढ़ी दूसरे सीढ़ी के लिए अनुप्राणन सूत्र है। – स.श.
127, 128

समाज गति का तात्पर्य अखंड समाज के अर्थ में भागीदारी करना अर्थात् सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी करना। परिवार व्यवस्था से विश्व परिवार व्यवस्था तक समाज गति के अर्थ को ध्वनित करता है यह ध्वनि परिवार में न्यूनतम होकर विश्व परिवार में सर्वाधिक विशाल हो जाती है इस बीच क्रम विधि से परिवार व्यवस्था से, परिवार समूह व्यवस्था, परिवार समूह व्यवस्था से ग्राम मोहल्ला परिवार व्यवस्था ग्राम मोहल्ला परिवार व्यवस्था से ग्राम मोहल्ला परिवार सभा, ग्राम मोहल्ला समूह व्यवस्था से क्षेत्र परिवार व्यवस्था, क्षेत्र परिवार व्यवस्था से मंडल परिवार व्यवस्था, मंडल परिवार व्यवस्था से मंडल समूह परिवार व्यवस्था, मंडल समूह परिवार व्यवस्था से मुख्य राज्य परिवार व्यवस्था, मुख्य राज्य परिवार व्यवस्था से प्रधान राज्य परिवार व्यवस्था, प्रधान राज्य परिवार व्यवस्था से विश्व राज्य परिवार व्यवस्था तक बुलंद होती जाती है यह व्यवस्था में भागीदारी की बुलंदी है बुलंदी का मतलब मजबूती से है। इसप्रकार हर मानव अपनी पहचान को परिवारगत व्यवस्था से दस सोपानीय व्यवस्थाओं में पहचान बनाना सहज है। –ज.व.
93,94

प्रबुद्धता

= समझदारी + इमानदारी।

= सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व दर्शन, जीवन क्रियाकलापों के रूप में जीवन ज्ञान, भौतिक रासायनिक क्रियाकलाप

संप्रभुता

= इमानदारी + जिम्मेदारी।

= नित्य सर्वतोमुखी समाधान सम्पन्नता

प्रभुसत्ता

= जिम्मेदारी + भागीदारी

= व्यवहार कार्य के लिए सार्थक होने वाले नियम नियंत्रण, संतुलन, न्याय धर्म सहअस्तित्व रूपी परम सत्य का प्रमाण परम्परा। – डायरी २०१०

6.8 अखंडता सहज मानव में समानता के बिंदु

- ❖ मानव सहज जाति एक
- ❖ सर्वमानव में लक्ष्य समान
- ❖ सर्वमानव में शुभाकांक्षा समान
- ❖ सर्वमानव में मानवत्व समान
- ❖ सर्वमानव में मानव धर्म समान है
- ❖ मानव में, से, के लिये यह धरती एक अखण्ड है।
- ❖ मानव भाषा कारण, गुण, गणित के अर्थ में समान है।
- ❖ मानवीय सभ्यता, संस्कृति, विधि, व्यवस्था सर्वमानव में, से, के लिये समान है

1. मानव सहज जाति एक

अखण्ड समाज ज्ञान, विवेक, विज्ञान, प्रयोजन, भाषा, कार्य-व्यवहार में, से, के लिये जाति पक्ष पर विचार करना एक आवश्यक मुद्दा है। जाति कल्पना लोकव्यापीकरण होकर विविधतापूर्वक पनपते आई। अनेक जाति कल्पना के आधार पर अनेक समुदाय ही होना पाया गया। (*व्यवसाय के आधार पर जाति को माना गया।कर्म से जाति को माना गया) ऐसी समुदाय और समुदाय कल्पनाओं में से अखण्डता का सूत्र निष्पन्न नहीं हुआ। जबकि मानव परंपरा का अस्तित्व अखण्डता और उसकी व्यवहारिक मानसिकता के साथ ही वर्तमान में विश्वास, स्वयं में विश्वास सहज विधि से में, से, के लिये मानवीयतापूर्ण योजनाओं से सम्पन्न होकर आश्वस्त होने की व्यवस्था है, क्योंकि प्रत्येक मानव देश और कालवादी परिज्ञान से सूत्रित रहता ही है। - स.श. - 100 (*मानव शरीर रचना के आधार पर, अंग-अवयव, उनके कार्यकलापों में समानता के आधार पर मानव जाति एक होना समझ आता है -लेख २०१२)

परिवार मूलक स्वराज्य विधि से सार्वभौमता का अर्थ सार्थक होता है। इसलिये भी मानव जाति एक होना पाया जाता है। - स.श. 105

मानवीयतापूर्ण आचरण विधि से समस्त मूल्य, मानवीय चरित्र और नैतिकता का अविभाज्यता प्रमाणित होता है। दूसरे विधि से मूल्य, चरित्र, नैतिकता में, से, के लिये हर व्यक्ति प्यासा है। इसलिये समझदारी का फलन रूपी मानवीयतापूर्ण आचरण विधि से मानव जाति का एकता, अखण्डता, व्यवस्था विधि से सार्वभौमता प्रमाणित होती है। - स.श. 107

2. सर्वमानव में लक्ष्य समान

इसके पहले स्पष्ट किये गये मुद्दों के साथ-साथ सर्वमानव में लक्ष्य समानता की बात, तथ्य विभिन्न विधि से स्पष्ट किया गया। मुख्यतः मानव सहज लक्ष्य केवल जागृति और उसका प्रमाण है। प्रमाण केवल परंपरा में ही होना देखने को

मिलता है। मानव का प्रमाण मानव परंपरा में ही होना स्वाभाविक है क्योंकि मानव ज्ञानावस्था की इकाई है और संस्कारानुषंगीय अभिव्यक्ति है। संस्कार के मुद्दे पर पहले स्पष्टतया संस्कार स्वरूप प्रक्रिया और प्रमाण के संदर्भ में इंगित कराया है। पूर्णता के अर्थ में बोधपूर्वक स्वीकारने योग्य सम्पूर्ण अध्ययन और उसे अनुभवमूलक विधि से व्यवहार में प्रमाणित करने का सम्पूर्ण क्रियाकलाप ही संस्कार और प्रमाण का तात्पर्य है। संस्कार कार्यकलाप विभिन्न विधियों में पहले से भी इस नाम का प्रयोग किया है। यह विभिन्न समुदायों में विभिन्न प्रकार से क्रियान्वित होते हुए देखने को मिलता है। यह सब प्रयास अवश्य ही प्रयास क्रम में उपादेयी है किन्तु प्रयोजन के अर्थ में अभी तक और कोई अर्थात् पूर्वावर्ती सामुदायिक संस्कार परंपरा में प्रमाणित नहीं हो पाये।

जागृति और उसका प्रमाण सहज रूप में ही जीवन ज्ञान, सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान सहित परिवारमूलक व्यवस्था विधि से सफल होना पाया जाता है, सार्थक होना पाया जाता है। सफल होने का तात्पर्य मानव स्वयं-स्फूर्त विधि से व्यवस्था के रूप में प्रमाणित हो जाने से है। सार्थकता का तात्पर्य समग्र व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह करने से है। अस्तित्व सहज रूप में ही मानव अपने त्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह करने योग्य इकाई है। यही मानव जागृति को निरीक्षण-परीक्षण पूर्वक प्रमाणित होने, करने का एवं करने के लिये मत देने का सूत्र है। इस विधि से सार्वभौम लक्ष्य रूपी जागृति और जागृति प्रमाण, मानवीयतापूर्ण आचरण स्वयं कर्तव्यों, दायित्वों, प्रेरकताओं और सम्पूर्ण कायिक, वाचिक, मानसिक, कृत-कारित, अनुमोदित विधियों से मानव परंपरा में स्पष्ट हो जाता है।

3. सर्वमानव में शुभाकांक्षा समान

मानव शुभ चाहता ही है, करता ही आया है। यह भी पहले स्पष्ट हो चुका है कि आस्था से इंगित स्वर्ग और नर्क; प्रलोभन और भय का ही प्रतीक है। इन दोनों से भिन्न और कोई चीज देने की चाहत वाङ्मयों में इंगित होता हो वह किसी भी परंपरा में प्रमाण के रूप में वर्तमानित नहीं हो पाये हैं। आज का मानव किसी न किसी परंपरा में ही अपने को अर्पित किया है। परस्पर परंपराओं में भय, प्रलोभन, आस्थाओं में जो अंतर्विरोध है, दीवालों के रूप में है। शुभ चाहते हुए विरोधों को पाल रखना विविध परंपराओं के अनुसार किंवा धर्म संविधान, राज्य संविधान, में भी इनकी पहचान, विविधता की पहचान, प्राथमिकता की चर्चा बनी हुई है। इसीलिये शुभ चाहते हुए शुभ घटित न होने में दूरी अभी भी बनी हुई है। इस वर्तमान समय में अधिकांश मानव इस दूरी को मिटाने के लिए इच्छुक है। ऐसे दूरियों को वरदान के स्थान पर अभिशाप के रूप में पहचान चुके हैं। यही अग्रिम परिवर्तन की चिन्हित पहचान है। अग्रिम परिवर्तन की पहचान स्वाभाविक रूप में अनुभव, व्यवहार और तर्क संगत होना एक आवश्यकता बन चुकी है। अधिक संख्यात्मक मानव इस धरती पर सर्वशुभ के पक्षधर हैं।

उसके लिये समुचित मार्ग, विचार, ज्ञान, प्रमाणों को जाँच पूर्वक अर्थात् परीक्षण, निरीक्षण पूर्वक अपनाना चाहते हैं, स्वीकारना चाहते हैं। यही सूत्र परिवर्तन के चाहत को सम्भावना के रूप में परिणित करता है। इसका आधार अनेक समाज सेवी संगठन जैसा मानवाधिकार संस्था अलग-अलग नामों से विभिन्न पक्षों में कार्य करता हुआ देखने को मिलता है। यह अभी तक जिन संविधानों अर्थात् धर्म संविधानों, राज्य संविधानों में क्रूरता, विकरालता, अश्लीलताओं

को कम अथवा दूर करने में अपने को बारम्बार दुहराता है। साथ ही युद्ध प्रभाव से जो वीभत्सता है, प्राकृतिक प्रकोपों से त्रस्त मानव, अकाल, दुष्काल, और विशेष रोगों से पीड़ित एड्स जैसे रोग पीड़ित व्यक्तियों के प्रति अपने संवेदनाओं को अर्पित करते हुए इन्हें सांत्वना देने का घोर प्रयास करते आया है। इन सब प्रयासों को देखते हुए इनके मूल में अवश्य ही एक सार्वभौम व्यवस्था की अभिव्यक्ति की आवश्यकता बनी हुई है। इस ओर सार्वभौम व्यवस्था जैसा धरती में एक व्यवस्था की चर्चा, पहल, प्रयास भी लोगों ने किये हैं। जो ऐसे प्रयास किये हैं उनमें मानव, मानवत्व, सार्वभौम व्यवस्था का रूप रेखा, मानसिकता, विश्व दृष्टिकोण सहित प्रस्तावित होना प्रतिक्रित है।

ऐसे 'मानवाधिकार' धरती पर एक शासन, विचार या चर्चा, मेधावी मानवों के साथ जुड़ा है। हमारा यह प्रस्ताव है कि इसे सफल बनाने के लिये विश्व दृष्टिकोण संबंधी विकल्प आवश्यक है। इस विधा में अस्तित्वमूलक मानव केन्द्रित चिन्तन ज्ञान प्रस्तावित है। इसी क्रम में जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन सहज ही अध्ययन किये हैं। यह पूर्णतया दर्शन और ज्ञान के रूप में, पूर्वावर्ती दर्शन-ज्ञान के विकल्प के रूप में प्रस्तावित है। अस्तित्व ही स्वयं सह-अस्तित्व, नित्य विद्यमान होने के आधार पर सह-अस्तित्व स्वयं विचार का आधार, फलित होने का क्रम हमें अध्ययन गम्य हुआ है। विचारधारा जो पूर्ववर्ती क्रम में प्राप्त है उसके स्थान पर सह-अस्तित्ववादी विचारधारा को प्रस्तावित किया है। अभी तक जो-जो शिक्षाएं इस धरती के मानव के साथ बीत चुकी है, इस समय में जो-जो शिक्षाएं दे रहे हैं उसके विकल्प में मानवीयतापूर्ण सह-अस्तित्ववादी शिक्षा कार्यक्रम प्रस्तावित है। सह-अस्तित्व सहज अध्ययन क्रम में हम यह पाये हैं अस्तित्व में व्यवस्था है, शासन नहीं है।

इसीलिये सार्वभौम व्यवस्था शासन के विकल्प के रूप में प्रस्तावित है। इसी क्रम में शक्ति केन्द्रित शासन संविधान के स्थान पर समाधान केन्द्रित व्यवस्था रूपी संविधान मानवीय आचार संहिता के रूप में (सार्वभौम राष्ट्रीय आचार संहिता) प्रस्तावित किया है। इसके लिये कार्यक्रम का हम धारक-वाहक है। जीवन-ज्ञान, अस्तित्व दर्शन का अध्ययन शिविर कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं और शिक्षा का मानवीयकरण कार्य में तत्पर हैं। मानवीयतापूर्ण आचरण विधि से हम जीते ही हैं। इन सभी कारणों से हम उक्त प्रस्तावों को प्रस्तावित करते हुए प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

उक्त प्रस्तावों के आधार पर मानवाधिकार सुस्पष्ट हो जाता है फलस्वरूप परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था पूर्वक सार्वभौम शुभ रूपी समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व को सर्वसुलभ कर सकते हैं। इसकी अक्षुण्णता का होना समीचीन है। यही सर्वशुभ है।

4. सर्वमानव में मानवत्व समान

मानवीयतापूर्ण आचरण मूल्य, चरित्र, नैतिकता के अविभाज्य रूप में वर्तमान होना पाया जाता है। सर्वमानव में मानवत्व ही व्यवस्था का सूत्र है। मानवत्व अपने में स्वायत्तता ही है। उसके प्रमाण में आचरण एक अनिवार्य स्थिति है। मानवत्व जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण का संयुक्त स्वरूप है क्योंकि मानव ज्ञानावस्था की इकाई है। ज्ञानावस्था का तात्पर्य ही है जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना। यह महिमा केवल मानव में संभावित, कार्यान्वित, इच्छित है। हर मानव अज्ञात, अप्राप्त, पीड़ाओं से मुक्ति चाहता है। ऐसे वैभव अर्थात् पीड़ा से

मुक्त वैभव जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान के रूप में दृष्टव्य है। ऐसे वैभव का अधिकार सम्पन्नता स्वयं मानवत्व है।

अस्तित्व में प्रत्येक एक अपने 'त्व' सहित व्यवस्था है जैसे गाय, घोड़ा, बिल्ली सबमें उन-उनका 'त्व' देखने में मिलता है। गायत्व ही गाय का, श्वानत्व ही श्वान का, बिल्वत्व ही बिल्व वृक्ष का, धातुत्व ही धातु का एवं मणित्व ही मणि के पहचान का आधार है। इसी प्रकार मानवत्व ही मानव के पहचान का आधार है। मानवत्व ही अपने में ज्ञानावस्था की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर संज्ञानशीलता, संवेदनशीलता का संगीत बिन्दु अथवा तृप्ति बिन्दु मानवीयतापूर्ण आचरण के रूप में प्रमाणित हो जाता है।

इस विधि से सर्वमानव में मानवत्व समान रूप में विद्यमान होना स्पष्ट हो जाता है। यह मानव परंपरा सहज चौमुखी कार्यक्रमों के आधार पर सफल हो जाता है क्योंकि अभी जो कुछ भी इस चौमुखी कार्यक्रमों के द्वारा अग्रिम पीढ़ी को दिया जा रहा है वह अधिकांश आगे पीढ़ी में बहता हुआ देखने को मिलता है। जैसे विज्ञान शिक्षा, उन्मादत्रय शिक्षा, सुविधा संग्रह शिक्षा दिया जा रहा है यह अग्रिम पीढ़ी में उनके कल्पनाशीलता के साथ अनुरंजित, प्रतिरंजित होकर प्रभावशील रहता है। इसीलिये मानवीयतापूर्ण शिक्षा की संभावना, आवश्यकता समीचीन है। प्रयोजनों के लिये नितान्त अपेक्षा है ही।

अस्तु, सर्वमानव में मानवत्व समान रूप में होना मूल्यांकित होता है क्योंकि अस्तित्व घटता-बढ़ता नहीं है। जीवन अपने गठनपूर्णता, अक्षय बल, अक्षय शक्ति, जीवन जागृति के लक्ष्य सम्पन्नता में एक ही है। इसलिये जीवन मूलक विधि से ही मानवत्व समझ में आता है। शरीर मूलक विधि से मानवत्व समझ में नहीं आता है। इसी सत्यतावश ज्ञानावस्था के मानव में जीवन सहज अभीप्सा के आधार पर मानवत्व ही जीवन-ज्ञान, अस्तित्व दर्शन इसके प्रमाण में मानवीयतापूर्ण आचरण प्रमाणित होना सहज है। मानवत्व के आधार पर अभी तक बिखरे हुए सभी समुदाय अपने को मूल्यांकित कर सकते हैं और मानवत्व और मानव परंपरा की अखण्डता को पहचान सकता है, निर्वाह कर सकता है। इस प्रकार अखण्ड समाज के अर्थ में और सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में, विविध प्रकार से भ्रमित हुई अपने पराये की दूरियाँ अपने आप जागृति विधि-विधानपूर्वक समाप्त होंगे। - स.श. 105-107

5. सर्वमानव में मानव धर्म समान है

धर्म के नाम से विडम्बना विविध आधारों से चला हुआ समुदायों का धर्म जो रूढ़ियों के रूप में देखने को मिलता है, उसकी विकरालता और अंतहीन समस्याओं से ग्रसित रूपों में दिखाई पड़ती है। किसी भी समुदाय धर्म के पास धर्म का मूल रूप अध्ययनगम्य होना संभव नहीं हुई। इसकी रिक्तता, कुण्ठा, श्रेष्ठता, नेष्टता में फँसे हुए, विचारों के साथ मानव जनजाति अपने आप में यंत्रणा का शिकार हो जाता है, इसे बारंबार देखा जाता है। इसे वांडमयों के आधार पर तर्क विधि से विद्वानों के बीच चर्चित होना देखा गया है। राज्य विधाओं में भी सत्ता संघर्ष, शक्ति केन्द्रित शासन, पीठ और चिन्ह के लिये तमाम घटनायें गुजर चुके हैं। जिसका स्वीकृति आम आदमी के मन में नहीं हो पाता है। इसलिये असंतुष्टि बना ही है। इसलिये इसकी संतुष्टि स्थली का अनुसंधान और प्रकाशन की आवश्यकता है ही।

‘मानव धर्म’ अपने स्वरूप में समाधान और उसकी निरंतरता है। दूसरे तरीके से सर्वतोमुखी समाधान और उसकी निरंतरता है। अस्तित्व में समाधान का धारक-वाहक केवल मानव ही है। इस धरती पर आज की स्थिति में जैसा भी मानव दिखाई पड़ता है विभिन्न भौगोलिक परिस्थिति, आर्थिक सम्पदा, शक्ति केन्द्रित शासनाधिकार, सम्पन्नता, प्रौद्योगिकी, कृषि, व्यापार, उपभोक्ता संस्कृति व दलाली, उपदेश, समाजसेवा, धार्मिक कार्यक्रमों में कहीं न कहीं किसी न किसी कार्य में लगा मानव को देखा जाता है। यह सब किसी न किसी समुदायगत विचार, धर्म-पंथ, मत, जाति आदि आधारों पर अपना परिचय देता हुआ देखने को मिलता है। इस क्रम में उन-उनकी निष्ठा अपने-आप स्पष्ट हो जाती है। आज तक ऐसा कोई परम्परा अध्ययनगम्य नहीं हो पाया जो सर्वतोमुखी समाधान विधि को अध्ययनगम्य कराया। अतएव सर्वतोमुखी समाधान सम्पन्नता ही मानव धर्म का द्योतक है, प्रमाण है और सर्वाधिक लोगों का अभीष्ट भी है।

मानव जाति एक होने के आधार पर ही मानव धर्म एक होने का अर्थात् सर्वतोमुखी समाधान सबको समीचीन होने का सत्य उद्घाटित हो पाता है। समाधान मूलतः मानव जीवन सहज उद्देश्य और प्रमाण है। इस उद्देश्य की पूर्ति जागृतिपूर्वक उजागर होती है। जागृति का सार्थक स्वरूप अस्तित्व में अनुभव है। अस्तित्व नित्य वर्तमान होते हुए अनुभव का घोषणा, सत्यापन, प्रमाण, मानव ही मानव के लिये अर्पित करता है। प्रामाणिकता ही व्यवहार में सर्वतोमुखी समाधान के रूप में प्रमाणित हो जाता है। अस्तित्व में अनुभव ही जागृति परमता का द्योतक है। जागृति ही भ्रम मुक्ति है। आदिकालीन अथवा सुदूर विगत से सुना हुआ ‘मुक्ति’ शब्द का अर्थ सह-अस्तित्व में अनुभव रूप में सार्थक होता है। इसे भली प्रकार से देखा गया है। सह-अस्तित्व में अनुभव सर्वसुलभ होने का मार्ग मानवीय शिक्षा-संस्कार विधि से समीचीन है और प्रशस्त है। सह-अस्तित्व शाश्वत सत्यरूपी, नित्य सत्यरूपी, परम सत्यरूपी न घटते-बढ़ते हुए मानव सहित अविभाज्य वर्तमान है। इसमें खूबी यही है अस्तित्व ही चार अवस्था में प्रकाशमान है। जिसमें से एक अवस्था स्वयं में मानव है। अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व ही इसका मूल सूत्र है। सह-अस्तित्व ही विकास, पूरकता, उदात्तीकरण, फलस्वरूप रासायनिक-भौतिक रचनाएँ, विरचनाएँ सम्पन्न होते हुए देखने को मिलता है। देखने वाला मानव ही है। विकास, अर्थात् परमाणु में विकास, पूरकता, पूर्णता, संक्रमण, जीवन और जीवन जागृति प्रमाणित होता है। जीवन में जीवन जागृति का प्रमाण मानव ही प्रस्तुत करता है। मानव अपने में जागृतिपूर्णता में उसकी निरंतरता सहज विधि से ही सर्वतोमुखी समाधान सम्पन्न परंपरा को बनाए रखना सहज है।

अस्तित्व में इस खूबी को बहु विधा में देखा गया है। प्रत्येक प्रजाति सहज परमाणु अपने परम्परा सहज आचरणों में सुदृढ़ रहते हैं। जैसे - दो अंश, चार अंश, चालीस अंश आदि विभिन्न अंशों से गठित विभिन्न परमाणु अपने-अपने आचरण को सदा-सदा ही प्रस्तुत करते हैं। इसी क्रम में प्राणावस्था की इकाईयाँ बीज-वृक्ष न्याय से अपने परम्परा रूपी आचरण को सुदृढ़ रूप में आचरित करते हुए देखने को मिलता है। वंशानुषंगीय विधि से सम्पूर्ण जीव अपने-अपने परंपराओं को सुदृढ़ बनाया हुआ दिखाई पड़ता है। इन तथ्यों को देखते हुए मानव अपने परम्परा को मानवीयतापूर्ण आचरण, मानव सहज सर्वतोमुखी समाधान रूपी मानव धर्म (मानवीयतापूर्ण आचरण, विचार, अनुभव सम्मत विधि से) निरंतरता को पाना संभव है।

सर्वमानव सहज रूप में ही समान है। इसीलिये मानव धर्म सर्वमानव में समान है। यह तथ्य समझ में आता है। सर्वतोमुखी समाधान का तात्पर्य ही है स्वयं व्यवस्था में और समग्र व्यवस्था में भागीदारी का निर्वाह करना। इसी विधि से मानव

अपने में चिरआशित स्वराज्य को पाकर सुख, शांति, संतोष और आनन्द को पाकर; समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व को प्रमाणित करता है। यही मुख्य रूप में मानव का चाहत भी है। मूलतः धर्म एक शब्द है। हर शब्द किसी का नाम है। धर्म शब्द से इंगित वस्तु मानव जागृति और उसका प्रमाण रूपी प्रामाणिकता, सर्वतोमुखी समाधान ही है। इसका स्वीकृत स्वरूप ही सुख, शांति, संतोष, आनन्द है। इसका दृष्टा पद में भी सुख, शांति, संतोष आनन्द है। इसका दृश्य रूप ही व्यवस्था है। वह परिवार सभा से विश्व परिवार सभा तक गुंथे हुए स्वरूप में दिखाई पड़ती है। व्यवस्था सहज अभिव्यक्ति ही अथवा फलन ही समाधान, समृद्धि, अभय और सह-अस्तित्व है। इस प्रकार जीवन सहज लक्ष्य, मानव सहज अर्थात् अखण्ड समाज सहज लक्ष्य, संगीत, विन्यास है, यही समाधान के रूप में निरूपित होती है। सह-अस्तित्व और अनुभव में संगीत है। यही आनन्द के नाम से विख्यात होता है। न्याय, उत्पादन, विनिमय, स्वास्थ्य-संयम, शिक्षा-संस्कार में होने वाला अनुभव ही सर्वतोमुखी समाधान है। यह मानव सहज जागृति की अभिव्यक्ति और संप्रेषणा है। सम्पूर्ण मानव अपने परिवार सहज आवश्यकता से अधिक कार्य करता है इसके फलन में समृद्धि का अनुभव होता है। यह भी समाधान है। हर परिवार सभा से विश्व परिवार सभा तक सम्बन्धों का पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन और उभयतृप्ति पाने की विधि जागृतिपूर्वक सम्पन्न होता है। यह निरन्तर समाधान है। लाभ-हानि मुक्त विनिमय प्रणाली जागृति सहज मानव की अपेक्षा है। इस विधि से विनिमय कार्य का क्रियान्वयन स्वयं समाधान है। स्वास्थ्य संयम, स्वाभाविक रूप में जीवन जागृति को शरीर के द्वारा मानव परंपरा में प्रमाणित करने योग्य शरीर है। यही स्वास्थ्य का निश्चित स्वरूप है। जागृतिपूर्ण परंपरा में सर्वमानव अपने स्वास्थ्य को स्वस्थ बनाये रखने का उपाय और स्रोत बना ही रहता है। यह स्वयं में समाधान है। प्रत्येक मानव मानवीय शिक्षा-संस्कार पूर्वक स्वायत्त मानव, परिवार मानव, विश्व परिवार मानव के रूप में प्रमाणित हो पाता है। यह सर्वतोमुखी समाधान है।

सर्वमानव नित्य समाधान का ही प्यासा है न कि समस्या का। समस्याओं से जूझते-जूझते आ रही विविध समुदाय रूढ़ियाँ और मानसिकताएँ मानव कुल को त्रस्त कर रखा है। हर मानव प्रश्न चिन्हों से घायल है। इससे छूटना हर व्यक्ति चाहता है। इसीलिये अखण्ड समाज उसकी अपेक्षा, उसकी आपूर्ति स्रोत, विधि, नीति, पद्धति सर्वसुलभ होना अति आवश्यक है। इस प्रकार मानव धर्म सर्वतोमुखी समाधान है। यह सर्वमानव के लिए आवश्यक है। इसकी संभावना नित्य समीचीन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सर्वमानव का धर्म एक ही है।

मानव धर्म परम्परा के रूप में सहज ही अर्पित होता है, प्रवाहित होता है। इसी का नाम संस्कार है। संस्कार का तात्पर्य भी पूर्णता के अर्थ में किया गया कृतियाँ और स्वीकृतियाँ है। ऐसी स्वीकृतियाँ सार्थक होते हैं। इसी का नाम होता है सम्प्रदाय। सम्यक प्रकार से प्रदायन क्रिया, सम्प्रदाय है। मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार परंपरा ही पावन रूप में संस्कार है। ऐसी पवित्रता की धारक वाहकता केवल मानव में होना पाया जाता है। इस प्रकार मानव धर्म और मानव सम्प्रदाय सर्वशुभ के अर्थ में सार्थक होता है।

मानवीयतापूर्ण धर्म और सम्प्रदाय क्रियाकलाप में सम्पूर्ण अथवा प्रत्येक मानव का सम्मति अर्पित रहता ही है। इससे स्पष्ट हुई मानव धर्म, संप्रदाय और मत अविभाज्य रूप में गतित रहने वाली सर्वशुभ कार्यक्रम है। इसी के साथ यह भी हम अनुभव किये हैं कि सर्वतोमुखी समाधानपूर्वक ही मानव धर्म और परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था सफल हो जाता है। यही अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था का सूत्र भी है। अतएव, हम मानव मानवत्व के प्रति जागृत होना ही

एक आवश्यकता है। इसी से सर्वतोमुखी समाधान सबके लिये सुलभ होता है जिससे सार्वभौम शुभ नित्य समीचीन रहेगा।

6. मानव में, से, के लिये यह धरती एक अखण्ड है।

शून्याकर्षण की स्थिति में स्वयं स्फूर्त गति सहित एक सौरव्यूह और अनेक सौरव्यूह सहज व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करता हुआ यह सौभाग्यमयी धरती है। इस धरती में कहीं भी भाग विभाग नहीं है। सभी भाग-विभाग मानव के द्वारा बनायी गयी सीमाएँ हैं। यह धरती अपने में ठोस, तरल, वायु सहित रासायनिक-भौतिक रचना-विरचना सहित चारों अवस्था के धारक-वाहक के रूप में प्रतिष्ठित है। हम इस सौर व्यूह में यही एक धरती को सौभाग्य सम्पन्न रूप में देखते हैं अर्थात् चारों अवस्था से सम्पन्न धरती को देख पाते हैं और कहीं ऐसा सौभाग्य सम्पन्न धरती नहीं, ऐसा नहीं है। ऐसा सौभाग्य सम्पन्न धरती हो उसमें से यह भी एक है। अन्य धरती के सम्बन्ध में हमें दौड़ने की आवश्यकता नहीं है, यह धरती में आवश्यकीय मानव जागृति, सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज रूपी परम्परा को प्रमाणित करना ही अभी इस धरती का मानव सहज कल्याण मार्ग है। इसका कारण यही है यह धरती को मानवकृत परेशानियों से दूर करने, और प्रकृति सहज नियमों को, जागृति सहज नियमों को नित्य निरन्तर पालन, आचरण और व्यवहार करता हुआ मानव मानस आज प्रमाणित होने की आवश्यकता है। यही सर्व प्राथमिक आवश्यकता है। इसके लिये धरती की अखण्डता और एकता को पहचानना एक आवश्यकता है। यह धरती भी समग्र व्यवस्था में अविभाज्य □ है। अतएव मानव अपने जीवन सहज जागृति परम्परा रूप में एकता, अखण्डता और सार्वभौमता को पहचानने के योग्य इकाई है। इसमें से एकता अखण्डता का मूर्त रूप यह धरती भी है। इस धरती को स्वस्थ रूप में बनाये रखना तभी संभव है जब मानव परम्परा जागृत हो जाए। भ्रम पर्यन्त अस्वस्थता की कहानी बन चुकी है।

8. मानव भाषा कारण, गुण, गणित के अर्थ में समान है।

मानव भाषा अपने स्वरूप में कारण, गुण और गणित है। इसे किसी लिपि पूर्वक संप्रेषित करें, इसका फलन एक ही होता है अर्थात् मानव की समझदारी, उसकी परंपरा के लिये भाषा प्रयुक्त होता है। कारण, गुण, गणित को किसी भी लिपि, किसी भी भाषा में संप्रेषित करने की स्थिति में उसकी सत्यता एक ही प्रकार से फलवती होती है। इस यथार्थ को समझने के उपरान्त सम्पूर्ण मानव में समझदारी की समानता का विश्वास होना अनिवार्य है। सर्वशुभ घटित होने के क्रम में समझदारी का यह भी एक आयाम है। इस विधि से सम्पूर्ण विवाद, अनर्थ प्रवृत्ति, और रहस्यता से मुक्त मानव परम्परा स्थापित होने के उपरान्त अपने-आप यह सब समाधान में परिणित हो जाते हैं। इसीलिये सर्वतोमुखी समाधान मानव के लिये समीचीन है।

7. मानवीय सभ्यता, संस्कृति, विधि, व्यवस्था सर्वमानव में, से, के लिये समान है

संस्कृति का स्वरूप के सम्बन्ध में पहले भी सामान्य विवरण प्रस्तुत किये गये हैं। मानवीय संस्कृति का पोषण सभ्यता करती है, सभ्यता का पोषण विधि करती है, विधि का पोषण व्यवस्था करती है और व्यवस्था का पोषण संस्कृति करती है। इस प्रकार आवर्तनशीलता क्रम सुस्पष्ट है। संस्कृति का मूलरूप संस्कार है। संस्कार का मूलरूप जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान ही है। अस्तित्व और मानव से संबंधित अध्ययन बोधगम्य होना ही शिक्षा-संस्कार का तात्पर्य है। ऐसी शिक्षा-संस्कार ही मानवीयतापूर्ण परम्परा का मार्गदर्शक होता है। मानवीयतापूर्ण परम्परा अपने-आप में ऊपर कहे चारों आयाम सम्पन्न रहता ही है। ऐसी शिक्षा-संस्कार से प्राप्त स्वीकृतियों, अवधारणाओं, अनुभवों, विचार शैली सहित सर्वतोमुखी समाधान मानसिकता से सम्पन्न होना ही मानवीय संस्कार सफलता का प्रमाण है। यही सभ्यता का आधार है। मानवीयतापूर्ण सभ्यता स्वाभाविक रूप में न्यूनतम परिवार सभा से विश्व परिवार सभा सहज भागीदारियों को निर्वाह कर लेना ही है। अर्थात् व्यवस्था के रूप में जीना ही, समग्र व्यवस्था में भागीदारी का निर्वाह करना ही सभ्यता का तात्पर्य है।

सभ्यता में ही शिष्टता समाया रहता है। प्रमाण भी समाया रहता है। अनुभव, व्यवहार और प्रयोग के रूप में ही प्रमाणों का प्रयोजन दिखाई पड़ता है। मानव प्रयोजन सर्वशुभ ही है। इसलिये मानव संस्कारों को सर्वशुभ के अर्थ में ही स्थापित करना सहज है। ऐसे सभी स्तरीय परिवार और सभा सहज आचरणों को मानवीयतापूर्ण आचरण और व्यवस्था में भागीदारी का नाम दिया गया है। यही संविधान सूत्र है। इसे हम अध्ययन भी करते हैं और आचरण में पाकर तृप्त होते हैं अथवा आचरण रूप में पाकर तृप्त होते हैं। इस प्रकार मानव सहज तृप्ति का स्रोत मानवीयतापूर्ण आचरण में होना स्पष्ट होता है। क्योंकि अस्तित्व रूपी सह-अस्तित्व ही समाधान और तृप्ति का सम्पूर्ण स्रोत है। मानव में ही जागृति सहज अधिकार प्रमाणित होता है। जागृति और सह-अस्तित्व के योगफल में ही सर्वशुभ सर्वसुलभ होना पाया जाता है। अतएव मानवीयतापूर्ण आचरण रूपी संविधान को पहचानना ही राष्ट्रीय मूल्य, चरित्र और नैतिकता का अथवा परिवार मूलक अखण्ड स्वराज्य व्यवस्था का आचार संहिता स्वाभाविक रूप में सर्वमानव के लिये बोधगम्य और व्यवहार गम्य होता है। अतएव सभ्यता का पोषण मानवीयतापूर्ण आचरण जो व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी के रूप में होता है, इसे अध्ययन करना आवश्यक है।

व्यवस्था का स्वरूप पहले पाँच आयामों में इंगित किया जा चुका है। सुख का सम्पूर्ण स्रोत अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व ही होते हुए मानव जागृतिपूर्णता विधि से ही सर्वशुभ सर्वसुलभ होना पाया जाता है। अतएव इन तीनों विधा में सामरस्यता विधि ही अर्थात् परिवार सभा, ग्राम मुहल्ला सभा और विश्व सभा सहज व्यवस्था हमें सर्वसुलभ कर लेना ही आज के सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान है। जितने भी बिगाड़े गये हैं उसका पुनः सुधार किन्हीं-किन्हीं भागों में पूर्णतया हो सकती है और किसी-किसी भागों में आंशिक सुधार हो सकती है, धरती आज से अधिक स्वस्थ हो सकती है। धरती पर मानव युगों तक समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व पूर्वक रह सकता है। यह व्यवहारवादी समाजशास्त्र का प्रस्ताव है। - स.श. 107 - 124

6.9 जागृति पूर्वक ही समाज है

मानव परम्परा का संतुलन अखण्ड समाज और सार्वभौम व्यवस्था के रूप में प्रामाणिक होना सहज है। यह दोनों अविभाज्य रूप में प्रतिष्ठा और गरिमा है। मानव कुल का संतुलन सर्वतोमुखी समाधानपूर्वक ही सम्पादित होना पाया जाता है क्योंकि सर्वतोमुखी समाधान सम्पन्न परिवार संतुलित रहना पाया गया है। हर परिवार में एक से अधिक व्यक्तियों का होना सर्वविदित है अथवा सम्मिलित कार्य-व्यवहार का होना पाया जाता है। परिवार की परिभाषा भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है यथा परिवार में प्रस्तुत अथवा सम्मिलित सभी व्यक्ति एक दूसरे के साथ संबंध को पहचानते हैं एवम् मूल्यों का निर्वाह करते हैं, मूल्यांकन करते हैं और उभय तृप्ति पाते हैं और परिवार सहज आवश्यकता से अधिक उत्पादन कार्य में सभी पूरक होते हैं। इन्हीं आधारों पर समाधान और समृद्धि का प्रमाण प्रस्तुत हो पाता है। मानव का परिभाषा समाहित रहता ही है यथा मनाकार को साकार करने वाला मनः स्वस्थता सहज प्रमाण प्रस्तुत करने वालों के रूप में होना देखा गया है।

उद्देश्य – समाज परिभाषा में पूर्णता की ओर निर्देश है, अस्तित्व में परमाणु का विकास और जागृति सहज अध्ययन क्रम में गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता, आचरणपूर्णता और इसकी निरंतरता को देखा गया है। देखने का तात्पर्य समझने से ही है। परमाणु का वैभव को, अस्तित्व में व्यवस्था की मूल इकाई के रूप में इनके कार्यकलापों को देखा गया है। यह जड़-चैतन्य प्रकृति के संबंध में स्पष्टतया समीकरण होता है। परमाणु अंशों से ही परमाणु रचित रहना पाया जाता है। हर अवस्था में आवेश अव्यवस्था का द्योतक है जैसे मानव में पायी जाने वाली छैः प्रकार के आवेश अव्यवस्था का द्योतक होना देखा गया है। मानव में घटित होने वाले आवेशों को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य के रूप में गणना किया गया है। यह मानव कुल में चर्चित, विश्लेषित, निष्कर्षित विवशता है। प्रत्येक आवेश विवशता के रूप में मानव सहज मानस विधि से मूल्यांकित होता है। मानव सहज मानसिकता मानवीयतापूर्ण विधि से कार्यरत रहना पाया जाता है।

किसी व्यक्ति, परिवार, समुदाय को अथवा संपूर्ण समुदायों को विवशतायें स्वीकृत नहीं हो पाती हैं। यही मुख्य बिन्दु है जिस पर विचार करना आवश्यक है। विवशताओं से मुक्ति हर एक मानव में आवश्यकता के रूप में होना पाया जाता है, ऐसे विवशता का मूल रूप ही बंधन है। ऐसे बंधनों के स्वरूप को आशा, विचार, इच्छा बंधनों के रूप में देखा गया है। यह जीवनगत क्रिया रूपी आशा, विचार, इच्छायें भ्रमित रहने पर्यन्त बंधन का, बंधन पर्यन्त आवेशों का, सम्पूर्ण आवेश पर्यन्त विवशताओं का होना आंकलित होता है। इसे प्रत्येक व्यक्ति निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण पूर्वक समझ सकता है। – स.श. 29

आशा बन्धन इन्द्रियों द्वारा सुखी होने के लिए दौड़ लगाने के लिये सभी क्रियाकलाप के रूप में गण्य है। विचार बन्धन कोई भी व्यक्ति अथवा समुदाय अपने विचार को श्रेष्ठ मानने की विधि से स्पष्ट होता है। इच्छा बन्धन, ज्यादा से ज्यादा रचना कार्य की श्रेष्ठता को स्पष्ट करने के क्रम में स्पष्ट होता है। यह भी चित्रण विधि से स्पष्ट होता है।

मानव जीवन के अध्ययन क्रम में यह पाया गया है, जीवन ही भ्रम अथवा अजागृतिवश किये जाने वाली क्रियाकलाप भ्रम के रूप में बंधन को और जागृति पूर्णतापूर्वक बंधन से मुक्ति को अनुभव करना एक सहज क्रिया है। इस प्रकार जीवन जागृति ही बंधन मुक्ति का स्वरूप होना, कार्य होना, व्यवहार होना, व्यवस्था और आचरण होना पाया गया

है। - आ.व. 144 (*इस ढंग से) मानव परंपरा का अपनी जागृति को प्रमाणित करने के लिए जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान में, से, के लिए प्रमाणित रहना आवश्यक है। इसी के फलस्वरूप परिवार मूलक स्वराज्य और अखण्ड समाज रहना और सार्वभौम व्यवस्था सहज प्रमाणित होना संभव हो जाता है। मानव के जितने भी कार्य-व्यवहार होते हैं उसके मूल में निर्धारित विचार का होना एक अनिवार्यता है। मानव के द्वारा हर कार्य-व्यवहार के मूल में विचार रहता है, उसकी दो ही अवस्था होती है:-

1. जागृति सहज विचार,

2. भ्रमित विचार।

भ्रमित विचार पूर्वक किए गए सभी कार्य-व्यवहार से समस्याओं की पीड़ा ही स्पष्ट होती है। उस स्थिति में मानव सहज ही समाधान को वरता है, न कि समस्या को। यह आते कहां से हैं यह पूछने पर स्पष्ट रूप में यही दिखाई पड़ता है कि भ्रमित परंपराओं वश, मानव न चाहते हुए भी भ्रमित कार्यों को कर देते हैं। जबकि जागृतिपूर्वक सर्वतोमुखी समाधान पूर्ण कार्य-व्यवहार करता है।

मानव हर हालत में सुख ही चाहता है, न जानते हुए भी समाधान ही चाहता है। इसके बावजूद समस्या उत्पन्न कर देता है। मानव के चाहने और होने के बीच में जानना, मानना, पहचानना एक आवश्यकता है। समुदाय परंपरा में प्रत्येक व्यक्ति अर्पित रहता है। प्रत्येक समुदाय परंपरा इस दशक तक भ्रमित है, इसका साक्ष्य ही है कि मानव सर्वतोमुखी समाधान, सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज और इनमें पारंगत और भागीदार होने के सारे अध्ययन को और प्रमाणों को शिक्षा पूर्वक संस्कार पूर्वक, संपन्न नहीं कर पाये हैं।

रुचि मूलक कार्यकलापों का सार्वभौम न होना तथा न्याय, धर्म, सत्य का सार्वभौम होना देखा गया। इसलिए मानव, जीवन सहज रूप में शुभ चाहते हैं। रुचिवश हर समुदाय भ्रमित कार्यों को करता रहा है। जब तक रुचि मूलक विधि से मानव कार्य-व्यवहार करता है, तब तक अनर्थ करता है। सम्पूर्ण रुचियाँ इंद्रिय सन्निकर्षात्मक रूप में हैं। अर्थात् शरीर के अनुरूप हो ऐसा काम कर देते हैं। इंद्रियों के साथ न्याय का स्थान नहीं है। न्याय सब चाहते हैं। इंद्रियों के साथ प्रिय, हित, लाभ ही होता है। प्रियात्मक कार्यकलाप शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इंद्रियों को अच्छा लगने के रूप में स्पष्ट है। हित शरीर के लिए उचित-अनुचित के रूप में देखा जाता है। कम देकर अधिक लेने की प्रक्रियाओं को लाभ के रूप में देखा जाता है। यही क्रियाकलाप रुचि मूलक है। प्रिय, हित, लाभ का कहीं तृप्ति बिंदु मिलता नहीं है। शरीर को कितना भी अच्छा रखा जाय, तो भी शरीर की विरचना होती ही है। इंद्रिय सन्निकर्ष क्रियाकलापों के साथ परेशानी यही है कि जब एक चीज, किसी एक मानव को अच्छी लगती है तो वही चीज दूसरों को बुरी भी लगती है।

दूसरा बहुत अच्छा खाने वाले को भी कहीं न कहीं पेट भर जाने की स्थिति आती है, उसके बाद वही खाना खराब लगने लगता है। एक आदमी को खराब लगने की स्थिति में दूसरा आदमी जो भूखा है उसे वही खाना अच्छा लगता है। एक आदमी को एक संवेदना में कितना देर अच्छा लगा-बुरा लगा, सबके लिए वैसा होना होता नहीं अतः अच्छा लगना, बुरा लगना सार्वभौम हो नहीं पाता है और लाभ का तृप्ति बिंदु कहीं होता नहीं। संग्रह का तृप्ति बिंदु होता नहीं है, इसलिए लाभ का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं होता, इसलिए यह सार्वभौम नहीं होता। अस्तु, ये जिनती भी चीजें

गिनाई गई हैं, उनके प्रिय, हित, लाभ, भोग, सुविधा, संग्रह के आधार पर व्यवस्था होना संभव नहीं है। इसलिए इस शताब्दी के अंतिम दशक तक सार्वभौम व्यवस्था स्थापित नहीं हो पायी।

नियति सहज विधि से नियम, न्याय, धर्म, सत्य का सार्वभौम होना सहज हैं। मनुष्य को अनुभव पूर्वक अपने दृष्टा पद प्रतिष्ठा के आधार पर न्याय पूर्ण विधि से प्रस्तुत होना सहज हैं क्योंकि वह जीवन सहज है। जन्म से ही मानव न्याय का याचक होता है, सही कार्य-व्यवहार करना चाहते हैं, और सत्य वक्ता होता है। परंपरा से यह अपेक्षा सहज ही रहती हैं कि प्रत्येक मानव संतान; न्याय प्रदायिक क्षमता से संपन्न हो, सही कार्य-व्यवहार करने योग्य योग्यता से संपन्न हो, सत्य बोध होने की अर्हता प्राप्त करने में सक्षम हो, इसी रूप में सकारात्मक पक्ष स्पष्ट होता है। इसका मतलब यही है कि जागृत परंपरा सहज वैभव यही है, कि प्रत्येक संतान में संबंधों, मूल्यों और मूल्यांकन करने का ज्ञान सहज विचार और व्यवहार, अभ्यास सुलभ कार्यों में भागीदारी ही मानवीयतापूर्ण निष्ठा और परंपरा हो। जागृत परंपरा क्रम में प्रत्येक मानव संतान को सही कार्य-व्यवहार, ज्ञान, विचार और कर्माभ्यास सहज सुलभ होता है। अस्तित्व जैसा परम सत्य बोध अध्ययन पूर्वक सुलभ होता है। साथ ही जीवन ज्ञान जैसा परम ज्ञान संपन्नता सुलभ अथवा सर्वसुलभ होता है। ऐसी परंपरा ही मानव परंपरा है। ऐसी अर्हता जिन जिन परंपराओं में नहीं हैं, वे सब मानवीयतापूर्ण परंपरा के रूप में परिवर्तित होने के लिए सहज इच्छुक हैं अथवा बाध्य है। - ज.व. 195-198

(*अर्थात्) जागृति और जागृति पूर्णता के अनन्तर ही मानव अपने अखण्डता, सार्वभौमता, अक्षुण्णता को सहज ही पहचानता है। फलतः निर्वाह करना स्वाभाविक हो जाता है। मानव में ही जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने का वैभव प्रमाणित होता है। यह जागृति व जागृति पूर्णता का ही द्योतक है। संपूर्ण आयाम, कोण, दिशा परिप्रेक्ष्यों में जानने, मानने का प्रमाणों में दायित्व पहचानने, मानने, निर्वाह करने का वैभव प्रमाणित होता है। यह जागृति पूर्णता का ही द्योतक है। संपूर्ण आयाम, कोण, दिशा, परिप्रेक्ष्यों में जानने, मानने का प्रमाणों में दायित्व पहचानने और निर्वाह करने के रूप में कर्तव्य करते हुए स्वयं स्फूर्त होता है। कर्तव्य से समृद्धि, दायित्व से समाधान निष्पन्न एवं प्रमाणित होता है। जानने, मानने के फलन में नियम और न्याय का संतुलन होना पाया जाता है। फलस्वरूप नित्य समाधान होता है।

समाधान व्यवस्था का सूत्र है। इसका व्याख्या उक्त सभी मौलिक अधिकारों में व्याख्यायित हुई है। समस्या पूर्वक कोई मौलिक अधिकार वर्तमान होता ही नहीं है। इसी कारणवश हर व्यक्ति को जागृत होने की आवश्यकता बनी है। सभी विधाओं में मानव अपने को संतुलन बनाये रखने का न्याय और नियम में सामरस्यता ही है। फलस्वरूप समाधान, व्यवस्था उसकी अक्षुण्णता स्वाभाविक रूप में प्रमाणित होना सहज है। इसमें हर व्यक्ति अपना भागीदारी करना स्वाभाविक है; चाहत हर व्यक्ति में है ही। इसे सर्व-सुलभ बनाने के लिये मानवीयकृत शिक्षा योजना, जीवन विद्या योजना, परिवार मूलक स्वराज्य योजना सहज विधियों से सर्वमानव जागृत होना सदा-सदा बना रहेगा। इस प्रकार जागृति और जागृति पूर्णता को कार्य-व्यवहार, व्यवस्था के रूप में सतत् बनाये रखना ही अक्षुण्णता का तात्पर्य है। संपूर्ण मानव को मानवत्व के आधार पर समानता का अनुभव करना अखण्डता का तात्पर्य है। हर जागृत मानव हर जागृत मानव के साथ जो कुछ भी मैं समझता हूँ उसे सभी मानव समझा है या समझ सकते हैं; मैं जो कुछ सोचता हूँ, जो कुछ भी समाधान के रूप में सोचता हूँ ऐसा सर्वमानव सोच सकते हैं; समाधान और प्रामाणिकता के पक्ष में मैं जो कुछ भी बोल पाता हूँ और बोलता हूँ इसे सर्वमानव बोल सकता है अथवा बोलता है; जो कुछ भी मैं पाया हूँ उसे

सर्वमानव पा सकता है, जो कुछ भी हम करते हैं उसे सर्वमानव कर सकता है। जितना भी हम जीने देकर जिया हूँ हर व्यक्ति जीने देकर जी सकता है; मैं व्यवस्था में जीता हूँ सर्वमानव व्यवस्था में जी सकता है या जियेगा। मैं समाधान सहज निरंतरता में सुखी हूँ। हर व्यक्ति समाधान सहज विधि से सुखी है या सुखी हो सकता है। मैं न्याय और नियमपूर्वक हर कार्य-व्यवहार को निश्चय करता हूँ और क्रियान्वयन करता हूँ वैसे ही हर व्यक्ति निश्चयन करता है और निश्चयन कर सकेगा। मैं प्रमाणिक हूँ हर व्यक्ति इस धरती पर प्रमाणिक होगा और प्रमाणिक हो सकता है। इस विधि से मानसिकता, विचार और समझदारी संपन्न होना है। ऐसा जीना ही मानव का परिभाषा मानवीयतापूर्ण आचरण सार्वभौम व्यवस्था व अखण्ड समाज और समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व का नित्य वैभव है। यही जागृत मानव समाज का स्वरूप कार्य-विचार और नजरिया है। - स.श. 255

जागृत मानव में जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना सदा-सदा कार्यरत रहना पाया जाता है। यह मूलतः समझने योग्य क्षमता, सम्पन्नता की ही जागृति है। हर मानव में जानने-मानने-पहचानने-निर्वाह करने की गवाही स्पष्ट होता है या स्पष्ट करना चाहते हैं अथवा स्पष्ट होने के लिए बाध्य रहते ही हैं। बाध्य रहने का तात्पर्य स्वीकृत रहने से है। क्योंकि जागृति हर मानव में स्वीकृत होता है। - स.श. 255

दूसरे विधि से यही समझदारी अनुरूप विचार शैली के अनुरूप कार्य-व्यवहार और कार्य-व्यवहार का फल-परिणाम का सटीक मूल्यांकन पुनः समझदारी की पुष्टि, यही आवर्तनशील होना पाया जाता है। इसी क्रम में समझदारी को स्वत्व के रूप में, विचार शैली को स्वतंत्रता के रूप में, कार्य-व्यवहारों का अधिकारों के रूप में वर्तमान होना पाया जाता है। इस प्रकार जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना ही स्वत्व, स्वतंत्रता और अधिकार है। यह हर मानव में जागृति पूर्वक वर्तमान होना ही/रहना ही मानव परंपरा का वैभव है। यही वैभव परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था के रूप में प्रमाणित रहता है। व्यवस्था में भागीदारी स्वयं समाधान मानव धर्म का द्योतक है। न्याय प्रदायी विधियाँ समाज का द्योतक है। जागृति सहज सम्पूर्ण प्रमाण सत्य का द्योतक है। इस प्रकार न्याय, धर्म, सत्य पूर्ण जीवन क्रियाकलाप जागृत संचेतना के रूप में नित्य प्रमाण होता है। ऐसा स्वत्व, स्वतंत्रता, अधिकार हर व्यक्ति के लिये, हर परिवार के लिये, सम्पूर्ण मानव के लिये समान रूप में समीचीन है।

जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने की सम्पूर्ण वस्तु सह-अस्तित्व रूपी परम सत्य ही संपूर्ण वस्तु, अस्तित्व में परमाणु में विकास क्रम, विकास, परमाणु अपने में गठनपूर्णता के फलस्वरूप चैतन्य पद में संक्रमण 'जीवन पद', जीवनी क्रम में जीवावस्था, मानव में जीवन जागृति क्रम, जागृति और उसका परंपरा जागृत मानव परंपरा में और रासायनिक-भौतिक रचना-विरचनाएं हैं। इन सभी मुद्दों का अध्ययन पूर्वाध्यायों में स्पष्ट हुआ है।

जानने-मानने का अधिकार जागृत मानव में ही प्रमाणित होता है। ऐसा जानने, मानने के आधार पर सम्बन्धों का पहचान होता है। हर संबंध में निश्चित प्रयोजन स्वीकृत रहता है। उन सम्बन्धों में लक्षित प्रयोजनों को निर्वाह करना ही समाज सूत्र का आधार है। इसीलिये पहचानना, निर्वाह करना एक आवश्यकता और विधि है। इसका मूल्यांकन हर स्थिति में होना ही समाज है। समाज का परिभाषा भी इसी तथ्य को इंगित कराता है क्रियापूर्णता के अर्थ में गतिशीलता ही समाज है। पूर्णता का स्वरूप मानव परंपरा में मानवत्व सहित अखण्ड समाज - सार्वभौम व्यवस्था सूत्र और व्याख्या स्वरूप ही है। सार्वभौम व्यवस्था स्वरूप स्वयं में परिवार मूलक स्वराज्य सभा विधि से पाँचों आयाम

सहित गतिशील रहना स्पष्ट है। नैसर्गिक सम्बन्ध और मानव सम्बन्ध और उसमें निहित प्रयोजनों को सार्थक बनाने के क्रियाकलापों को निर्वाह नाम दिया गया है। - स.श. 261

6.10 जागृत मानव परम्परा

(*मानव) सुदूर विगत से ही कम से कम चार आयामों में अपने परम्परा को बनाये रखे है। जैसा शिक्षा, संस्कार, विधि और व्यवस्था। दूसरे विधि से संस्कृति, सभ्यता, विधि और व्यवस्था है। इसे सभी समुदायों में स्वीकारा हुआ और निर्वाह करता हुआ देखने को मिलता है चाहे सार्थक न हो। इससे सुस्पष्ट हो जाता है भले ही मानव कुल अनेक समुदायों में बंटे क्यों न हो यह चारों अथवा चहुँ-दिशा वादी परम्परायें सभी देशकाल में सभी समुदाय में देखने को मिला। इन चारों आयामों में मानवीयता को समावेश कर लेना ही मानवीयतापूर्ण परम्परा का तात्पर्य है। जैसा मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार, विधि एवं व्यवस्था, संस्कृति, सभ्यता ही मानव परम्परा में अखण्डता का सूत्र है। - स.श. 29

मानव परम्परा का संतुलन अखण्ड समाज और सार्वभौम व्यवस्था के रूप में प्रामाणिक होना सहज है। यह दोनों अविभाज्य रूप में प्रतिष्ठा और गरिमा है। - ज.व. 271,278

सह-अस्तित्व सहज रूप में ही आवर्तनशीलता प्रभावशील होने के कारण मानव जागृतिपूर्वक आवर्तनशील विधि से जीने की कला को विकसित करता है। इसका कारण तत्व यही है कि मानव परंपरा सहज रूप में अस्तित्व में विश्वास करता है, इसका तात्पर्य जागृति है। अस्तित्व में जागृति, सह-अस्तित्व में जागृति, विकास प्रणाली में जागृति, जीवन में जागृति, भौतिक-रासायनिक रचना-विरचना में जागृति, पूरकता में जागृति, उदात्तीकरण में जागृति, 'त्व' सहित व्यवस्था में जागृति, मानवत्व सहित मानव अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करने में जागृति; प्रामाणिकता, स्वानुशासन, सर्वतोमुखी समाधान, समाज न्याय में जागृति, समृद्धि और अभयता में जागृति, क्रियापूर्णता, आचरण पूर्णता और उनकी निरंतरता में जागृति सर्वसुलभ रहने के आधार पर ही मानव परंपरा जागृत रहने का प्रमाण अक्षुण्ण रहता है। ये सभी मुद्दे, ये सभी बिंदुएँ अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण पूर्णतः उसी निरंतरता में समाए रहते हैं। फलस्वरूप मानवीयतापूर्ण संस्कृति, सभ्यता, विधि व व्यवस्था सर्वसुलभ हो जाती है। यही मानव कुल की महिमा है। इस विधि से युद्ध, शोषण, द्रोह-विद्रोह विहीन सह-अस्तित्व सहज समाज रचना और सार्वभौम व्यवस्था मानव कुल के लिए सहज सुलभ होगी।

मानव में, परम्परा में, संतुलन- शिक्षा विधि से संभव

जागृत शिक्षा-संस्कार विधि से प्रत्येक मानव जागृत होना पाया जाता है। शिक्षा ग्रहण करने की अर्हता सम्पूर्ण मानव में विद्यमान है। जीवन अनेक बार अथवा मानव बारंबार, मानव परंपरा में जागृत होने का प्रयत्न करता है। इसे हम सब देखे हुए हैं। मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार उपलब्ध होने के उपरान्त ही हर मानव में, से, के लिये संतुलन एक नित्य

उत्सव का आधार बिन्दु है। संतुलन का मूल रूप सम्पूर्ण मानव में संतुलन, अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी करता हुआ दसों सीढ़ियों में परस्पर पूरकता पूर्वक मानव सहज जीने की कला को प्रमाणित करने के रूप में है। ऐसे संतुलन का स्वरूप -

1. शिक्षा-संस्कार-व्यवस्था और संविधान में सामरस्यता
2. मानवीय संस्कृति, सभ्यता, विधि, व्यवस्था में सामरस्यता
3. मानवीय व्यवस्था सहज पाँचों आयामों में सामरस्यता
4. सम्बन्ध-मूल्य-मूल्यांकन और उभयतृप्ति में सामरस्यता
5. नैसर्गिक सम्बन्ध और मानवीयतापूर्ण विधि से जीने की कला में सामरस्यता
6. दसों सीढ़ियों में परस्पर उपयोगिता, पूरकता और सामरस्यता
7. व्यवसाय, व्यवहार, विचार और अनुभव में सामरस्यता

यही संतुलन का प्रमाण है। - भ.व. 322-323

शिक्षा की सम्पूर्ण वस्तु सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व में रासायनिक, भौतिक एवं जीवन क्रिया के रूप में ही है। इसमें से, इनके अविभाज्य रूप में मानव परम्परा का सम्पूर्ण क्रियाकलाप, व्यवहार, सोच विचार, समझ है। समझ के अर्थ में ही हर मानव का अध्ययन करना होता है। समझ अपने में जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करने के रूप में प्रमाणित होती है। इसी अर्थ में सम्पूर्ण अध्ययन सार्थक होना पाया जाता है।

अस्तित्व में सम्पूर्ण इकाईयाँ, रासायनिक, भौतिक एवं जीवन क्रिया के रूप में परिलक्षित है ही। गठनशील परमाणु से लेकर अणु, अणुरचित पिंड, प्राणकोषा, वनस्पति संसार, जीव संसार सभी स्वयं में व्यवस्था में रहते हुए, अपने-अपने निश्चित आचरण को व्यक्त करते हुए समझ में आते हैं। ऐसे प्रमाण में से ये धरती सबसे बड़ा प्रमाण है। धरती एक व्यवस्था के रूप में काम करती है। व्यवस्था के रूप में काम करने का प्रमाण ही है, इस धरती पर भौतिक-रासायनिक और जीवन क्रियाकलाप पदार्थ, प्राण, जीव और ज्ञान अवस्था के रूप में प्रकाशित है। इससे बड़ी गवाही क्या होगी। इस गवाही के आधार पर अर्थात् पदार्थ, प्राण, जीव अवस्था के निश्चित कार्यकलाप के अनुसार, मानव अपने व्यवस्था में होने का भरोसा कर सकता है।

मनुष्य को सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व सहज विधि से स्वयं व्यवस्था रूप में जीने का सूत्र और व्याख्या स्वयंस्फूर्त विधि से समझ आता है।

सहअस्तित्ववादी विधि से सम्पूर्ण मानव को एक अखण्ड समाज के रूप में पहचानना हो पाता है। अखण्ड समाज मानसिकता का पूर्ण समझ ही ज्ञान, विज्ञान, विवेक रूप में सार्वभौम व्यवस्था का ताना-बाना स्पष्ट हुआ रहता है। ऐसे सर्वशुभ के अर्थ में ही मानव व्यवस्था के रूप में सार्थक होना पाया गया। इसलिये सार्वभौम व्यवस्था सम्पन्न होना, मानव कुल के लिये परम वैभव, सूत्र और व्याख्या है। इस प्रकार मानव कुल, मानव संचेतना पूर्वक ही अपने में से सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज में भागीदारी करने की प्रवृत्ति स्वयंस्फूर्त होना पाया जाता है। इसका एकमात्र कारण है कि सहअस्तित्ववादी विधि से मानव अपने को पहचानता है।

मानव जाति आचरण में धर्म प्रधान है, जीव जातियाँ स्वभाव प्रधान, वनस्पतियाँ गुण प्रधान, पदार्थ रूप प्रधान है। मानव धर्म अपने में सुख के आधार पर समाधान प्रमाणित होना आवश्यक हो चुका है। सर्वतोमुखी समाधान पूर्ण शिक्षा संस्कार ही इसके लिये परम्परा और स्रोत है। यही जागृत परम्परा है। -क.द. 67-69

अध्याय 7: सारांश

7.1 'विकल्प' की अनिवार्यता

मानव की अभीप्साएं – “समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व” अभी भी प्रतीक्षा में ही हैं। इसको प्रत्येक व्यक्ति स्वयं में और समग्र मानव में, निरीक्षण, परीक्षण और सर्वेक्षण पूर्वक स्वीकार के अर्थ में प्रमाणित कर भी सकता है, करा भी सकता है, करने के लिए प्रेरणा भी दे सकता है। इस विधि से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवाकांक्षा सदा दर किनार रही हैं। कुछ लोगों ने आकांक्षायें पैसा, पद, नाम फैलाने के ढंग से राज धर्म, शिक्षा व्यापार गदियों में आसीन होकर संसार को दिशा देने गये। ऐसे दिशा निर्देशन, विचार कार्यों के मूल में आदर्शवाद यथा अध्यात्म, अधिदैवी व अधिभौतिक विचार व प्रयास रहते आया। परिणाम में रहस्य ही हाथ लगा।

दूसरा भौतिकवाद विज्ञान के नाम से वंशानुषंगीय सापेक्ष व मात्रा विज्ञान अपने ही शोध के क्रम में अस्थिरता अनिश्चयता के दलदल में फंस गये। जहां तक सार्थक तकनीकी जितने भी हाथ लगी है, अधिकांश अक्रमिक घटनाओं के रूप में घटित हुए। शिक्षा प्रयोग विधि से लोक व्यापीकरण संपन्न हुआ है। म.वि. ९३-९४

(A) आदर्शवादी परिणाम

इस धरती में सर्वप्रथम रहस्य मूलक ईश्वर केन्द्रित चिंतन ज्ञान को, विद्या माना गया। उसमें मूलतः रहस्य और रहस्यमय ईश्वर, इन दोनों प्रतिपादनों के कारण मतभेद बना रहा, फलतः विद्वानों को रहस्य मूलक ईश्वर, प्रमाण के रूप में हाथ नहीं लगा। उसके बाद यह भी प्रयास किया गया कि कोई देवी देवता हाथ लगे। उसके आधार पर रहस्य मूलक, देव केन्द्रित चिंतन ज्ञान को प्रस्तुत किया गया। वे देवी देवता भी रहस्य के चंगुल में फंसकर विद्वानों के हाथ नहीं लगे। फलतः सारे विद्वान व्यक्त-अव्यक्त ईश्वर अथवा देवी-देवताओं की बातें करते रहे, उपदेश देते रहे।

जहां जीने, करने की बात आती रही, वहां सामान्य भौतिकवादी जैसा जीता रहा, वैसा ही जीते, करते देखा गया। यही मूलतः आदि काल से बनी हुई विद्या, विद्वता कहलाती रही। विद्वानों की परस्परता में अंतर्विरोध रहता आया। यह लोक मानस में सुनिश्चित मार्ग, लक्ष्य व कार्य को निर्धारित नहीं कर पाया। इन्हीं कारणों से कुछ लोग आशा रखते हैं कि निर्धारण हो पायेगा, कुछ सोचते हैं कि निर्धारण नहीं हो पायेगा। – म.वि. 138-140

आदर्शवादी विचार के अनुसार, ईश्वर को रहस्यमय और सर्वशक्तिमान सृष्टि, स्थिति और लय कार्यों पर/में अधिकार रखने वाला माना गया है। यह मूलभूत मान्यता विविध प्रकार से दिखने वाली विविध धार्मिक मूल ग्रन्थों में प्रतिपादित किया गया। इनमें से अधिकांश रहस्यमयी ईश्वर केन्द्रित विचारों के अनुसार जीव और जगत का उत्पत्ति होना, स्थिति होना, लय होना माना गया। उनमें से कुछ विचार और दर्शन इस बात को भी स्वीकारता है, प्रतिपादन करता है जीवों के हृदय में ईश्वर जैसे ही वस्तु निहित या समाहित रहता है। जिसको आत्मा कहा गया है। कुछ लोग जीव का ही होना मानते हैं, कुछ लोग जीवों में आत्मा भी मानते हैं। ईश्वर कृपा पाने के लिये हर सम्प्रदाय में कार्य, विधि, कर्मकाण्ड

और संस्कार विधियों को लिखा हुआ है। हर समुदाय ईश्वर कृपा को पाने के लिये विभिन्न प्रकार के साधना-अभ्यास परम्पराओं को बनाए रखे हैं। इसमें सबका गम्यस्थली ध्यान और समाधि मानी गई है।

ऐसे निश्चित ध्यान के लिये विविध उपायों को अपने-अपने परंपरा के अनुसार स्थापित किये हुए हैं। सम्पूर्ण प्रकार से प्रस्तावित ध्यान क्रियाएँ विचारों को सीमित और एक बिन्दुगत होने के उद्देश्य से किया जाता है। इसमें कोई-कोई सफल भी हो जाते हैं। सफल होने का तात्पर्य विचारों का उपज न्यूनतम अथवा शून्य अर्थ में मानी जाती है। ऐसे मानसिकता को मौन होना भी माना जाता है। निर्विचार होना भी माना जाता है। इसी को कैवल्य अवस्था या परम सुखद अवस्था मानी गई है। उल्लेखनीय तथ्य यही है ऐसे स्थिति में उनके पास कोई कार्यक्रम होना संभव नहीं होता।

इस मुद्दे पर यह अनुभव किया गया है कि निर्विचार (समाधि) के अनंतर किसी प्रकार का व्यवहारिक आशा, विचार, इच्छा अनुसार भी कोई कार्यक्रम उपजता नहीं है। फलस्वरूप समाधि के अनंतर उस व्यक्ति का उपयोग सिद्ध होना भी नहीं बनता है। इसके मूल तत्व को इस प्रकार पहचाना गया कि विचारों का उद्गम किसी न किसी चित्रण क्रिया के आधार पर सम्पन्न होना देखा गया है। सम्पूर्ण विचारों का उद्गमन “है, चाहिए और करना” इन्हीं मूल ध्रुवों के आधार पर निर्भर रहता है। यह “मुझे कुछ करना है, मेरे पास कुछ है और मुझे कुछ चाहिये” यही ध्रुव है। सम्पूर्ण व्यक्तियों में विचारों का उद्गमन हो पाता है। विचार शून्यता के अनंतर आदमी जीवित रहने का कोई कड़ी नहीं बनता है। इसीलिये ऐसे समाधि के अनंतर अथवा समाधि में रहते ही शरीर शान्त होने का सूचनाओं को कथाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यदि कुछ दिन, मास, वर्ष समाधिस्थ व्यक्ति जीवित रहता है (शरीर के साथ) ऐसे स्थिति में उन्हीं-उन्हीं परंपरा के मूल ग्रन्थों का प्रतिपादन का समर्थन करते हुए देखने को मिलता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि “है, करना है, चाहिये” के साथ निषेध लगाना ही निर्विचार होने का सूत्र बना। अस्तु, सम्पूर्ण विचार जब तक चित्रण मूलक विधि से परिसीमित रहता है, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय व्यापार और उससे सम्बन्धित नैसर्गिकता ही “है, करना है, चाहिए” का आधार बना रहता है। - आ.व. 154-155

इसी आधार पर किसी आकार प्रकार की वस्तु को ध्यान करने की बात भी किया जाता है। ऐसी ध्यान में हर साधक में निहित कल्पनाशीलता का ही प्रयोग होना देखा गया है। ऐसी कल्पनाशीलता का प्रयोग बारबार हर दिन किया जाना भी देखा गया है। इसका अंतिम परिणाम और सार्थक परिणाम निर्विचार स्थिति होना जिसे ‘समाधि’ का भी नाम दिया जाना प्रचलित है। ऐसे स्थिति को भी अर्थात् निर्विचार स्थिति से भी गुजरा गया। भले प्रकार से गुजरने के उपरान्त समाधि का विश्लेषण कार्यक्रमों से और कार्यक्रम संबंधी प्रवृत्तियों से मुक्ति दिखाई पड़ती है। इसी को स्वान्तः सुख और चरमोपलब्धि के रूप में महिमा गायन किये हैं। जिसका विश्लेषण की कसौटी में कसने पर पता चला निर्विचार स्थिति के उपरान्त मानव का उपयोग शून्य हो जाता है। फलस्वरूप संयम साधना अपनाकर देखा जिसके फलस्वरूप सह-अस्तित्व ही समझ में आया जिसकी सम्प्रेषणा और अभिव्यक्ति में और लोगों को सह-अस्तित्व अध्ययन गम्य होना प्रमाणित हुई। इसी अभिव्यक्ति क्रम में “अनुभवात्मक अध्यात्मवाद” भी मानव सम्मुख प्रस्तुत किया गया।

जहाँ तक मनोकामनावादी अपेक्षाएँ होती हैं अधिकांश मानव में उसकी आपूर्ति हो ही जाती है जिसे साधना का फल माना जाता है जबकि ऐसी आपूर्तियाँ बिना साधना किये मानव को भी होते रहते हैं। इसीलिये साधना से मनोकामना पूरी हुई इस बात का चिन्हित प्रमाण नहीं मिल पाता है। यह केवल आस्था सूत्र और घटना काल के आधार पर

सम्बोधन लगाने की बात आती है। यह सब प्रकारान्तर से भय-प्रलोभन का ही गठबन्धन है जबकि निर्विचार स्थिति में भय-प्रलोभन का कोई प्रभाव दिखाई नहीं पड़ती। अभाव की पीड़ा भी नहीं दिखती। इसीलिये भूत-भविष्य का पीड़ा एवं वर्तमान का विरोध नहीं रहता। इसी को स्वान्तः सुख का नाम देना समीचीन दिखा है। स्वान्तः सुख का प्रमाण समाज के रूप में सर्वसुख के रूप में परिवर्तित होने का कोई सूत्र नहीं रह जाती है। इसीलिये इस अवस्था में प्रवेश पाने का भी काल निर्णय नहीं हो पाती। यह भी इसके साथ देखा गया है कि सम्पूर्ण ईमानदारी, निष्ठा 'समाधि स्थिति' के प्रति अर्पित रहने के क्रम में ही समाधि स्थली तक मन, बुद्धि, चित्त, वृत्तियाँ प्रवेश कर पाते हैं। फलस्वरूप इनकी कोई गति शेष नहीं है ऐसा बन पाता है जिसका निर्विचार स्थिति नाम दिया गया है। ऐसे घोर साधना के उपरान्त उस मानव का प्रयोजन ही, कार्यक्रम ही प्रसवित न हो ऐसे समाधि या निर्विचार स्थिति को कितने लोग चाह पाते हैं - यह प्रश्न चिन्ह में आता है। इसके उत्तर में विरले लोग ही चाह पाते हैं। ऐसे सदग्रंथों में ही लिखा गया है।

हम मूलरूप में सर्वसुख विधि को, सर्वशुभ विधि को अनुसंधान करने में तत्पर हुए। मैं अपने को सफल होने की स्वीकार स्थिति में आ गया। यह तभी घटित हुई जब अभ्यास, चिन्तन क्रम में सम्पूर्ण सह-अस्तित्व ही जानने-मानने में आ गई। अस्तित्व में मानव अविभाज्य रूप में होना जानने-मानने में आई। इसी के साथ-साथ इन-इनका निश्चित कार्य क्यों, कैसा का उत्तर निष्पन्न हुई। हर मानव जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में वर्तमान होना जानने मानने में आई। इसी के साथ अनुसंधान का फलन रूप स्वीकारने के स्थिति में आये। उसके तुरंत बाद ही इसे मानव में अर्पित करने की विधि को पहचानने की प्रक्रिया हुई। शनैः-शनैः इस कार्य में हम प्रवृत्त हुए। इस तथ्य को हम पहचानने में सफल हुए कि अनुभवमूलक विधि से मानव कुल को परंपरा के रूप में व्यक्त होने की आवश्यकता है और यह मानव में सफल होने के लिए सभी तथ्य से पूर्ण है।

भय मुक्ति की अभिलाषा मानव कुल में सदा सदा से रहा है। इसे ऐसे परीक्षण किया जा सकता है हर आयु वर्ग का आदमी भय नहीं स्वीकारता है चाहे शिशु हो, चाहे कौमार्य हो, चाहे नर हो, चाहे नारी हो, सबको भय मुक्ति चाहिये। यह भी साथ में देखा गया कि दूसरे को सब भयभीत कराते भी है। इस विधि से मानव कुछ असमंजस सा दिखाई पड़ता है। असमंजसता का मतलब यही है स्वयं चाहता न हो दूसरे के लिए तैयार कर प्रस्तुत कर देता है जैसे सामरिक तंत्र और द्रव्य। कोई देश अपने देश के सुरक्षा कर्मियों पर इसका प्रयोग नहीं चाहता पर इसे तैयार करके दूसरे को बेच देते है यही असमंजसता है। इसी प्रकार से कोई स'जन मिलावट का चीज खाना नहीं चाहते किन्तु मिलावट कर बेच देते हैं। असमंजसता यही है। प्रदूषण को कोई मानव झेल नहीं पाता है, किन्तु प्रदूषण पैदा कर देता है। इसी क्रम में मानव औरों से अपशब्दों का प्रयोग कर देता है ये सब असमंजसता की गिनती में आते हैं। मानव अपने आप में शान्त, निश्चित, अभयशील, रहना ही चाहता है।

भय, प्रलोभन का दूसरा पहलू है। प्रलोभन को मानव स्वीकार लेता है। भय को नहीं चाहता है इसी क्रम में मर्यादा भंग होना पाया जाता है। फलस्वरूप मानव की परस्परता में विरोधाभास तैयार हो जाता है ऐसा विरोधाभास गहराने से मानव का सूझ-बूझ, देख-रेख, भाव-भंगिमा बदल जाती है सशंकित हो जाता है, सशंकित होना ही सुरक्षा में खतरा है। अभी तक हम इसी प्रकार संकट को झेलते रहे हैं। - आ.व. 213-215

(*इस ढंग से आदर्शवादी) विचारों में से कोई समाधान प्रतिपादित नहीं होती अपितु समाधान के विपरीत समस्याओं का संकट ही हर विचार और कार्यक्रमों के परिणाम में देखने को मिलता है। इसलिये संसार को दुख रूप मानते ही

आये हैं। इससे यह सुस्पष्ट हुआ कि जो कुछ भी अभी तक वाङ्मय, पावन ग्रन्थों से सामान्य ग्रन्थों तक रचित हुआ है यह सब चित्रण मूलक प्रकाशन ही है। इस क्रम में यह भी स्पष्ट हो गया है कि समाधि और समाधिस्थ व्यक्ति के आधार पर कोई स्वस्थ परिवार ही नहीं बन पाया है, समाज तो बहुत दूर है। साधनारत व्यक्ति भी साधना काल में परिवार, समाज अथवा व्यवस्था का भागीदार होना संभव नहीं होता। इस प्रकार से साधनारत समय में एवं साधना सफल होने के उपरान्त विचार शून्यता को ही ज्ञानी होने का एक मात्र उपाय प्रकारान्तर से सभी धर्म वाले बताते हैं। वह मानव उपयोगी होना देखने को नहीं मिला।

इसी घटना के साथ जुड़ी हुई और घटना तैयार हुई-स्वर्ग के लिये अनुकूल कार्यकलापों को मानव कर सकता है। इसके लिये ईश्वरीय नियमों-कानूनों को बताया गया। हर जाति, हर वर्ण, हर आश्रम जो नियम-कानून, धर्म ग्रन्थों में लिखी हुई है उसको पालन करना ही स्वर्ग में जाने के लिये एक मात्र उपाय बताये हैं। ऐसे नियम कानूनों को पालन करना ही पुण्य कर्म बताया गया। ऐसे नियम कानून विभिन्न प्रकार से धर्म कहलाने वालों के पुस्तिका में विभिन्न प्रकार से सूत्रित, व्याख्यायित हुई। जो जिस जाति धर्म के नियम कानून रूपी (ईश्वरीय नियम कानून रूपी) कार्यकलापों को उन्हीं-उन्हीं को स्वर्ग मिलने का स्वीकृति हो पाती है। अन्य प्रकार के धर्म वालों को वह स्वर्ग मिल नहीं सकती है। ऐसा हर सामुदायिक धर्म वाले जो अनुसरण करते हैं और जो आर्षेय ग्रंथों का अनुमोदन करते हैं ये सब कहते भी हैं, मानते भी हैं। उल्लेखनीय घटना यही है विविध समुदाय, विभिन्न पवित्र ग्रन्थों के आधार पर मान्यताओं को सुदृढ़ किये रहते हैं। ऊपर कहे गये अस्मिता को भी बनाये रखते हैं। इसके बावजूद ऐसा कोई एक आचरण सार्वभौम होना प्रमाणित नहीं हो पाया, जिसको सभी धर्म वाले स्वीकार लिये हो। इसलिये आदिकाल से अभी तक परस्पर समुदायों में अपना-पराया का दीवाल, प्रत्येक परिवार की परस्परता में अपना-पराया का दीवाल, प्रत्येक व्यक्ति की परस्परता में अपना-पराया का दीवाल बना ही रहता है। - आ.व. 155-156

(B) भौतिकवाद के अनुसार

(*भौतिकवादी मानसिकता में) उपभोक्तावादी विचार स्वयं संग्रह की ओर है और सुविधा उसका लक्ष्य बना रहता है। सम्पूर्ण सुविधाएँ इन्द्रिय सन्निकर्ष में व्याख्यायित है। इसे भोगवाद के लिये आधार रूप में पहचानने सर्वोपरि उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत किया गया। कर ही रहे हैं। ऐसे उपभोक्ता संस्कृति में अच्छे से अच्छे मकान, अच्छे से अच्छे गाड़ी, अच्छे से अच्छे वस्तु, आभूषण अथवा प्रसाधन और अलंकार विधियाँ गण्य है। उन्मुक्त विचारों और प्रवृत्तियों के लिये अनुकूल स्थलियों का भी परिकल्पनाएँ है। यही एक परिवार की सीमा में शयनागार, प्रसाधनागार और आहार स्थली (भोजनागार) के रूप में पहचाना गया है। इसकी साज सजावट रचना उपयोग भंगिमाओं पर चर्चायें उन्नतशील विधि से होती ही रहती है। ऐसे प्रवृत्तियों में पले हुए व्यक्तियों को देखने पर सर्वेक्षण करने पर यही दिखाई पड़ता है। इनमें से सर्वाधिक लोग उत्पादन से जुड़े हुए नहीं है। सम्पूर्ण वैज्ञानिक आवाजों का बुलंद होने के क्रम में प्रौद्योगिकियों की स्थापना और उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन जोर शोर विधि से देखने को, सुनने को मिलती ही रहती हैं। इन आवाजों में जोर शोर से यही कहा जाता है हर वस्तु आप जो चाहेंगे वह सब डब्बा में बंद होकर आपके घर पहुँचेंगे। उसके भरपायी में हर उपभोक्ता को मुद्रा भर देना है आपको कुछ करना नहीं है।

उपभोक्ताओं को उत्पादन की ओर सोचना ही नहीं है। सभी उत्पादन उपभोक्ताओं के उपहार के रूप में ही प्रस्तुत होने का घोषणा करते हैं। यह विशेषकर आहार वस्तुएँ, अलंकार वस्तुएँ और आवास वस्तुओं में से ईटा, पत्थर, रेत और लोहा को छोड़कर बाकी सब बंद पैक में ही आती है। सभी बंद पैक, उत्तम पैक, आकर्षक पैक में सुरक्षित होकर उपभोक्ता के पास पहुँचता है। इसमें उपभोक्ता भी बहुत बाग-बाग होते हैं। इसमें बाग-बाग होने के तर्क में से एक डब्बे के खाने से घर काला नहीं होता है। भले ही सम्पूर्ण शहर प्रदूषण से भरा हो। यथा कहीं भी शुद्ध हवा नहीं मिलता हो घर के अन्दर धुँआ का दाग न होने पर बाग-बाग होता हुआ, गदगद होता हुआ उपभोक्ताओं को देखा जा सकता है। स्व'छ-सुंदर डब्बे के अंदर आहार औषधि वस्तुएँ बंद होने के उपरान्त उसे पावन वस्तु मानी ही जाती है। भले ही उसके अन्दर कुछ भी रहता हो। इस विधि से पैक और नामों पर विश्वास दिलाना ही सम्पूर्ण उपभोक्ता संसार में प्रचार वह भी आकर्षक प्रचार को अपनाया जाना देखा गया है। आकर्षक प्रचार के तात्पर्य में सर्वाधिक भाग किसी लड़का-लड़की का स्वीकृतियाँ, मुद्राएँ, भंगिमाएँ अंगहार सब सविपरीत यौन उन्माद के लिए सूत्रित है। यही आकर्षक प्रचार का तात्पर्य है। जैसा एक व्यक्ति प्रचार तंत्र विधि से बीड़ी पीता हुआ अपने निश्चित मुद्रा, भंगिमा, अंगहार सर्वाधिक वैभवशाली स्थिति में प्रस्तुत हो ऐसी बीड़ी पीने की प्रक्रिया को देखकर अनेकानेक लोगों को पसंद आ जाये। इसमें लड़कियों को पसंद आना भी एक मुद्रा रहती है। इसी प्रकार गांजा, दारू पीने की विधि में अनेकों प्रकार के व्यंजनों के साथ खाना खाने की प्रक्रिया के रूप में और उसके सजावट के रूप में, कपड़ों के पहनावा-पसंदी के रूप में अंततोगत्वा प्रचार माध्यम से जिस वस्तु को बेचना है। उसको भ्रमित लोकमानस स्वीकारना प्रचार का सफलता माना गया है।

अस्तु, संग्रह सुविधा भोग, अतिभोग, बहुभोग मानसिकता-उपक्रम, प्रौद्योगिकी, विज्ञान विधि से समाज रचना उसका निरंतरता और इस पृथ्वी का नैसर्गिक संतुलन अर्थात् पृथ्वी के चार अवस्थाओं के परस्परता में संतुलन और सम्पूर्ण मानव में संतुलन चिन्हित रूप में प्राप्त नहीं हो पाता है। - स.श. 71, 72

ईश्वर केन्द्रित (रहस्य मूलक) दृष्टिकोण	भौतिकवादी दृष्टिकोण
लक्ष्य = भक्ति, विरक्ति; मोक्ष, स्वर्ग (रहस्यमयी); विधिवत अध्ययन का आधार नहीं बना; परिवार – समाज का स्रोत नहीं; फलतः असामाजिक ; मोक्ष का प्रमाण नहीं; फलतः परम्परा नहीं होगा;	लक्ष्य – सुविधा संग्रह -> भोग, बहुभोग, अतिभोग प्रकृति पर शासन, दोहन, फलतः अव्यवस्था यंत्र बनाकर लाभ बनाकर रखें; सुविधा-संग्रह का तृप्ति बिंदु नहीं , फलतः असामाजिक - डायरी २००० /217
आदर्शवादी मानसिकता	भौतिकवादी मानसिकता
(1) चेतना से वस्तु पैदा होती है। सर्वशक्ति मान ब्रह्म, देवता, ईश्वर से सब कुछ संचालित होता है। सर्वशक्ति से भयभीत होकर ही ग्रह गोल अपनाअपना- काम करते हैं।	(1) वस्तु से चेतना पैदा होती है। प्रकृति सब कुछ है। सब कुछ अस्थिर एवं अव्यवस्था की ओर है।
(2) अहिंसा का पक्षधर।	(2) पैसा व पद से प्रबंधन होता है।
(3) सहिष्णु।	
(4) धरती के साथ नहीं के बराबर व जंगलों का आंशिक शोषण।	(4) धरती व इसके वातावरण के साथ अधिकतम अपराध, पर्यावरण के साथ अपराध करना।
(5) आस्था के लिए पीढ़ी से पीढ़ी पर बल।	(5) भोगवाद के लिए पीढ़ी से पीढ़ी पर बल।

आदर्शवाद से उत्पन्न विसंगतियाँ	भौतिकवाद तकनीकी कर्माभ्यास से स्वीकृत उपलब्धियाँ
(1) ईश्वर रूपी सद्ग्रन्थों में।	(1) दूरश्रवण-, दूरदर्शन, दूरगमन, के लिए यंत्र उपकरण।
(2) पावन ग्रन्थों पर आधारित विचार शैलियों में।	(2) घरेलू एवं कृषि प्रौद्योगिकी यंत्र उपकरण।
(3) ऐसे विचार शैलियों पर आधारित शास्त्रों में।	
(4) शास्त्रों पर आधारित समुदाय मानसिकता में।	
(5) समुदाय मानसिकता के आधार पर जीवन की शैली में मतभेद दृष्टव्य है।	
इन दोनों सविरोधी विचारों की स्वीकृत प्रवृत्तियाँ (पाँच)	
विरक्ति, भक्तिवादी (प्रयास प्रवृत्ति)	लाभोन्मादी, भोगोन्मादी, कामोन्मादी (संघर्ष कर्म प्रवृत्ति)

- म.वि. - ९३-९४

(C) 'विकल्प' = सहअस्तित्ववाद

(*उपरोक्त विश्लेषणनुसार) भौतिकवाद से मानव को समझने, मानव के जीने का कोई स्पष्ट स्वरूप निकलता नहीं। दूसरी ओर, आध्यात्मवाद, आदर्शवाद, इश्वरवादी परम्पराएं रहस्य में फस गए, एवं वादग्रस्त हो गए हैं। इन सब में शुभ कामना रहते हुए मानव, मानव बनकर जीने योग्य स्पष्ट ज्ञान, विवेक, विज्ञान, विचारशैली, व्यवहार विधि, समाज एवं व्यवस्था का स्वरूप निकला नहीं - संवाद)

यह सम्पूर्ण मेधावियों में स्पष्ट हो चुका है। अतएव इसका विकल्प गतिशील होना ही एकमात्र उपाय है।

विकल्पों का प्रधान बिन्दुओं को,

1. ज्ञान, दर्शन, विवेक, विज्ञान विधि विचारों में विकल्प,
2. विचार व आचरण विधि में विकल्प,
3. व्यवहार कार्य विधि में विकल्प,
4. न्याय सुरक्षा विधान में विकल्प,
5. उत्पादन विधि में विकल्प,
6. विनिमय विधि में विकल्प,
7. स्वास्थ्य संयम कार्य में विकल्प,
8. चेतना विकास मूल्य शिक्षा-संस्कार तकनीकी शिक्षण कार्य में विकल्प,
9. उपयोग विधि में विकल्प। -स.श. 72

इन विकल्पों को हम भले प्रकार से पहचान चुके हैं। इस विश्वास से कि हम जिन विकल्पों को अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था के सूत्र के रूप में समझ चुके हैं वह सर्वमानव में स्वीकृत है ही। जैसे प्रसंग के रूप में -

1. ज्ञान दर्शन विज्ञान में विकल्प

- क्यों, कैसा, क्या प्रयोजन को इस प्रकार समझा गया है। जीवन ज्ञान अध्ययनगम्य है इसीलिये यह सबको सुलभ हो सकता है। दूसरा सम्पूर्ण अस्तित्व ही मानव को देखने में आता है। अर्थात् समझने में आता है। इसलिये अस्तित्व दर्शन हमें समझ में आया है और सर्वमानव समझने योग्य है और चाहता है। विकास विधि सह-अस्तित्ववादी सूत्रों के आधार पर सम्पूर्ण विज्ञान विश्लेषित होना सहज है। इसीलिये सर्वमानव-मानस इसे समझने का मादा रखता है। इतना ही नहीं, इसे सर्वमानव चाहता है।

2. विचार विधि में विकल्प

- सह-अस्तित्ववादी विचार को स्वीकारा गया है। यह अस्तित्व सहज विधि से सम्पूर्ण विधाओं में सह-अस्तित्व प्रभावशाली होने, सर्वमानव जीवन सहज रूप में ही साथ-साथ जीने के अरमानों के रूप में पहचानी गई है। इसे हम भली प्रकार से स्वीकार कर चुके हैं। इसे सर्वमानव तक पहुँचाने के लिए 'समाधानात्मक भौतिकवाद', 'व्यवहारात्मक जनवाद' और 'अनुभवात्मक अध्यात्मवाद' को प्रस्तुत किया जा चुका है। इसमें सम्पूर्ण इकाई अपने स्वभावगति में समाधान उसकी निरंतरता है। व्यवहारपूर्वक ही सर्वमानव आश्वस्त विश्वस्त होने की व्यवस्था है और चाहता है। इसे भले प्रकार से देखा गया। यही सर्वमानव में समाधान है। अस्तित्व में अनुभव होता है इसे प्रमाणित कर भी देखा है। हर मानव अनुभव (तृप्ति) मूलक विधि से जीना चाहता है। यही विचार में विकल्प है।

3. व्यवहार विधि में

- मूल्य मूलक मानसिकता कार्य-व्यवहारों को स्वीकारा गया है। यह कम से कम विश्वास के रूप में पहचाना गया है। विश्वास को वर्तमान में ही पहचानना, मूल्यांकन करना सहज है। वर्तमान में विश्वास अनिवार्यता के रूप में पहचाना गया है।

4. न्याय विधि

- मानव सहज आचरण रूप में हम पहचान चुके हैं। सर्वमानव जीवन सहज रूप में न्याय की अपेक्षा करता ही है।

5. उत्पादन कार्य में

- स्वायत्त होने के उद्देश्य सहित प्रत्येक परिवार उत्पादन कार्य में भागीदारी का निर्वाह करना। समझदारी से समाधान, श्रम से समृद्धि।

6. विनिमय प्रणाली में

- नियोजित होने वाले श्रम मूल्य का पहचान उसका मूल्यांकनपूर्वक श्रम विनिमय प्रणाली को अपनाना। यह लाभ हानि मुक्त होना स्वीकार्य है।

7. स्वास्थ्य संयम

- यह मानव कुल में बारम्बार विचार प्रयोग होते ही आया है। यह जीवन जागृति को व्यक्त करने योग्य रूप में कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय सम्पन्न मानव शरीर तैयार रहने से ही है। पुनश्च, जीवन सहज जागृति को मानव परंपरा में प्रमाणित करना ही स्वस्थ शरीर का मूल्यांकन है। तीसरे प्रकार से, जीवन जागृति स्वस्थ शरीर द्वारा प्रमाणित होता है। जीवन जागृति का साक्ष्य जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान पूर्वक परिवार सभा से विश्व परिवार सभाओं में भागीदारी को निर्वाह करना, सुख; शांति; संतोष; आनन्द का अनुभव करना, समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व को प्रमाणित करना। इसे हम भली प्रकार से स्वीकार कर चुके हैं।

8. शिक्षा-संस्कार में

- मानवीकृत शिक्षा को हम भले प्रकार से पहचानें हैं। इसमें मानव का सम्पूर्ण आयाम, दिशा, परिप्रेक्ष्य और कोणों का अध्ययन है। देश और काल, क्रिया, फल, परिणाम सहज समाधानपूर्ण विधि को समझा गया है। यह सर्वमानव में जीवन सहज रूप में स्वीकृत है।

9. आवश्यकता से अधिक उत्पादन

- उत्पादन से उपयोग, उपयोग से सदुपयोग, सदुपयोग से प्रयोजनशील विधियों को स्वीकारा गया है। उपयोग विधि से परिवार न्याय और व्यवस्था, सदुपयोग विधि से समाज न्याय और व्यवस्था, प्रयोजनीयता विधि से प्रामाणिकता और जागृति मानव कुल में लोकव्यापीकरण होने का सहज सुलभता को देखा गया।

ऊपर कहे अनुसार संपूर्ण मानव में सुखी होने का अपेक्षाएं समान रूप से देखने को मिलता है। उसका भाषा केवल सर्व-शुभ ही है और उसका स्वरूप समाधान, समृद्धि, अभय और सह-अस्तित्व है। - स.श. 75

इतने दीर्घकालीन परिश्रम से अभी तक सर्वसुख का मूलरूप अथवा सार्वभौम रूप को पहचानने में भी अड़चन रहा है क्योंकि रहस्य के आधार पर, उपदेश के आधार पर, प्रयोगशालाओं में स्थापित शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी दूरदर्शी और जितने भी क्षारीय अम्लीय किरण-विकिरण संयोग पाकर कार्य करने वाले रस रसायनों के विश्लेषणों से भी सर्वसुख विधि निकल नहीं पायी। करोड़ों में, अरबों में एक व्यक्ति रहस्यवादी विचारधारा के आधार पर स्वान्तः सुख विधि को पा चुके हैं क्योंकि यह स्थली हमें देखने को मिला है। इससे भी सर्वशुभ होने का रास्ता, दिशा, सूत्र, व्याख्या, अध्ययन विधि, प्रक्रिया परम्परा गम्य नहीं हो पायी। यह भी इसके साथ समीक्षित हुई, कोई भी व्यक्ति स्वान्तः सुख को प्राप्त करने के बाद भी विभिन्न समुदायों के परस्परता में निहित द्रोह-विद्रोह, शोषण, युद्ध समाप्त नहीं हो पाया है। इतना ही नहीं हर समुदाय में निहित अन्तर्विरोध की शांति नहीं हो पायी। विज्ञानवाद युद्धोन्मुखी-संघर्षोन्मुखी होने के आधार पर इस शताब्दी के अंत तक सर्वाधिक प्रभावित रहा देखने को मिल रहा है। यही विगत का समीक्षा है। संघर्ष-युद्ध समाधान अथवा सर्वशुभ का आधार नहीं हो पाया।- आ.व. 216-217

भौतिकवादी विधि से मानव सुविधा-संग्रह के चक्र में पड़कर व्यक्तिवादी हो गया, दूसरा आदर्शवादी विधि से भक्ति-विरक्ति में समर्पित होकर व्यक्तिवादी हो गया दोनों विधि से परिवार, समाज व्यवस्था और व्यवहार का तालमेल स्वरूप निष्पन्न नहीं हो पाई। इसलिए आगे शोध करने के लिए प्रयत्न किये। शोध से यही स्पष्ट हुआ मानव समझदार हो सकते हैं इसके लिए अध्ययन विधि ही पर्याप्त है।

अध्ययन विधि से जो स्वीकृतियाँ हुई रहती है बोध रूप में उसे प्रमाणित करने की प्रवृत्ति स्वयं स्फूर्त होती है। फलस्वरूप हर मानव जागृत हो जाता है। जागृत होने के प्रमाण में ही स्वभाव गति प्रतिष्ठा मानवत्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी प्रमाणित हो जाती है। इस विधि से मानवीय संस्कृति सभ्यता विधि व्यवस्था में ज्ञान विज्ञान विवेक का संगीतीकरण होना प्रमाणित होता है।

प्रस्तावित मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद से जागृति पूर्वक जीना सहज हो जाता है। इसलिए परिवार व्यवस्था में जीना बन जाता है इसकी आवश्यकता हर मानव को स्वीकार है ही। इसलिए यह एक आवश्यकता है। अखण्ड समाज में भागीदारी-समझदारी पूर्वक सम्पन्न होना स्वीकार होता है।

मूल्यांकन पूर्वक ही हर मानव आगे के कार्यक्रम को सुनिश्चित करता है। सार्थक बिन्दुएँ वर्तमान में स्पष्ट होते हैं। निरर्थक बिन्दुएँ समीक्षित होकर विगत हो जाते हैं। जो विगत हो गये वे सब वर्तमान में जो परिपूर्णता के रूप में प्रमाणित होना होता है उसमें विलय हो जाते हैं। जैसे सम्पूर्ण गलतियाँ समाधान में विलय होते हैं। इसी प्रकार से सार्थकता में असार्थकता विलय हो जाते हैं। यही समीक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है। - ज.व. 140

इस धरती की हालत वैज्ञानिक युग के अनन्तर जैसे बन पड़ी है और पर्यावरण संतुलन जैसा जर्जर छिन्न-भिन्न होता जा रहा है, उनके पहले भी किए गए, सोचे गए परिणामों के फलस्वरूप अनेकानेक नस्ल, रंग, जाति, धर्म, मत, संप्रदाय, देश, भाषा, वर्गों के रूप में बांटकर अनेक अहमता की दीवालें बन चुकी है। पूर्ववर्ती विधि से बनी हुई तमाम समुदायों में बंटी हुई मानव जाति सह-अस्तित्व, अभय, समृद्धि और समाधान सम्पन्न होना संभव नहीं है। विकल्पात्मक अखंड सार्वभौम और अक्षुण्ण समाज व्यवस्था और जागृति सहज विधि से सम्पन्न होने के लिए विकल्पात्मक समाज-रचना विधि-व्यवस्था कार्यविधि, व्यावहारिक योजना विधि। इसके लिए विकल्पात्मक जीने की कला विधि, विकल्पात्मक

विचार विधि, विकल्पात्मक दर्शन विधियों को जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना अनिवार्य है। - अ.श. 61-62

7.2 मध्यस्थ दर्शन - आधार बिंदु

अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन बनाम मध्यस्थ दर्शन के द्वारा निर्धारण करने के कुछ आधार बिंदुओं को प्रस्तुत किया है।

(A) अस्तित्व ही सत्य

अस्तित्व में, से, के लिए “स्थिति सत्य”, “वस्तु स्थिति सत्य” तथा “वस्तुगत सत्य” ही न्याय, समाधान, सत्य का अध्ययन है। “स्थिति सत्य” सम्पूर्ण अस्तित्व ही है। अस्तित्व स्वयं सत्ता में संपृक्त प्रकृति है। प्रकृति, अस्तित्व में, विभक्त अर्थात् एक-एक रूप में दिखाई पड़ती है। और अस्तित्व में सत्तामयता कितनी लम्बाई चौड़ाई में फैली है, यह मानव में, से, के लिए, एक आवश्यकता के रूप में, प्रस्तुत नहीं हो पाता। दूसरी विधि से, यह कितना लम्बा चौड़ा है इसको मानव नाप नहीं सकता। इसके साथ यह भी देखने को मिला है कि “मानव, आवश्यकता सहित सम्पूर्ण प्रकार के प्रवर्तन में आरुढ़ होता है।” अतएव सत्तामयता सहज, लम्बाई चौड़ाई का नाप नहीं हो पाने के कारण ही इसे व्यापक कहा गया है। - म.वि. 138-140

साथ में सत्तामयता सर्वत्र सर्वदा एक ही स्वरूप में विद्यमान वर्तमान होने के कारण इसे व्यापक कहना, सार्थक सिद्ध होता है। ऐसी व्यापक सत्ता में, अनंत प्रकृति सहज इकाईयाँ अर्थात् विभक्त इकाईयाँ होना देखा जाता है। विभक्त होने का तात्पर्य, एक एक के रूप में अंगुली न्यास करने = (देखने, दिखाने) के अर्थ में सार्थक है। खूबी यही है कि सत्ता में ही सम्पूर्ण इकाईयाँ डूबी हुई, भीगी हुई, घिरी हुई होना, पाया जाता है। ऐसी सत्तामयता को शून्य, ज्ञान, परमात्मा आदि नामों से भी इंगित कराया जाता है। सत्तामयता का तात्पर्य है, सम्पूर्ण प्रकृति का, अपनी अपनी अवस्था में, कार्य करने के लिए ऊर्जा सम्पन्न रहना। - म.वि. 7

(B) अस्तित्व में परमाणु का विकास, जीवन

1. अस्तित्व स्थिर, विकास निश्चित है।
2. अस्तित्व में स्थिति-गति अविभाज्य हैं। बल, स्थिति में और शक्ति, गति में है।
3. सत्ता में संपृक्त अर्थात् ऊर्जा में संपृक्त अनंत इकाई रूपी प्रकृति, अस्तित्व सर्वस्व है। सम्पूर्ण प्रकृति के जड़ और चैतन्य, ये दो भाग हैं।
4. चैतन्य प्रकृति में मनुष्य व मनुष्येतर जीव हैं।
5. जड़-प्रकृति में पदार्थावस्था व प्राणावस्था है।

6. पदार्थावस्था में जितने भी प्रजाति के परमाणु, रासायनिक अणु रचना के लिए आवश्यक हैं, उससे वह समृद्ध होते तक, अपने में परमाणु के रूप में विकासरत रहता है।
7. समृद्ध पदार्थावस्था के अनंतर ही प्राणावस्था की समृद्धि, प्राणावस्था के अनंतर जीवावस्था की समृद्धि, जीवावस्था के अनंतर ज्ञानावस्था में मनुष्य का सह-अस्तित्व के रूप में वर्तमानित होना, इस धरती पर प्रमाणित है।
8. जागृति पूर्णता और उसकी निरंतरता होना, लक्ष्य है।
9. जागृति क्रम में अखंड सामाजिकता और सार्वभौम व्यवस्था मानव परम्परा में होना इसलिए आवश्यक है कि मानव को जागृति का अवसर, सहज सुलभ हो सके।
10. परमाणु में विकास होता है, विकास क्रम में चैतन्य पद प्रतिष्ठा अथवा जीवन-पद होना पाया जाता है।
11. जीवन, गठन पूर्ण परमाणु है, जिसकी निरंतरता वश, जीवन का शाश्वत होना पाया जाता है।
12. जीवन-जागृति क्रम में, सर्वतोमुखी समाधान व प्रामाणिकता को प्रमाणित करने के क्रम में, जीवन सदा प्रयासशील है।
13. पूर्णता अपने में निरंतर है। इसका सामान्य स्वरूप, अस्तित्व में पूर्णता, परम्परा के रूप में प्रकाशित है। अस्तित्व में पूर्णता, गठन पूर्णता, क्रिया पूर्णता, आचरण पूर्णता ही है। – म.वि. 189
14. मध्यस्थ दर्शन मूलतः मध्यस्थ सत्ता, मध्यस्थ क्रिया, मध्यस्थ गति और मध्यस्थ जीवन का प्रतिपादन है जो वाङ्मय के रूप में स्पष्ट हो चुका है जिसके अध्ययन से मानवीयतापूर्ण आचरण स्वयं स्फूर्त रूप में प्रमाणित होता है। अ.श.: 202
15. मानव परम्परा की स्थिरता, मानवत्व सहित व्यवस्था ही है। यह जागृति पूर्वक मानव में, से, के लिये प्रमाणित होता है। जागृति स्वयं निश्चित है।
16. मानवत्व की स्थिरता का तात्पर्य विकास और जागृति का निश्चित ध्रुव प्रामाणिकता, प्रमाण और उसकी अक्षुण्णता से है और सहज रूप में लोक न्याय, सबको मिलने से हैं। लोक-न्याय मिलने के लिए मानव परम्परा को जागृत रहना आवश्यक है।

(C) मानवीयतापूर्ण आचरण

‘मानवीयतापूर्ण आचरण’ मूल्य, चरित्र, और नैतिकता का संयुक्त रूप है। मूल्य, जागृत मानव सहज अभिव्यक्ति में जीवन मूल्य, मानव मूल्य, स्थापित मूल्य, शिष्ट मूल्य, मानव के संदर्भ में है। उपयोगिता मूल्य, कला मूल्य प्राकृतिक ऐश्वर्य पर निपुणता कुशलता पूर्ण श्रम नियोजन पूर्वक उपयोगिता मूल्य और कला मूल्य मूल्यांकित होता है। मूल्यों के आधार पर ही मानव लक्ष्य निर्धारित होता है। मानव लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व, समझदारी और जागृति ही है। जिसमें से मानव मूल्य धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा है।

मानवीय स्वभाव, मूल्य

‘धीरता’ अर्थात् न्याय के प्रति निष्ठा और दृढ़ता से है। ‘वीरता’ न्याय के प्रति निष्ठा रखते हुए, उसमें (दूसरों में भी) निष्ठा स्थापित करना है। वीरता को स्थापित करने में उसमें जितनी भी बाधाएं हैं, उसका निवारण करना है, यही वीरता का प्रमाण है। समझदारी सहित अनुभव बल, विचार शैली, जीने की कला ही धीरता, वीरता, उदारता, और दया, कृपा, करुणा का प्रमाण है। यही न्याय व समाधान सहित किया गया, सम्पूर्ण अर्पण-समर्पण भी है। दया अर्थात् पात्रता के अनुरूप वस्तु को सुलभ करने की क्रिया-कलाप है। कृपा अर्थात् वस्तु हो पात्रता न हो ऐसी स्थिति में पात्रता को स्थापित करने की क्रिया है। करुणा अर्थात् वस्तु और पात्रता दोनों न हो, ऐसी स्थिति में उसे उपलब्ध कराने की सहज क्रिया है।

चरित्र :

स्वधन, स्वनारी / स्वपुरुष तथा दया पूर्ण कार्य-व्यवहार विन्यास है।

- स्व-धन प्रतिफल, पारितोष, पुरस्कार के रूप में प्राप्त धन है।
- स्व-नारी या स्व-पुरुष विवाह पूर्वक प्राप्त, दाम्पत्य पति-पत्नी सम्बंध है।
- दयापूर्ण कार्य-व्यवहार के सम्बन्ध में, पहिले कहा जा चुका है।

नैतिकता

नैतिकता मानव कुल में तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग और सुरक्षा सहज प्रमाण है। सदुपयोग से सुरक्षा, सुरक्षा से सदुपयोग सहज है। निपुणता कुशलता पूर्वक तन-मन के नियोजन से उत्पादित वस्तुओं में कला व उपयोगिता मूल्य स्थापित होता है। फलस्वरूप वस्तुओं का उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजनशीलता का सूत्र पांडित्यपूर्वक स्वयं स्फूर्त विधि से उदय होता है। धन का सदुपयोग रूप, शरीर पोषण, संरक्षण और समाज गति में अर्पित-समर्पित होने की क्रिया है। जिनके पोषण के अर्थ में वस्तुओं का अर्पण-समर्पण किया जाता है; उनकी सुरक्षा सहज है। जो अर्पण करता है, उनके द्वारा सदुपयोग है। उसके लिए अर्पण करने वाले को सदुपयोग संतुष्टि मिलती है तथा धन की सुरक्षा होती है।

इस प्रकार धन की सार्थकता, समझ में आती है। तन का उपयोग, सदुपयोग मन के साथ सम्पन्न होता है। जीवंतता, मानसिकता सहित ही, शरीर संचालित होना पाया जाता है, मानसिकता का सदुपयोग तभी हो पाता है जब जीवन जागृत होता है इतना ही नहीं, मानसिकता, जीवंतता सहित ही, धन का भी सदुपयोग, सुरक्षा, समझ में आती है। समझदारी के अर्थ में ही परिणामों का मूल्यांकन होता है।

शरीर की जीवंतता और मानसिकता का मूल रूप जीवन और उसकी महिमा है। जागृत जीवन ही तन, मन और धन का द्रष्टा, कर्ता और भोक्ता है। इस प्रकार, मनुष्य से संपन्न होने वाली सभी क्रियाएं फल परिणाम है। जीवन मूलक अभिव्यक्ति, संप्रेषणा और प्रकाशन है। इस प्रकार मानसिकता पर आधारित तन, मन और धन के अनुरूप कार्यकलाप व उसके अनुसार परिणितियां होना, सहज है। इस प्रकार मानवीयता है। स्वयं मानसिकता का सदुपयोग, निर्दिष्ट रूप में, स्वयं व्यवस्था तथा समग्र व्यवस्था में भागीदारी है।

(D) मानव में जागृति, जीवन जागृति

मध्यस्थ दर्शन, मनुष्य और अस्तित्व को वर्तमान में प्रमाणित करने की चिंतन धारा है। यहां चिंतन का तात्पर्य साक्षात्कार पूर्वक प्रयोजन के अर्थ में प्रक्रियाओं को स्पष्ट करने से है। इस क्रम में, अस्तित्व और मानव ही, अध्ययन की वस्तु है। अस्तित्व, सत्ता (साम्य ऊर्जा) में सम्पृक्त प्रकृति के रूप में वर्तमान है। फलस्वरूप विकास क्रम में और रचना क्रम में मनुष्य और प्रकृति सहज ही अध्ययन गम्य हुए हैं। जिसमें से मानव के अध्ययन में, जीवन और शरीर का स्पष्ट रूप, कार्य व्यवहार, व्यवस्था व प्रयोजन समझ में आता है। यह अध्ययन गम्य हुआ है। जिसमें से जीवन ही विद्या का केन्द्र बिंदु है। जिसमें विद्या का तात्पर्य समझदारी से है।

जीवन ज्ञान, जीवन जागृतिपूर्वक, परिपूर्ण होता है। जीवन जागृति, जानने-मानने के क्रम में सहज रूप में प्रमाणित होती है। जीवन प्रकाश में ही अस्तित्व दर्शन, सहज संभव है। जागृत जीवन प्रकाश ही न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि के रूप में, क्रियाशील रहता है। इस प्रकार सह-अस्तित्व ही सम्पूर्ण विद्या का स्वरूप हुआ। अस्तित्व में मानव अविभाज्य है। हर मानव जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में वर्तमान है। मानव समग्र अस्तित्व को, जीवन को, शरीर को जानने, मानने पहचानने, निर्वाह करने के रूप में अभिव्यक्त होने वाला है। ऐसी जानने, मानने, पहचानने की क्रिया जीवन में संपादित होती है। निर्वाह रूप में अभिव्यक्ति-क्रिया, मानव परम्परा में शरीर के द्वारा सम्पन्न होती है। इस प्रकार जीवन ही - ज्ञाता होना, सहज रूप में समझ में आता है। ज्ञेय (जानने योग्य) सम्पूर्ण अस्तित्व है।

“अस्तित्व कैसा है ?” - यह ज्ञान, सत्ता में संपृक्त प्रकृति के रूप में, सम्पूर्ण मानव को वर्तमान में, समझ में आता है।

इस प्रकार ‘अस्तित्व कैसा है ?’ - का उत्तर सहज है। यह अस्तित्व, सह-अस्तित्व के रूप में ही है। क्योंकि सत्ता में संपृक्त प्रकृति ही, अस्तित्व समग्र है। यह सह-अस्तित्व का मूल रूप है। सत्ता में संपृक्त, जड़-चैतन्य प्रकृति रूपी सह-अस्तित्व ही, परमाणु में विकास, विकास क्रम में गठन पूर्णता, (चैतन्य इकाई, जीवन पद) जीवनी क्रम, जीवन जागृति क्रम, जीवन जागृति, क्रियापूर्णता व आचरणपूर्णता, रासायनिक भौतिक रचना-विरचना निरंतर क्रिया है। इस प्रकार जीवन और ज्ञान का सम्पूर्ण स्वरूप समझ में आता है। अस्तु, जीवन ही ज्ञाता है, सह-अस्तित्व ही ज्ञेय है। सहअस्तित्व में अनुभूत होना ही ज्ञान है।

अतः जीवन = ज्ञाता = दृष्टा, सह-अस्तित्व = दृश्य, सह-अस्तित्व में अनुभव = ज्ञान = दर्शन।

जागृत जीवन दृष्टि ही दर्शन का सूत्र है। जीवन में दृष्टियां प्रिय, हित, लाभ, न्याय-धर्म-सत्य को परिशीलन करने के क्रम में कार्यरत हैं। जिसमें से प्रिय-हित लाभ दृष्टियां इन्द्रिय सन्निकर्ष होने के आधार पर भ्रमात्मक होना अथवा भ्रमपूर्वक ही प्रिय-हित-लाभ को सुख का आधार मानना मूल्यांकित हो चुका है। अतएव जीवन, जागृति पूर्वक, न्याय-धर्म-सत्य पूर्ण दृष्टियों से स्वयं को और अस्तित्व को देखने योग्य होता है। देखने का तात्पर्य समझने से है। समझने का तात्पर्य, अनुभव से है। अनुभव का तात्पर्य प्रमाणों से है। प्रमाणों का तात्पर्य जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने से व उसकी तृप्ति-बिन्दु की अभिव्यक्ति से है। - म.वि. 114-115

(*मानव में) समानता का स्वरूप आवश्यकता, संभावना और सार्थकता के सम्बन्ध में यह समझा गया है कि मानव अपने परम्परा के रूप में नर-नारियों के संयुक्त विधि से प्रमाणित होना सर्वविदित है। मानव परंपरा और उसकी निरंतरता

के लिये नर-नारियों का होना सह-अस्तित्व सहज अभिव्यक्ति है। ऐसा वैभव जीवावस्था और प्राणावस्था में भी दृष्टव्य है। मानव परंपरा में एवं जीव परंपरा में भी जीवन का समानता होना पाया जाता है। जीवन अपने स्वीकृतिपूर्वक स्त्री या पुरुष शरीर को चलाता है। जीवन के रूप में न तो स्त्री होते हैं न पुरुष होते हैं। जीवन सदा ही जागृति का प्यासा है। इसे प्रमाणित करने के लिये सदा-सदा ही प्रवृत्ति बनी ही रहती है। बारम्बार शरीर यात्रा का विफल होना भी जनसंख्या वृद्धि का कारण है। इसी के साथ-साथ जीव कोटि के शरीरों की संख्या का घटना भी एक कारण है। क्योंकि इस धरती पर जितने जीवन जीवनी क्रम में और जागृति क्रम और जागृति में प्रमाणित होने के लिये नियतिविहित नियंत्रण रहता ही है। उसमें से मानव परंपरा में केवल जागृति क्रम परंपरा के स्थिति में ही बारम्बार शरीर यात्रा की स्थिति बनी हुई है। इन आधारों पर स्पष्ट हो जाता है जागृतिपूर्वक ही मानव परंपरा का जनसंख्या नियंत्रण हो पाता है। जागृति परंपरा के उपरान्त स्वाभाविक रूप में हर जीवन जागृत होने के लिये योग्य परंपरा बना रहता है। इसलिये हर जीवन जागृत होना सहज संभव हो जाता है। जीवन जागृति के उपरान्त शरीर यात्रा की आवश्यकता नहीं रहती है या न्यूनतम हो जाती है। जागृति की अर्हता, अपेक्षा, संभावना स्त्री-पुरुषों के लिये समान रूप में विद्यमान है। इसीलिये इनमें समानता की परम्परा और उपलब्धि होती है।

1. मानव जागृतिपूर्वक ही 'भ्रम ही बंधन का कारण होना' समझ पाता है।
2. मानव ही जागृतिपूर्वक सम्पूर्ण भ्रम से मुक्त होता है।
3. मानव जागृतिपूर्वक ही सामाजिक होता है।
4. मानव जागृतिपूर्वक सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी का निर्वाह करता है।- स.श. 129

(E) परिवार व्यवस्था एवं सार्वभौम मानवीय व्यवस्था में जीना

व्यवहार, मानव में सहज प्रक्रिया है कि मनुष्य, मनुष्य के साथ व्यवहार करता है। मनुष्येतर प्रकृति के साथ (मनुष्य) श्रम नियोजन पूर्वक उत्पादन करता है। मनुष्येतर प्रकृति के साथ श्रम-नियोजन पूर्वक उपयोगिता व कला मूल्य को स्थापित करना ही उत्पादन है। उत्पादन क्रम में नैसर्गिकता के सहज संतुलन को बनाए रखना जागृति का प्रमाण है। जीवन शक्तियों का आवश्यकता के अनुसार प्रवर्तन और परावर्तन होता है। एक से अधिक मनुष्यों के साथ जीने के क्रम में शरीर पोषण संरक्षण के आधार पर उत्पादन व निर्माण कार्य करना एक आवश्यकता रही है।

परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था का स्वरूप एक समझदार परिवार से सम्पूर्ण परिवार मिलकर विश्व परिवार का रूप है। प्रत्येक मनुष्य, सम्पूर्ण मनुष्यों से सम्बन्धित है। प्रत्येक एक, अनंत के साथ सम्मिलित है। अस्तित्व में सब, सबसे सम्बन्धित है। इन्हीं सम्बन्धों को पहचानना और मूल्यों का निर्वाह करना ही सामाजिकता है। विश्व परिवार ही, अखंड समाज है। विश्व परिवार व्यवस्था ही सार्वभौम व्यवस्था है। मानव सुखधर्मी है, परिवार की परिभाषा यह है कि परिवार के सभी सदस्य परस्पर परिवार गत उत्पादन कार्य में, परस्पर पूरक हैं। सम्बन्धों को पहचानना, मूल्यों का निर्वाह करना, यही विश्व परिवार की भी परिभाषा है। परिवार में व्यवस्था का प्रमाण, वर्तमान होता है।

मूलतः, मानव जागृति पूर्वक अपने मानवत्व सहित स्वयं से व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है। व्यवस्था के प्रकाशन, संप्रेषणा और अभिव्यक्ति का प्रमाण, मनुष्य की परस्परता में है। अस्तित्व ही, सत्ता में संपृक्त प्रकृति के

रूप में सामरस्य पूर्ण नित्य व्यवस्था है। नियमित, नियंत्रित, संतुलित, जागृति, सहज ही व्यवस्था का प्रमाण है। यही स्वभावगति का स्वरूप है।

इस प्रकार पदार्थ अवस्था का नियमित रहना ही उसकी स्वभाव गति है। प्राण अवस्था का नियमित, नियंत्रित रहना ही उसकी स्वभाव गति है। जीवावस्था के सम्पूर्ण जीवों का नियमित, नियंत्रित व संतुलित रहना उनकी स्वभाव गति है। ज्ञानावस्था के मानव का नियमित नियंत्रित, संतुलित व जागृत रहना ही मानव की स्वभाव गति है। इस प्रकार मानव, का अपने में संयम व नियम को प्रमाणित करना जागृति पूर्वक सहज है। जागृति का तात्पर्य न्याय, धर्म, सत्य को प्रमाणित करना ही है। इसकी आवश्यकता है ही।

जागृत मनुष्य, व्यवसाय में नियमित रहता है। आचरण में नियंत्रित रहता है, विचारों में संतुलित व समाधानित रहता है अनुभव में जागृत रहता है। व्यवहार में प्रमाणित रहता है। समग्र व्यवस्था में भागीदार रहता है तथा स्वानुशासन के रूप में जागृति का सम्पूर्ण प्रमाण स्पष्ट होता है। इसे सर्व-सुलभ करना ही मानवीयता पूर्ण कार्य-क्रम है। - म.वि. 156-159

7.3 आत्मा, परमात्मा, अस्तित्व सम्बन्धी पूर्वावर्ती मान्यता

आत्मा, परमात्मा की चर्चा अनेक भांति से मानव कुल में फैल चुकी है। परमात्मा को व्यापक बताते हुए आत्मा को परमात्मा का अंश होने की परिकल्पना यह चर्चा का विषय रही, प्रमाणित वस्तु के रूप में धरती पर किसी ने देखा नहीं। जब हम सह-अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन विधि से अस्तित्व को देख पाये तभी यह पता लगा कि व्यापक वस्तु में अनंत वस्तु क्रियाशील है। ये सभी अनंत वस्तुएँ चार अवस्था में क्रियाशील हैं। चारों अवस्थाओं को प्रमाणित करने वाला वस्तु अनंत रूपी प्रकृति ही है। यही जड़ और चैतन्य रूप में विद्यमान वर्तमान है। व्यापक वस्तु रूपी सत्ता में ही अनंत वस्तु रूपी प्रकृति नियंत्रित, संरक्षित रहना देखा गया। इन सम्पूर्ण अनंत में चारों अवस्था का मूल प्रभेद तत्व परमाणु ही है अर्थात् विविध प्रकार से अभिव्यक्ति होने का मूल तत्व परमाणु है। परमाणु में समाहित एक से अधिक परमाणु अंशों के संख्या भेद से ही विभिन्न अवस्थाओं की अभिव्यक्ति सहज हो पायी। ये परमाणु, अणु व अणु रचित रचनाओं के रूप में रासायनिक, भौतिक क्रियाओं को सम्पन्न करते रहे हैं। परमाणु ही विकासपूर्वक गठन पूर्णता पद में वैभव होना देखा गया। इसी को चैतन्य इकाई (जीवन) नाम से इंगित कराया गया।

मानव परंपरा में जीवन अपने ही कल्पनाशीलता - कर्म स्वतंत्रता की ओर प्रवृत्त होते हुए जागृति की ओर बाध्य होता गया। जागृति जीवन सहज स्वीकृति रहता ही है। जागृति अर्थात् जानना-मानना-पहचानना-निर्वाह करना क्रियाकलाप ही है। यह प्रमाणित करने के लिये, ऐसे प्रामाणिकता को पाने के लिये, सर्वमानव इच्छुक रहा है। इन्हीं अस्तित्व सहज जीवन सहज आधारों पर समुदायगत संकीर्णताओं और वैज्ञानिक कर्मगत धरती के साथ किये जाने वाले अनिष्ट क्रियाकलाप के प्रति अस्वीकृति होते ही आया। जागृति के लिये नित्य विद्यमान अस्तित्व, जीवन और मानवीयतापूर्ण आचरण ही प्रधान बिन्दु रहा अथवा सम्पूर्ण बिन्दु रहा। भले प्रकार से देखने - परखने के उपरान्त यह पता चला अस्तित्व में व्यापक वस्तु है, इसे परमात्मा के नाम से इंगित कर सकते हैं। यह भाग-विभाग होता नहीं। यह

सम्पूर्ण प्रकृति में पारगामी है। परस्पर प्रकृति के लिये पारदर्शी है। इन प्रमाणों को हर व्यक्ति समझ सकता है। सत्ता में हर व्यक्ति डूबे, घिरे हुए स्थिति को देखता ही है। हरेक – एक इसी प्रकार दिखती है। पारगामी होने का बिन्दु तभी पता चलता है, वस्तु में निहित ऊर्जा सम्पन्नता को, बल सम्पन्नता के रूप में देखा जाता है।

इसे इस प्रकार देख सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु मूलतः परमाणु अंश, परमाणु अंशों से रचित परमाणु, अनेक परमाणु से रचित अणु, अनेक अणुओं से रचित रचनाएँ दिखते ही हैं। परमाणु अंश, परमाणु के रूप में गठित होने के क्रम में इन अंशों के परस्परता में निश्चित दूरी होना पाया जाता है। ये दूरियाँ स्वयं व्यापक वस्तु ही है। ऐसे परमाणु अंशों को भी अनेकानेक भाग-विभाग में कम से कम गणितीय विधि से विभाजन कल्पना कर ही सकते हैं। कितने भी विभाजन करें एक की संख्या (अंश) बढ़ती जायेगी, न कि किसी एक का नाश होगा। इस सहज क्रिया से यह पता चलता है, एक का वैभव नित्य है। एक के सभी ओर ऊर्जा (व्यापक) दिखाई पड़ती है। इस विधि से सत्ता रूपी ऊर्जा पारगामी है। यह स्वाभाविक ही स्पष्ट हो जाती है। यह बौद्धिक प्रक्रिया इसलिये आवश्यक है कि जड़-चैतन्य रूपी अनन्त प्रकृति में सत्ता पारगामी है और यही पारगामीयता सहज महिमावश हर वस्तुएँ अथवा प्रत्येक एक सत्ता में भीगा हुआ होना पाया जाता है। इस मुद्दे को पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है। अस्तु, अस्तित्व में व्यापक सत्ता विद्यमान है, आप हमारे आँखों में देखने को मिलती है, इसका भाग-विभाग होता नहीं है और जीवों का उत्पत्ति अव्यक्त विधि से होता नहीं है। अस्तित्व में परमाणु ही जीवन पद में गठन पूर्णता पूर्वक वैभवित है। जीने की आशा का उद्गमन जीवन में, से, के लिये होता ही रहता है। यही ऊर्जा आशा रूप में प्रगट है क्योंकि जीवन अक्षय बल – अक्षय शक्ति सम्पन्न है, इस बात को पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

इसी के साथ पहले यह भी स्पष्ट किया है कि गठनपूर्ण परमाणु पर रासायनिक-भौतिक दबाव-प्रभाव प्रभावशील होता नहीं है। रासायनिक-भौतिक वस्तुओं का दबाव-प्रभाव, इन्हीं के आपस में प्रभावशील होना देखा गया है। यह निष्कर्ष स्वाभाविक रूप में धरती, वायु, जल को नियंत्रित रखने के लिये सद्बुद्धिदायी सूत्र है। इसी के साथ वन, खनिज का संतुलन, उसका उपयोग प्रयोजन को संतुलित रखने का प्रतिष्ठा, अधिकार (जिम्मेदारी) स्वाभाविक रूप में मानव से निर्गमित होता है और प्रमाणित होता है। यह सब जागृति और उसकी प्रभावशीलन का क्रम और वैभव है। इस प्रकार अस्तित्व सहज रूप में जीवन एक गठनपूर्ण परमाणु होना, जिसमें ही मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि, आत्मा रूपी जीवन बल, आशा, विचार, इच्छा, ऋतंभरा और प्रमाण रूपी जीवन शक्तियाँ (अविभाज्य रूप में) प्रमाणित होते हुए देखा गया है। अध्यात्म का परिभाषा सभी आत्माओं का आधार रूप में इंगित होना पाया जाता है क्योंकि सत्ता पारगामी है। (आध्यात्म को ही परमात्मा, इश्वर, चेतना संज्ञा है।— व्य.द., अध्याय १)

अस्तित्व में अनुभव विधि से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि जीवन एक गठनपूर्ण परमाणु है, इसमें मध्य में एक ही अंश कार्यरत है। सत्ता पारगामी होने के कारण, पदार्थ सत्ता को घेर नहीं पाता। इसका साक्ष्य यही है, किसी भी एक दूसरे के साथ भार बंधन का मूल में पाये जाने वाले चुम्बकीय धारा संबंध क्षेत्र से मुक्त होने के उपरान्त शून्याकर्षण स्थिति में स्पष्ट हो चुकी है। ऐसे स्थिति में हर वस्तु अपने ही गति और मात्रा के परिसीमन में निरंतरता को प्राप्त किया रहता है, जैसे यह धरती, सौर व्यूह है। यहाँ उल्लेखनीय तथ्य इतना ही है, व्यापक वस्तु भाग-विभाग होता नहीं है और इन चारों अवस्थाओं की प्रकृति अथवा किसी एक अवस्था की प्रकृति व्यापकता में से किसी एक अंश को घेर लेने में समर्थ नहीं है। इसीलिये इकाईयाँ सभी ओर से सीमित रहती है, ऐसे सीमाएँ व्यापक वस्तु में घिरा हुआ ही

दिखाई पड़ता है। इस तथ्य से यह भी इंगित हुआ और स्पष्ट हुआ है कि सत्ता में प्रकृति अविभाज्य है और वर्तमान है। इस प्रकार अध्यात्म का तात्पर्य भी यही सार्थक समझ में आता है, व्यापक में अनंत का अविभाज्य वर्तमान। यह अध्ययन इसीलिये समीचीन है, रहस्य से नित्य कुण्ठित मानव परंपरा रहस्य मुक्ति चाहता ही रहा। - आ.व. 244

जागृति पूर्वक ही मानव, चेतना (ईश्वर), संचेतना, चैतन्य वस्तुओं को पहचान पाता हैं तथा जानता है, मानता है और उसके तत्व बिंदु को प्रमाणित करता है। मूलतः चेतना में संचेतना, चैतन्य, भौतिक-रासायनिक वस्तुएँ अविभाज्य वर्तमान है। अविभाज्यता का मूल तत्व चेतना (सत्ता) में सम्पूर्ण प्रकृति का निरंतर होना ही हैं। सत्तामयता ही चेतना के नाम से ख्यात हैं। चेतना को परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म, ज्ञान, व्यापक, आध्यात्म, सत्य आदि नामों से भी इंगित करना चाहते रहे हैं। ब्रह्म को अव्यक्त बताने के लिए किया गया अथवा चेतना को अव्यक्त समझाने के लिए किया गया सारा प्रयास और वाङ्मय, चेतना और ब्रह्मवादी परंपराओं में भ्रम को निर्मित किया। जबकि हर परस्परता के मध्य सत्ता ही देखने को मिला। यह सत्ता अस्तित्व सहज रूप में वैसे ही रहा आया हैं, जैसा यह वर्तमान में है। वर्तमान में सत्ता को देखने पर पता चलता है कि यह सर्वत्र, सर्वदा, विद्यमान हैं, पारदर्शी और पारगामी है। इसी वस्तु को ब्रह्म, चेतना आदि नाम दे सकते हैं। वर्तमान में हम इन्हीं नामों से सत्तामयता को स्मरण पूर्वक इंगित कराएँगे। सत्तामयता अथवा सत्ता में ही चैतन्य इकाई (जीवन) और जड़ प्रकृति समाई हुई है अर्थात् संपृक्त हैं। इस मुद्दे को पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं।

सत्ता में जड़-चैतन्य-प्रकृति भीगा, डूबा व घिरा हुआ दिखाई पड़ता है। भीगा हुआ से सत्ता का पारगामी होना प्रमाणित है। यही प्रमाण, वस्तु में ऊर्जा सम्पन्नता और बल सम्पन्नता के रूप में प्रमाणित है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का बल संपन्न रहना, मानव को समझ में आता है। सत्ता अथवा चेतना का तात्पर्य साम्य ऊर्जा है, प्रत्येक वस्तु घिरा हुआ, डूबा हुआ, भीगा हुआ है। यह स्थिति-गति प्रत्येक व्यक्ति को दिखाई पड़ता है। इस प्रकार चेतना और ब्रह्म नाम से भी इस वस्तु (वास्तविकता) को इंगित कराया है। इस प्रकार चेतना और ब्रह्म, जिसको हम अव्यक्त मानते रहे हैं, यह अव्यक्त नहीं हैं, नित्य व्यक्त हैं और नित्य वर्तमान हैं। ऐसी चेतना अथवा ब्रह्म व्यापक है। पहले भी व्यापक नाम दिया गया था। व्यापकता के अर्थ में जैसा भी समझे हों, जो भी समझे हों, अभी वर्तमान में इस प्रकार समझ सकते हैं कि सत्तामयता कितना फैला हुआ हैं इसका कोई मापदंड मानव सहज कल्पनाशीलता, कर्म-स्वतंत्रता के योग फल में तैयार नहीं हो पाता है। अभी तक नहीं हो पाया है। इसलिए इसको व्यापक नाम दे दिया गया अथवा इसका नामकरण किए व्यापक। सत्ता में ही अनन्त इकाईयाँ समाई हुई है। जितनी भी संख्या में मानव देखें, सभी सत्ता में डूबे एवं घिरे हुए दिखाई पड़ते हैं। ऐसी दिखने वाली इकाईयों को कितनी भी गिनें, पर और भी गिनने के लिए शेष रहता ही है। इसीलिए इकाईयों को "अनंत" नाम दिया गया है। - भ.व. 162-163

भय मूलतः भ्रम के रूप में होना विदित है। भ्रम; अधिक, कम, अथवा विपरीत पहचान और मान्यता है। यही भय प्रलोभन का कारण और स्वरूप है। इसी क्रियाकलाप को भ्रम नाम हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय बिन्दु है कि अस्तित्व में केवल मानव ही अपने ही प्रयासों से भ्रमित होता है क्योंकि मानव में ही कर्म करने में स्वतंत्रता, फल भोगने में परतंत्रता दिखाई पड़ती है। कोई भी कार्य करने के मूल में विचारों का होना पाया जाता है। विचार पूर्वक ही ज्यादा, कम या विपरीत कार्यों में ग्रसित हो जाता है। भयपूर्वक मानव भ्रमित कार्यों को करता ही है, प्रलोभनपूर्वक भी करता है। भयपूर्वक सभी भ्रमित कार्य अस्वीकृतिपूर्वक होता है, प्रलोभन से संबंधित सभी कार्य स्वीकृतिपूर्वक होता है। इन दोनों

विधा में भ्रम ही कारण है। आस्था विधा में स्वर्गवादी, जितने भी कल्पना-परिकल्पना मानव ने कर रखा है वह सब प्रलोभन का ही विस्तार रूप में होना पाया जाता है।

नर्क में भी भय का ही विस्तार वर्णन होना पाया जाता है। इसके अतिरिक्त और कोई चीज आस्था विधा से खोजा जा रहा है वह प्रमाणित नहीं हो पाया अर्थात् समाज परंपरा में शिक्षा, संस्कार, व्यवस्था, संविधान के रूप में प्रमाणित नहीं हुआ है। इसका विकल्प में ही जीवन ज्ञान परम ज्ञान के रूप में जागृति और उसकी प्रमाण सहित परम्परा बनना संभव हो गई है। यह अध्ययनगम्य है। ऐसा जागृत मानव का आचरण ही मानव कुल का वैभव और संविधान होना पाया जाता है। इसी के पुष्टि में सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान अध्ययनगम्य हुआ है। फलतः मानव में स्वायत्तता की सम्पूर्ण स्रोत नित्य समीचीन है। हर मानव जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में होने के आधार पर जीवन ही जागृति पूर्वक दृष्टा पद में अपने ऐश्वर्य को प्रमाणित करने की सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज और उसके वैभव को जानने, मानने, पहचानने और निर्वाह करने की आवश्यकता, अवसर समीचीन है। इस प्रकार हर व्यक्ति जागृति पूर्वक ही स्वायत्तता का प्रमाण है। स्वायत्त मानव रूप प्रदान करने की शिक्षा-संस्कार ही मानव परंपरा सहज जागृति का प्रमाण है।

परंपरा न हो ऐसे स्थिति में इसका कल्पना ज्ञान, दर्शन, विचार और योजना कैसे उपलब्ध हो यह प्रश्न मानव जाति में आता ही है। इस सभी मुद्दे पर अनुसंधानपूर्वक हम प्रमाणित हो चुके हैं। अब केवल शिक्षा विधा में प्रमाणित होने की गति सहित कार्य कर रहे हैं। - स.श., 81-85

7.4 जागृति पूर्वक ही मानव सुखी होता है

जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान के योगफल में सर्वतोमुखी समाधान करतलगत रहता ही है। इसी क्षमता के उपयोगवश मूल्यांकन क्रियाकलाप सम्पन्न होता है। इसकी पुष्टि में पहले भी इंगित कराया जा चुका है हर व्यक्ति सत्य में अनुभूत होना चाहता ही है। सच्चाई को प्रमाणित करना चाहता ही है। यह सर्वसुलभ होना समीचीन है क्योंकि जीवन ज्ञान, सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान मानव सहज रूप में ही स्पष्ट हो पाता है और किसी अन्य प्रकृति के आधार पर इसका प्रमाण स्थापित नहीं हुआ है यथा जीवावस्था, प्राणावस्था और पदार्थावस्था सहज कृतियाँ हर मानव में, से, के लिए दृष्टव्य हैं। इन सबका यथास्थिति परिपूर्ण अध्ययन, इनका अन्तर्सम्बन्ध, इनकी अविभाज्यता क्रम में उपयोगिता-पूरकता, परस्पर पूरकता, उसका प्रयोजन रूपी सह-अस्तित्व, दृष्टा, कर्ता, भोक्ता केवल मानव में ही मौलिक रूप में ज्ञान-विवेक व विज्ञान विद्यमान है। इसीलिए मानव सम्पूर्णता के साथ हो, सार्वभौम व्यवस्था को और प्रत्येक मानव अपने में व्यवस्था होने के स्वरूपों को स्पष्टतया अध्ययन करता है। - अ.श. 236-237

प्रत्येक व्यक्ति जीवन्ततापूर्वक ही अपने को प्रमाणित करना चाहता है। प्रमाणित करने का संपूर्ण स्वरूप समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, और भागीदारी (कारीगिरी) ही है। कारीगिरी का स्वरूप व्यवहार-व्यवसाय (उत्पादन कार्य) और विनिमय के रूप में दृष्टव्य है। इसमें से व्यवहार कार्य 'मानव जाति एक- कर्म अनेक; मानव धर्म एक मत अनेक; धरती एक-मानव कृत सीमाएं अनेक; ईश्वर (सत्ता-व्यापक) एक देवताएं (जागृतिपूर्ण जीवन) अनेक; होने, नित्य वर्तमान होने के आधारों और स्वीकृतियों के साथ मानव में, से, के लिए किये जाने वाले सम्पूर्ण (कायिक, वाचिक,

मानसिक व कृत, कारित, अनुमोदित) व्यवहार मानवीयतापूर्ण होना पाया जाता है। यहाँ उल्लेखनीय बात यही है हर स्वायत्त मानव परिवार मानव होने, हर परिवार मानव समाधान, समृद्धि का धारक वाहक होता है। दूसरे विधि से हर परिवार मानव व्यवस्था में भागीदार होने के प्रमाण (समाधान-समृद्धि) को प्रमाणित करता है। फलस्वरूप तन, मन, धन रूपी अर्थ के सदुपयोग और सुरक्षा का सूत्र अपने आप मानवीयता पूर्ण परिवार में प्रमाणित होता है। मानवीयता पूर्ण परिवार में भागीदारी को निर्वाह करना ही परिवार मानव का वैभव और प्रमाण है। यहाँ यह भी स्मरणीय तथ्य है कि प्रत्येक परंपराएं अपने स्वरूप में ‘‘मौलिक’’ हैं। अवस्थाओं के आधार पर ही परंपरा को पहचाना जाता है। जैसे - पदार्थावस्था में तात्त्विक रूप से रचना तक की सम्पूर्ण प्रजातियाँ अपने-अपने स्वरूप में मौलिक है। यथा दो अंश से या अनेक अंशों से गठित परमाणुएँ और ऐसे परमाणुओं से रचित अणु, अणु रचित रचनाएं, मृत पाषाण, मणि, धातुओं के रूप में दिखती हैं। यही मौलिकता है। इसमें प्रत्येक प्रजाति का भी वर्गीकरण अपने स्वरूप में वैभवित रहते हुए विकास क्रम में एक-दूसरे की प्रवृत्ति सह-अस्तित्व सहज विधि से पाये जाने वाले सहवास स्वाभाविक है। सहवास विधि से ही अणु बन्धन विधि दृष्टव्य है। ऐसे अणुएं अपने भार सहित विभिन्न रचनाओं में भागीदारी को निर्वाह करता हुआ देखा जाता है।

ऐसे ही विभिन्न अणुएं विभिन्न अनुपात में पूरकता नियमपूर्वक रासायनिक क्रियाकलापों में भागीदारी करते हैं। फलस्वरूप प्राणकोषा, प्राणसूत्र रचनासूत्र, उदात्तीकरण सिद्धांत पूर्वक श्रेष्ठ और श्रेष्ठतम रचनाएं इसी धरती पर प्रमाणित होना वर्तमान है। दूसरे ओर परमाणु में विकास गठनपूर्णता संक्रमणपूर्वक चैतन्य इकाई जीवन पद में वैभवित होना-ऐसा जीवन ज्ञानावस्था में स्वयं को, स्वयं से, स्वयं के लिए अध्ययन करना सहज संभव होना पाया गया। जीवन ज्ञान के आधार पर ही जीवन ही दृष्ट होना इसका प्रवेश सूत्र अर्थात् जीवन-जीवन को समझने का सूत्र मानव परंपरा संस्कारानुषंगीय विधि से कार्यरत रहना देखा गया, अतएव यही सूत्र क्रम से मानव स्वयं का अध्ययन क्रम को जोड़ने का प्रमाण को प्रस्तुत कर दिया। अध्ययन विधि से ही मानव स्वीकृतियों को अभिव्यक्ति, संप्रेषणा और प्रकाशन किया जाना प्रमाणित हो चुका है। अध्ययन पूर्वक स्वीकृतियों के साथ तृप्ति, सुरक्षा, सदुपयोग, न्याय, समाधान, धर्म, सत्य जैसे नामों के साथ-साथ अर्थ बोध विधि से अध्ययन कार्य को सम्पन्न करने की ओर कल्पनाएं दौड़ता ही रहे आया। इसी क्रम में भ्रम अर्थात् अतिव्याप्ति कार्यक्रमों का अभिव्यक्ति-संप्रेषणा-प्रकाशन के आधार पर चेष्टाएं भ्रमित मानव को बारंबार स्व-निरीक्षण के लिए बाध्य करता ही रहा जैसा शोषण के अनन्तर, युद्ध के अनन्तर, द्रोह-विद्रोह के अनन्तर, सुविधा संग्रह भोग-विलास के अनन्तर, परिवार बैर के अनन्तर, समुदायों में अंतर्विरोध के अनन्तर, परस्पर समुदाय सीमाओं, धरती की सीमाओं के अनन्तर मूल्यांकन करने का प्रयास बारंबार ध्यानाकर्षण का बिन्दुएं रही।

मुख्यतः इस क्रियाकलाप में निष्कर्ष और स्थिरता, फलस्वरूप सार्वभौमता और उसकी अक्षुण्णता में प्रश्न चिन्ह बनने की बिन्दुओं में (1) सह-अस्तित्व नित्य वर्तमान होने में स्वीकृति स्पष्ट नहीं हो पाना- फलस्वरूप भ्रमित रहना। (2) जीवन और जीवन ज्ञान संबंधी शोध कार्य सम्पन्न नहीं हो पाना फलस्वरूप जीवन (स्वयं) के सम्बन्ध में भ्रमित रहना। फलस्वरूप स्थिर और निश्चयता से वंचित रहना पाया गया। जबकि अस्तित्व स्थिर, विकास और जागृति अस्तित्व में ही निश्चित है।

भ्रमित होने के फलस्वरूप मार-पीट, वध-विध्वंसपूर्वक स्व-अस्तित्व और वर्चस्व बनाने का प्रयास मानव कर बैठा। इस अपराधिक विचारों कार्यों को भुलावा देने के लिए इतना ही इनके परिणामों में स्मृतियों को विस्मृत करने के लिए

सुविधा-संग्रह, भोग-विलास आवश्यकता के रूप में सम्मोहन पूर्वक स्वीकृत हुई। इसे बनाये रखने के लिए शोषण, द्रोह, विद्रोह पुनः युद्ध विध्वंस का कार्यक्रम बनता ही गया। इन्हीं सब प्रमाणों के आधार पर जीव-चेतनावश सर्वाधिक मानव संख्या पशु मानव-राक्षस मानव के कोटि में गण्य होते ही रहे। पशु मानव के साथ राक्षस मानव शोषण क्रियाओं को विविध आयामों में जारी रखा। वस्तु व्यापार, युद्ध व्यापार, धर्म व्यापार, ज्ञान व्यापार इन्हीं के अंगभूत सभी व्यापार शाखाएं भ्रमित मानव को स्वीकृति के लिए विवश करते ही रहे स्वयम् भ्रमित रहना स्वीकार नहीं हो पाया। मानव तो अब बरबादी को आबादी की दुहाई देते हुए अपने ढंग से पतली गली बना लिया, साथ-साथ धरती का शकल बदल गई। विकृत स्वरूप की ओर ढल चुकी। इसके आधार पर मानव को पुनर्विचार करने की आवश्यकता भी समीचीन रही ही। अतएव स्थिरता-निश्चयता के आधार पर ही अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व में ही प्रत्येक एक का वैभव व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी का अध्ययन सूत्र मानव कुल में प्रकाशित होना एक आवश्यकता रही क्योंकि मानव कुल स्व नियंत्रित दूसरी भाषा से स्व-स्वीकृति पूर्वक व्यवस्था में होना अथवा भ्रमित होना देखा गया है। स्वीकृत होने का क्रम सच्चाई की ओर अपेक्षा के रूप में बना ही रहता है। क्योंकि हर भ्रमित व्यक्ति भी सच्चाई की दुहाई देता ही है। इसी आधार पर सच्चाई सार्वभौम कसौटियों के साथ स्वीकृत होने की सम्भावना समीचीन है ही।

सार्वभौमता की कसौटी अपने आप में व्यवस्था और समग्र में व्यवस्था में भागीदारी है क्योंकि मानवेत्तर प्रकृति में व्यवस्था स्पष्ट है और मानव में भी व्यवस्था की आवश्यकता है। व्यवस्था में जीने का प्रमाण वर्तमान में विश्वास ही है। वर्तमान में विश्वास का वैभव स्वयं में समाधान, परिवार में समृद्धि, अखण्ड समाज में अभय, सार्वभौम व्यवस्था में सह-अस्तित्व, नित्य प्रमाण है। यही वर्तमान में विश्वास का स्वरूप है, कार्यरूप है, गतिरूप है।

सार्वभौम व्यवस्था में, अखण्ड समाज में, मानवीयतापूर्ण परिवार में स्वयं स्वायत्तता के रूप में, अनुभव बल, विचार शैली, जीने की कला ही स्वयं पुनः अनुभव बल के रूप में प्रयोजित होना अर्थात् सुख, शांति, संतोष, आनंद का स्रोत होना पाया जाता है। प्रत्येक स्वायत्त व्यक्ति में अनुभव और उसकी निरंतरता नित्य रस है। इस का तात्पर्य आनन्द रस ही है। अनुभव बल का धारक वाहकता प्रत्येक मानव में आवश्यकता ही है। इसके आपूर्ति-संपूर्ति जीवन ज्ञान, सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान विधि से समीचीन है। सम्पूर्ति का तात्पर्य क्रियापूर्णता, आचरणपूर्णता के अर्थ में प्रमाणित होने के रूप में है। प्रमाणित होने का स्वरूप अनुभव बल, विचार शैली, जीने की कला का अविभाज्यता है। आपूर्ति का तात्पर्य आवश्यकता के अनुसार समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व का प्रमाण हर मानव के लिए सहज, सुलभ रहने से है। यह परंपरा में भागीदारी के अर्थ में सार्थक बनाता है। परंपरा कम से कम परिवार से है। स्वायत्त मानव ही परिवार मानव होना पहले से स्पष्ट है। प्रत्येक स्वायत्त मानव में स्वयं के प्रति विश्वास, श्रेष्ठता के प्रति सम्मान, व्यवसाय में स्वावलंबन, व्यवहार में सामाजिक अर्थात् अखण्ड समाज में भागीदारी सहज ज्ञान, दर्शन, आचरण, विवेक और विज्ञान सम्पन्नता से है।

ज्ञान, दर्शन, जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन के रूप में स्पष्ट हो चुका है। विवेक का तात्पर्य जीवन का अमरत्व, शरीर का नश्वरत्व और व्यवहार के नियमों के प्रति पूर्ण जागृति फलतः स्वीकृति और संकल्प, दृढ़ता उसकी निरंतरता का स्वरूप है। व्यवहार के नियम, मानवीयतापूर्ण आचरण के रूप में स्पष्ट हो चुका है जो मूल्य, चरित्र, नैतिकता का अविभाज्य कार्यकलाप है। यह भी आवर्तनशीलता का ही स्वरूप है। चरित्र का पोषण मूल्य, मूल्य का पोषण नैतिकता, और नैतिकता का पोषण चरित्र किया जाना हर जागृत मानव में आंकलित होती है। जागृत मानव परंपरा में मानव का

जागृत होना सहज है। हर व्यक्ति जागृत होना चाहता ही है, वरता भी है; परंपरा जागृत न होने का फल ही है भ्रमित रहना। भ्रमित परंपरा में अर्पित हर मानव संतान भ्रमित होने के लिए बाध्य हो जाता है। परंपरा का कायाकल्प अर्थात् परिवर्तन और सर्वतोमुखी परिवर्तन एक अनिवार्यता है ही। इसकी सफलता जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान पर आधारित है जो अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन है जिसके आधार पर ही मध्यस्थ दर्शन (सह-अस्तित्ववाद) स्पष्ट रूप में अध्ययनगम्य है।

जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान ही अनुभव बल का स्वरूप और स्रोत है। यही अनुभव बल, विचार शैली के रूप में संप्रेषित होते हुए देखा जाता है। ऐसे स्थिति में विज्ञान सम्मत विवेक, विवेक सम्मत विज्ञान विधि से विचार शैली का स्वरूप होना पाया गया। ऐसी विचार शैली स्वयं में मध्यस्थ दर्शन सूत्रों से एवम् सह-अस्तित्ववादी सूत्रों से सूत्रित होना स्वाभाविक रहा। यही सह-अस्तित्ववाद, समाधानात्मक भौतिकवाद, व्यवहारात्मक जनवाद और अनुभवात्मक अध्यात्मवाद के रूप में प्रस्तुत है। यही विचार शैली पुनः शास्त्रों के रूप में संप्रेषित हुई है। इसमें से आवर्तनशील अर्थचिन्तन शास्त्र और व्यवस्था का मूल स्वरूप इस प्रबंध के द्वारा मानव कुल के लिए अर्पित है। इसी के साथ-साथ व्यवहारवादी समाजशास्त्र जो स्वयं में मानवीयतापूर्ण आचार संहिता रूपी संविधान सूत्र और व्याख्या है तथा मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान मानव कुल के विचारार्थ प्रस्तुत है। भ्रमित मानव भी शुभ चाहता है। शुभ का स्वरूप समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व है। यह सर्वमानव स्वीकृत है।

इनके सार्वभौमता को अध्ययन विधि से सुस्पष्ट करना ही मध्यस्थ दर्शन (अनुभव बल), विचारशैली और शास्त्र (जीने की कला) का उद्देश्य है। अतएव आवर्तनशील अर्थचिन्तन का आधार सह-अस्तित्व तथा सहअस्तित्व में मानव में अनुभव सहज जीना ही है। अस्तित्व ही स्वयं सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति के रूप में सह-अस्तित्व होना देखा गया है। यही अस्तित्वमूलक मानव केन्द्रित चिन्तन का ध्रुव बिन्दु है। अस्तित्व नित्य वर्तमानता के रूप में स्थिर होना नित्य प्रमाण है। अस्तित्व ही सह-अस्तित्व नित्य प्रमाण होने के आधार पर परमाणु में विकास, गठनपूर्णता-जीवनपद फलतः परिणाम का अमरत्व ज्ञात होता है। जीवन ही जीवनी क्रम, जीवन जागृति क्रम में गुजरता हुआ जागृत पद में क्रियापूर्णता, जिसका प्रमाण में मानव, स्वायत्त मानव, परिवार मानव, व्यवस्था मानव के रूप में स्वयं में व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण उसमें पारंगत विधिपूर्ण शिक्षा-संस्कार, परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था और मानवीय आचार संहिता रूपी संविधान का अध्ययन सहज है। इसी के साथ-साथ सह-अस्तित्व में संपूर्ण जड़-प्रकृति अर्थात् रासायनिक-भौतिक रचना-विरचना का अध्ययन स्वाभाविक रूप में समाहित है।

जिसमें सम्पूर्ण भौतिक वस्तुओं को तात्त्विक, मिश्रण और यौगिक रूप में अध्ययन करना सहज हो चुका है और रासायनिक द्रव्यों में, से, प्राणकोषा, और प्राणावस्था का रचनासूत्र (प्राणसूत्र) जीव शरीर और मानव शरीर रचना सूत्र क्रम में विकसित होकर इस धरती पर चारों अवस्थाओं में परंपरा के रूप में स्थापित रहना पाया गया। सह-अस्तित्व नित्य प्रभावी होने के आधार पर जड़-चैतन्य प्रकृति में सह-अस्तित्व सहज रूप में वर्तमान है। संपूर्ण सम्बन्धों का सूत्र भी सह-अस्तित्व ही है। जीवन और शरीर का संबंध भी निश्चित अर्थ और प्रमाण सहित ही वर्तमान हैं। जीव शरीरों के साथ जीवन का संबंध वंशानुषंगीय विधियों से कार्य करने के रूप में प्रमाणित है मानव शरीर और जीवन का संबंध संस्कारानुषंगीय विधि से सार्थक और प्रमाणित होना पाया जाता है। संस्कार का तात्पर्य ही है स्वीकृतिपूर्वक

(अवधारणापूर्वक) प्रवर्तनशील होने से अथवा प्रवर्तित होने से है। यही मानवीय संस्कृति-सभ्यता-विधि-व्यवस्था के रूप में सहज अभिव्यक्ति-संप्रेषणा-प्रकाशन है।

मानवीयतापूर्ण मानव ही परिवार मानव पूर्ण स्वत्व स्वतंत्रता अधिकारपूर्वक स्वयं स्फूर्त विधि से परिवार में समाहित जितने भी सदस्य या मानव होते हैं (स्त्री-पुरुष-आबाल-वृद्ध) उनके परस्परता में सम्बन्धों को पहचानते हैं, संबोधनपूर्वक मूल्यों का निर्वाह करते हैं। साथ ही दोनों मूल्यांकन करते हैं, उभय तृप्ति का अनुभव करते हैं। यही विश्वास के नाम से जाना जाता है। सुख, शांति, संतोष, आनंद का नाम ही विश्वास है। यह विश्वास परस्परता में होना स्पष्ट है। ऐसी परस्परताएं नैसर्गिक पर्यावरण मानवकृत वातावरण जैसा - मानवीय शिक्षा-संस्कार, परिवार मूलक मानवीय आचार संहिता रूपी स्वराज्य, व्यवस्था, संविधान और मूल्यमूलक, लक्ष्यमूलक प्रभेदों में प्रवर्तन के आधार पर मानव का व्यवस्थापूर्वक सुखी होना स्पष्ट है

लक्ष्य मूलक	मूल्य मूलक एवं लक्ष्य मूलक
जागृति पूर्णता पूर्वक परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था प्रेरकता सहित निर्वाह क्रिया	जागृति सहित सहज मूल्यों के आस्वादन के आधार पर चयन आस्वादन

ऊपर किये गये चित्रण से रुचिमूलक विधि से असामाजिक होना समीक्षित होता है। मूल्य मूलक एवं लक्ष्य मूलक विधि से व्यवस्था में सार्वभौमता और व्यवस्था में भागीदारी की सार्वभौमता दृष्टव्य है।

जागृत मानव परंपरा में अध्ययन पूर्वक शिक्षा संस्कार-होना देखा गया। जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान विधिवत् अध्ययनपूर्वक बोधगम्य होना हो पाता है। इसको अभिव्यक्ति, संप्रेषणा क्रम में प्रामाणिकता और प्रमाण होना पाया जाता है। इसी विधि से यह सुस्पष्ट है कि उक्त परम ज्ञान-परम दर्शन के आधार पर सह-अस्तित्ववादी विचार शैली, शास्त्र बोध होना और साक्षात्कार होना स्वाभाविक है। बोध और साक्षात्कार के क्रम में नित्य आचरण पूर्वक पुष्टि, अनुभवमूलक प्रणाली से नित्य स्रोत बनाए रखना, इसे प्रत्येक मानव अनुभव कर सकता है। मानव अपने में सुखी होने के क्रम में सर्वतोमुखी समाधान की आवश्यकता और अनिवार्यता स्पष्ट हो जाती है। यही सह-अस्तित्वपूर्वक सुखी होने का रास्ता है। इस क्रम में मानव में स्वायत्तता परिवार और विश्व परिवार में प्रमाणित हो पाता है। इसी विधि से समाज रचना और परिवारमूलक स्वराज्य व्यवस्था अविभाज्य रूप में प्रमाणित होता है। - अ.श. 202-213

(*अर्थात्) जागृतिपूर्वक ही मानव सुखी होता है। हर मानव सुखी होना चाहता भी है। जागृत होने की संभावना सदा बना रहता है। मानव परंपरा अभी तक जागृति क्रम में होने के कारण आदर्शों को मानते हुए और जागृति की अपेक्षा को बलवती बनाता ही आया। इसी क्रम में जागृति पद तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्ति का पृष्ठभूमि होना मूल्यांकित होता है। पुनश्च जागृति क्रम और जागृति पद में पहुँचने का पृष्ठ भूमि है। इस क्रम में जागृति की इच्छा सर्वाधिक बलवती होने की आवश्यकता रहते आया। इसी क्रम में आज स्थिति ऐसी बनी है सर्वाधिक संख्या में मानव जागृत होना

अनिवार्यता में बदल चुकी है। क्योंकि जागृति पूर्वक ही व्यवस्था में जीना बन पाता है। व्यवस्था में भागीदारी स्वयंस्फूर्त विधि से स्पष्ट हो जाता है, सार्थक होता है। - स.श. 104-105

अभी हम मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद को पाकर अर्थात् सहअस्तित्ववादी नजरिया से सोच, विचार, निश्चयन, सुनिश्चयन के आधार पर जीना शुरू किये हैं। इससे पता चला मानव लक्ष्य मूलक विधि से सुरक्षित रहता है। सुरक्षा का अनुभव करता है क्योंकि भौतिकवाद के अनुसार रूचिमूलक विधि से सुरक्षा को पाना चाहते रहे और आदर्शवाद के अनुसार भक्ति विरक्ति को सुरक्षा का कवच मानते रहे इन दोनों विधि से प्रमाणित होना बना नहीं। सहअस्तित्ववादी नजरिये से सफल होना बन गया। क्योंकि मूल्यों के आधार पर लक्ष्य के अर्थ में जितने भी सोच विचार और समझ अपने आप में समाधान होना पाया जाता है। इसी तथ्य के आधार पर तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग सुरक्षा करना बन पड़ता है। इसका स्पष्ट झाँकी यही रहा तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग स्वयं सुरक्षित होने का अनुभव करा देता है। अर्थ अपने में उक्त प्रकार से मानव के साथ वर्तमान रहता है। अर्थ का स्वरूप मन रूप में समाधान, तन रूप में क्रियाशीलता और व्यवहार, धन रूप में आहार, आवास, अलंकार, दूरदर्शन, दूरगमन, दूरश्रवण सम्बंधी वस्तुएँ और उपकरण। इन सब का सदुपयोग हो जाना अर्थ का सुरक्षा है। सदुपयोगिता का स्वरूप, शरीर पोषण संरक्षण समाज गति के रूप में देखा गया है। मानव अपने में सुरक्षित होने का अनुभव तभी कर पायेगा जब तन, मन, धन रूपी अर्थ को जब सदुपयोग कर पायेगा। उक्त तीनों प्रकार के अर्थ मानव ही परस्परता में उपयोग करता हुआ देखने को मिलता है। मानव अपने में सुरक्षा की चाहत को सदा से बनाए रखा किन्तु सुरक्षा के साथ होने का जो प्रमाण है वह दूर रह गया। हम ज्यादा से ज्यादा चाहत को ज्ञान मानकर चलते रहे। जबकि होना रहना ही ज्ञान का प्रमाण है यह तो सुनिश्चित हो गया है। सहअस्तित्ववादी मानसिकता पूर्वक ही समाधान और सुरक्षा पाकर सुख, शान्ति का अनुभव कर पाता है। इस तथ्य को भली प्रकार से हम जीकर देखे हैं। यह सार्थक हो जाता है। - ज.व. 142

अध्याय 8: वाङ्मय एवं अध्ययन

8.1 मध्यस्थ दर्शन वाङ्मय

दर्शन (अनुभव बल)

दृष्टि से प्राप्त समझ, अवधारणा और अनुभव ही दर्शन है। दर्शक-दृष्टि के द्वारा दृश्य को यथावत समझना और उसकी अभिव्यक्ति सम्प्रेषणा व प्रकाशन क्रिया। (प.स., 88)

मूलतः दर्शन, सह-अस्तित्व मूलक, मानव-केन्द्रित चिंतन होने के कारण, रहस्य का समापन, वर्तमान में, सम्पूर्ण प्रमाण सहज सुलभ हो गया। यह प्रमाण, प्रयोग, व्यवहार व अनुभव में प्रमाणित होता है। यह अध्ययन गम्य होता है।
- म.वि. 131-132

वाद (विचार शैली)

जहां तक सह-अस्तित्व वादी विचार शैली है, वह विगत से आयी तर्कों और विसंगतियों लक्ष्य, समझदारी, ईमानदारी और जिम्मेदारी में विरोधाभास को दूर कर देती है। साथ ही विज्ञान (विश्लेषण का तात्पर्य कालवादी, क्रियावादी, निर्णयवादी तथ्यों को स्पष्ट करना) सम्मत विवेक (प्रयोजन) तथा विवेक सम्मत विज्ञान-विधि से पूरी विचार शैली है। फलस्वरूप विसंगतियां दूर होती हैं। यह सह-अस्तित्व वाद है। जो अस्तित्व सहज है। यह अध्ययन के लिए समर्पित है। इसके मूल में जो दर्शन है, उसका नाम मध्यस्थ दर्शन रखा गया है। यह अध्ययन की मूल वस्तु है।

शास्त्र (जीने की कला)

परिभाषा - वर्तमान में विश्वास, मौलिक अधिकार पूर्ण विधि से मानव, मानव के साथ पहचाना गया। संबंध में मूल्य मूल्यांकन पूर्वक उभय तृप्ति, परिवार सहज आवश्यकता से अधिक उत्पादन में भागीदारी, मूल्य, चरित्र नैतिकतापूर्ण आचरणपूर्वक, व्यवस्था सहज प्रमाण को प्रस्तुत करते हुये समग्र व्यवस्था में भागीदारी व भागीदारी के प्रति सम्मति का सहज स्वरूप में प्रमाणित होना ही व्यवहारवादी समाज है; और शास्त्र का तात्पर्य शिक्षा-संस्कारपूर्वक ग्रहण योग्य सभी उपक्रम और कार्यप्रणाली है। इस प्रकार व्यवहारवादी समाज व शास्त्र का धारक, वाहक मानव ही होना स्पष्ट है।
- स.श. 26

समाधानात्मक भौतिकवाद

शिक्षा में अथवा शिक्षा विधि में जीवन ज्ञान, सहअस्तित्व दर्शन ज्ञान सम्पन्न शिक्षा रहेगी ही। इसे पाने के लिए समाधानात्मक भौतिकवाद का अध्ययन कराया जाता है। जिससे संपूर्ण भौतिकता रसायन तंत्र में व्यक्त होते हुए संयुक्त रूप में विकास क्रम को सुस्पष्ट किये जाने का तौर तरीका और पूरकता रूपी प्रयोजनो का बोध कराया जाता है। समाधानात्मक भौतिकवाद परमाणु में विकास, परमाणु में प्रजातियां होने का अध्ययन पूरा कराता है। परमाणु विकसित होकर जीवन पद में संक्रमित होता है दूसरी भाषा में विकसित परमाणु ही जीवन है। हर भौतिक परमाणु में श्रम, गति, परिणाम का होना समझ में आता है। जबकि गठनपूर्ण परमाणु (चैतन्य इकाई) परिणाम प्रवृत्ति से मुक्त होता है। दूसरी भाषा में जीवन परमाणु परिणाम के अमरत्व पद में होना पाया जाता है। अमरत्व की परिकल्पना प्राचीन काल से ही देवताओं को अमर, आत्मा को अमर कहना यह आदर्शवाद है। यह मन में रहते आयी है। इसे चिन्हित रूप में सार्थकता के अर्थ में अध्ययन करना कराना संभव नहीं हुआ था। सहअस्तित्व विधि से यह संभव हो गया। इस क्रम में जीवन के सम्पूर्ण क्रियाकलापो जैसे जीवन में जागृति, जागृति क्रम में जागृति एवं जीवन का अमरत्व का अध्ययन भली प्रकार से हो पाता है। जागृति में समाधान का उदय होने पर समाधानात्मक भौतिकवाद की सार्थकता समझ में आती है। भौतिकवाद को संघर्ष का आधार माना जाये या समाधान का। इस पर संवाद एक अच्छा कार्यक्रम है।

व्यवहारात्मक जनवाद

मानवीय शिक्षा में व्यवहारात्मक जनवाद प्रस्तुत हुआ है। इसका प्रयोजन मानव अपने परस्परता में व्यवहार न्याय प्रमाणित करने के लिए चर्चा, परिचर्चा प्रमाणात्मक प्रस्तावात्मक वार्तालाप। मूल्य मूलक, लक्ष्य मूलक, जीने का महत्व, मूल्यों का मूल्यांकन करने सम्बन्धों को पहचानने और निर्वाह करने, मानवीय संस्कार, मानवीय व्यवहार पूर्वक जीने, मानवीय आचरण में जीने, परिवार मूलक राज्य व्यवस्था में जीने, आवश्यकता से अधिक उत्पादन संयम पूर्ण विधि से स्वास्थ्य को बनाए रखने, श्रम नियोजन श्रम विमिनय के आधार पर विनिमय कोष व्यवस्था पूर्वक जीने, न्याय- प्रदायी क्षमता सम्पन्नता पूर्वक जीने, सही रूप में उत्पादन कार्य करते हुए जीने, नियम न्याय समाधान समृद्धि प्रामाणिकता पूर्ण पद्धति, प्रणाली, नीति पूर्वक जीने की कला का वर्तमान और उसकी निरंतरता। इंगित सभी मुद्दों में सकारात्मक पक्ष को स्वीकारना है ऐसी मान्यता हमारी है। प.स. 180

अनुभवात्मक अध्यात्मवाद

मानवीय शिक्षा में अनुभवात्मक अध्यात्मवाद को अध्ययन कराया जाता है जिसमें अध्यात्म नाम की वस्तु को साम्य ऊर्जा के रूप में जानने, मानने, पहचानने की व्यवस्था है। सम्पूर्ण प्रकृति, दूसरी भाषा में सम्पूर्ण एक एक वस्तुएँ, तीसरी भाषा में जड़-चैतन्य प्रकृति, चौथी भाषा में भौतिक, रासायनिक और जीवन कार्यकलाप व्यापक वस्तु में सम्पृक्त विधि से नित्य क्रियाकलाप के रूप में वर्तमान है। इसे बोधगम्य कराते है यही सहअस्तित्व का मूल स्वरूप है। इस मुद्दे को बोध कराना बन जाता है। बोध को प्रमाणित करने के क्रम में अनुभव होना सुस्पष्ट हो जाता है। जिससे

अनुभवमूलक विधि से हर नर-नारी को जीने के लिए प्रवृत्ति उदय होती है। इस तथ्य के आधार पर संज्ञानशीलता को प्रमाणित करना संभव हो जाता है। संज्ञानशीलता अपने आप में सर्वतोमुखी समाधान होना पाया जाता है। अनुभावात्मक अध्यात्मवाद सर्वतोमुखी समाधान के स्रोत के रूप में अध्ययन विधा से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। संवाद के लिए उल्लेखनीय मुद्दा यही है अनुभवमूलक विधि से जीना है या नहीं, समाधानपूर्वक जीना है या नहीं।

मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान

मानवीय शिक्षा में मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान का अध्ययन करने कराने का प्रावधान है। मानव संचेतना को मानव संवेदनशीलता और संज्ञानशीलता के रूप में माना गया है। जिसके अध्ययन से संज्ञानशीलता पूर्वक जीने की विधि बन जाती है। संज्ञानशीलता पूर्वक जीने का तात्पर्य मानव लक्ष्य को सार्थक बनाना है। परम्परा के रूप में इसकी निरन्तरता होना है। मानव की हैसियत को, मानसिकता को, अथवा जागृति मूलक मानसिकता को महसूस कराता है। साथ में जागृति की महिमा मानव परंपरा के लिए प्रेरणा देता है। क्योंकि मानव संज्ञानशीलता पूर्वक लक्ष्य मूलक विधि से जीना ही मानव परम्परा का वैभव है अर्थात् स्वराज और स्वतंत्रता है। इस तथ्य को भली प्रकार बोध कराते हैं। इसमें संवाद के लिए मुद्दा यही है मानव मूल्य मूलक विधि से जीना है या रूचिमूलक विधि से जीना है।

व्यवहारवादी समाजशास्त्र

मानवीय शिक्षा क्रम में व्यवहारवादी समाजशास्त्र को अध्ययन कराया जाता है। जिसमें मानव मानव के साथ न्याय, समाधान, सहअस्तित्व प्रमाणपूर्वक जीने के तथ्यों को बोध कराया जाता है। जिससे सहअस्तित्व बोध, जीवन बोध सहित व्यवस्था में जीना सहज हो जाता है। इसमें संवाद का मुद्दा है सहअस्तित्व बोध सहित जीना है या केवल वस्तुओं को पहचानते हुए जीना है।

आवर्तनशील अर्थव्यवस्था

मानवीय शिक्षा में आवर्तनशील अर्थव्यवस्था को अध्ययन कराया जाता है। अर्थ की आवर्तनशीलता के मुद्दे पर यह बोध कराया जाता है कि श्रम ही मूलपूंजी है। प्राकृतिक ऐश्वर्य पर श्रम नियोजन पूर्वक उपयोगिता मूल्य को स्थापित किया जाता है। उपयोगिता के आधार पर वस्तु मूल्यन होना पाया जाता है। इस विधि से हर व्यक्ति अपने परिवार में कोई न कोई चीज का उत्पादन करने वाला हो जाता है। इस ढंग से उत्पादन में हर व्यक्ति भागीदारी करने वाला हो जाता है फलस्वरूप दरिद्रता व विपन्नता से और संग्रह सुविधा के चक्कर से मुक्त होकर समाधान समृद्धिपूर्वक जीने का अमृतमय स्थिति गति बन जाती है। इसमें जन संवाद का मुद्दा यही है हम मानव परिवार में स्वायत्तता, स्वावलम्बन, समाधान, समृद्धि पूर्वक जीना है या पराधीन परवशता संग्रह सुविधा में जीना है। आवर्तनशील अर्थव्यवस्था में श्रम मूल्य का मूल्यांकन करने की सुविधा हर जागृत मानव परिवार में होने के आधार पर वस्तुओं का आदान-प्रदान श्रम

मूल्य के आधार पर सम्पन्न होना सुगम हो जाता है। इससे मुद्रा राक्षस से छुटने की अथवा मुक्ति पाने की विधि प्रमाणित हो जाती है। जिसमें शोषण मुक्ति निहित रहती है। अतएव संवाद का मुद्दा यही है कि लाभोन्मादी विधि से अर्थतंत्र को प्रतीक के आधार पर निर्वाह करना है या श्रम मूल्य के आधार पर वस्तुओं के आदान-प्रदान से समृद्ध रहना है।

व्यवहार दर्शन

मानवीय शिक्षा में मानव व्यवहार दर्शन का अध्ययन कराना होता है जिसमें अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का बोध, इसकी आवश्यकता का बोध कराया जाता है। मानव व्यवहार में प्राकृतिक नियम, बौद्धिक नियम और सामाजिक नियमों को बोध कराने की व्यवस्था रहती है। जिससे समाज की सुदृढ़ता वैभव पूर्णता का बोध कराया जाता है। फलस्वरूप हर मानव अखंड समाज के अर्थ में अपने आचरणों को प्रस्तुत करना प्रमाणित होता है। इस प्रकार ऐसे अखंड समाज के अर्थ में सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी स्वयं स्फूर्त विधि से सम्पन्न होना होता है। यही स्वतंत्रता और स्वराज्य का प्रमाण है। अस्तु संवाद का मुद्दा है अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में जीना चाहिये या समुदाय गत राज्य के अर्थ में जीना चाहिये।

कर्म दर्शन

मानवीय शिक्षा में कर्म दर्शन का अध्ययन कराया जाता है जिसमें कायिक, वाचिक, मानसिक, कृतकारित, अनुमोदित भेदों से हर मानव को कर्म करने की सत्यता को बोध कराया जाता है। इससे मानव का विस्तार समझ में आता है। इससे स्वयं में विश्वास का आधार बनता है। मानसिक रूप में जितनी भी क्रियाएँ होती हैं वे सब कायिक और वाचिक मानसिक विधि से कार्यरूप में परिणित होती हैं। फलस्वरूप उसका फल परिणाम होता है फल परिणाम के आधार पर समाधान या भ्रमवश समस्या का होना पाया जाता है। जागृत परम्परा में किसी भी प्रकार की समस्या का कायिक या वाचिक मानसिक विधि से निराकरण स्वयं से ही निष्पन्न होना पाया जाता है। इस तरह से स्वायत्तता का प्रमाण मिलता है।

स्वायत्तता अपने में सर्वतोमुखी समाधान सम्पन्नता ही है। जहाँ कहीं भी स्पष्ट रूप में देखने को मिलेगा समस्या का निराकरण स्वयं में ही हो जाने को स्वायत्तता बताई गयी है। कार्य का स्वरूप नौ प्रकार से बताया गया है। यह उत्पादन कार्य, व्यवहार कार्य और व्यवस्था कार्य में प्रमाणित होना देखा गया है। सभी कार्य इन तीन तरीकों से ही सम्पन्न होना देखा गया है। इन सभी कार्यों का उद्देश्य एक है मानवाकांक्षा को सफल बनाना। यही मानव लक्ष्य होने के आधार पर कर्मतंत्र, व्यवहार तंत्र, समग्र व्यवस्था में भागीदारी करने का तंत्र ये तीनों तंत्र मानव लक्ष्य को प्रमाणित करना ही है। इसी का नाम कर्मदर्शन है। कर्मदर्शन का सम्पूर्ण स्वरूप अपने में मानव जितने प्रकार के कार्य करता है, उसकी सार्थकता क्या है, कैसे किया जाये। इन तीनों विधा में अध्ययन कराता है। इससे मानव जाति मार्गदर्शन पाने की अथवा व्यवस्था में जीने की प्रेरणा पाना एक देन है। अतएव कायिक, वाचिक, मानसिक क्रियाकलापों में संगीतमयता की आवश्यकता पर एक अच्छा संवाद हो सकता है। मानव की सम्पूर्ण संवेदनाएँ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के रूप में पहचानी

जाती है जिसे हर सामान्य व्यक्ति पहचानता है। इसके नियंत्रण के लिए सम्पूर्ण ज्ञान, दर्शन, आचरण को संजो लेने का प्रमाण प्रस्तुत करना ही अभ्युदय समाधान है। इसका मुद्दा यही है कि कायिक वाचिक मानसिक रूप में एकरूपता चाहिये या नहीं। यदि चाहिये तो मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद में पारंगत होना आवश्यक है। नहीं की स्थिति में इसकी जरूरत नहीं है।

अभ्यास दर्शन

मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद के अनुसार अभ्यास दर्शन सर्वमानव के लिये अध्ययन के अर्थ में प्रस्तुत है। अभ्यास दर्शन अपने में कायिक, वाचिक, मानसिक, कृत, कारित, अनुमोदित क्रियाकलापो में सार्थकता का प्रतिपादन है। “अभ्यास दर्शन” समझदारी के लिए अभ्यास को स्पष्ट करता है। एवं समझने के उपरान्त समझदारी को प्रमाणित करने की अभ्यास विधियों का अध्ययन कराता है। अध्ययन होने का प्रमाण अनुभव मूलक विधि से प्रमाणित होने का प्रतिपादन है। अनुभव सहअस्तित्व में होने का स्पष्ट अध्ययन करा देता है, बोध करा देता है। इससे मानव परम्परा में प्रमाणित होने का मार्ग प्रशस्त होता है। इसमें जीवन समुच्चय का और दर्शन समुच्चय का आशय सुस्पष्ट हो जाता है। जीवन समुच्चय अपने में दृष्टा पद प्रतिष्ठा सहित कर्ता-भोक्ता पद में प्रमाणित होने का बोध होता है। सम्पूर्ण अस्तित्व ही जीवन के लिए दृश्य रूप में प्रस्तुत रहता है। सम्पूर्ण दृश्य व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित है। नियम-नियंत्रण-संतुलन ही इसका सूत्र है। नियम की व्याख्या सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व में प्रत्येक एक एक की यथास्थिति के आधार पर निश्चित आचरण ही व्याख्या है। ऐसा निश्चित आचरण ही हर इकाई का त्व है। ऐसी यथा स्थितियाँ और आचरण परिणामानुषंगी विधि से, बीजानुषंगीय विधि से एवं आशानुषंगीय रूप में स्पष्ट होता हुआ देखने को मिलता है। अभ्यास दर्शन ऐसी स्पष्टता को स्पष्ट रूप में अध्ययन करा देता है। सभी स्पष्टताएँ नियम, नियंत्रण, सन्तुलन से गुथी हुई के रूप में होना पाया जाता है। इस भौतिक रासायनिक रूपी बड़े छोटे रूप में होना पाया जाता है। होना ही अस्तित्व है। मानव भी जड़ चैतन्य प्रकृति के रूप में होना अध्ययनगम्य है। इसी आधार पर चैतन्य प्रकृति में दृष्टा पद प्रतिष्ठा होना, इसके वैभव में ही दृष्टा-कर्ता-भोक्ता पद का प्रमाण प्रस्तुत करना ही जागृति का प्रमाण है। अभ्यास दर्शन इन तथ्यों को अध्ययन कराता है। इसमें मुद्दा यही है कि हमें सम्पूर्ण अध्ययन करना है तो मध्यस्थ दर्शन ठीक है नहीं करना है तो मध्यस्थ दर्शन की जरूरत नहीं है। - ज.व. 181-189

अनुभव दर्शन

सहअस्तित्व में अनुभव प्रमाण सहज सत्यापन। व्यापक कस्तु में संपूर्ण एक-एक संपृक्त है यह समझ में आना प्रमाणित होना। प.स. 13। मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्व वाद मानव को अनुभवमूलक प्रणाली पद्धति पर ध्यान दिलाता है। अनुभवमूलक विधि से ही मानव प्रमाणित होता है तथा नित्य सत्य को बोध व प्रमाणित करता है। मानव सदैव शुभाकाँक्षा सम्पन्न है ही, नित्य शुभ के रूप में अनुभव मूलक अभिव्यक्ति सम्प्रेषण का बोध कराता है। अनुभव ही एक मात्र तृप्ति स्थली है। अनुभवमूलक परम्परा ही अनुभवमूलक अभिव्यक्ति ही गरिमा महिमा होना सुस्पष्ट हो जाता है। अनुभव सर्वतोमुखी समाधान का स्रोत होने को स्पष्ट करता है। न्याय पूर्वक मानव परम्परा में जीते हुए सर्वतोमुखी

समाधान को प्रमाणित करने की विधि विधान, कार्य व्यवहार, फल, परिणाम और प्रयोजनो को लय बद्ध विधि से बोध करा देता है। अतएव लोक संवाद में इस मुद्दे पर चर्चा सम्पन्न हो सकती है कि अनुभवमूलक विधि से जागृति प्रमाणित करना है या भ्रमित रहना है।

8.2 अध्ययन-अभ्यास विधि

(A) अध्ययन परिभाषा

1. “अधिष्ठान के साक्षी एवं अनुभव के रौशनी में स्मरण पूर्वक कीये गए क्रिया-प्रक्रिया एवं प्रयास – प.सं. सं: 2008, पृ 15
2. “श्रवण, मनन, निदिध्यासन* की संयुक्त प्रक्रिया अध्ययन है” (*निदिध्यासन = साक्षात्कार)। अ.द. सं २००४, पृ १९२
3. “तदाकार होना: कल्पनाशीलता का नियोजन। हर शब्द का अर्थ है। उस अर्थ के स्वरूप में अस्तित्व में वस्तु हैं। शब्द के अर्थ के रूप में अस्तित्व में जो वस्तु इंगित है, उस अर्थ रूपी वस्तु में हमारा कल्पनाशीलता ‘तदाकार’ होना। ‘तद’ शब्द सच्चाई को इंगित करता है। सच्चाई के स्वरूप में कल्पनाशीलता हो जाना ही तदाकार, तद्रूप होना हैं”। संवाद, सं 2011, पृ 198, 203

मानव में अध्ययन विधि का सूत्र, कल्पनाशीलता, प्रधान वस्तु है। इसका स्रोत जीवन सहज आशा, विचार, इच्छा का संयुक्त रूप में तत्पर रहना है। अध्ययन पूर्ण होने पर्यन्त कल्पनाशीलता की तृप्ति संभव न होने के कारण पुनः अध्ययन का कार्य मानव सहज है। मानव ही अध्ययन करने वाली इकाई है यह स्पष्ट हो चुका है। अध्ययन की परिभाषा ही है – अधिष्ठान सहज, अनुभव के साक्षी में स्मरण पूर्वक की गयी क्रिया-प्रक्रिया व प्रयास। इसका प्रमाण है, प्रत्येक मानव ही, जीवन को अनुभव मूलक विधि से प्रमाणित करता है। इस विधि से अनुभव के लिए अध्ययन एक अनिवार्य प्रक्रिया है। – म.वि. 244-245

(B) अध्ययन = शोध = जांचना

जांचना = अध्ययन, निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण पूर्वक स्वीकृति = सिद्धान्त व प्रक्रिया पूर्वक सत्यता का उद्घाटन।

भ्रम से मुक्त होने के लिए सत्यासत्य के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों के दृढ़ संकल्प में परिणित होने की दृष्टि से शोध की अनिवार्यता है। – प.स. 221

उल्लेखित अनुभवों के आधार पर सम्पूर्ण जागृति अपने-आपसे जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान में ही सम्पूर्ण है। इसका अभ्यास विधि सर्वप्रथम अनुसंधान दूसरा अध्ययन पूर्वक शोध, शोध पूर्वक

अध्ययन ये ही मूल अभ्यास है। क्योंकि अध्ययन विधि से ही, शोध विधि से ही अवधारणा का स्वीकृत होना देखा जाता है। अन्य विधि जैसे उपदेश विधि में भ्रमित होने की संभावना सदा बना ही रहता है।

हर परंपरा में अपने ढंग की आदेश प्रतिष्ठा स्थापित रहता ही है। वह अध्ययवसायिक (अध्ययनगम्य) होते तक उपदेश या सूचना मात्र है। परंपरा में जिस आशय के लिये आदेश-निर्देश है वह तर्क संगत-व्यवहार संगत बोध होने की प्रक्रिया प्रणाली पद्धति ही अध्ययन कहलाती है। तर्क का सार्थक स्वरूप विज्ञान सम्मत विवेक और विवेक सम्मत विज्ञान होना देखा गया। प्रयोजन विहीन उपदेश प्रयोग वह भी व्यवहार, प्रमाण विहीन उपदेश तब तक ही रह पाता है जब तक तर्क संगत न हो। तर्क का तात्पर्य भी इसी तथ्य को उद्घाटित करता है। तृप्ति के लिये आकर्षण प्रणाली (भाषा प्रणाली) ऐसे तर्क सहज रूप में ही विज्ञान के आशित विश्लेषणों को विवेक से आशित प्रयोजनों का प्रमाणित होना सहज है। हम इस बात को समझ चुके हैं कि प्रयोजनपूर्वक जीने के लिये, प्रमाणित होने के लिये समाधान समृद्धि के रूप में सह-अस्तित्व दर्शन के लिये तर्क संगत अध्ययवसायिक विधि का होना आवश्यक है।

अध्ययन क्रियाकलाप, तर्कसंगत प्रयोजन, प्रयोजन संगत मानवापेक्षा, मानवापेक्षा संगत जीवनापेक्षा, जीवनापेक्षा संगत सह-अस्तित्व, सह-अस्तित्व संगत विकास क्रम और विकास, विकासक्रम और विकास संगत जीवन-जीवनी क्रम-जागृति क्रम-जागृति एवं इसकी निरंतरता सह-अस्तित्व सहज लक्ष्य है। अस्तित्व सहज लक्ष्य में भी मानव ही अविभाज्य है और दृष्टा है। इसलिये मानव अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व विधि से पूरकता-उदात्तीकरण, पूरकता-विकास, पूरकता-जागृति सूत्रों के आधार पर सह-अस्तित्व सहज अध्ययन सुलभ हुआ है। - आ.व. 221

(C) भाषा से समझ, समझ से अनुभव

मानव 'है' का अध्ययन करता है। अध्ययन का तात्पर्य अनुभव के प्रकाश में स्मरण पूर्वक अर्थात् शब्दों का स्मरण पूर्वक, अर्थों से इंगित वस्तुओं का, अस्तित्व में पहचान पाना है। इस प्रकार शब्दों का स्मरण, शब्दों के अर्थ से इंगित वस्तुएं अस्तित्व में सुपष्ट होना ही जागृति है। सुस्पष्टता का तात्पर्य स्वयं में अनुभव, कार्य-व्यवहार में प्रमाण होना ही है। - भ.व. 49,51

मानव ही अस्तित्व में ध्वनि, शब्द, नाद, भाषा व वस्तु सहज प्रभेदों को जानता, मानता, पहचानता है अथवा इसके योग्य है। जैसे-पदार्थ अवस्था में पाई जाने वाली, व्यवस्था का मूल रूप परमाणु में भी ध्वनि और वस्तु को पहचानता है।

फलतः अणुओं के रूप में होना स्वाभाविक है। प्राणकोशाओं में ध्वनि व कार्य संकेतों को परस्पर कोशाएं पहचानते हैं फलस्वरूप रचनाएं संपन्न होती हैं। उसी भांति जीवों में भी, शब्द, ध्वनि और नाद उनके परस्पर पहचान में होना पाया जाता है। मनुष्य में शब्द, ध्वनि, नाद व भाषा ये सहज ही परस्पर वस्तुओं को इंगित करने के अर्थ में जानने, मानने, पहचानने को मिलता है। भाषा का तात्पर्य होता है, जिससे वस्तु सहज सत्य भास हो जाय। मानव भाषा में सत्य भास, आभास, प्रतीति सहित अनुभव होने के अर्थ में ही प्रयोग किया जाता है। यही जागृति सहज सम्प्रेषण है। इसी क्रम में भाषा के प्रति विश्वास हो पाता है। मनुष्येतर प्रकृति में भी अपने अपने 'त्व' सहित व्यवस्था को प्रमाणित करने के

क्रम में सम्पूर्ण ध्वनि, नाद व शब्द को देखा जाता है। जागृत मनुष्य परस्पर भाषा द्वारा इंगित होना चाहता है या इंगित कराना चाहता है। – म.वि. 187-188

मानव भाषा कारण गुण गणित के अविभाज्य रूप में है। जिससे ही परम सत्य रूपी सह-अस्तित्व भासाभास पूर्वक प्रतीति सहज बोध, सार्थक होना पाया गया। फलतः अनुभव होना सिद्ध हुआ। – ज.व. 183-185

पुस्तक मात्र सूचना है। मानव ही इसे समझता है, समझाता है।

मानव परंपरा जागृत होने के लिये अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित विश्व दृष्टिकोण को तर्क संगत विधि से अध्ययनगम्य होने के प्रणालियों से अभिव्यक्त होने के फलन में मानव परंपरा जागृत होना स्वाभाविक है। इसका प्रमाणों का धारक-वाहक अध्यापक ही होना पाया जाता है। (*कल्पनाशीलता के लिए) निर्देशिका के रूप में वाङ्मय और धारक-वाहकता के रूप में अध्यापक ही हो पाते हैं। विद्यार्थियों को जागृत शिक्षा प्रदान करने में समर्थ होना स्वाभाविक है। इस क्रम में मानव परंपरा जागृत होने का संयोग समीचीन है। जागृति निरंतर, न्याय, समाधान, सत्य सहज होता ही है, इसका वैभव ही मानवापेक्षा और जीवनापेक्षा के रूप में सार्थक हो जाता है। ऐसे सार्थकता को प्रमाणित करना ही जागृत मानव परम्परा का तात्पर्य है। – आ.व. 254

(D) अध्ययन के लिए अभ्यास

(i) कर्म

(*पुस्तक से मात्र झलक दिया है)

जीवन का कार्यक्रम ही कर्म है। यही आचरण है। समस्त कर्म तीन भागों में ज्ञातव्य है. ..सुकर्म, दुष्कर्म एवं मिश्रित कर्म

सम्पूर्ण कर्मों का फल चार रूपों में ज्ञातव्य है. ..मोक्ष, धर्म, काम एवं अर्थ। मानव में इच्छाएँ तीव्र, कारण एवं सूक्ष्म भेद से ज्ञातव्य है।

मानव के द्वारा प्रकट होने वाला ज्ञान तीन प्रकार से ज्ञातव्य है :- (1) भौतिक (2) बौद्धिक एवं (3) अध्यात्मिक

प्रधानतः समस्त बहिरंग साधनों से पदार्थ विज्ञान की साधना तथा अन्तरंग साधनों से बौद्धिक एवं अध्यात्म विज्ञान की साधना है।

समस्त कर्मों के फलस्वरूप ही अर्थ, अनर्थ, सुकाम, दुष्कर्म, धर्म, अधर्म तथा मोक्ष-बंधन है।

समस्त इच्छाओं के सात भेद हैं :-

मोक्ष के लिए अर्थ, अर्थ के लिए मोक्ष जो क्रमशः उत्तमोत्तम अधमाधम है। धर्म के लिए अर्थ, अर्थ के लिए धर्म जो क्रमशः मध्योत्तम अधम है। काम के लिए अर्थ, अर्थ के लिए काम जो क्रमशः उत्तम अधम मध्यम है एवं अर्थ के लिए अर्थ जो मध्यम है।

तीन प्रकार की अन्वेषण प्रवृत्तियाँ मानव में पाई जाती हैं :- (1) सत्यान्वेषण, (2) ऐषणान्वेषण, (3) विषयान्वेषण।

स्वार्थपूर्ण व्यवहार अधम और असामाजिक, परार्थ पूर्ण व्यवहार मध्यमोत्तम और सामाजिक, परमार्थ पूर्ण व्यवहार उत्तम, सामाजिक एवं स्वतंत्र है। परमार्थ पूर्ण व्यवहार ही सर्वशुभ मानसिकता है।

लक्ष्य मूलक, मूल्य मूलक व रुचि मूलक प्रवृत्तियाँ होना पाया जाता है। सामाजिक संतुलन स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष एवं दया पूर्ण कार्य व्यवहार परंपरा है। इसके विपरीत में पर नारी, परपुरुष, पर-धन एवं पर-पीड़ा से असंतुलन ही है, जो प्रत्यक्ष है।

आवश्यकिय मूल प्रवृत्तियाँ क्रम से असंग्रह (समृद्धि), स्नेह, विद्या, सरलता एवं अभय (वर्तमान में विश्वास) के रूप में, अनावश्यकिय मूल प्रवृत्तियाँ सुविधा, संग्रह, द्वेष, अविद्या, अभिमान एवं भय के रूप में प्रत्यक्ष हैं।

प्राकृतिक संतुलन, सामाजिक संतुलन एवं बौद्धिक संतुलन योग्य नियम ही आवश्यकिय नियम है। यही नियम-त्रय है। प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ दृष्टियाँ भौतिक व्यवसाय तथा उसके उपयोग में प्रयुक्त हुई हैं जो जीव चेतना पूर्वक जीते हुए मानव में है। न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य दृष्टियाँ जागृत मानव परंपरा में व्यवहार तथा आचरण में निर्णायक सिद्ध हुई हैं।

सद्शास्त्राध्ययन के बिना सत्य कामना एवं प्रवृत्ति, सत्य कामना के बिना सत्य-प्रेम, सत्य-प्रेम के बिना सत्य-निष्ठा, सत्य-निष्ठा के बिना सत्य-प्रतिष्ठा, सत्य-प्रतिष्ठा के बिना सत्य-प्रतीति, सत्य-प्रतीति के बिना सत्यानुभव, सत्यानुभव के बिना सद् शास्त्र का उद्घाटन तथा सद् शास्त्र के उद्घाटन के बिना सद् शास्त्र का अध्ययन पूर्ण और सार्थक नहीं है।

सद् शास्त्र सेवन, मनन एवं आचरण से व्यक्ति तथा परिवार में शान्ति तथा स्थिरता पाई जाती है।

इस वर्तमान में मानव चार प्रकार से गण्य है।

(1) पुण्यात्मा, (2) पापात्मा, (3) सुखी, (4) दुखी।

तीन प्रकार के कर्म-फलों को पाने के लिये ही मानव आद्यान्त कार्य करता है। स्वार्थ, परार्थ, परमार्थ के लक्ष्य भेद से सम्पूर्ण कर्म सम्पन्न होते हैं। मानव जीवन के आद्यान्त कार्यक्रम एवं आचार तीन प्रकार से गण्य है- (1) सत्याचार, (2) लोकाचार और (3) विषयाचार। ये क्रम से उत्तम, मध्यम एवं अधम की परिगणना में है।

पतनोन्मुखी जीवन की शृंखला में अपराध के तीन कारण दृष्टव्य है :- (1) अभाव (2) अत्याशा एवं (3) अज्ञान। इसके साथ ही राग, द्वेष, असत्य, अभिमान, भय, आलस्य, रोग और असफलता भी है। इनका निराकरण क्रम से अभाव को उत्पादन एवं

अभ्यास से, अत्याशा को विवेक से, अज्ञान को ज्ञान से, राग को विराग से, द्वेष को स्नेह से, असत्य को सत्य से, अभिमान को सरलता से, भय को अभय से, आलस्य को चेष्टा से, असफलता को पराक्रम व पुनः प्रयोग से, रोग को औषधि-आहार एवं विहार से, समाधान एवं परिहार करने की व्यवस्था है जो मानव के लिये एक अवसर है। यही आवश्यकता है।

समस्त कर्मों से मानव ने सत्य में प्रतिष्ठा, धर्म में आरूढ़ता, न्याय में निरन्तरता एवं वस्तु की उपयोगिता का अनुभव करने की कामना एवं प्रयास किया है। दुष्चरित्र में लिप्त जीवन का भय-त्रस्त होना विवशता है, जो स्व-पर पीड़ा का प्रधान कारण है। यही मानव में नेहित अमानवीयता का भय है। यही असामाजिकता एवं असहअस्तित्व का मूल रूप है।

अधिक जागृत, कम जागृत का दर्शन; कम जागृत, अधिक जागृत को पहचानता है।

सम, विषम, मध्यस्थ शक्तियाँ क्रम से रजोगुण, तमोगुण एवं सत्वगुण हैं। कर्म फलवती है। भ्रमित मानव फल भोगते समय में परतंत्र है। इसी सार्वभौमिक नियमवश ही मानव कर्म और उसकी फलतत्त्वा के प्रति निश्चम होने के लिए बाध्य है।

- क.द. ५-३२

(ii) उपासना

(*पुस्तक से मात्र झलक दिया है)

मानव जीवन में उपासना एक महत्वपूर्ण भाग है। उपासना ही मूल प्रवृत्तियों का परिमार्जन एवं परिवर्तन प्रक्रिया है। यही अध्ययन संस्कार एवं स्वभाव परिवर्तन भी है। उपायपूर्वक सहवास पाना ही उपासना सहज अवधारणा है जिसके लिये परिश्रम (परिमार्जित श्रम) एवं अभ्यास है।

उपासनायें कूटस्थ, रूपस्थ एवं आत्मस्थ भेद से होती हैं।

'विषय-चतुष्टय' के लिये अधिभौतिक तत्वों में, 'ऐषणा-त्रय' के लिये अधिदेविक (सामाजिक एवं व्यवहारिक) मूल्यों में, दिव्य मानव अध्यात्म में तादात्म्य पाया जाता है जिसके लिये ही क्रम से आसक्ति, उपासना एवं निष्ठा प्रयुक्त होती है। समस्त उपासनाओं के मूल में लक्ष्य साम्य है वह अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था है।

सार्वभौमक मानवीयतापूर्ण पद्धति से 'नियम-त्रय' (बौद्धिक, सामाजिक एवं प्राकृतिक) के आचरणपूर्वक ही आर्थिक एवं साम्प्रदायिक वर्ग-भावनाओं से मुक्त होने की संभावना एवं मुक्ति है। इसी में समस्त वर्ग-भावना विलीन हो जाती है। इसलिये उपासना अभीष्ट समझदारी जागृति पूर्वक सार्थक होता है जो जागरण ही है।

मानव में शक्तियाँ क्रिया; इच्छा एवं ज्ञान शक्ति ही है, जो उनकी अर्हताएं हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धेन्द्रियों द्वारा शक्तियों का अपव्यय न होना, साथ ही सद्ब्रह्म होना ही क्रिया शक्ति की जागृति है। सद्ब्रह्म एवं अपव्यय का निर्धारण मानवीयता की सीमा में नियम-त्रय के रूप में है। अंतःकरण मूल प्रवृत्तियों अर्थात् आशा, विचार, इच्छा व ऋतम्भरा का अपव्यय न होना मानव चेतना, अति मानव चेतना विधि पूर्वक ही है और यही सद्ब्रह्म है। यही इच्छा शक्ति का जागरण है। सम्यक-बोध एवं अनुभूति पूर्णता ही ज्ञान प्रकटन क्षमता है। यही ज्ञानशक्ति का जागरण अथवा पूर्ण जागरण है। यह 'जागृति-त्रय' मानवीयता एवं अतिमानवीयता में प्रत्यक्ष है।

विवेक व विज्ञान ही परोक्ष ज्ञान (सद्ब्रह्मवहारिक ज्ञान) का प्रधान लक्षण है। अनुभव ही परोक्ष ज्ञान की अन्तिम स्थिति है। परोक्ष ज्ञान के बिना नित्यानित्य, युक्तायुक्त, न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य, इष्टानिष्ट, दृष्टादृष्ट तथा परोक्ष ज्ञानाधिकार सिद्ध नहीं होता है।

सत्य बोलने का अभ्यास करने से भय व अविश्वास की निवृत्ति, हर्ष तथा उत्साह का उदय होता है। अहिंसा पर अधिकार पा लेने से विरोध से भय मुक्ति और स्नेह व उदारता का उदय होता है। कृत, कारित, अनुमोदित, कायिक, वाचिक, मानसिक भेदों से हिंसा में भागीदारी न करना = अहिंसा।

अपरिग्रह में निष्ठा से दयनीयता तथा हीनता का नाश एवं धैर्य व धृति उदारता का उदय होता है। अस्तेय प्रतिष्ठा से धूर्तता व विकलता का नाश तथा तुष्टि व संतोष का उदय होता है। अस्तेय का तात्पर्य चोरी न करना है। विश्व के प्रति मूल्य (भाव) की प्रतिष्ठा से इष्ट और साधक के मध्य विषमता का अभाव होता है। साथ ही तत् देवता का स्वभाव प्रवेश होता है। शब्द के अर्थ अर्थात् मन्त्रार्थ का तदरूपतापूर्वक स्मरण करने के अभ्यास से उसका अर्थ एवं स्वभाव गम्य होता है। सभी सार्थक शब्द मन्त्र है।

अधिक जागृत में समर्पण से अभिमान व अहंकार का उन्मूलन तथा विद्या व सरलता का उदय होता है। शरीर संवेदना संयत रहने से मन की पवित्रता, मन की पवित्रता से मनोबल का लाभ होता है।

स्व-शरीर मोह नष्ट होने से संसार के प्रति मोह दूर होता है। जिस लक्ष्य में अन्तःकरण (मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि) को तदाकार करें उसी में वह प्रखर होता है। पर गुण गणना अभ्यास से स्वदुर्गुणों का नाश होता है। पक्षपात बुद्धि पर-पक्ष के सद्गुणों को ग्रहण करने में असमर्थ होती है क्योंकि वह ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, उपेक्षा और भ्रम से मुक्त नहीं है।

उपासना के लिये वातावरण का महत्व अपरिहार्य है, जिसमें से मानव कृत वातावरण ही प्रधान है, जो शिक्षा व व्यवस्था के रूप में ही है। मानव के बौद्धिक क्षेत्र में पायी जाने वाली अनावश्यक कल्पनाओं का निराकरण ही दर्शन-क्षमता में गुणात्मक परिमार्जन है। यही गुणात्मक संस्कार-परिवर्तन, शिक्षा एवं जीवन के कार्यक्रम का योगफल है।

ऐषणासक्त बौद्धिक व्यवस्था में मानवीय तथा देव मानवीय स्वभाव प्रकट होता है। उसी के अनुरूप में मानसिक वातावरण की स्थितिशीलता है। ऐसी क्षमता ही सामाजिक चेतना ही सजगता एवं सतर्कता से परिपूर्ण होना पाया जाता है। विषयासक्त प्रवृत्ति व प्रक्रिया में अमानवीय आचरण होता है जो पाशविकता तथा दानवीयता के रूप में दृष्टव्य है। इनमें उसी के योग्य मानसिकता पाई जाती है। यही लुप्त-सुप्त कल्पना का कारण है। यही अजागृति तथा अपूर्ण सतर्कता का द्योतक है।

श्रेय (जागृति) जिज्ञासु होने पर ही लुप्त-सुप्त कल्पनार्ये परिमार्जित होती है। फलतः दानवी व पाशवी प्रवृत्तियों से उदासीनता स्थिर होती है। साथ ही विवेकोदय होता है। श्रेय जिज्ञासा का उदय स्व-संस्कार, विधि-विहित अध्ययन तथा उसके अनुकूल वातावरण में होता है।

अवधारणा ही सद्विवेक है। सद्विवेक स्वयं में सत्यता की विवेचना है जो स्पष्ट है। मूलतः यही सर्वशुभ एवं मांगल्य है। सत्य में ही सम्यक-बोध होता है। असत्य ही कल्पना एवं भास होता है। हीनता, दीनता और क्रूरता से युक्त कर्म अशुभ होता है। स्व-मूल्य ही प्रवृत्ति और निवृत्ति का स्तुषि है। इसलिये असत्य, अभिमान तथा दर्प से मुक्त; सत्य, सरलता, सहजता तथा सौजन्यता से युक्त कर्म व उपासना श्रेय कारक है। सत्य कामना की निरन्तरता से लक्ष्य की अवधारणा होती है। ज्ञान में ही उत्पादन, व्यवहार, विचार एवं अनुभूति प्रत्यक्ष है।

शक्ति-त्रय-जागरण (इच्छा-शक्ति, क्रिया-शक्ति तथा ज्ञान शक्ति जागरण) के बिना त्याग (भ्रममुक्ति) और प्रेम प्रमाणित नहीं होता। - क.द. 53-70

(iii) अभ्यासः शास्त्र, व्यवहार, कर्म, चिंतन

मानव जागृत होने के लिए अभ्यास करता है। यह क्रम जागृति पूर्णता तक रहता है।

क्यों, कैसे का उत्तर पाने के लिए किया गया बौद्धिक, वाचिक, कायिक क्रियाकलाप अभ्यास है। अर्थात् समाधान सम्पन्न होने के लिए अभ्यास है।

मूल प्रवृत्तियों के परिमार्जन पूर्वक कुशलता एवं पाण्डित्यपूर्ण व्यवहार ही अभ्यास का प्रधान लक्षण है।

मानव में व्यवसाय, व्यवहार एवं योगाभ्यास प्रसिद्ध है। व्यवसाय (उत्पादन) ही कर्माभ्यास, व्यवहार ही विचाराभ्यास एवं *योग ही चिंतनाभ्यास है।

क्रिया शक्ति में कर्मभ्यास, इच्छाशक्ति में व्यवहाराभ्यास एवं शास्त्राभ्यास तथा ज्ञान शक्ति में चिन्तनाभ्यास प्रसिद्ध है।

कर्मभ्यास से प्रतिफल, व्यवहाराभ्यास से सहअस्तित्व साक्षात्कार और चिन्तनाभ्यास से संस्कार में गुणात्मक परिवर्तन फलतः अनुभव है जो प्रत्यक्ष है। योग्याभ्यास - मिलन का अभ्यास।

कर्मभ्यास पूर्वक भौतिक समृद्धि, व्यवहाराभ्यास पूर्वक बौद्धिक समाधान एवं चिन्तनाभ्यास और अनुभव पूर्वक परमानन्द की निरन्तरता है।

चैतन्य शक्तियों की प्रखरता से परिपूर्ण होने के लिए चिंतन अभ्यास अनिवार्य है।

अमानवीयता की सीमा में संस्कार विकृत, मानवीयता की सीमा में सुसंस्कार एवं देव, दिव्य मानवीयता की कोटि में संस्कार पूर्ण होता है जो स्पष्ट है।

जाने हुए को मानना एवं माने हुए को जानना ही अभ्यास है।- अ.द. २-२२, (*संशोधन प्रति देखें: B13_अभ्यास दर्शन_1998_TypeSet_corrected_c/८)

जागृति विधि साधना

प्रत्येक जागृत मनुष्य न्याय दृष्टि से (न्याय रूपी तुलन क्रिया से) निरीक्षण परीक्षण करता है। यह क्रिया जागृति विधि साधना का प्रथम सोपान है। साधना का तात्पर्य अभ्यास से है। अभ्यास का तात्पर्य कर्माभ्यास, व्यवहाराभ्यास, चिन्तनाभ्यास से है। व्यवस्था के मूल में जो विचार रहता है, उसको मनुष्य के हर कार्य में चिन्तनाभ्यास पूर्वक न्याय-दृष्टि से निरीक्षण परीक्षण करना - जागृति विधि है।

चिन्तन का तात्पर्य समझ ओर प्रयोजन के तृप्ति बिन्दु का साक्षात्कार करने से है। प्रत्येक जागृत मनुष्य में, जीवन सहज रूप में, तुलन क्रियायें न्याय-अन्याय, धर्मा-धर्म, सत्या-सत्य क्रम से प्रिय, हित, लाभन्याय संगत सम्मत सहज संपन्न होती है। न्याय सम्बन्धों रूपी सह-अस्तित्व पर आधारित है। धर्म (सर्वतोमुखी समाधान - मनुष्य स्वयं मानवत्व सहित व्यवस्था है, समग्र व्यवस्था में भागीदार है।) इस आधार पर सत्य अस्तित्व रूपी परम सत्य में, अनुभव अर्थात् जानने-मानने के तृप्ति बिंदु, अभिव्यक्ति सहित रूप में प्रमाणित है। -म.वि. 184, 185

(iv) जीवन में गुणात्मक परिवर्तन क्रम

अनुकरण तथा अनुसरण:

१. न्यायपूर्ण व्यवहार का अनुकरण या अनुसरण करना।

२. धर्म-पूर्ण विचार में प्रसक्त (प्रवृत्त) होना।

× उपरोक्त दोनों कार्यक्रम की दृढ़ता एवम् निष्ठा की अपेक्षा में सत्यता की अनुभूति का अधिकार परिणाम पूर्वक प्राप्त होता है, फलस्वरूप बुद्धि आप्लावित हो जाती है।

❖ उपरोक्तानुसार जब साधक मानवीयतापूर्ण व्यवहार एवम् धर्म पूर्ण विचार में प्रतिष्ठित हो जाता है तब मन वृत्ति, चित्त और बुद्धि की क्रियाएँ किस प्रकार से सम्पादित होती है इसका अनुभूतिपरक वर्णन निचे दिया गया है।

मन जब वृत्ति का संकेत ग्रहण करने योग्य होता है,

- ❖ तब न्यायपूर्ण व्यवहार में परिवर्तित होता है, जो मित्र आशाएँ है। मैत्री तथा न्याय की प्रत्याशा ही स्नेह के रूप में प्रदर्शित होती है। स्नेह की प्रतिक्रिया ही सुख तथा सुख न्याय की निर्विरोधिता ही है। मानवीयता के संरक्षणात्मक, परिपालनात्मक और आचरणात्मक नियमों की ही 'न्याय' संज्ञा है।

वृत्ति जब चित्त का संकेत ग्रहण करने योग्य होती है,

- ❖ तब शान्ति का अनुभव होता है। विचार की पृष्टि चिन्तन (चित्रण) से ही है। चिन्तन से ही प्रक्रिया, फल और प्रयोजन का निर्णय होता है।
- ❖ अतः मन, वृत्ति तथा चित्त की एकसूत्रता से (परानुक्रमता से) न्यायपूर्ण व्यवहार के लिए मित्र आशाएँ जन्मती है जो प्रक्रिया, फल और प्रयोजन का निर्णय करती है, जिसे 'धर्म-पूर्ण विचार' की संज्ञा है।

चित्त जब बुद्धि का संकेत ग्रहण करने योग्य विकसित हो जाता है

- ❖ तब संतोष की अनुभूति होती है। फलस्वरूप स्वचालित मानव जीवन का प्रादुर्भाव होता है अर्थात् मानव स्व-तंत्रित होता है।
- ❖ ऐसे स्वतंत्र मानव में अधिक उत्पादन, कम उपभोग, अपव्यय का अत्याभाव होता है तथा वह अधिकाधिक विकास के लिए प्रेरणा श्रोत होता है। मनुष्य में स्वतंत्रता की तृषा पाई ही जाती है।

अर्थात्

- ❖ मन, वृत्ति, चित्त और बुद्धि एकसूत्रता से न्यायपूर्ण व्यवहार एवं धर्मपूर्ण विचार के लिए सत्य प्रतीति होता है।

बुद्धि जब आत्मा का संकेत ग्रहण करने योग्य विकास को पाति है

- ❖ तब 'स्व-बोध' होता है जिसे 'आत्मबोध' भी कहते हैं। आत्मबोध से सत्य संकल्प होता है। सत्य संकल्प मात्र सत्य पूर्ण ही है।

अर्थात्

- ❖ मन, वृत्ति, चित्त और बुद्धि आत्मानुशासित होने पर न्यायपूर्ण व्यवहार धर्म-पूर्ण विचार में सत्यानुभूति के कारण प्रतिष्ठित होता है।

पूर्वानुषंगिक संकेत ग्रहण योग्यता का प्रादर्भाव शक्ति की अंतरनियामन प्रक्रिया से ही है। यह व्यवहार का विचार में, विचार का इच्छा में, इच्छा का संकल्प में तथा संकल्प का अनुभव में अथवा मध्यस्थ क्रिया में प्रत्यावर्तन ही है।

- ❖ अपराध के अभाव में आशा का प्रत्यावर्तन,
- ❖ अन्याय के अभाव में विचार का प्रत्यावर्तन,
- ❖ आसक्त के अभाव में इच्छा का प्रत्यावर्तन तथा
- ❖ अज्ञान के अभाव में संकल्प का प्रत्यावर्तन होता है।

अतः

- ❖ अपराधहीन व्यवहार के लिए व्यवस्था का दबाव,
- ❖ अन्यायहीन विचार के लिए सामाजिक आचरण का दबाव,
- ❖ आसक्ति रहित इच्छा के लिए अध्ययन एवं संस्कार का दबाव तथा
- ❖ अज्ञान रहित बुद्धि के लिए अन्तर्नियामन अथवा ध्यान आवश्यक है, जिससे ही प्रत्यावर्तन क्रिया सफल है।

ध्यान का अर्थ समझने के लिए मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि को केन्द्रित करना और समझने - अनुभव करने के उपरांत प्रमाणित करने के लिए मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि को केन्द्रित करना।

अर्थबोध होने के लिए तथा अर्थ बोध को प्रमाणित करने के लिए ध्यान होना आवश्यक है। यही ध्येय है। सर्वमानव ध्याता है।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि मानवीयतापूर्ण व्यवस्था, सामाजिक आचरण, अध्ययन और संस्कार के साथ ही अन्तर्नियामन आवश्यक है, जिससे चरम विकास (जागृति) की उपलब्धि संभव है। - व्य.द. 142-144; १९७८/अध्याय १७

(E) अध्ययन वस्तु

मानव परम्परा में अध्ययन की सम्पूर्ण वस्तु अस्तित्व, अस्तित्व ही सह-अस्तित्व, अस्तित्व में परमाणु में विकास, संक्रमण, जीवन-पद, जीवनी क्रम, जीवन-जागृति क्रम, जागृति, और रासायनिक भौतिक रचना विरचनाओं का बोध होना है। यही सार्थक अध्ययन है।

फलस्वरूप मानव के लिए ही, जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन, मानवीयता पूर्ण आचरण सहज रूप में समझ में आता है। अध्ययन विधि से अस्तित्व बोध के अनंतर ही मानव में अनुभव पूर्वक पूर्णता और उसकी निरंतरता की आवश्यकता और प्रयोजन-बोध होता है। इसी के फलस्वरूप ही मानवीयता पूर्ण आचरण, प्रमाणित होता है - जो स्वयं ही समाधान समृद्धि पूर्ण परिवार, समाधान समृद्धि अभय पूर्ण समाज तथा समाधान समृद्धि अभय, सह-अस्तित्व सहज व्यवस्था मानव परम्परा में, से, के लिए सुलभ होना समीचीन है। इसकी आवश्यकता प्रत्येक जागृत मनुष्य में होना स्पष्ट है। इसे हर मानव निरीक्षण परीक्षण पूर्वक सर्वेक्षण कर सकता है। - भ.व. 58

अस्तित्व में, से, के लिए ही सम्पूर्ण अध्ययन है क्योंकि अस्तित्व समग्र ही स्थिति में नित्य वर्तमान है। अस्तित्व न घटता है न बढ़ता है। इसीलिए अस्तित्व में, से, के लिए मानव अध्ययन करने के लिए बाध्य है। क्योंकि यह अध्ययन मानव को अपने जीवन जागृति का साक्ष्य प्रस्तुत करने के क्रम में अपरिहार्य है। फलतः प्रामाणिकता, प्रमाण और समाधान की स्थिति के लिए तत्पर होना पड़ा। इसी क्रम में निर्भ्रमता की अभिव्यक्ति है। इसकी संप्रेषणा भी होती हैं। यही मानव परम्परा की गरिमा और सामाजिक अखण्डता का सूत्र है। यही शिक्षा, व्यवस्था और चरित्र में सामरस्यता के स्वरूप को स्पष्ट करता है। यही अनुभवपूर्ण सह-अस्तित्व ही विचारशैली एवं जीने की कला के लिए आवश्यक है।

समझने की सम्पूर्ण वस्तुएँ हैं-

1. स्थिति सत्य,
2. वस्तु स्थिति सत्य,
3. वस्तुगत सत्य।

स्थिति सत्य अपने आप में सत्ता में संपृक्त जड़-चैतन्य-प्रकृति के रूप में वर्तमान हैं। जिसकी समझदारी अर्थात् दर्शन मानव में, से, के लिए ही संभव व प्रमाणित होता है, जिसमें पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था, ये सभी अवस्थाएँ अविभाज्य रूप में सत्ता में संरक्षित व नियंत्रित रहना पाई जाती हैं।

वस्तु स्थिति सत्य "दिशा, काल, देश" के रूप में स्पष्ट है। परस्परता में दिशा हैं। इकाई में अनंत कोण हैं। हर वस्तु देश के रूप में उसी के रचना के समान होता है। क्रिया की अवधि, काल के रूप में, अस्तित्व में ही मानवकृत गणना है।

वस्तुगत सत्य प्रत्येक एक में रूप, गुण, स्वभाव, धर्म सहित दृष्टव्य हैं। - भ.व. 136

- ❖ समझने की सम्पूर्ण वास्तु नियम, न्याय, धर्म सत्य ही है।
- ❖ चारों अवस्थाओं में रूप गुण स्वभाव धर्म को समझना, उनके अंतरसंबंधों को समझना
- ❖ यथार्थता वास्तविकता सत्यता को समझना

(F) अनुभवगामी – अनुभवमूलक विधि स्पष्टता

अध्यापन तथा अध्ययन में अंतर

परावर्तन विधि से अध्यापन, प्रत्यावर्तन विधि से अध्ययन होना पाया जाता है।

अध्यापन एक श्रुति अथवा भाषा होना सुस्पष्ट है। भाषा का अर्थ है अस्तित्व में वस्तु होना सुस्पष्ट हो चुकी है, भाषा के अर्थ के स्वरूप में अस्तित्व में वस्तु बोध होना ही अध्ययन का मूल आशय है। यही प्रत्यावर्तन क्रिया है। सह-अस्तित्व में हर वस्तु बोध अनुभव मूलक विधि से परावर्तित हो पाती है।

इस विधि में अध्ययन कार्य अनुभवगामी पद्धति से होना स्पष्ट हुई। यही प्रत्यावर्तन की महिमा है अथवा उपलब्धि है। इस विधि से परावर्तन अध्यापन क्रिया है जबकि अर्थ बोध होना और अनुभव होना अध्ययन अर्थात् प्रत्यावर्तन का फलन है। अर्थ बोध तक अध्ययन, अनुभव, प्रत्यावर्तन का अमूल्य फल है। अर्थ बोध का अनुभव के अर्थ में प्रत्यावर्तित होना एक स्वभाविक क्रिया है। क्योंकि हर अर्थ का अस्तित्व में वस्तु बोध होता है। अनुभव महिमा की रोशनी से वंचित होकर अध्ययन में वस्तु बोध होता ही नहीं। अभी तक भी जितने वस्तु बोध हुई हैं, ये सब अनुभव में ही प्रमाणित होकर अध्ययन के लिए प्रस्तुत हुए हैं।

हर व्यक्ति अनुभवगामी विधि से अध्ययन, शोध, परीक्षण, निरीक्षण पूर्वक अनुभव और परावर्तन में अनुभवमूलक प्रणाली से मानवाकाँक्षाओं को प्रमाणित करना हो जाता है। इस प्रकार अध्ययन, बोध, अनुभवमूलक विधि से अनुभवमूलक प्रणाली पूर्वक मानवाकाँक्षा के अर्थ में जीना बन जाता है। यही अध्ययन का मूल उद्देश्य है।— क.द. ९४-९५

अर्थ बोध होने तक अध्ययन है

हर व्यक्ति अनुभवगामी विधि से अध्ययन, शोध, परीक्षण, निरीक्षण पूर्वक अनुभव और परावर्तन में अनुभवमूलक प्रणाली से मानवाकाँक्षाओं को प्रमाणित करना हो जाता है। इस प्रकार अध्ययन, बोध, अनुभवमूलक विधि से अनुभवमूलक प्रणाली पूर्वक मानवाकाँक्षा के अर्थ में जीना बन जाता है। यही अध्ययन का मूल उद्देश्य है। अनुभव मूलक विधि से जीने वाले व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होने के क्रम में ही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का प्रमाण होना, क्रम से समाधान समृद्धि अभय सह-अस्तित्व का प्रमाण हो जाना, एक जागृत व्यक्ति का पहचान हो पाता है। इतना ही नहीं हर नर नारी जागृत होना चाहते ही हैं, इसीलिए जागृत होने योग्य शिक्षा का लोक व्यापीकरण करना ही एक मात्र उपाय है। मानवीय शिक्षा में मानव में, से, के लिए आवश्यकीय सभी मुद्दे अध्ययन के लिए वस्तु है।

इस ढंग से मानव परंपरा उत्तरोत्तर जागृत होने के रूप में परावर्तित रहता ही है। प्रत्यावर्तन में सुख, शान्ति, संतोष, आनन्द से सराबोर रहता ही है। मानवाकाँक्षा अपने आप में कार्य विधि से प्रमाणित होता ही है। यही जीने का तात्पर्य है। अर्थात् कार्य, लक्ष्य और प्रयोजन प्रमाण होना, उसकी निरंतरता बने रहना ही जीने का तात्पर्य है।— क.द. 154-155

इस विधि से मानव के स्वरूप का प्रमाण:

- ❖ प्रत्यावर्तन में ज्ञान विज्ञान विवेक के रूप में,
- ❖ परावर्तन में कार्य व्यवहार व्यवस्था में भागीदारी के रूप में प्रमाणित होता है।

यही जागृत परंपरा है। पीढ़ी से पीढ़ी इसको बनाये रखना हर मानव का कर्तव्य और दायित्व है।

परावर्तन प्रत्यावर्तन क्रिया के संबंध में काफी अध्ययन संभव हो गया है। इसी क्रम में परंपरा में शिक्षा-संस्कार एक अनूद्युत क्रिया है। परावर्तन विधि से अध्यापन, प्रत्यावर्तन विधि से अध्ययन होना पाया जाता है। अध्यापन एक श्रुति अथवा भाषा होना सुस्पष्ट है। भाषा का अर्थ है अस्तित्व में वस्तु होना सुस्पष्ट हो चुकी है, भाषा के अर्थ के स्वरूप में अस्तित्व में वस्तु बोध होना ही मूल आशय है। यही प्रत्यावर्तन क्रिया है। हर वस्तु बोध अनुभव मूलक विधि से परावर्तित हो पाती है। इस विधि में अध्ययन कार्य अनुभवगामी पद्धति से होना स्पष्ट हुई। यही प्रत्यावर्तन की महिमा है अथवा उपलब्धि है। इस विधि से परावर्तन पश्च्यात अनुभव होना ही अध्यापन क्रिया है। अर्थ बोध होना और अनुभव होना अध्ययन का फलन है। अर्थ बोध होने तक अध्ययन है, पश्च्यात अनुभव होना प्रत्यावर्तन का अमूल्य फल है। अर्थ बोध का अनुभव के अर्थ में प्रत्यावर्तित होना एक स्वभाविक क्रिया है। क्योंकि हर अर्थ का अस्तित्व में वस्तु बोध होता है। अनुभव महिमा की रोशनी से वंचित होकर अध्ययन में वस्तु बोध होता ही नहीं। अभी तक भी जितने वस्तु बोध हुई हैं, ये सब अनुभव में ही प्रमाणित होकर अध्ययन के लिए प्रस्तुत हुए हैं। - क.द. 156-158

(G) 'अध्ययन' होने का तात्पर्य = 'वस्तु' बोध होना = अवधारणा

सार्थक ज्ञान विज्ञान विवेक सम्पन्नता ही मानव परम्परा में जागृति का वैभव होना स्वाभाविक है।

समझदारी के लिए ध्यान अर्थात् मन लगाना एक अवश्यंभावी कार्य है। आवश्यकता के आधार पर मन लगाना बन जाता है। मन लगने के आधार पर समझदारी मानव का स्वत्व होना ही है क्योंकि अध्ययनपूर्वक ही मानव समझदारी सम्पन्न होता देखा गया है। हर मानव ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से समझदारी संपन्न हो जाता है। ध्यानपूर्वक अध्ययन करने का मतलब जो शब्दों को सुनते हैं उनका अर्थ स्वीकृत होना ही बोध है यही अध्ययन है। इसका मतलब हुआ अर्थ बोध होना ही अध्ययन है। अर्थ बोध होने का प्रमाण अस्तित्व में वस्तु का बोध होना। अस्तित्व में वस्तु का बोध होना ही सहअस्तित्व के बोध का स्वरूप है इसमें हर नर-नारी बोध सम्पन्न होना होता है।

अस्तित्व में जो भी वस्तुएँ हैं उन सबका सहअस्तित्व में वैभव होना समझ में आने के उपरान्त स्वयं भी सहअस्तित्व में होना बोध हो जाता है। होने का स्वरूप और वातावरण यह दोनों स्थितियाँ सहअस्तित्व दर्शन से स्पष्ट हो जाती हैं फलस्वरूप मानव यथास्थिति को पहचानने में समर्थ हो जाता है। अर्थात् जागृति सम्पन्न स्थिति को समझने में सम्पन्न हो जाता है। जागृति के आधार पर यथास्थितियों को पहचानने की स्थिति में विज्ञान और विवेक सम्मत निश्चयन सहित कार्यकलापो में प्रवृत्त होना पाया जाता है।

तर्क संगत विधि से मानवीय व्यवस्था को हम सोच पाते हैं हर व्यक्ति को ज्ञान सम्पन्न होने की आवश्यकता है, ज्ञान ही समझ है। समझ ही विज्ञान और विवेक के रूप में योजित होता है प्रयोजित होने के क्रम में प्रक्रिया प्रणाली की विधि में तकनीकी को प्राप्त करना होता है।

अस्तित्वमूलक मानव केन्द्रित चिन्तन ज्ञान, दर्शन, आचरण ध्रुवीकृत रूप में अध्ययन गम्य होना देखा गया है। जीवन ज्ञान जीवन में सम्पन्न होने वाली क्रियाओं का परस्परता सहज ध्रुव बिन्दुओं के आधार पर उभय तृप्ति विधि सर्व शुभ एवं समाधान से देखा गया अभिव्यक्तियाँ हैं। जैसा मन और वृत्ति में सामरस्यता का बिन्दु, विश्लेषण, तुलन पूर्वक आस्वादन के रूप में पहचाना गया है। यह नियम, न्याय, धर्म, सत्य में अनुभूत होने के उपरान्त ही सार्थक हो पाता है। इसके लिये अर्थात् ऐसे अनुभूति के लिये अध्ययन क्रम से आरंभ होता है। अध्ययन अवधारणा क्षेत्र का भूरि-भूरि वर्तमान विधि है। इस विधि से जितनी भी अवधारणाएँ अध्ययन से सम्बद्ध होता गया, उतने ही अवधारणा के आधार पर वृत्ति सहज न्याय, धर्मात्मक तुलन, कम से कम न्याय तुलन सम्पन्न विचार के आधार पर किया गया आस्वादन सहित, सम्पन्न किया गया सभी चयन न्याय रूप होना देखा गया है। इसी प्रकार चिन्तनपूर्वक जब चित्रण, तुलन, विचार, आस्वादन और चयन क्रियाएँ सम्पन्न होते हैं न्यायपूर्वक व्यवस्था में प्रमाणित होना देखा गया। अवधारणाएँ स्वाभाविक रूप में ही अस्तित्व सहज होने के आधार पर सह-अस्तित्व रूप होने के आधार पर अनुभूत होना अर्थात् जानना-मानना और उसके तृप्ति बिन्दु को पाना ही अनुभव है।

जानना-मानना-पहचानना ही अवधारणा है।

इसमें तृप्ति बिन्दु को पा लेना ही अनुभव है।

इसे कार्य-व्यवहार व्यवस्था में व्यक्त कर देना प्रामाणिकता है।

पूर्ण बोध सहित सम्पन्न होने वाले संकल्प, चिन्तन, चित्रण, न्याय, धर्म, सत्य रूपी तुलन, विश्लेषण आस्वादन सहित किया गया सम्पूर्ण अभिव्यक्तियाँ, व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करता हुआ ही देखने को मिलता है। इस विधि से जागृतिपूर्ण मानव ही अस्तित्व में भ्रम बन्धनों से मुक्त होना स्पष्ट किया जा चुका है। जागृति विधि, अध्ययन रूपी साधना विधि से सर्वाधिक उपयोगी, सदुपयोगी, प्रयोजनशील होना देखने को मिला है। इस विधि से साध्य, साधक, साधन का सामरस्यता स्वयं स्फूर्त विधि से सम्पन्न होना देखा गया है।— आ.व. 154, 155

(H) जागृत परम्परा की आवश्यकता

अनुभव परंपरा में यह देखा गया है कि मानव ही प्रमाण का आधार और गति है। अभिव्यक्ति संप्रेषणा क्रम में वाङ्मय एक साधन है। वाङ्मय में कहा हुआ, सुना हुआ, इंगित किया हुआ और इंगित हुआ, अनुमान प्रस्तुत किया गया, अनुमान सम्पन्न हुआ गया बोध गामी हुआ और बोध गम्य हुआ। इन वाङ्मय में कहा-सुना ही जा सकता है। इससे अधिक कुछ होता है – अवधारणा और बोध संबंधी अनुमान ही बन सकते हैं। इसी अनुमान के पुष्टि में चित्रण-चित्र

को देखने का स्वीकृति भी होना पाया जाता है। इसी प्रकार संपूर्ण चित्रण और वाङ्मय सुनने देखने की क्रिया को पूरा करता है। पढ़ना भी सुनना ही है। यह जिम्मेदारी के साथ पढ़ने पर सुनना बनता है, इसको देखा गया है।

चित्रण विधि का अनेक विधियाँ बनते हैं। जागृत व्यक्ति अपने उद्गार को चित्रित कर सकते हैं और भाषा-साहित्य को कला सहित सत्य आस्वादन सूत्र से सूत्रित कर सकते हैं। विचार और चिन्तनशीलता के लिये अबोध व्यक्ति में अनुमान सहज मानसिक परिस्थितियाँ बनता है और जागृत व्यक्ति के सम्मुख अनुभव सहज कसौटी में परीक्षण करने के लिये सहज वस्तु के रूप में होते हैं। अतएव सत्यबोध और अनुभव जिनमें सम्पन्न हुआ रहता है उनका अनुमोदन और मूल्यांकन सदा-सदा उपलब्ध रहता है। इसी प्रामाणिकता पूर्ण परंपरा क्रम में हर बिन्दुओं, हर आयामों, दिशा, कोण, परिप्रेक्ष्यों में सार्थकता सहज मूल्यांकन होता है फलस्वरूप समाधान केन्द्रित विधि से सम्पूर्ण आयामों में मानव सहज जागृति सार्थक होना स्वाभाविक है। इसलिये जागृत परंपरा की आवश्यकता है। - आ.व. 103-104

भूमि स्वर्गताम् यातु, मनुष्यो यातु देवताम्।

धर्मो सफलताम् यातु, नित्यं यातु शुभोदयम्॥
